हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल-स्रोत



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली ६ पटना ६

हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत

शशिप्रभा शास्त्री

[जोधपुर विश्वविद्यालय की पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

मूल्य ४०.००

प्रथम संस्करण १९७३
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
८ फज बाजार, दिल्ली ६
मुद्रक जी० आर० कम्पोज़िंग एजेंसी द्वारा
अजय प्रिंटर्स दिल्ली ३२
आवरण हरिपाल त्यागी

जीवन साथी को—

जिसकी प्रेरणा के अभाव मे सम्भवत
यह काय आरम्भ ही न हो पाता !

भूमिका

भारतीय मनीषा और तत्त्व चिन्ता को आख्यान तथा मिथक द्वारा अभिव्यक्त करने का जैसा प्रयास पुराणों के माध्यम से हुआ है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ के द्वारा नहीं हुआ। महाभारत अवश्य एक ऐसा विशाल ग्रन्थ है जो आख्यानों की विपुलता में पुराणों का समकक्ष कहा जा सकता है। किन्तु महाभारत में मिथक को वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ है जो पुराणों में है। साथ ही पुराणों के अधिकांश आख्यान महाभारत में समाविष्ट हैं अतः पुराणों का क्षेत्र विस्तृत और विशाल हो गया है। यह ठीक है कि रामायण तथा महाभारत के विविध प्रसंग और आख्यान पुराणों में अन्तर्भुक्त हैं और उनका मूल स्रोत पुराण-काल से पूर्व रचित ग्रन्थों में भी खोजा जा सकता है किन्तु जिस रूप में ये सन्दर्भ पुराणों में गृहीत हुए हैं वे पौराणिक ही हो गये हैं। पुराण की शैली अपना वैशिष्ट्य रखती है और वह अनेकानेक कथा प्रसंगों को विस्मय और कुतूहल के साथ गूढ़ार्थ से संयुक्त कर देती है। देवी-देवताओं की दिव्य लीलाओं का वर्णन यदि छोड़ भी दिया जाए और केवल मानवीय चरित्रों के आधार पर पुराणों का स्वरूप निर्धारण किया जाये तो भी इनमें इतने अधिक आख्यान सन्दर्भ हैं कि जिनकी इयत्ता नहीं है। इन आख्यान-कथानकों ने सर्वत्र साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट किया है और प्रारम्भ से ही संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में इन्हीं कथा-सन्दर्भों और मिथकों का आश्रय लेकर महाकाव्य, खण्डकाव्य और नाटक लिखे जाते रहे हैं।

हिन्दी में नाटक रचना का प्रारम्भ वस्तुतः खड़ी बोली के विकास के साथ ही मानना चाहिए। रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह कृत आनन्द रघुनन्दन को कुछ इतिहास-लेखक हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हैं किन्तु इस प्रकार के पद्यबद्ध नाटक तो ब्रजभाषा में पहले से ही मिलते हैं। नाट्य शैली की पूर्णता के आधार पर बाबू गोपालचन्द्र गिरिधरदास कृत 'नहुष' नाटक को कुछ विद्वान हिन्दी का पहला नाटक स्थिर करते हैं। यह नाटक पौराणिक आख्यान पर आधारित है। अर्थात् हिन्दी नाटक रचना में पौराणिक आख्यान ही सबसे पहली सीढ़ी है।

भारतेन्दु-युग में हिन्दी में नाटक रचना का प्रारंभ हुआ अनेकों का प्रणयन हुआ और यह क्रम भारतेन्दु की बात नहीं है कि रचयिताओं ने अनेक नाटकों के लिए पुराणों से ही कथा का चयन किया। यदि पुराणों की कथाओं को रामायण और महाभारत से संयुक्त करके देखा जाए तो पौराणिक नाटक ... कथानकों को पृष्ठभूमि पर आधारित किए गए हैं। इन नाटकों का विवेचनात्मक अध्ययन बहुत आवश्यक था। सबसे प्रथम यह कार्य डा० दशरथ ओझा ने किया था। नाटक के सम्बन्ध में किए गए शोध प्रबन्धों में भी पौराणिक नाटकों का उल्लेख हुआ है किन्तु पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत के संधान का प्रयास किसी भी शोध प्रबन्ध में नहीं हो सका था। यह कार्य डा० शशिप्रभा शास्त्री ने अपने इस शोध प्रबन्ध द्वारा बड़ी सुन्दरता से पूर्ण किया है।

पौराणिक नाटकों के वर्गीकरण की समस्या कुछ नवीन है। इन कथानकों की कमी नहीं है जो महाभारत, रामायण और पुराण सभी में उपलब्ध हैं। एक ही कथानक यदि प्राचीन ग्रन्थों के विविध रूपों में वर्णित होता चला आ रहा है तो उसे कहाँ रखा जाय और उसके विवेचन के लिए किस ग्रन्थ को मूलाधार माना जाय यह एक कठिन समस्या है। लेखिका ने अपनी सुविधा से नाटकों का वर्गीकरण किया है और सुस्पष्ट चार वर्गों में रखकर उनका विभाजन कर दिया है। इस विभाजन में एक ही कथानक के संबंध हों तो भी भिन्नता पाई जा सकती है किन्तु उनका प्रभाव और प्रयास ही वर्गीकृत करने का तर्क हो सकता है। कथानक के विवेचन में लेखिका ने आधार या स्रोत की चर्चा करते समय स्वतः औचित्य की भली भाँति व्याख्या कर दी है। अतः मैं उनके वर्गीकरण में कोई सैद्धान्तिक त्रुटि नहीं पाता। एक कथानक अनेक पुराणों में पाया जाता है और उसके कथा विन्यास में भी कुछ अन्तर है जिसे लेखिका ने शोध की प्रविधि में स्पष्ट कर लिया है। इस प्रकार एक एक कथानक के स्रोत खोजने में उन्हें कई पुराणों का अवगाहन अनुशीलन करना पड़ा है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लेखिका ने समस्त पौराणिक नाटकों को चार प्रमुख धाराओं में विभक्त किया है। इन धाराओं में भी उन्होंने प्रतिनिधि नाटकों का ही विवेच्य बनाया है। एक शोध प्रबन्ध में शताधिक छोटे-बड़े नाटकों की समस्या या भी सम्भव नहीं था अतः प्रतिनिधि रचनाओं तक सीमित रहना ठीक ही है। नाटक की विधा में सामान्यतः दस रूपक आते हैं। लेखिका ने सम्भवतः सम्पूर्ण नाटक (फुललेंथ प्ले) को ही अपने शोध प्रबन्ध में स्थान दिया है। दस रूपक के भेदों पर प्रणीत नाटक विवेचना के लिए स्वीकार नहीं किए हैं। भावनाट्य, गीतिनाट्य, एकांकी व्यायोग आदि को सर्वथा छोड़ दिया है। यदि कोई और शोधकर्ता इन विधाओं पर कार्य करना चाहे तो उसे भी कार्य करने के लिए व्यापक क्षेत्र उपलब्ध है।

डा० शशिप्रभा शास्त्री स्वयं रचनाकार हैं। सजग साहित्यकार होने के कारण उनकी अभिव्यंजना में लालित्य एवं सौष्ठव होना स्वाभाविक है। कथा लेखिका के रूप में उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। उनकी सहज सुबोध शैली में लिखी कहानियाँ आज हिन्दी में चर्चित हैं। इस शोध प्रबन्ध में भी हम उनकी इस प्रांजल शैली को सर्वत्र देख सकते हैं। पौराणिक कथानकों का विवेचन करते हुए वे अपनी मौलिक प्रतिभा के लिए अवकाश निकाल ही लेती हैं। पुराण की अलंकृत आख्यान शैली को लेखिका ने हिन्दी में नये मुहावरे के साथ

जिस सुन्दरता के साथ जोड़ा है वह इस शोध प्रबन्ध की भाषा शैली की एक बड़ी उपलब्धि है।

शोध प्रबन्ध मूलतः एक वैज्ञानिक प्रविधि पर खड़ा किया जाता है। सन्दर्भ, टिप्पणी, तर्क प्रमाण आदि के घटाटोप से उसमें नीरसता आना स्वाभाविक है। शोध प्रबन्ध से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह उपन्यास या कथा की तरह सुपाठ्य बना रहे और लेखक अबाध गति से उसे पढ़ता चला जाय। किन्तु इस शोध प्रबन्ध में वैज्ञानिक प्रक्रिया के परिपालन के साथ कथानक आदि के प्रस्तुतीकरण में लेखिका ने भाषा प्रवाह को अविच्छिन्न रखकर अपने साहित्यकार को जीवित रखा है। सर्जक और समीक्षक का समवेत रूप इस प्रबन्ध की विशेषता है।

मुझे विश्वास है कि हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोतों के सन्धान में इस शोध-प्रबन्ध से पाठकों को पूरी सामग्री प्राप्त हो सकेगी और पुराणों के विविध प्रसंग भी उद्घाटित हो सकेंगे। मैंने इस शोध प्रबन्ध का परीक्षण किया था और इसे एक श्रेष्ठ कृति मानकर प्रकाशन का परामर्श दिया था। मुझे हर्ष है कि आज यह प्रकाशित होकर पाठकों के लिए सुलभ हो रहा है। मैं इस गम्भीर एवं अध्ययन-साध्य कार्य के लिए डा० शशिप्रभा शास्त्री को साधुवाद देता हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि सर्जक साहित्यकार होने के साथ उन्होंने अनुसंधाता के दायित्व का भी पूरी तरह निर्वाह किया है।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दि० वि० वि०, दिल्ली ७

विजयेन्द्र स्नातक

स पुष्ट कई नाटकों को भी, विश्वविद्यालय की ओर से पृष्ठों की संख्या सीमित कर देने के कारण, छोड़ देना पड़ा है। इन नाटकों के रचयिताओं से मैं क्षमाप्रार्थिनी हूँ। ऐसी स्थिति में केवल उन्हीं कृतियों को प्रमुखता दी गयी, जो महत्त्वपूर्ण चरित्रों पर प्रकाश डालती हैं अथवा महत्त्वपूर्ण लेखकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। नाटकों के चयन की समस्या का समाधान कुछ इसी प्रकार सम्भव हुआ है।

नाटक चयन के उपरान्त दूसरी समस्या, विवेच्य नाटकों के प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विचारणीय रही। विवेच्य नाटकों का विभाजन कालक्रमानुसार नहीं किया जा सकता था क्योंकि एक ही कथा को लेकर अनेक नाटक विभिन्न कालों में लिखे गये हैं। कालक्रमानुसार नाटकों के वर्गीकरण में उन नाटकों की पुनः पुनः आवृत्ति होने का भय था। अतः नाटकों के विभाजन में एक दूसरी दृष्टि रखी गयी। यहाँ विवेच्य नाटकों का वर्गीकरण काल युग पर आधारित न मानकर विषय अथवा चरित्र पर आधारित माना गया है और इसीलिए समस्त विवेच्य नाटकों के कथानकों को प्रमुख धाराओं में विभक्त किया गया है। इस वर्गीकरण में आवृत्ति की सम्भावना यथासम्भव न्यून हो गयी है। एक ही चरित्र से सम्बन्धित दो अथवा कई नाटकों को, चाहे उनमें काल सम्बन्धी कितनी ही दूरी हो, विवेचन की सुविधा एवं पुनरुक्ति के परिहार के लिए एक ही स्थल पर रख दिया गया है।

जिन प्रमुख धाराओं में सम्पूर्ण विवेच्य नाटकों को विभाजित किया गया है उनके नाम और क्रम इस प्रकार हैं—

१ पुराणधारा इस धारा में मुख्य रूप से पुराणों की कथाओं पर आधारित नाटकों को ही लिया गया है।

२ महाभारतधारा इस धारा में मुख्यतः महाभारत पर आधारित नाटक हैं।

३ रामायणधारा वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस की मुख्य कथा एवं अवान्तर चरित्रों से सम्बद्ध विभिन्न नाटकों का समावेश इस धारा में किया गया है।

४ कृष्णधारा इस धारा के अन्तर्गत मुख्य रूप से श्रीकृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित नाटकों को ही सम्मिलित किया गया है।

पौराणिक कथानकों पर आधारित नाटक मुख्यतः इन्हीं श्रेणियों में रखे जा सकते हैं। अतः यह विभाजन कथा व चरित्र पर आधारित कालानुरूप विभाजन की अपेक्षा अधिक संगत एवं समीचीन प्रतीत हुआ। अनूदित एवं एकांकी नाटकों को इन धाराओं में सम्मिलित नहीं किया गया है। समस्त विवेच्य नाटकों का क्रम इन धाराओं में प्रकाशन-काल की दृष्टि से रखा गया है अर्थात् पूर्व प्रकाशित नाटकों को पूर्व और पश्चात् प्रकाशित नाटकों को पश्चात् स्थान दिया गया है।

क्योंकि नाटकों का विभाजन मुख्यतः कथा अथवा चरित्र पर आधारित है अतः उन नाटकों को जो किसी विशेष चरित्र से सम्बन्धित हैं भले ही उनके नाम अथवा शीर्षक भिन्न हों एक विशिष्ट चरित्र का शीर्षक देकर उसी के अन्तर्गत उस प्रकार के समस्त नाटकों का विवेचन किया गया है। यथा, शिव-पार्वती चरित्र के अन्तर्गत शिव-पार्वती से सम्बन्धित कथाओं पर आधारित नाटकों को तो लिया ही गया है गणेश जन्म जैसे भिन्न शीर्षक वाले नाटक को भी शिव पार्वती शीर्षक के अन्तर्गत ले लिया गया है क्योंकि नाटक का नाम

'गणेश जन्म' होते हुए भी इसकी मुख्य घटनाएँ शिव-पार्वती से ही सम्बद्ध हैं। कृष्णकुम महोपाध्याय रचित अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन नाटक (मूलतः जैमिनीय अश्वमेधपर्व पर आधा रित होने के कारण) पुराणधारा में ही रखा गया है यद्यपि प्रस्तुत नाटक की कथा म भारत के प्रमुख पात्र अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन के शौर्य से सम्बद्ध है। जैमिनीय अश्वमेध महाभारत के अनुक्रम में आता है तथापि हरिवंशपुराण (जो महाभारत का ही एक विशि अंग है) के सदृश इस ग्रंथ को भी पुराण परम्परा में ही सम्मिलित कर लिया गया है।

एक विशिष्ट चरित पर आधारित विभिन्न नाटकों का विवेचन भी क्रम से कि गया है। यह क्रम नाटकों के प्रकाशन काल पर निर्भर है क्योंकि किसी विशिष्ट नाटक सृजनकाल का ज्ञात होना सहज नहीं है। यथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालदास द्वा लिखित नहुष निश्चित ही प्रकाशन काल से बहुत पूर्व लिखा गया था। स्वयं भारतेन्दु के मतानुसार हिन्दी का प्रथम नाटक माने जाने के कारण और यों भी प्रसिद्ध नाटक ह के कारण यह नाटक कालगत दृष्टि से आलोच्य रहा है अन्त इसका सृजन-काल व प्रकाशन काल दोनों विदित हैं किन्तु सभी नाटकों के साथ ऐसा सम्भव नहीं है।

कुछ इस प्रकार के नाटक भी उपलब्ध हुए जो विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण किन्तु उनके मुखपृष्ठ पर उनका प्रकाशन समय नहीं दिया हुआ है। कुछ अन्य उपल नाटकों के मुखपृष्ठ ही लुप्त मिले उन नाटकों का प्रकाशन द्वितीय बार न किये जाने कारण उनकी अन्य प्रति उपलब्ध करना सम्भव न हो सका। इस प्रकार के नाटकों विशिष्ट चरित सम्बन्धी नाटकों के अन्त में रखकर, वहां पाद टिप्पणी में इस प्रकार का उल्ले कर दिया गया है।

पाद टिप्पणी में महाभारत तथा रामायण का प्रकाशन स्थल एवं काल सर्वत्र न दिया गया है क्योंकि सन्दर्भग्रन्थ सूची में ही इसका उल्लेख कर दिया गया है।

विवेचन पद्धति

नाटक में विवेचन का क्रम सामान्यतया निम्नलिखित पद्धति से किया गया है—

सर्वप्रथम एक चरित पर आधारित समस्त उपलब्ध नाटकों की तालिका कालक्रम नुसार प्रस्तुत करके, कथानक शीर्षक से क्रमपूर्वक नाटक की कथावस्तु को प्रस्तुत कि गया है पश्चात् कथावस्तु के मूलस्रोतों का शीर्षकबद्ध दिग्दर्शन कराया गया है। तत्पश्च यदि प्रस्तुत कथावस्तु तथा मूल कथा में कोई अन्तर रहे हैं तो उन्हें भी 'अन्तर' शीर्षक अन्तर्गत प्रदर्शित किया गया है। लेखक की दृष्टि से उस 'अन्तर' का यदि कोई प्रयोजन र है तो कारण पर भी प्रकाश डालते हुए अन्त में उस विशिष्ट नाटक का विवेचन शीर्ष से उपसंहार कर दिया गया है। विवेचन शीर्षक के अन्तर्गत भाषा तथा शैली का स्प करते हुए (यद्यपि यह दृष्टि मुख्य नहीं है क्योंकि शोध का विषय मुख्यतः कथादृष्टि से सम्बन्धित है) कथा के सम्बन्ध में लेखकीय तथा निजी मत को भी प्रतिपादित किया गया है।

जिन नाटकों की कथाएँ लगभग समान हैं उन कथाओं की पुनरावृत्ति नहीं की ग है केवल कथा की भिन्नताओं का उल्लेख मात्र ही किया गया है।

समान आधार वाले नाटकों की विवेचन पद्धति का क्रम इस प्रकार रखा गया है-

प्रथम उस विशिष्ट शीर्षक के अन्तर्गत लिये गए समस्त नाटकों की कथाएँ एक साथ (भले ही कथाओं में कुछ भिन्नता हो), तत्पश्चात आधार स्थल अन्तर पर दृष्टि तथा अंत में विवेचन। उदाहरणार्थ वेण चरित सम्बन्धी नाटकों की विवेचन पद्धति यही रही है।

महाभारत पर आधारित नाटकों के कथानक और आधार पृथक पृथक न दिखाकर, साथ ही प्रस्तुत किये गए हैं, क्योंकि इन नाटकों की कथाएँ मूल कथाओं के लगभग समान ही हैं, जहां कहीं अंतर है, उस अंतर की ओर संकेत अवश्य किया गया है।

एक बात और। महाभारत, रामायण एवं श्रीकृष्णधारा सम्बन्धी नाटकों को घटनाओं की दृष्टि अथवा क्रम से भी विभक्त किया जा सकता था, किन्तु ऐसा करना भी सम्भव नहीं हुआ है। इसका कारण यही है कि कुछ नाटक कला की दृष्टि से, नाटक साहित्य में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं यथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' प्रसादजी की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण नाटक साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है अतः जनमेजय का स्थान भले ही महाभारत की घटनाओं में सबसे अंत में आता है, तथापि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इस नाटक को महाभारतधारा के नाटकों में, सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

भारतेन्दुजी का सत्य हरिश्चन्द्र नाटक भी इसी कोटि में आता है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक मुख्य रूप से संस्कृत के चण्डकौशिक नाटक (आर्य क्षेमीश्वर) का रूपान्तर है, अतः चण्डकौशिक नाटक की घटनाओं से तुलना कर इसे यथोचित विस्तार दिया गया है। इसमें दोनों नाटकों के अनेक मूल स्थलों को उद्धृत करके उनकी तुलना प्रस्तुत की गयी है। ऐसा करते समय प्रथम स्थल सत्य हरिश्चन्द्र से लिया गया है और उसके पश्चात चण्डकौशिक का सम्बद्ध स्थल उद्धृत करके दोनों की तुलना की गयी है।

अब मैं डा० हरवंशलाल शर्मा, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय का आदरपूर्वक स्मरण करती हूँ जिन्होंने मेरे शोधकार्य की समस्त रूपरेखा को अवधानपूर्वक पढ़ा और अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर मेरे कार्य की दुरूह समस्याओं को सरल बनाने में योगदान दिया। डा० श्रीविश्वनाथ गौड, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस० डी० कालेज, कानपुर की सहायता को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकती। डा० विजयेन्द्र स्नातक, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय ने कृपापूर्वक इस पुस्तक की भूमिका लिखी, यह मेरे प्रति उनके स्नेह का ही सूचक है। इन सब मनीषी महानुभावों के प्रति मेरी विनम्र श्रद्धांजलि सादर समर्पित है।

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के उस समय के महामन्त्री, डा० जगन्नाथ शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं आर्य भाषा पुस्तकालय के अध्यक्ष तथा कर्मचारियों की भी मैं चिर ऋणी रहूँगी जिन्होंने मेरे शोधकार्य के लिए सभा के भवन में निवास एवं पुस्तकालय सम्बन्धी समस्त सुविधाएँ प्रदान कीं।

डी० ए० वी० कॉलेज देहरादून तथा आर्यसमाज देहरादून के पुस्तकालयों से भी मुझे कई ग्रन्थ प्राप्त हुए इनके अधिकारियों की भी मैं आभारी हूँ। उस प्रभु का धन्यवाद मैं कैसे करूँ, जिसकी असीम कृपा मेरे बीहड़ मार्ग को सुगम बनाती रही है।

—शशिप्रभा शास्त्री

विषय सूची

विषयावतरण

मनुष्य एक चेतनाशील प्राणी है। जिनासा तथा गवेषणा उसकी मूल वृत्तिया हैं। नूतन गवेषणाओं द्वारा ही मनुष्य अपनी जिज्ञासा रूपी पिपासा को शात करता है। साहित्यिक गवेषणा का आधार प्राचीन साहित्य है। वदादि सच्छास्त्र तथा अनेक सिद्धिया गवेषणा से ही प्रकाशित और व्यवहृत हुई हैं। भारतीय गवेषणा के मूल स्रोतो म पुराण ग्रन्थो की भी गणना की जाती है। लौकिक सस्कृत के विविध साहित्यो मे पुराणो का स्थान सर्वोपरि है। पुराणो म सब प्रकार की बौद्धिक व्यावहारिक, नैतिक एव सास्कृतिक गवेषणाओ को इतिहास और कथानक के रूप म आकर्षक एव बुद्धिगम्य बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

साधारणत 'पुराण' शब्द से भ्रान्तिवश उन ग्रन्थो का ग्रहण किया जाता है, जिनका विषय आधुनिक विचारधारा से दूर कपोलकल्पित कथामात्र है। कोषकारो न इसका सामान्य अर्थ पुराना स्वीकार किया है—पुराणे प्रतन प्रत्नपुरातन चिरतना[1] तथा 'पुराणम् पुरा भवम्' के अनुसार पुराण शब्द का अर्थ पुराना ही सिद्ध होता है। निश्चित ही पुराण साहित्य अति प्राचीन है किन्तु वैदिक साहित्य की मूलनिधि वेदो को तो 'अपौरुषेय' की सज्ञा दी गई है। अत निर्माणकाल की दृष्टि स वेदो को ही 'पुराण' सज्ञा से विभूषित किया जाना चाहिए किन्तु ऐसा नही है। इसके अतिरिक्त यहा यह शका उत्पन्न होना भी युक्तियुक्त है कि अपने निर्माणकाल म तो पुराण ग्रन्थ नूतन ही रहे होगे तथापि अपने सृजन काल से ही इन्हे 'पुराण' सज्ञा क्यो प्राप्त हुई[2], पुराण शब्द तो पुराना अर्थात जो व्यतीत हो गया का ही वाचक है। वस्तुत पुराण शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ का ही बोध कराता है।

अमरकोष[3] म पुराण शब्द के लिए एक स्थान पर 'पुराभवम् यद्वा पुरा अपि नवम् यद्वा पुरा अतीतानागतौ अर्थों अणति' कहा गया है अर्थात 'जो पूर्व म होकर भी नया अथवा भूत

---

१ अमरकोष भानुजीदीक्षित व्याख्या निर्णय सागर बम्बई १६४४ तृतीय काण्ड श्लोक ७६।
२ पद्मचन्द्र कोष गणेशदत्त शास्त्री पृ ३२० स १६२४।
३ अमरकोष निर्णयसागर बम्बई तृतीय काण्ड पृष्ठ ६८ सस्करण १६४४।

भविष्य के अर्थों को पहले ही कह दिया जाता।' पद्मपुराण में भी यही स्वीकार किया गया है— पुरा परम्परा वष्टि पुराणं तेन च स्मृतम्।' इसका भी एक विशेष प्रकार के साहित्य का ही बोध होता है जो पुराना का नया करके कहा जाता है।

प्राचीन ग्रन्थों में कई स्थलों पर पुराण और इतिहास शब्द एक साथ ही आए हैं—

इतिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदम।

—छान्दोग्य उपनिषद ७।१।१

अथ येऽस्याथर्वाङ्गिरसो एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहास पुराणं पुष्पं ता अमृता आप ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहास पुराणमभ्यतपस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य रसोऽजायत।

—छान्दोग्य उपनिषद् ३ ४ १ २

विद्या के रूप में अन्य वेदों के साथ शतपथ ब्राह्मण में भी इतिहास-पुराण का उल्लेख एक स्थल पर एक साथ हुआ है—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि।

—शतपथ ब्राह्मण १४ ५ ५ १०

वृहदारण्यक उपनिषद में भी इतिहास और पुराण शब्दों का एक वचन में समवेत प्रयोग अन्य चारों वेदों के साथ मिलता है—

ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदो अथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणम।

—वृहदारण्यक ४ ४, १०

महाभारत में भी इसी प्रकार का संकेत मिलता है—

इतिहास पुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत।

—महाभारत आदिपर्व, अध्याय ५

पुराण और इतिहास से यहां समान अर्थ का बोध होता है परन्तु पुराण और इतिहास में विषय वस्तु की दृष्टि से एकरूपता नहीं है यह एक निश्चित सत्य है। इतिहास में जहाँ कल्पना के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है केवल घटित सत्य को, यथार्थ रूप में वह प्रस्तुत करता है वहां पुराणों का आधार प्राय कल्पना तथा अतिशयोक्ति ही प्रचुर रूप में है।

कतिपय मनीषियों के अनुसंधान ने यह सिद्ध कर दिया है कि इतिहास और पुराण दोनों धाराएं एकदम भिन्न हैं। काशी के विद्वान श्रीरायकृष्णदास के मतानुसार इतिहास और पुराण एक समय समानार्थक अवश्य थे, किन्तु आगे चलकर पुराणों में अनैतिहासिकता का समावेश तथा साम्प्रदायिकता का सम्मिश्रण हो जाने से, दोनों में पार्थक्य बढ़ता गया और अब तो इतिहास और पुराणों के एकीकरण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका कथन है—

'बौद्ध और जैनों के प्रारम्भिक साहित्य मे पुराण तुल्य वाङमय नही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय ये सम्प्रदाय चले और इनके प्रारम्भिक साहित्य का निर्माण हुआ, उस समय तक पुराण सर्वत्र ऐतिहासिक वाङ मय था और किसी मत से सम्बद्ध न था अर्थात् वह ब्राह्मण और श्रमण की समान सम्पत्ति था। अतएव श्रमणो को इस प्रकार के किसी निजी साहित्य की अपेक्षा बहुत काल तक न हुई।'[1]

विण्टरनित्स[2] ने पुराण वाङ्मय का आरम्भ तथा विकास बौद्ध काल ही माना है—

It is certain, moreover that as early as the time of Buddha there was in existence an inexhaustible store of prose and verse narratives—Akhyanas Itihasas, Puranas and Gathas—forming as it were literary public property which was drawn upon by the Buddhists and the Jains as well as by the epic poets

M Winternitz, Indian Literature,
Vol I, 1927, P 314

जो कुछ भी हो, यह निर्विवाद सत्य है कि पुराण साहित्य आज इतिहास नही है जिसका आशय इतिवृत्त के वास्तविक रूप का बोध कराने वाले साहित्य से है। अत पुराण मे जो 'पुराना नया होकर आने वाली[3] बात कही गई है उससे तात्पर्य यही है, कि वैदिक वाङ मय म जो कुछ लिखा गया है, पुराणो मे उसके बहुत से अशो की नई व्याख्या है। पुराण-लेखको ने आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए भौतिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओ कथाओ तथा दृष्टान्तो का प्रयोग किया है।[4]

देवर्षि सनाढ्य ने भी 'पुराण शब्द का यही अर्थ स्वीकार किया है—

पुराण वेद उपनिषदो के सूक्ष्म ज्ञान को कथा उपाख्यान दृष्टान्त और उदाहरण देकर समझाने वाला साहित्य है।[5]

निरुक्त[6] म भी पुराण शब्द का निर्वचन पुरानव भवति के रूप म आया है और व्युत्पत्ति के अनुसार पुराण शब्द से तात्पर्य उस नवश्रुति से है जो नित नूतन है। कवि पुराणमनुशासितार के अनुसार पुराण म नियामक का भाव निहित है। भगवान् पुराण होने से सबके अनुशासक हैं। अत पुराण का तात्पर्य जीर्णता मे नही है अपितु आदि विकास मे है—'पुरा अग्रे भवति गच्छति इति पुराणम्, के द्वारा पुराण से मार्गदर्शक साहित्य का बोध होता है। ब्रह्माण्ड पुराण म ज्ञान का प्रकाश करने वाले ग्रथो को पुराण कहा गया है—

यस्मात्पुराह्यनक्तीद पुराण तेन तत्स्मृतम।

—ब्रह्माण्ड पुराण

---

१ रायकृष्णदास पुराण इतिहास वेंकटेश्वर समाचार बम्बई अक २२।१ ।१९२४।
२ विण्टरनित्स ए हिस्ट्री आव् इंडियन लिटरेचर प्रथम भाग प्रकाशक कलकत्ता वि वि०।
३ पुरा नव भवति।
४ पुराणो मे प्रतीक रेडियो सग्रह पृ८५ ६ अक्तूबर दिसम्बर १९५३।
५ हिन्दी के पौराणिक नाटक प्रकाशक चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी १९६१ पृष्ठ ७।
६ निरुक्त ३।१९।२४

यह पुराण [illegible] के [illegible] में [illegible] सम्बन्धित उस [illegible] है [illegible] [illegible] विभाजन [illegible] द्वारा [illegible] में [illegible] जाता है।

पुराणों का महत्त्व

ऐतिहासिक दृष्टि से पुराण बहुत [illegible] हैं और भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से पुराणों का बड़ा महत्त्व है।[1] डॉ० [illegible] पुराणों को उतना ही [illegible] महत्त्व [illegible] है। [illegible] वेदों के साथ [illegible] पुराणों का [illegible] नहीं किया [illegible] (व्यास) नहीं कहा [illegible]--

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥

पद्मपुराण में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने समस्त शास्त्रों में सर्वप्रथम पुराण का स्मरण किया। पुराण सम्पूर्ण शास्त्रों में [illegible] प्रथम है। पुराणों की [illegible] निम्नलिखित श्लोक में भली प्रकार व्यक्त है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
उत्तमं [illegible] [illegible] ॥

—[illegible] पुराण अध्याय १

पुराण [illegible] शास्त्रों के [illegible] को [illegible] यथार्थ [illegible] प्राप्त [illegible]। यजुर्वेद में प्राप्त 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' तथा [illegible] पर [illegible] प्रति [illegible] हैं। मनुष्यों के [illegible] में समाहित है किन्तु द्वारा मन्त्रपाठ तथा अध्ययन मात्र से ही जीवन में [illegible] तथा [illegible] का जागरण होना कठिन है। पुराणों में सत्य, त्याग [illegible] विभिन्न प्रकार की भावनाओं के सम्बन्ध में [illegible] है उनके द्वारा [illegible] उठता है और सारगुण उनको [illegible] व्यावहारिक जीवन में [illegible] की प्रेरणा उन [illegible] ही प्राप्त हो जाती है।

भारतीय जीवन से प्रेरणा लेनी हो तो भारतीयों के प्राणस्वरूप श्रुति-स्मृति के उपस्था-नीय पुराणों से लेनी चाहिए, ऐसा विद्वानों का कथन है।[2] चौदह विद्याओं में ऋषि याज्ञवल्क्य ने पुराणों को प्रथम स्थान दिया है—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।[3]

---

१ सूर और उनका साहित्य पृष्ठ १६६ ।
२ ब्रह्मपुराण प्रथम भाग भूमिका प्रका० मनसुखराय मोर कलकत्ता प्र० सं० १९५४ पृ० १२ ।
३ याज्ञवल्क्य स्मृति [illegible] श्लोक ३ ।

पुराणों से प्रेरणा लेकर ही साहित्य-स्रष्टाओं ने अगणित विषयों व ग्रन्थों की रचना की। अतः नाना शाखा प्रशाखाओं में विभाजित होने के कारण पुराणों का विस्तार बहुत अधिक है—

इतिहासं पुराणं च गाथाश्चोपनिषत्तथा।
आथर्वणानि कर्माणि अग्निहोत्रकृतेऽभवन्॥

—पद्मपुराण

तथा—

वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः।
इतिहासांस्तथा विद्या योऽधीते शक्तितोऽन्वहम्॥[1]

इत्यादि आप्तवाक्यों द्वारा पुराणों का महत्त्व निर्विवाद है। जहां 'शृणुयाच्च पुराणेषु वेदेभ्यश्च यथाश्रुतम्।'[2] इत्यादि श्लोकों द्वारा पुराणों के पाठ का सबके लिए आदेश है, वहां नास्तिकों के लिए पुराणों के पाठ के निषेध की घोषणा भी की गई है—

इदं पुराणं परमं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
नानाश्रुति-समायुक्तं नास्तिकाय न कीर्तयेत्॥[3]

इस प्रकार पुराणों का महत्त्व सर्वविदित है। ज्ञान, कर्म, अभ्यास एवं ध्यान सभी का संक्षेप में बहुत महत्त्वपूर्ण वर्णन इनमें है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का विविध दृष्टिकोणों से विचार पुराणों में देखा जा सकता है।

सन् १८८६ में स्टाकहाम में ओरिएण्टलिस्ट कांग्रेस के अवसर पर मणिलाल एन० द्विवेदी ने बताया कि पुराणों के सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त डारविन (Darwin), हैकेल (Haeckel) स्पेंसर (Spencer) तथा क्वट्रेफेगस (Quatrefagus) के सिद्धान्तों के सदृश ही हैं। पुराणों में पाठक को सर्वोच्च सत्य तथा महानतम ज्ञान के दर्शन हो सकते हैं यदि वह उसके प्रतीकों को बुद्धिपूर्वक समझकर चले।[4]

पार्जिटर महोदय के मतानुसार पुराण हिन्दू धर्म के सभी पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इतिहासकार तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए भी पुराण अति उपयोगी हैं।[5]

इसके अतिरिक्त, 'इतिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।१) उक्ति भी पुराणों के महत्त्व को विशिष्ट रूप में बताने के लिए ही कही गई है।

पुराणों की प्राचीनता तथा पुराण साहित्य का स्रोत

पुराण शब्द का प्रयोग सभी वैदिक संहिताओं में प्रचुर परिमाण में मिलता है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में पुराण शब्द का प्रयोग लगभग अड़तीस स्थलों पर हुआ है।

---

१ याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय १ श्लोक ४५।
२ मत्स्य पुराण २६३।१४।
३ वही १४७।८५।
४ अष्टम ओरिएण्टल कांग्रेस विवरण जि० २, स्टाकहाम पृष्ठ १९९।

निश्चित ही वहाँ यह साहित्य के एक विशिष्ट वग की ओर सकेत करता है। प्राचीन युग म वेदो की सहिताओं के समान, पुराण नाम की भी सभवत कोई सहिता रही होगी, जिसम प्राचीन कथाओ का सग्रह रहा होगा। वद की सहिताओ के मत्रो के अथ करने म पुराण सहिता के आख्यानो से सहायता ली जाती रही होगी। सभवत इसीलिए पुराणो को पचम वेद की कोटि मे स्थान दिया गया है।[1]

अथववेद म एक स्थान पर चारो वेदो की रचना क साथ पुराण की रचना का भी उल्लेख मिलता है—

ऋच सामानि छदासि पुराण यजुषा सह।
उच्छिष्टा जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रित ॥[2]

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि अथववेद के सकलन काल म पुराण नाम से प्रख्यात एक आख्यान साहित्य ने निश्चित एव महत्वपूण स्थान प्राप्त कर लिया था अन्यथा उसे चारो वेदो के समकक्ष स्थान प्राप्त न हुआ होता। सम-श्रेणी म स्थान दिए जान से यह भी ध्वनित होता है कि पुराण सहिता का आकार ऋग-यजु-साम एव अथव सहिताओ से कम नही रहा होगा। सम्भव है कि पुराण सहिता के आकार की विशालता वेदो से भी अधिक हो जिस प्रकार विषय की विविधता और आकार की विशालता क कारण ही महाभारत पचम वेद कहा जान लगा।

पुराण साहित्य की अवस्थिति सूत्र साहित्य म तो निश्चित रूप से स्वीकार कर ही ली गई थी। इस पुराण साहित्य का विषय आज के युग म उपलब्ध पुराणो स लगभग मिलता जुलता ही था। गौतम धमसूत्र म जो धमग्रन्थो म प्राचीनतम माना जाता है लिखा है कि, राजा को न्याय करते समय वेद धमशास्त्र वेदाग तथा पुराण सभी का अवलोकन करना उचित है।[3] पुराण से तात्पय यहाँ एक विशिष्ट वग के साहित्य से ही है।

आपस्तम्ब धमसूत्र मे पुराणो से दो उद्धरण प्राप्त हैं। यह धमसूत्र चौथी या पाँचवी शती का है। निश्चित ही उस समय तक पुराण साहित्य अस्तित्व म आ चुका होगा। महाभारत तथा पुराणो का सम्बन्ध[4] भी हम इसी निष्कष पर पहुचने के लिए बाध्य करता है कि पुराण साहित्य का निर्माण महाभारत के अपने अतिम रूप म आ जाने से पूव ही हो चुका होगा।

पुराणो की प्राचीनता के सम्बन्ध म एक यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद एव अथव वेद सहिताओ के सकलन के मध्य पर्याप्त अन्तर है। ऋग्वेद क मन्त्रो के स्पष्टीकरण के लिए किसी भी पृष्ठभूमि के अभाव म इस प्रकार की लोक प्रचलित कथाओ का सकलन अवश्य हुआ होगा जो उन पर प्रकाश डाल सकने म समथ हो। प्रो० मक्समूलर के अनुसार, अथववेद

---

१ 'इतिहास पुराण पचम वेदाना वेद्य। छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।१।
२ अथववेद सहिता ११।७।२४।
३ हाल्टमन महाभारत भाग ४ प २६ तथा ई डब्ल्यू हापकिन्स द ग्रेट एपिक्स आफ इण्डिया पृ० ४७।
४ विण्टरनित्ज इण्डियन लिटरेचर भाग १ १९२७ पृष्ठ ५१६ पर उद्धत।

सहिता के सकलन का समय लगभग ११०० ई० पूव है। इसको निश्चित मान लेने की स्थिति म इसके और यास्क के मध्य का अन्तर चार या पाँच शताब्दिया स अधिक नही रह जाता। यास्क से पूव ही निश्चित रूप स ऐस व्यक्तिया का एक सम्प्रदाय बन चुका था, जो वद मन्त्रा की व्याख्या पौराणिक आख्याना को आधार बनाकर करने का पक्षपाती था। इस प्रकार के आख्यानविदा को निरुक्तकार यास्क ने 'ऐतिहासिका' नाम से सम्बोधित किया है। यह ऐतिहासिक सम्प्रदाय, यास्क स कितन पूव स्थापित हुआ था, इस सम्बन्ध म निश्चित रूप से कुछ कह सकना सम्भव नही है क्योंकि यास्क स पहले भी कई निरुक्तकार हो चुके है, जिनका उल्लेख यास्क ने अपन निरुक्त म किया है। इनके ग्रन्थ अब प्राप्त नही हैं।

उल्लिखित विवरण से यह स्पष्ट है, कि पुराण की परम्परा बहुत प्राचीन युग से चली आ रही है। अनेक वदिक आख्याना का, मूल रूप से पुराणा म सुरक्षित रहना भी पुराणा की प्राचीनता पर प्रकाश डालता है। शुन शेप, दवापि तथा राजा सुदास के आख्यान इसी प्रकार के हैं।

शुन शेप का आख्यान वदिक आख्यान है। सहिता, ब्राह्मण, सूत्र, बृहद्देवता तथा अनुक्रमणी प्रभृति वदिक ग्रन्थो म इसके विवरण मिलत है। अनेक पुराणा म भी यह आख्यान विविध रूपो म उपलब्ध है। समय की धारा के साथ इसम अनेक परिवतन भी हुए है, तथापि इसका मूल रूप सुरक्षित है। सहिताओं की मत्र रचना के समय यह आख्यान प्रचलित था। ऋग्वेद सहिता के कुछ मन्त्रा से इस प्रकार का सकेत मिलता है, जिनका ऋषि भी शुन शेप है। ऐतरेय ब्राह्मण से पुराण पयन्त इसके साथ राजा हरिश्चन्द्र का नाम सम्बद्ध मिलता है।[1]

राक्षस रूप म परिवर्तित राजा सुदास के अनुयायियो द्वारा वसिष्ठ के १०० पुत्रा का मारा जाना तथा तप से राक्षस को मारने के लिए वसिष्ठ का शक्ति प्राप्त करने का आख्यान ऋग्वेद के युग म प्रचलित था।[2] इस घटना का विशद वणन विभिन्न पुराणा म[3] प्राप्त है। यह आख्यान रामायण[4] म भी आया है किन्तु वहा इसका असली रूप नष्ट हो गया है। वहा राजा का नाम सुदास न होकर 'सौदास कल्मापपाद' है। यहाँ वसिष्ठ के शाप स राक्षस रूप म परिवर्तित राजा के द्वारा वसिष्ठ के १०० पुत्रा के मारन का उल्लेख नही है। पुराणा के आख्यान म रामायण की अपेक्षा इस कथा का मूल रूप अधिक सुन्दर रूप स सुरक्षित है।

देवापि का आख्यान भी ऋग्वेद[5] तथा अनेक पुराणो म[6] मिलता है। यह निरुक्त मे भी है।[7] यद्यपि विभिन्न स्थलो पर इन आख्याना मे कुछ भिन्नता मिलती है किन्तु पुराणा

---

१ रामायण में हरिश्चन्द्र के स्थान पर अम्बरीप का नाम है।

२ ऋग्वेद सहिता ७ १०४, ११६।

३ विष्णु पुराण ४ ४ २ ३८। भागवत पुराण ९ ९, १८ ३९। वायु पु० १ १७८, १७९ तथा २ १०, ११। ब्रह्माण्ड पु० १ २ १० ११। महाभारत शान्ति० १७६ १७७।

४ रामायण ७ ६५ १ ३७।

५ ऋग्वेद १० ९८ ७।

६ विष्णु पु ४ २० ७ से आगे भागवत ९ २२ १४ १७ मत्स्य ५० ३९ ४१। ब्रह्म १३ ११७ महाभारत उद्योग पव १४८ ५४ ६६।

७ निरुक्त २ १०।

में इसका मूल रूप सुरक्षित रखा जा रहा है। भागवतादि अष्टादश पुराणों के द्वारा निर्दिष्ट समाधान तथा समस्या की उत्पत्ति यद्यपि उपनिषदों तथा इसी प्रकार के प्राचीन धर्मग्रन्थों में उपलब्ध हैं, जिनकी पूर्व-परम्परा वैदिक काल तक में ढूँढ़ निकाली है।

पुराणों की सार्वप्रियता के कारण ही आज तक प्राचीन पुराणों की रचना का क्रम अविच्छिन्न है किन्तु इन आधुनिक पुराणों में भी प्राचीन पुराण-संहिताओं की सामग्री का अभाव नहीं है।

विण्टरनित्स के मतानुसार[1] पुराण साहित्य ईसा से कई शताब्दी पूर्व विविध रूप में रहा होगा क्योंकि ईसवी पश्चात् के जैन तथा बौद्ध के समान प्रस्तार रचनाओं पर ये नाम पुराणों से उत्पन्न नहीं होते। दूसरी सदी पुराणों का प्रथम संग्रह का काल निर्धारित करना है क्योंकि प्रथम सदी के बौद्ध महायान ग्रन्थों में पुराणों का विषय पर्याप्त मिलता-जुलता है। ललित विस्तर को न केवल पुराणों की संज्ञा ही प्राप्त है वरन् इसका अधिकांश भाग पुराणों के समान है। सद्धर्म पुण्डरीक तथा महावस्तु के बुद्ध प्रवचन अमितायुर्ध्यानसूत्र तथा करण्डव्यूह ज्ञान की दृष्टि से ही पुराणों की कोटि में आते हैं।

पाश्चात्य विद्वान् पुराणों का जन्म उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के साथ ही हुआ मानते हैं किन्तु उनका मत विभिन्न तर्कों के समक्ष पुष्ट नहीं रह सकता। बाण (सप्तम शती) ने अपने ग्रन्थ हर्षचरित में लिखा है कि वह अपने गाँव में किस प्रकार वायु पुराण का पाठ सुना करता था। अरबी यात्री अलबरूनी (१०३० ई०) ने अठारह पुराणों की सूचना दी है। दार्शनिक कुमारिल (सप्तम शती) शंकर (नवम शती) तथा रामानुज (बारहवीं शती) पुराणों को एक मत से प्राचीन तथा पवित्र ग्रन्थ मानते थे एवं अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए पुराणों का आश्रय लेते थे।

इस प्रकार पुराणों की प्राचीनता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिन्दू विश्वासानुसार पौराणिक वाङ्मय सर्वप्रथम ब्रह्मा से ही प्रादुर्भूत हुआ है। अन्तर केवल यही है कि वैदिक वाङ्मय की प्रथम उपलब्धि जिस रूप में हुई पश्चात् भी उसकी रक्षा उसी रूप में की जाती रही उसकी पदावली में किसी प्रकार के परिवर्तन को अग्राह्य माना गया वह जिस रूप में प्रथम बार सुना गया उसी रूप में बाद में भी बराबर कहा-सुना जाता रहा। इसीलिए उनका दूसरा नाम अनुश्रव तथा श्रुति पड़ा पर पौराणिक वाङ्मय की रक्षा शब्दों में नहीं अपितु अर्थों में की गयी उनकी भाषा बदलती रही पर अर्थ वही रहा। इस प्रकार वेद में जो कुछ उपलब्ध है वह अपने आदिम शब्द और रूप दोनों में है जबकि पुराण केवल अपने मौलिक अर्थों में ही सुरक्षित हैं।

उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि आख्यान साहित्य प्राचीन वैदिक युग में ही समृद्ध हो चुका था। वैदिक साहित्य के समान युग का समादर भी उसे प्राप्त हुआ था। यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि एक ओर तो वैदिक ऋषि वेद सूक्तों का सृजन कर रहे हों और दूसरी ओर समाज के विविध क्षेत्रों के व्यक्ति एवं सामान्य जनता के कवि मौन बैठे रहे हों। अवश्य ही जन कवियों ने जनभाषा में गद्य

---

१ विण्टरनित्स हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर कलकत्ता वि० वि० १९२७ पृ० ५२५।

और पद्य दोनों में राष्ट्रीय वीर पुरुषों के चरित्र गाया होगा तथा इतस्ततः बिखरी हुई घटनाओं को संजोया होगा। प्राचीनतम युग में जो गायकों द्वारा गाये गए अथवा वर्णन किए गए चरितों का कुछ रूप हम वैदिक साहित्य में देखने को मिल जाता है किन्तु इस प्रकार के आख्यानों का अधिक निखरा हुआ रूप हमें रामायण महाभारत एवं पुराणों में ही उपलब्ध होता है।[1]

जहाँ तक पुराणों के स्रोत का प्रश्न है महाभारत तथा पुराण एक समान स्रोत से उद्भूत हुए हैं। यह समान स्रोत मौखिक परम्पराएँ तथा प्राचीन कथा-कहानियाँ थी जो वैदिक काल से जनसमुदाय के मध्य सूतों तथा भाटों की कविता के रूप में चली आ रही थी।[2]

कुछ पाश्चात्य मनीषी पुराणों का मूल स्थान प्राचीन विश्वासों तथा कथाओं में स्वीकार करते हैं कुछ सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियों की क्रियाओं में और कुछ आदिम जातियों की मनोभावनाओं पर आधारित काल्पनिक कहानियों में किन्तु ये धारणाएँ निर्मूल हैं। सम्भवतः अपने यहाँ के माइथालोजिकल साहित्य में उपलब्ध विषय वस्तु के अनुकूल ही इन विद्वानों ने एक कल्पित विचारधारा गढ़ ली है। वस्तुतः सृष्टि की उत्पत्ति आदि से सम्बद्ध कथाओं तथा मानवीकृत भौतिक तत्त्वों से सम्बद्ध कथाओं को ही जिनका सङ्कलन कथा कोविद ग्रामवृद्धों के मुख से सुनकर किया गया था पुराण साहित्य के नाम से अभिहित किया गया।

पुराणों की संख्या

पुराणों के मुख्यतः दो भेद हैं—महापुराण और क्षुल्लक लघु या उपपुराण—

एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च॥[3]

महापुराणों की संख्या अठारह है—

१ ब्रह्मपुराण	७ मार्कण्डेय पुराण	१३ स्कन्द पुराण
२ पद्म पुराण	८ अग्नि पुराण	१४ वामन पुराण
३ वायु पुराण	९ भविष्य पुराण	१५ कूर्म पुराण
४ विष्णु पुराण	१० ब्रह्मवैवर्त पुराण	१६ मत्स्य पुराण
५ भागवत पुराण	११ लिंग पुराण	१७ गरुड पुराण
६ नारदीय पुराण	१२ वराह पुराण	१८ ब्रह्माण्ड पुराण

वामन पुराण के निम्नलिखित श्लोक में इन पुराणों का संकेत आद्य अक्षर द्वारा दिया गया है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिंग कूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्॥

---

१ विण्टरनित्स हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर कलकत्ता वि० वि० १९२७ पृ० २२६।
२ वही पृष्ठ ५२१।
३ स्कन्द पुराण अध्याय १२ श्लोक ७।

मद्वयम्—अर्थात् मकार से आरम्भ होने वाले दो पुराण मत्स्य और मार्कण्डेय पुराण।

भद्वयम्—भकार से आरम्भ होने वाले दो पुराण भविष्य और भागवत।

ब्रत्रयम्—अर्थात् बकार से आरम्भ होने वाले तीन पुराण ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और ब्रह्मवैवर्त।

वचतुष्टयम्—अर्थात् वकार से आरम्भ होने वाले चार पुराण वराह वायु वामन विष्णु।

अनापलिंग कूस्कानि—अर्थात् [illegible] से अग्नि ना से नारदीय, प से पद्म लिं से लिंग, ग से गरुड कू से कूर्म तथा स्क से स्कन्द।

लघु पुराण के तीन भेद हैं —



उपपुराण भी अठारह हैं—भागवत माहेश्वर ब्रह्माण्ड आदित्य पराशर, सौर नन्दिकेश्वर, साम्ब, कालिका, वारुण औशनस मानव कापिल, दुर्वासस शिवधर्म, बृहन्नारदीय नारसिंह और सनत्कुमार।

अतिपुराण की संख्या भी अठारह है—कार्तव ऋजु आदि मुद्गल पशुपति, गणेश, सौर परानन्द बृहद्धर्म महाभागवत देवी कल्कि भार्गव वसिष्ठ कौर्म गर्ग, चण्डी और लक्ष्मी।

पुराण भी अठारह हैं—बृहद्विष्णु शिव उत्तर नारदीय खण्ड लघुबृहन्नारदीय, मार्कण्डेय वह्नि भविष्योत्तर वराह स्कन्द वामन बृहद्वामन बृहन्मत्स्य, स्वल्प मत्स्य, लघु वैवर्त, बृहद्ववर्त और पंचविध भविष्य।

मत्स्य पुराण के ५३वें अध्याय में लिखा है कि प्रारम्भ में पुराण एक ही था। जिस प्रकार प्राचीन काल में एक श्रुति और स्मृति से ही विभिन्न श्रुति तथा स्मृतियों का जन्म हुआ उसी प्रकार एक पुराण से ही शेष पुराणों का उदय हुआ—

पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ।

वैदिक वाङ्मय में भी पुराण शब्द का प्रयोग एक वचन में ही हुआ। विद्वानों के मतानुसार, प्रारम्भ में सभी पुराणों का संकलन एक पुराण संहिता में रहा होगा। विष्णु पुराण में बताया गया है कि श्री वेदव्यास ने वेदों का संपादन करने के उपरान्त आख्यान उपाख्यान गाथा तथा कल्पशुद्धि को संकलित कर पुराण संहिता अपने एक सूत जातीय शिष्य लोमहर्षण को दी। लोमहर्षण के छ शिष्यों में से चार शिष्यों कश्यपवर्णीय अकृतव्रण शांख्यायन तथा सावर्णि ने मूल संहिता के आधार पर एक एक पुराण संहिता की रचना की। इन्हीं चार संहिताओं का आधार लेकर क्रमशः पुराणों की रचना हुई।

विण्टरनित्स प्रारम्भ में पुराण संहिता के एक होने के पक्ष में नहीं हैं। उनका तर्क है कि जिस प्रकार वेद श्रुति तथा स्मृति-वाङ्मय का एक वचन में प्रयोग किया जाता है

उसी प्रकार पुराण शब्द का भी एक वचन में प्रयोग हुआ है। एक वचन का प्रयोग पुरातन परम्परा तथा पुराण वाङ्मय को ही प्रकट करता है।[1]

पुराण साहित्य का प्रतिपाद्य

पुराणों के प्रतिपाद्य विषय दश हैं—सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय।

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥[2]

इनका आशय इस प्रकार है—

सर्ग—भौतिक सृष्टि। विसर्ग—चर अचर रूप चेतन सृष्टि। वृत्ति—जीविका। रक्षा—ईश्वर का लोकरक्षार्थ अवतारचरित। अन्तर—मन्वन्तर। वंश—प्रसिद्ध राजपरिवार। वंशानुचरित—प्रसिद्ध राजकुलों का इतिहास। संस्था—प्रलय। हेतु—जीव। अपाश्रय—ब्रह्म।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के १३१वें अध्याय में इन्हीं विषयों का कुछ भिन्न प्रकार से उल्लेख है—

सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्चैव स्थितिस्तेषां च पालनम्।
कर्मणां वासना वार्ता चामूनां च क्रमेण च ॥
वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम्।
उत्कीर्तनं हरेरेव देवानां च पृथक् पृथक् ॥

इन दश विषयों का पांच विषयों में समावेश करके कहीं कहीं पुराणों के पांच ही प्रतिपाद्य विषय बताए गए हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ॥
वंशानुचरितं विप्र, पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥[3]

यथार्थ में पुराण का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। वेद का प्रतिपाद्य पुराण-पुरुष परमेश्वर, सच्चिदानन्द अखण्ड ब्रह्म है अतः पुराण का भी वही है। इस मत में कोई विरोधाभास नहीं है। वस्तुतः परब्रह्म का साक्षात निर्देश किसी शब्द द्वारा नहीं हो सकता, उसका परिचय उसके कार्यों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

यह जगत जो विभिन्न नाम और रूपों द्वारा स्पष्ट रूपों से विभाजित है जो अनेक कर्त्ता एवं भोक्ता जीवों से भरा है जिसमें देश, काल निमित्त क्रिया और फल की नियत व्यवस्था है जिसकी रचना के प्रकार का चिन्तन भी कर सकना सम्भव नहीं है उसकी रचना उसका पालन और उसका प्रलय जिस सर्वशक्तिमान् के कारण से होता है, वही ब्रह्म है। इस प्रकार उसके कार्य ही उसके परिचय के उपाय हैं अतः पुराण भी परब्रह्म परमेश्वर के प्रतिपादन का उपक्रम करता हुआ सृष्टि प्रलय आदि उसके कार्यों का ही विवरण प्रस्तुत

१ विण्टरनित्स हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर पृष्ठ ५२२।
२ स्कन्द पुराण अध्याय १२ ७।
३ ब्रह्मवैवर्त पुराण अध्याय १३१।

करता है और इस प्रकार सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरिता के वर्णन द्वारा पुराण इन सब असाधारण कार्यों के शाश्वत सूत्रधार पुराण पुरुष परमात्मा का ही प्रतिपादन करता है।

श्रीशंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र में इसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

अस्य जगतो नाम रूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेक कर्तृ भोक्तृ संयुक्तस्य, प्रतिनियतदेशकाल-निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचना रूपस्य, जन्मस्थिति भंग यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद् ब्रह्म।[1]

रामायण एवं महाभारत में पुराण तत्त्व

रामायण एवं महाभारत इन दोनों वृहद् ग्रन्थों की गणना यद्यपि पुराणों में नहीं की जाती है, ये राष्ट्रीय ऐतिहासिक महाकाव्य हैं, तथापि पुराण-तत्त्व, पौराणिक विशेषताएँ इनमें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं।

महाभारत और रामायण भी पुराणों के सदृश आख्यायिकाओं, कथाओं एवं उद्धरणों के अक्षय भण्डार हैं। प्रधान कथा के साथ साथ इनमें विविध आख्यान भी सम्मिलित किए गए हैं। रामायण की अपेक्षा महाभारत में इस प्रकार के आख्यान अधिक हैं।

रामायण तथा महाभारत में पुराणों से मिलते जुलते इस प्रकार के बहुत से आख्यान हैं जो पुराणों के सदृश ही विविध समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं और व्यक्ति का मार्ग दर्शन करते हैं। पुराणों के सदृश रामायण और महाभारत भी धार्मिक ग्रन्थ माने जाते हैं और लोग इनका पठन-पाठन तथा श्रवण अत्यन्त मनोयोग से करते हैं। चतुर्थ एवं पंचम शती के कुछ शिलालेखों में महाभारत को धर्मसंहिता के रूप में उद्धृत भी किया गया है। महाभारत की विषयबहुलता एवं महत्त्व ने उसे पंचम वेद होने का गौरव प्रदान कर दिया है। महाभारत में भी पुराणों के सदृश, सूत लोमहर्ष का पुत्र उग्रश्रवा ही कथा का वर्णन करता है। महाभारत मुख्यतः एक आख्यान ग्रन्थ होने के कारण पुराणों के समान ही इतिहास, धर्म, राजनीति एवं कल्पना का एक सुन्दर संकलन है।

ये दोनों महाकाव्य युगान्तर सूतों के कण्ठहार रहे हैं अतः पुराणों से इनके आख्यानों में किन्हीं स्थलों पर रूप भेद होना स्वाभाविक है। तात्त्विक दृष्टि से पुराण साहित्य तथा इन दो राष्ट्रीय महाकाव्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

पुराणों की लोकप्रियता

पुराणों की लोकप्रियता पुराणों के महत्त्व से सम्बद्ध है जिसे अस्वीकार कर सकना कठिन है। पुराण साहित्य जहाँ जन मन का हार है वहाँ वेद, शास्त्र तथा स्मृतियाँ केवल बुद्धिजीवी धर्मनिष्ठ व्यक्तियों की सम्पत्ति रहती चली आई हैं। अपनी गहनता एवं क्लिष्टता के कारण ही ये ग्रन्थ साधारण बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए दुर्बोध ही माने जाते हैं। सरल भाषा में रचित पुराणों में उपलब्ध कथाएं जहाँ मस्तिष्क को एक सुगम खाद्य प्रदान करती

---

[1] ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य अध्याय १ पा १ सूत्र २।

है वहां इन्हें भी रससिक्त बनाती चलती हैं। 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्', इस स्मृतिसूत्र के अनुसार वेदों का पठन-पाठन या भी इन दो वर्गों के लिए निषिद्ध है किन्तु पुराणों के द्वार प्रत्येक वर्ग जाति, एवं स्तर के व्यक्तियों के लिए खुले हैं। यही कारण है कि अन्य धार्मिक साहित्य की अपेक्षा पुराण साहित्य अधिक लोकप्रिय है। अल्पशिक्षित जनसमुदाय भी इस वाङ्मय की रोचकता से प्रभावित है।

रोचक एवं सरस प्रणाली के कारण ही विद्वानों ने पुराणों को वेद शास्त्र के ज्ञान को प्रसारित करने का माध्यम चुना है। वैदिक साहित्य में जो कथाएँ सूत्र रूप में दी गई हैं, उनका विस्तार आवश्यक था और इसी आवश्यकता की पूर्ति के प्रयत्न में, सम्भवतः, पुराणों की रचना हुई।[1] आस्थावान धार्मिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति तो पुराणों के अनुशीलन को अपरिहार्य ही मानते हैं। इनका पठन-पाठन पापों का परिहार करने वाला भी माना गया है।[2] यह आस्था पुराणों की गरिमा, पावनता एवं उपादेयता पर भली प्रकार प्रकाश डालती है।

पुराणों का अध्ययन और मनन व्यक्ति को विद्वानों की श्रेणी में लाकर सम्मान का अधिकारी बनाता है। पुराणों की लोकप्रियता में यह तथ्य भी अति सहायक है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥

—ब्रह्माण्ड पुराण, अ० १

पुराणों की लोकप्रियता केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, वरन् अपने कलेवर में विविध विषयों राजनीति, मनोविज्ञान, दर्शन, भूगोल, खगोल, इतिहास तथा विज्ञान की विविध शाखा प्रशाखाओं का ज्ञान[3] समाये रखने के कारण ही पुराण सर्वप्रिय बन गए हैं।

हिन्दू धर्म के समस्त सिद्धान्तों दया, धर्म, सत्य, उदारता, करुणा एवं तप-त्याग संयम तथा कर्त्तव्य भावना पर अनेक सरस कथाओं का संग्रह होने, अतएव प्रेरणा का स्रोत होने के कारण भी पुराणों ने लोकप्रियता प्राप्त की है।

पुराणों के अनेक उपाख्यान, समस्त उत्तरवर्ती संस्कृत के नाट्य एवं काव्य साहित्य के लिए उपजीव्य बन गये हैं। पुराणों की लोकप्रियता के कारण ही इनका आधार लेकर बहुत से नाटककार एवं कवियों तथा महाकवियों ने रूपक, उपरूपक, काव्य, महाकाव्य, चम्पू कथा तथा आख्यायिकाओं की रचना की है।

पुराणों के अधिक लोकप्रिय होने के कारण ही आज तक उनका निर्माण समाप्त नहीं हुआ है। इसलिए पुराणों की संख्या अठारह से अधिक है। न केवल इतना ही पुराणों की

---

१ सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १७४-७५।

२ यस्मात् पुराह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

—ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय १

३ एफ० ई० पार्जिटर, आउटलाइन आफ द रिलीजियस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ० १३६।

लोकप्रियता देखकर जैन आचार्यों तथा जैन सिद्धान्तानुसार अनेक पुराणों तथा चरित ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास के सदृश्य की लोकप्रियता के कारण ही अनेक दूतकाव्यों की रचना हुई थी। सम्भव है कि प्राचीन वैदिकयुगीन पुराण साहित्य के आधार पर वर्तमान पुराणों की भी रचना की गई हो।[1]

संक्षेपतः पुराण लोकप्रिय हैं। इनका अध्ययन मनन से धार्मिक मनोवृत्ति वाला व्यक्ति ही तोष अनुभव नहीं करता, प्रत्युत मानव मात्र के औत्सुक्य का शमन करने में भी पुराण सहायक बनते हैं। ज्ञान विज्ञान के भण्डार धर्म के आगार प्रेरणा के स्रोत आचार व्यवहार के मार्ग निर्देशक होने तथा अपनी सरल एवं रोचक शैली के कारण ही पुराण साहित्य ने विविध क्षेत्रों में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की है इसमें कोई सन्देह नहीं।

हिन्दी मे पौराणिक नाटक तथा उनकी रचना के आधार

नाटक की उपादेयता का भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

—नाट्यशास्त्र अध्याय १ ११४ ११५

वस्तुतः पुराणों की कथाओं में भी उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हैं। पुराणों की ये कथाएँ जब नाटक के माध्यम से सामाजिकों प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं तो निस्सन्देह इनका प्रभाव उपर्युक्त नाट्यशास्त्र (अ० १ ११४ ११५) के अनुसार ही होता है। दुःखित तथा थकित व्यक्ति का श्रम निवारण कर ये धर्म यश और बुद्धि का वर्धन करने में सक्षम हैं। पुराण-कथाओं की इन्हीं विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए सम्भवतः पौराणिक नाटकों का प्रणयन किया गया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने पिता बा० गोपालचन्द्र रचित 'नहुष' नाटक को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक स्वीकार करते है।[2] बाबू ब्रजरत्नदास भारतेन्दु युग से पूर्व रचित अनेक नाटकों का उल्लेख करते हुए भारतेन्दुरचित 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक को ही आदि नाटक का स्थान देते हैं।[3] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनन्दरघुनन्दन' को

---

१ विण्टरनित्स ने उपपुराणों को 'न्यू वाइन इन ओल्ड बॉटल्स' कहा है।
—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भाग १ पृष्ठ ५१८।

२ नाटक नेशन प्रेस सन् १९४१ पृ० ५५।

३ हिन्दी नाट्य साहित्य चतुर्थ सं० २००६ पृष्ठ ७५।

हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक मानते हैं।[1] डॉ० सोमनाथ गुप्त इस विषय में आचार्य शुक्ल के ही समर्थक हैं।[2] डा० श्रीकृष्ण लाल एक मुसलमान लेखक के नाटक 'इन्दरसभा' को हिन्दी का प्रथम नाटक घोषित करते हैं।[3] डॉ० दशरथ ओझा की दृष्टि में अपभ्रंश मिश्रित पश्चिमी राजस्थानी में लिखित सन्देश रासक नाटक हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक है।[4] यह नाटक एक उदारचेता मुसलमान द्वारा १३वीं शती में लिखा गया था। डा० देवर्षि सनाढ्य मौलिक नाटकों में भारतेन्दुजी के नाटक सत्य हरिश्चन्द्र तथा अनूदित नाटकों में लक्ष्मणसिंह कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक के हिन्दी अनुवाद 'शकुन्तला' को हिन्दी के आदि नाटकों की कोटि में रखते हैं।[5]

उपर्युक्त सभी महानुभाव हिन्दी के प्रथम नाटक के सम्बन्ध में चाहे एक मत भले न हों किन्तु उनके मत इस निष्कर्ष को स्थापित करने में अवश्य सहायक होते हैं कि हिन्दी नाटकों का आरम्भ केवल सन्देशरासक के अतिरिक्त, जिसका कथानक पौराणिक नहीं है पौराणिक कथाओं से हुआ।

हिन्दी के विकास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य आज के सदृश बुद्धिजीवी नहीं था। उसमें अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रति आस्था थी और धार्मिक दैवी चरित्रों को वह आदर्श मानकर चलता था। अतएव नाटकीय रंगमंच पर भी अपने आदर्श पुरुषों के चरित्रों को ही देखना उसे अधिक प्रिय था। भारतेन्दु से पूर्व उस समय के मनुष्य का दैनिक जीवन भी आज के समान समस्याओं से घिरा हुआ नहीं था। अपने आसपास की छुटपुट समस्याओं को वह अपने पूज्य दैवी चरित्रों के अवलोकन द्वारा ही शान्त कर लेना अपना कर्त्तव्य मानता था। अतः प्रारम्भ से ही पौराणिक नाटकों का प्रचलन ही अधिक रहा, वर्तमान युग की भाँति सामाजिक तथा समस्या-नाटकों का प्रारम्भ तब नहीं हो पाया था। समय की गति तथा परिस्थितियों के मोड़ ने नाटक की विषयवस्तु में आज बहुत परिवर्तन ला दिया है, तथापि पौराणिक नाटकों के सृजन का अन्त आज भी नहीं हुआ है, सम्भवतः होगा भी नहीं। मानव के अन्त-बाह्य द्वन्द्व के घनीभूत होने के साथ-साथ आदर्श पुरुषों की प्रेरणा की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की जाती रहेगी।

हिन्दी में पौराणिक नाटकों की रचना के आधार मुख्यतः रामायण तथा महाभारत ही रहे हैं। इन दोनों में भी महाभारत का स्थान प्रथम है। महाभारत अपने समय की कथाओं का एक बृहद संग्रह है जिसमें विशाल कथा-साहित्य एक स्थान पर एकत्रित उपलब्ध होता है। इन्हीं कथाओं से सूत्र लेकर नाटककारों ने अपनी रचना को विस्तार दिया है। इन दोनों के पश्चात् पुराणों की बारी आती है। पुराणों में भी महाभारत के सदृश शतशः कथाएं बिखरी पड़ी हैं जिनमें से उपादेय कथाओं को आधार बनाकर हिन्दी में अनेक नाटकों

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास।
२ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास तीसरा सं० १९४१ ई० पृ० ५।
३ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास १९४२ पृ० १९४।
४ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास तृतीय सं० १९६१ पृ० ६१।
५ हिन्दी के पौराणिक नाटक प्रथम संस्करण पृ० ६८।

की रचना की गई है और इन नाटकों का उद्देश्य सामाजिकों में रसानुभूति को तीव्र कर उन्हें सदुद्देश्यों के प्रति प्रेरित करना रहा है। रचनाकारों ने अपने सर्जन की सार्थकता इसी में मानी कि वे ख्यातवृत्त अर्थात् पुराण इतिहास प्रसिद्ध वृत्तान्त को कल्पनानुसार परिवर्तित कर उसके मूल स्वरूप को अखण्ड रखते हुए प्रेक्षकों को अपने इच्छित लक्ष्य तक पहुँचा दें। यह इच्छित लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति ही मुख्य रूप से रहा, ऐसा ही समझना चाहिए। यूनानी नाटकों की ट्रेजिडी से यह उद्देश्य सर्वथा भिन्न था।

प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र और आवश्यकता

आज के विकासशील बौद्धिक युग में मनुष्य के ज्ञान की परिधि ने विस्तार पाया है उसके अध्ययन, मनन, और गवेषणा की सीमाओं ने भी प्रगति की है, किन्तु यह उन्नति और प्रगति वैज्ञानिक अधिक है दार्शनिक कम। यहाँ वैज्ञानिक प्रगति से आशय मनुष्य के भौतिक विकास से है। सुविधापूर्ण अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना मनुष्य के वैज्ञानिक मस्तिष्क के लिए आज तनिक भी कठिन नहीं रहा है, किन्तु उसका मस्तिष्क आवश्यकता और आविष्कार इन दो घेरों में ही घिर कर रह गया है। अतएव हृदय का विकास तथा आत्मिक उन्नति उसके सम्मुख न कोई महत्त्व रखती है न उपादेयता।

यह आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य का मस्तिष्क जितना विकास पा रहा है, समस्याएँ उतनी ही जटिल होती जा रही हैं। समस्याओं के संकुल संसार में यदि उसे एक दिन साँस लेना भी कठिन हो जाए तो आश्चर्य नहीं, परन्तु इससे भी अधिक विडम्बना का विषय यह है कि समस्याओं का समाधान निकट होते हुए भी वह इसे देख नहीं पा रहा है। धार्मिक आस्थाओं के प्रति उसकी अश्रद्धा और उसकी अस्थिर बुद्धि ही इस सबके लिए उत्तरदायी है। वह भूल गया है कि उसके पास उसके पूर्वजों के द्वारा संचित ज्ञान का इतना बड़ा कोष है जिसका मूल्य हीरे मोतियों से कहीं बढ़कर है। यदि वह चाहे तो ज्ञान के इस अक्षय भण्डार को खोल कर सरलता से मार्ग पा सकता है। पुराण साहित्य वस्तुतः इसी प्रकार का ज्ञानकोष है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोतों को स्पष्ट करते हुए उन विविध स्थलों की ओर भी संकेत करता है जो व्यक्ति के लिए मार्गदर्शक एवं प्रेरक का कार्य कर सकते हैं।

वस्तुतः पुराणों के प्रति पाठकों में जिज्ञासु वृत्ति जागृत करना इस निबन्ध का एक मुख्य लक्ष्य रहा है। पुराण कपोल-कल्पित ग्रन्थ नहीं हैं इनके पृष्ठों में नवजागरण का सन्देश बिखरा पड़ा है, अध्ययन द्वारा ही इस तथ्य की सत्यता को पहचाना जा सकता है। यह सच है कि पुराणों के अनेक स्थल आज की तार्किक बुद्धि वाले मानव को तुष्ट करने में असमर्थ रहते हैं। इनके आख्यान पाठक को चमत्कारपूर्ण और अलौकिक प्रतीत होते हैं, जिन पर विश्वास करना उसकी बुद्धि को युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हो सकता, किन्तु इसका कारण यही है कि एक तो पुराणों के सर्जनकाल की परिस्थितियाँ भिन्न थीं, दूसरे पुराणों के प्रणेताओं ने कथाओं के माध्यम से केवल प्रतीकों को ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यदि इस पृष्ठभूमि को समझ कर पुराणों का अध्ययन किया जाए तो निश्चित ही अध्येता को निराश नहीं होना पड़ेगा।

वेण की कथा पुराणा म इसी प्रकार की कथा है। राजा वेण का जन्म तथा मरण दोना ही बडी विचित्र परिस्थितियों म घटते है। वेण की मृत्यु के उपरात उसकी दाइ भुजा को मथकर पृथु की उत्पत्ति तथा बाद से उसकी पत्नी (अर्चि) की उत्पत्ति की कथा निःसन्देह अविश्वसनीय प्रतीत होती है। कथा की उपादेयता पर भी इसम कोई प्रकाश नही पडता किन्तु यदि इन प्रतीको की गहराई म पठा जाए तो वेण का गव तथा उसका परिणाम मनुष्य के विवेक को जागत कर उसके अह को बुझान का एक उत्तम साधन बन सकता है। इसी प्रकार शिव-पार्वती की कथा नारी मनोद्वन्द्व तथा पुरुष के अनुराग की एक सुन्दर कहानी है। अजामिल सुधन्वा तथा मारध्वज आदि की कथाएँ सत्य त्याग, सयम शौय निस्वाथ भाव तथा उत्कट भक्ति की द्योतक हैं। य कथाएँ वस्तुत वे निझर हैं जिनके किनारे पर बठकर आज के मानव का सतप्त मन अमन्या उलझना एव मानसिक द्वन्द्वो म मुक्त हो सकता है।

हमारे जातीय साहित्य का एक विशिष्ट अग पुराण जिसम महाभारत तथा रामायण भी सम्मिलित हैं आज उपेक्षित पडा है। शिक्षित समुदाय इन्हें हिन्दुओ के धमग्रन्थ भर मानता है जिसके पठन पाठन की अनिवाय आवश्यकता वह इसलिए नहीं समझना क्योकि उसके वज्ञानिक मस्तिष्क को यह रुचता नही है। अशिक्षित एव अल्पशिक्षित जगत रामायण इत्यादि का पाठ केवल धमशील बुद्धि स यह मानकर करता है कि इनका पाठ पापो का परिहार करने म समथ है। इनके अतिरिक्त भी इसकी कोई महत्ता अथवा उपयोग हो सकता है दोनो ही श्रेणी के व्यक्ति इससे अनभिज्ञ हैं। सक्षेपत पुराणो के सास्कृतिक मूल्य अथवा उसकी रम्यता की दृष्टि कहीं भी देखने म नही आती। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध जिज्ञासुओ को इस नई दिशा की ओर मुडने क लिए प्रेरित करने म समथ हो, यह दृष्टि भी इस विषय के चयन म रही है।

हिन्दी नाटक क्षेत्र म पर्याप्त काय हुआ है, कई विश्वविद्यालयो म अनेक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किय गए हैं स्वीकृत हुए हैं और प्रकाशित भी हुए हैं। किन्तु इन सभी शोधग्रन्थो का लक्ष्य सामान्य रूप से समस्त नाटकक्षेत्र रहा है। केवल देवर्षि सनाढ्य ने हिन्दी के पौराणिक नाटको का अपने विशिष्ट अध्ययन का विषय बनाया है। हिन्दी के पौराणिक नाटक साहित्य का भी अधिक विस्तार होने के कारण, देवर्षि भी सभी नाटको का सूक्ष्म विवचन प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। शोध प्रबन्ध की निश्चित सीमा म ऐसा सम्भव भी नही था। इतने विशाल पौराणिक नाटक साहित्य का सर्वेक्षण करते समय विहगम दृष्टि ही डाली जा सकती थी तथापि काय की गुरुता और सीमा का ध्यान रखते हुए देवर्षि ने जो विवचन प्रस्तुत किया है उसम निश्चित ही एक अभाव की पूर्ति हुइ है और उसका अपना एव स्वतन्त्र महत्त्व है।

मैंने अपने शोध का विषय हिन्दी के पौराणिक नाटको क मूल स्रोत इसलिए चुना है कि इस धारा का यह क्षेत्र अब तक अस्पृष्ट रहा है। इसस पूर्व किसी विश्वविद्यालय म इस शोध का विषय बनाया गया हो ऐसा मुझे विदित नहीं हुआ है। इस क्षेत्र और विषय की भी अपनी सीमाए हैं मैं उनसे भी परिचित हूँ। सभी हिन्दी के पौराणिक नाटको के मूल स्रोतो का विवेचन, एक शोध प्रबन्ध म कर देना सम्भव प्रतीत नही हुआ, अत प्रत्येक युग और धारा क कुछ चुने हुए नाटको को लेकर ही विवचन किया गया है। मेरा प्रयत्न इस शोध प्रबन्ध म इस काय को आगे बढ़ाने की ओर रहा है। क्षेत्र विस्तृत है। यदि मेरा यह प्रबन्ध

कुछ और अनुसंधित्सुओं को इस ओर प्रेरित कर सकें तो और अच्छा कार्य हो सकता है।

पौराणिक नाटकों का वर्गीकरण

हिन्दी के नाटकक्षेत्र में प्राय सभी आलोचकों ने नाटकों का वर्गीकरण करते समय पौराणिक नाटकों का भी एक वर्ग स्वीकार किया है। डा० नगेन्द्र ने 'पौराणिक-नैतिक' वर्ग स्वीकार तो किया है किन्तु इसका विशद एवं स्पष्ट विवेचन नहीं किया है।[1] डा० दशरथ ओझा ने अपने वर्गीकरण में एक वर्ग पौराणिक या धार्मिक नाटकों का स्वीकार किया है।[2] इसके उन्होंने तीन भाग किए हैं—

१—रामचरित्र

२—कृष्णचरित्र

३—सन्तचरित्र

रामचरित्र में तो रामकथा सम्बन्धी नाटकों का समावेश किया है और कृष्णचरित्र में कृष्णकथा सम्बन्धी नाटकों का। सन्तचरित्र में उन्होंने सूर, तुलसी, कबीर, विवेकानन्द प्रभृति सन्तों को सम्मिलित किया है। राम और कृष्णचरित सम्बन्धी नाटकों को पौराणिक वर्ग में सम्मिलित करना तो ठीक है किन्तु सन्तचरित सम्बन्धी नाटकों को पौराणिक वर्ग में रखना ठीक प्रतीत नहीं होता। सामान्य रूप से पौराणिक कथाओं से ऐसी कथाओं का बोध होता है जिनके सम्बन्ध में स्वीकृत प्रामाणिक इतिहास प्राय मौन रहता है। इन कथाओं में वर्णित व्यक्तियों के चरित अथवा घटनाओं का ठीक-ठीक समय निर्धारण करना यदि सर्वथा असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। यह बात सूर, तुलसी, कबीर आदि सन्तों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। ये अभी अतीत के इतने गर्भ में नहीं चले गए हैं कि इन्हें पुराण चरित्र कहकर पुकारा जा सके। दूसरी बात पौराणिक के साथ धार्मिक जोड़ना भी असमीचीन है। पौराणिक तो धार्मिक होता ही है। पुराण को धर्म के क्षेत्र से पृथक किया ही नहीं जा सकता। तीसरी बात यह कि ओझाजी का यह वर्गीकरण अपूर्ण है क्योंकि राम और कृष्ण के चरित से इतर भी अनेक ऐसे चरित हैं जिनका आश्रय लेकर हिन्दी में अनेक नाटकों की रचना हुई है। इस प्रकार के सभी चरित्र किसी-न-किसी पुराण से सम्बद्ध हैं अत ये भी पौराणिक ही कहे जाएँगे।

डॉ० श्रीकृष्णलाल ने जो वर्गीकरण किया है वह चरितों की धाराओं के आधार पर नहीं अपितु नाटककारों के वर्ग के आधार पर है।[3] वह इस प्रकार है—

१—धनाद और राधेश्याम स्कूल

२—वन्नीनाथ भट्ट स्कूल

३—प्रसाद स्कूल

नाटकीय विधान और शैली की दृष्टि से भले ही यह वर्गीकरण हिन्दी आलोचकों

---

1. आधुनिक हिन्दी नाटक, प्र० सं० १९६६ ई०, पृ० ८०।
2. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, प्र० सं०, पृ० ४३३।
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९४८, पृ० २८–२९।

को उचित प्रतीत होता हो तथा क रूप-वैविध्य की दृष्टि से यह सर्वथा अनुपयुक्त है।[1] इसके अतिरिक्त इतिहास प्रसिद्ध सूर तुलसी कबीर आदि संतो को यहां भी पौराणिक वर्ग म सन्निविष्ट कर लिया गया है यह भी ठीक प्रतीत नहीं होता। यद्यपि उन्होंने स्वयं इसका समाधान करने का प्रयत्न किया अवश्य है किन्तु वह सुपुष्ट नहीं बन पाया है।[2] ऊपर के तीनों विद्वान आलोचकों की अपेक्षा डा० सोमनाथ गुप्त का वर्गीकरण कुछ अधिक युक्ति-युक्त है।[3] इसे इन्होंने तीन धाराओं म विभक्त किया है—

१—रामचरित धारा

२—कृष्णचरित धारा

३—अन्य पौराणिक आख्यानों और पात्रों म सम्बन्ध रखने वाली धारा।

डा० सोमनाथ का यह वर्गीकरण भी सर्वथा दोषरहित नहीं है। इसमें भी एक बड़ी कठिनाई यह है कि एक ही कथा महाभारत रामायण एवं अनेक पुराणों में प्राप्त होती है। उसे किस धारा पर आधारित माना जाय इसका निर्धारण करना कभी कभी बड़ा कठिन हो जाता है।

डॉ० देवर्षि सनाढ्य ने ऊपर लिए डा० सोमनाथ के वर्गीकरण को ही कुछ हेर फेर के साथ स्वीकार कर लिया है।[4] इन्होंने भी इसे तीन धाराओं म विभक्त किया है—

१—रामचरिताश्रित पौराणिक नाटक

२—कृष्णचरिताश्रित पौराणिक नाटक

३—अन्य चरिताश्रित पौराणिक नाटक

डा० सोमनाथ के वर्गीकरण म जो कठिनाई उपस्थित होती है यहां पर भी उसका निराकरण नहीं हो सका है।

मैं अपने इस विवेचन म उपरिनिर्दिष्ट किसी भी विद्वान के वर्गीकरण को यथावत रूप म स्वीकार नहीं कर सकी हूं। विषय की दृष्टि से मेरा विवेचन भिन्न प्रकार का है तो मेरी कठिनाइयां भी भिन्न प्रकार की हैं। मेरे विवेचन का मुख्य लक्ष्य पौराणिक नाटकों के मूल स्रोतों का विवेचन है। ये स्रोत प्रधानरूप से रामायण महाभारत एवं विविध पुराणों म ही खोजे जा सकते हैं। इसलिए इस विवेचन प्रबन्ध का वर्गीकरण मैंने निम्नांकित चार धाराओं म किया है—

१—पुराण धारा

२—महाभारत धारा

३—रामायण धारा

४—कृष्ण धारा

पुराणधारा म केवल उन्हीं नाटकों को गृहीत किया है जिनका मुख्य आधार प्रसिद्ध

---

१ हिन्दी के पौराणिक नाटक देवर्षि सनाढ्य १९६१ पृ० ६६

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास १९४८ पृ० २४२।

३ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास तृतीय सं० १९५१ पृ० ६६।

४ हिन्दी के पौराणिक नाटक प्र० सं० पृ० १२।

पुराण हैं। देवीभागवत और हरिवंश को भी पुराणों की शृंखला में स्वीकार कर लिया है, यद्यपि हरिवंश महाभारत का ही खिल भाग माना जाता है और देवीभागवत की गणना बहुत से विद्वान अठारह महापुराणों में नहीं करते हैं।[1]

महाभारतधारा में नल-दमयंती कथा, सावित्री सत्यवान कथा और देवयानी शर्मिष्ठा कथा—इन कथाओं पर आधारित नाटकों को छोड़कर केवल वे ही नाटक सन्निविष्ट किए गए हैं जिनका आधार महाभारत की प्रधान कथा कौरव-पाण्डवों की कथा है। मुख्य कथा पर आधारित नाटकों के साथ नल-दमयंती सावित्री-सत्यवान और देवयानी शर्मिष्ठा के आख्यानों पर आधारित नाटक इस धारा में इसलिए सम्मिलित किए गए हैं कि इन तीनों आख्यानों का मुख्य आधार महाभारत ही है। यद्यपि और पुराणों में भी ये उपलब्ध हैं तथापि जितने विस्तार से इनका वर्णन महाभारत में है अन्यत्र नहीं है।

रामायणधारा में राम की मुख्य कथा के अतिरिक्त अवान्तर कथाओं पर आधारित नाटक भी सम्मिलित कर लिए गए हैं यद्यपि इनकी संख्या अति न्यून है। शबरी की कथा और श्रवणकुमार की कथा पर आधारित नाटकों को ही इसमें स्थान मिल सका है।

कृष्णधारा में श्रीकृष्ण के चरित से सम्बद्ध नाटक मुख्यरूप से स्थान प्राप्त कर सके हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण के चरित में सम्बद्ध नाटक कुछ को छोड़कर जिनका आधार महाभारत (हरिवंश और जैमिनीय अश्वमेध पर्व के साथ) है प्रायः पुराणों में वर्णित आख्यानों के आधार पर ही हैं तो भी इन सब नाटकों को एक पृथक् धारा में रखना ही उचित प्रतीत हुआ है क्योंकि श्रीकृष्ण चरित से सम्बद्ध नाटकों की संख्या अधिक है और वे अपनी एक पृथक् श्रेणी का निर्माण स्वयं कर लेते हैं। इससे भी श्रीकृष्णचरित की साहित्य में व्यापकता और महत्त्व सुविदित है।

विवेचन की सुविधा के लिए, प्रथम दो धाराओं को कई अध्यायों में विभक्त किया गया है।

---

१ विन्टरनित्ज़ : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग १ १९२७ कलकत्ता पृ० २३३।

पुराणधारा

प्रथम अध्याय

नहुष-कथा	१	नहुष नाटक,
हरिश्चन्द्र-कथा	१	सत्यहरिश्चन्द्र
	२	सत्याग्रही
वेण कथा	१	वेणुसंहार
	२	वेणचरित
	३	क्रूर वेण

पुराण भारतीय संस्कृति के विश्वकोष है। मानव जीवन और उसके ऐहिक एव पार मार्थिक अभ्युदय से सम्बद्ध कोई विषय छूटा नहीं है, जिसका समावेश पुराणो म न कर लिया गया हो। इनकी वर्णनात्मक एव उपदेशात्मक शैली म तत्व की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए विविध प्रकार के आख्यानो का उपयोग किया गया है। पुराणो म इस प्रकार के आख्यानो की सख्या अति विपुल है। पुराणो की अन्य प्रकार की सामग्री को छोडकर यदि केवल आख्यानो का ही सग्रह किया जाय तो भी कई हजार पृष्ठ बन जाएँगे। देव-मानव जीवन की विविधता के समान इनके भी विविध रूप हैं। इनम से कुछ आख्यानो ने तो मानव को अत्यधिक रूप म आकृष्ट तथा प्रभावित किया है। नहुष, ययाति हरिश्चन्द्र, अजना, सती पार्वती शुकन्या, सगर प्रभृति आख्यान तो भारतीय जीवन और साहित्य के अग से बन गए हैं। देश के किसी भी भाग म चले जाएँ, वहाँ के बच्चे भी इन कथाओ से, इनके प्रधान पात्रो के नामो से अवश्य परिचित मिलेंगे। देश की प्रत्येक साहित्यिक भाषा के साहित्य म यत्र-तत्र पौराणिक कथाओ का उल्लेख प्राय मिल जाता है।

हिंदी म भी जनप्रसिद्ध पौराणिक आख्यानो का आश्रय लेकर काव्य की रचना तो हिन्दी भाषा के विकास के प्रारम्भिक युग से ही होती चली आ रही थी, इधर विक्रम की

बीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से कुछ पूर्व समय से हिन्दी में नाटक रचना का आरम्भ हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीवां महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' को[1] हिंदी का प्रथम नाटक स्वीकार किया है। इसके विपरीत भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध[2] में अपने पिता बाबू गोपालचन्द्र गिरिधरदास द्वारा रचित 'नहुष नाटक' को ही हिन्दी भाषा का प्रथम मौलिक नाटक माना है। इस नाटक की वस्तु का मुख्य आधार पुराण हैं। अतः इसका विवेचन पुराणधारा में किया जाएगा। इसी प्रकार पुराण प्रसिद्ध राजा हरिश्चन्द्र, श्रवण, शिव-पार्वती, च्यवन-सुकन्या, सगर, स्वाहुति प्रभृति अनेक प्रसिद्ध पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर हिन्दी में नाटकों की रचना होती रही है। एक ही कथा के आधार पर अनेक नाटककारों द्वारा अनेक नाटकों की रचना भी की गई है। इस प्रकार के नाटकों का विवेचन जिनकी रचना भिन्न भिन्न काल में हुई है वस्तु की एकता के कारण एक ही स्थल पर एक साथ ही किया जाएगा। नीचे पुराणधारा के कुछ नाटकों के मूल-स्रोतों पर विचार किया जा रहा है।

नहुष नाटक[3]

यह नाटक हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता महाकवि श्री गिरिधर दास (श्री गोपालचन्द्र) का लिखा हुआ है। कहा जाता है कि इस नाटक की रचना उस समय हुई थी जब भारतेन्दुजी केवल सात वर्ष के थे। अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है

"नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पच्चीस वर्ष हुए होंगे जबकि मैं सात वर्ष का था नहुष नाटक बनता था।"[4] भारतेन्दुजी का जन्म सं० १६०७ वि० है अतः इस नाटक की रचना का समय सं० १६१४ वि० मानना चाहिए। यह नाटक लगभग सौ वर्ष तक अविकल रूप से अप्रकाशित रहकर सं० २०११ वि० में अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित हो पाया है। इसके विलम्बित प्रकाशन के पीछे कुछ अनिवार्य कारण रहे हैं।

बात यह हुई कि इस नाटक के लेखक बा० गोपालचन्द्र की मृत्यु सं० १६१७ वि० में अर्थात् नाटक पूर्ण करने के कुछ समय पश्चात् हो गयी। उस समय भारतेन्दुजी की आयु लगभग दस वर्ष रही होगी। उस समय तक नाटक का प्रकाशन नहीं हो सका था। इसकी एक प्रतिलिपि कराने के लिए कन्हैयालाल लेखक को दी गयी। प्रतिलिपि और मूल प्रति

---

१ इसका विवेचन रामायणधारा में किया जायगा।

२ भारतेन्दु नाटकावली भाग १ प्र० सं० १६६२ प्र० रामनारायण लाल।

३ प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्र० सं० २०११।

४ भारतेन्दु नाटकावली भाग २ रामनारायणलाल इलाहाबाद सं० १६६३ प्र० संस्करण पृ० ४७६।

दोनों ही, लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस में गुम हो गयी। बहुत समय तक इनका कुछ भी पता नहीं चला। इसका कुछ अंश, जो भारतेन्दुजी को अपने पिता के कागजों में मिल गया था, बाद को उन्होंने 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित कर दिया। परन्तु वे अपने जीवन-काल में पूरी पुस्तक प्राप्त नहीं कर सके।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह गुम हुई प्रति किसी प्रकार उत्तरप्रदेश के कांकरौली नगर में पहुंची और वहाँ के सरस्वती भण्डार में सुरक्षित होकर एक लम्बे समय तक पड़ी रही। प्रकाशन से कुछ ही वर्ष पूर्व इसकी सूचना डा० ब्रजरत्नदासजी को मिली और उन्होंने इसका सम्पादन करके नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस नाटक की प्राप्त प्रति पर प्रतिलिपिकार ने प्रतिलिपि का समय सं० १९२३ वि० दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि बा० गोपालचन्द्रजी की मृत्यु के छः वर्ष बाद इसकी प्रतिलिपि प्रस्तुत हुई और सम्भवतः लिपिकार के प्रमाद से ही गुम हो गयी। इसकी सुरक्षित उपलब्धि एवं प्रकाशन को हिन्दी के नाटक साहित्य का परम सौभाग्य समझना चाहिए कि उसका आद्य नाटक अज्ञात अतीत के गर्भ से जाकर पुनः जीवित एवं उपलब्ध हो सका।[1]

नहुष नाटक में परम यशस्वी पुरुरवा उर्वशी के पौत्र, सम्राट आयु के पुत्र और ययाति के पिता, परम धार्मिक सम्राट नहुष की कथा है। इस कथा पर आधारित संस्कृत या हिन्दी में अन्य कोई नाटक प्राप्त नहीं है। सम्भवतः लिखा ही नहीं गया। और यदि कभी लिखा भी गया होगा तो प्रकाश में नहीं आया है।

इस कथा में किसी भी प्रासंगिक कथा का सर्वथा अभाव है। मुख्य कथा भी बहुत छोटी है। एक पूर्ण नाटक के लिए यह कथा सम्भवतः अपर्याप्त थी अतः नाटककार ने इसका विस्तार करके कथा को छः अंकों में फैला दिया है। ऐसा करने से कथा का प्रवाह मन्द पड़ गया है और कथावस्तु के प्रति आकर्षण एवं रोचकता भी न्यून हो गयी है।

कथानक

वृत्र के वध के उपरान्त ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र का स्वर्गलोक छोड़कर मानसरोवर में जाकर छिप रहना, रिक्त सिंहासन पर पृथ्वी के राजा नहुष का देवराज बनाया जाना, गर्व के कारण देवगुरु के शासन से नहुष का पतन, तथा पूर्व इन्द्र का ब्रह्महत्या से मुक्त होकर पुनः इन्द्रत्व प्राप्त करना—बस इतनी ही कथा है। नाटककार ने पूरे छः अंकों में इसका विस्तार किया है। इस कथा के प्रमुख पात्र नहुष तथा देवगुरु बृहस्पति हैं। नहुष का चरित्र बहुत उच्च स्तर का है। उसके पतन का कारण उसके चरित्र की कोई स्वाभाविक दुर्बलता नहीं है अपितु मुख्य रूप से देवगुरु का उसके विरुद्ध किया गया षड्यन्त्र है। इसमें देव तथा ऋषि-मुनि सहायक बने हैं किन्तु प्रमुख सूत्रधार देवगुरु ही हैं। पहले तो वे इन्द्र से रुष्ट होकर प्रतिशोध का अवसर पाकर उसके पद पर नहुष को आसीन कर देते हैं और फिर इन्द्र के क्षमा माँग लेने पर तथा शची की प्रार्थना से द्रवीभूत होकर उपाय से नहुष का पतन करा देते हैं। समस्त नाटक में नहुष के प्रति पाठक की जैसी सहानुभूति रहती है, वैसी देवगुरु के

१ नहुष नाटक की भूमिका पृ० १२।

प्रति नहीं। अन्य देवताओं का स्वरूप भी देवत्व विशिष्ट चित्रित नहीं हो सका है।

आधार

नहुष की कथा कई पुराणों एवं महाभारत में आती है।[1] पद्म पुराण के भूमिखण्ड में यद्यपि पन्द्रह अध्यायों में कथा का विस्तार है किन्तु नहुष की कथा के इस भाग का सम्बन्ध प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु से नहीं है। हाँ नहुष के चरित की पूर्वपीठिका के रूप में उसकी अद्भुत वीरता, उपासना तथा धार्मिकता पर यह कथा प्रकाश अवश्य डालती है। स्कन्द पुराण के माहेश्वरखण्ड की कथा बहुत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि यहाँ की यह नहुष कथा आलोच्य नाटक की कथा का प्रमुख आधार तो नहीं है तथापि नाटक की कथा के अनेक संदिग्ध स्थलों का सूत्र यहाँ मिल जाता है। उदाहरण के लिए नहुष नाटक के पाठक के मन में यह बात स्पष्ट नहीं होती कि आचार्य बृहस्पति इन्द्र के किस अपराध के कारण उससे रुष्ट हैं। ब्रह्महत्या लगने पर भी उससे अश्वमेध यज्ञ कराके उसी को देवसिंहासन पर क्या बिठाना नहीं चाहते? इस प्रश्न का उत्तर स्कन्द पुराण के कथानक में मिल जाता है। इस कथानक में कुछ और महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनका स्पष्टीकरण आगे नाटक की कथावस्तु की विवेचना करते समय होगा।

नहुष नाटक की कथावस्तु का मुख्य आधार महाभारत है। महाभारत में नहुष की कथा विविध प्रसंगों में अनेक पर्वों में आयी है।[2] इनमें उद्योग पर्व की कथा, बड़े विस्तार के साथ, पूरे दस अध्यायों में कही गयी है। यहाँ की इसी कथा पर यह नहुष नाटक आधारित है।[3] यहाँ की यह कथा महाराज शल्य और युधिष्ठिर के संलाप में कही गयी है। दुःखी युधिष्ठिर को सान्त्वना देते हुए शल्य ने कहा—

युधिष्ठिर, तुमने अब तक जितना दुःख भोगा है उसका परिणाम सुख होगा। अतः इस विधाता का ही विधान समझकर तुम्हें सन्तोष करना चाहिए। बड़े-बड़े महात्मा और देवताओं को भी दुःख झेलने पड़ते हैं और उन्होंने झेले हैं। सुना जाता है कि सपत्नीक देवराज इन्द्र ने भी बहुत दुःख भोगा था—

---

१ पद्म पुराण भूमिखण्ड अ० ९४ (आनन्दाश्रम पूना) पृ० २५१ (यहाँ पर कथा अति संक्षेप में है।)
पद्म पुराण भूमिखण्ड अ० १०३-११७ (यहाँ नहुष के जन्म हुण्डासुर के संहार तथा अशोक सुन्दरी के साथ उसके विवाह आदि का विस्तार से वर्णन है)।
हरिवंश अ० ३० (ययाति की कथा के प्रसंग में नहुष का उल्लेख हुआ है)।
वायुपुराण उत्तरखण्ड अ० ३० ११-१८।
ब्रह्माण्डपुराण मध्यम भाग अ० ६८ (नहुष का संक्षेप में उल्लेख हुआ है)।
स्कन्द पुराण माहेश्वरखण्ड अ० १५-१७ (बम्बई सं०) यहाँ महर्षि दधीचि के अभिमान की कथा भी नहुष के आख्यान के साथ मिली हुई है।
महाभारत उद्योगपर्व अ० ९-१८ (यहाँ विस्तार के साथ कथा कही गई है)।
महाभारत अनुशासनपर्व अ० ९९-१०० (इन्हीं दो अध्यायों में संक्षेप में कथा है)।
२ महाभारत शान्तिपर्व अ० ७५ श्लोक २५-३ वनपर्व १७९ श्लोक १३-२८ शान्तिपर्व अ० ३४२ श्लोक ४८-५१ उद्योगपर्व अ० ९-१८ अनुशासनपर्व अ० ९९-१००।
३ नहुष नाटक भूमिका पृ० १२।

सव दु:खमिद घोर सुखोदक भविष्यति ।
नात्र मन्युस्त्वया कार्यो विधिर्हि बलवत्तर ॥
दु:खानि हि महात्मान प्राप्नुवन्ति युधिष्ठिर ।
देवरपि हि दु:खानि प्राप्तानि जगतीपते ॥
इन्द्रेण श्रूयते राजन सभार्येण महात्मना ।
अनुभूत महद् दु:ख देवराजेन भारत ॥

इसके पश्चात युधिष्ठिर की जिज्ञासा का शान्त करने के लिए शल्य ने जो कथा सुनायी है, वह इस प्रकार है—

देवा म श्रेष्ठ परम तपस्वी प्रजापति त्वष्टा ने किसी प्रकार इन्द्र स द्रोह हो जाने स तीन सिरवाले पुत्र को उत्पन्न किया । उसका नाम विश्वरूप था । वह अपने एक मुख स वेदा का स्वाध्याय करता, दूसरे म सुरा पीता और तीसरे से सारी दिशाओं की ओर इस प्रकार देखता था, मानो उन्ह पी जाएगा । वह बड़े कोमल स्वभाव वाला तपस्वी तथा जितेन्द्रिय था । उसकी कठोर तपस्या को देखकर इन्द्र के मन म भय उत्पन्न हुआ कि कभी यह इन्द्र न बन जाय । इन्द्र ने उसे तपोभ्रष्ट करने के लिए अप्सराओं को भेजा, किन्तु वे उस परम तपस्वी को विचलित न कर सकी । अप्सराओं की असफलता ने इन्द्र के मन म और भी तीव्र भय का सचार किया । विचार करके अन्त म इन्द्र ने स्वय ही वज्र स समाधिस्थ विश्वरूप का वध कर दिया । पृथ्वी पर मृत विश्वरूप के मस्तक के तेज स इन्द्र का अब भी भय बना हुआ था । सयोग स उसी समय एक बढ़ई कन्धे पर कुल्हाड़ी रखे उधर आ निकला । इन्द्र ने उस प्रेरित कर विश्वरूप के मस्तक के टुकड़े करवा डाले । बढ़ई और इन्द्र दोनो ने ही एक वर्ष पर्यन्त इस घटना को गुप्त रखा । एक वर्ष पश्चात् पशुपति के भूतगणो ने हल्ला मचाया कि इन्द्र ब्रह्महत्यारा है । इन्द्र ने ब्रह्महत्या से मुक्ति पाने के लिए कठिन तप किया । इसके पश्चात उसने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्री समुदाय म अपनी ब्रह्महत्या विभक्त करके उससे मुक्ति प्राप्त की तथा पुन अपने देवराज के पद पर आसीन हुआ ।

उधर प्रजापति त्वष्टा को जब अपने निरपराधी एव परम तपस्वी पुत्र की इन्द्र द्वारा हत्या का समाचार मिला तो उन्हे बड़ा क्रोध आया । उन्होंने इन्द्र के विनाश के उद्देश्य स यज्ञ करके घोर रूप वाले अति तेजस्वी विशाल वृत्र को उत्पन्न किया और आदेश दिया कि जाओ इन्द्र को मार डालो । पिता का आदेश पाकर वृत्र देवलोक म गया । वहाँ वृत्र और इन्द्र का भयकर सग्राम होने लगा । वृत्र ने इन्द्र को अपने मुख म रख लिया । किन्तु कुछ ही समय पश्चात् जम्भाई लेने स इन्द्र बाहर आ गया । फिर दोनो म युद्ध छिड़ गया । वृत्र बहुत बलशाली था। अत इन्द्र युद्ध से विमुख हो गया । इसके पश्चात इन्द्र सहित देवगण युद्ध म विजय प्राप्त करने का उपाय जानने के लिए विष्णुजी के पास गये । उनके परामर्श स इन्द्र ने वृत्र के साथ सन्धि कर ली, किन्तु उसके वध के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा । एक समय समुद्र के किनारे पर वृत्र को देखकर इन्द्र ने सोचा कि समुद्र स उठे ऊँचे ऊँचे फेन स वज्र को आवृत करके यदि इस पर छोड़ा जाय तो यह अवश्य मर सकता है । विष्णु का स्मरण करके उसने वैसा ही किया और वृत्र का सहार हो गया ।

इस विश्वासघात पूर्ण कार्य से इन्द्र के मन म क्षोभ हुआ । विश्वरूप के मारने से एक

ब्रह्महत्या तो पहले ही लग चुकी थी अब दूसरी ब्रह्महत्या और लग गयी। इन्द्र डरकर, मानसरोवर में जाकर एक विशाल कमलनाल में छिप गया। इधर स्वर्ग इन्द्रविहीन हो गया। सर्वत्र अराजकता फैल गई। अनावृष्टि से जनता में हाहाकार मच गया। सब ऋषियों एवं देवताओं ने मिलकर इन्द्र के रिक्त सिंहासन पर राजा नहुष को देवराज बनाया। ऋषियों और देवों ने अपना अपना तप और तेज देकर उसे इतना तेजस्वी बना दिया, कि जो कोई भी उसके सामने आए, उस पर उसकी (नहुष की) दृष्टि पड़ते ही वह तेजोहीन हो जाए। इस प्रकार वह बहुत समय तक शासन करता रहा। धर्मात्मा होते हुए भी उसमें कुछ समय बाद कामुकता एवं गर्व की मात्रा अधिक हो गयी। एक समय वह पूर्व इन्द्र की पत्नी शची को देखकर उस पर आसक्त हो गया। शची अपने सतीत्व की रक्षा के लिए सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से बृहस्पति के पास गई और कहा कि— 'आप मुझे आशीर्वाद देते रहे हैं कि तुम शुभ लक्षणों से युक्त देवराज इन्द्र की प्राणप्रिया अत्यन्त सुखभोगिनी सौभाग्यवती एक पत्नी तथा पतिव्रता हो। अब आप अपनी वाणी को सत्य कीजिए।' बृहस्पति ने उसे आश्वासन दिया—

'मैंने तुमसे जो कुछ कहा है वह अवश्य सत्य है। तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्र को यहाँ आया हुआ देखोगी। तुम्हें नहुष से डरना नहीं चाहिए। मैं सत्य बात कहता हूँ, थोड़े ही दिनों में मैं तुम्हें इन्द्र से मिला दूँगा।'

इसके पश्चात ऋषियों को आगे करके प्रमुख देवगण नहुष के पास गए और परस्त्री गमन के पाप से उसे निवृत्त करने का उन्होंने प्रयत्न किया, किन्तु कामासक्त नहुष ने उनकी बात नहीं मानी। नहुष के डर से देवताओं ने बृहस्पति के घर में आश्रय प्राप्त शची से अनुरोध किया कि वह देवराज नहुष को प्रतिरूप में स्वीकार कर ले परन्तु शची ने उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर बृहस्पति से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की। शरणागत शची की रक्षा का पूरा आश्वासन देते हुए सारी परिस्थिति के समाधान के लिए आचार्य ने उपाय बताया कि शची नहुष के पास जाकर कुछ समय की अवधि माँग ले। समय अनेक प्रकार के विघ्नों से युक्त होता है। समय गर्वीले नहुष का नाश कर देगा।

प्रस्ताव के अनुसार शची ने नहुष के पास जाकर समय की अवधि माँग ली। इस प्रकार से कुछ निश्चिन्त होकर देवगण ने विष्णुजी के पास जाकर वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण किया। उन्होंने इन्द्र को ब्रह्महत्या से मुक्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ करने के लिए कहा। इन्द्र का आकर यज्ञ का समारम्भ हुआ और इन्द्र ने वृक्ष, नदी, पर्वत और स्त्रियों में ब्रह्महत्या विभाजित करके उससे मुक्ति प्राप्त तो कर ली किन्तु नहुष के अभिभावी तेज को देख वह देवलोक से भागकर पुनः उचित अवसर की प्रतीक्षा करने के लिए अदृश्य हो गया। इसके बाद प्रयत्न से दुःखित शची ने उपश्रुति देवी की सहायता प्राप्त करके इन्द्र का पता लगाया। इस बार इन्द्र ने शची से कहा कि—

'नहुष अति तेजस्वी है। ऋषियों और देवों का तेज पाकर वह अजेय हो गया है अतः हमें समय नीति से काम करना चाहिए। तुम नहुष के पास जाकर कहो कि— ऋषियों को वाहन बनाकर यदि तुम मेरे भवन में आओ तो मैं तुम्हें ही अपना पति बनाऊँगी।' शची के कहे हुए वचन पर नहुष देवलोक के प्रमुख ऋषियों की सवारी में जाकर शची के पास आने

की तयारी करने लगा। शीघ्र पहुँचने की उत्सुकता के कारण उसने महर्षि अगस्त्य के सिर पर अपने पैर से आघात किया। उनके शाप से तत्क्षण उसका देवराज के पद से पतन हुआ और उसे सर्प योनि में जाना पड़ा। उधर बृहस्पति के प्रयत्न से इन्द्र को लाया गया और पुनः देवराज बनाया गया।

संक्षेप में उद्योग पर्व में नहुष की इतनी ही कथा है। नहुष नाटक की कथावस्तु का मुख्य आधार, यहाँ की कथा का यह रूप ही रहा है परन्तु नाटक में कुछ घटनाएँ ऐसी भी हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है। कुछ में परिवर्तन है तथा कुछ घटनाएँ नाटककार छोड़कर चला है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य आधार महाभारत को बनाते हुए स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड में वर्णित कथा की कुछ घटनाओं को नाटक की कथावस्तु में मिला लिया है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक के आधार के लिए किसी एक कथा-स्थल का निश्चित नहीं किया जा सकता। अतः नाटक के अंक क्रम से प्रसंगानुकूल ही यहाँ आधार स्थलों पर विचार करना उपयुक्त रहेगा।

प्रस्तावना के पश्चात प्रथम अंक के आरम्भ के प्रथम पद्य में ही इन्द्र द्वारा किसी ब्राह्मण का मस्तक काटने तथा अगले पद्य में ब्रह्महत्या उसका अनुसरण करती हुई बताई गई है—

देखहु तो विपरीतता काल की जो करतार हू प्रभुता ठाने।
ऊँचो सिंघासन देइ अघी कहँ धर्म धरे तेहिं दारिद साने॥
माया बली 'गिरिधारन' की जिहि नेन सहस्र न सो पहिचाने।
काटिके ब्राह्मन-मस्तक को यह आपुने को परमात्मा माने॥

महाभारत एवं स्कन्दपुराण दोनों के कथानक के अनुसार इन्द्र ने दो बार ब्राह्मणवध किया है। पहली बार तो प्रजापति त्वष्टा के तीन सिर वाले परम तपस्वी और तेजस्वी पुत्र त्रिशिरा के मस्तक वज्र से काटे और दूसरी बार त्वष्टा के ही दूसरे पुत्र वृत्र की हत्या की। प्रथम अंक के तृतीय पद्य में इन्द्र ने दोनों का स्वीकार किया है—

एक बार मारयो गुरहिं तब विधि मेटयो ताप।
अब दूजी हत्या लगी, हा! किमि जैहै पाप॥

यहाँ पहली बार गुरु को मारने की बात कही गई है। बात यह थी कि इन्द्र ने समुद्र मन्थन के अवसर पर हुए देवासुर संग्राम में असुरों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् जब अमरलोक का शासनभार सँभाला तो अपना गुरु उसने त्रिशिरा को बनाया। वह बड़ा ही सदाचारी विद्वान और तपस्वी था परन्तु उसका व्यवहार असुरों के प्रति कुछ पक्षपातपूर्ण था। इन्द्र को जब यह बात मालूम हुई तो उसने अपने वज्र से उसके मस्तक धड़ से पृथक कर दिए।[1]

---

१ विश्वकर्मसुतो विप्रो विश्वरूपो महातपाः।
पुरोहितोऽथ शक्रस्य याजकश्चाभवत्तदा॥
तस्मिन् यज्ञे तदानश्च यजन् असुरान् सुरान्।
मनुष्यांश्चैव त्रिशिरा अपरान् शचीपते॥
देवान् ददाति मात्राश्च दैत्यान्गूष्णामथान्तरः।
मनुष्यान् मध्यपातेन प्रत्यहं स महान् द्विजः॥

महाभारत के कथानक में इन्द्र ने प्रजापति त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को अपना पुरोहित नहीं बनाया है, वहाँ तो उसे अत्युग्र, तपस्वी एवं परम जितेन्द्रिय के रूप में दिखाया गया है। तपोभ्रष्ट करने के लिए प्रलोभन के जब सभी उपाय व्यर्थ हो जाते हैं तो इन्द्र को यह भय होने लगता है कि कहीं यह उसे इन्द्रासन से ही च्युत न कर दे, अतः वह उसकी हत्या कर देता है। कारण भिन्न हैं किन्तु दोनों ही स्थलों—महाभारत और स्कन्दपुराण के आख्यानों में इन्द्र के द्वारा विश्वरूप की हत्या का उल्लेख है।

नहुष नाटक में इस प्रथम ब्रह्महत्या का 'ताप' (पाप) विधि द्वारा दूर किया गया। 'तब विधि मेटयो ताप' बताया गया है। महाभारत की कथा में चार अन्न और तप से शुद्ध हुआ कहा गया है।[2] परन्तु स्कन्दपुराण के उस कथानक में विश्वरूप की हत्या के पाप की विभीषिका से स्वर्ग के राज्य को ही छोड़कर इन्द्र को दूर मानसरोवर में चले जाना पड़ता है। उसके रिक्त स्थान पर ही देवों और ऋषियों के परामर्श से पृथ्वी लोक से नहुष को लाकर अभिषिक्त किया जाता है। गर्वातिरेक और कामपरायणता के कारण जब स्वर्ग से नहुष का पतन हो जाता है तो उसके पुत्र ययाति को इन्द्र के पद पर अभिषिक्त किया जाता है। अपने पूर्वकृत पुण्यों को अपने ही मुख से वर्णन करने के कारण और पुण्यों के क्षीण हो जाने से ययाति का भी स्वर्ग से पतन होता है।[3] रिक्त पद को पूर्ण करने की योग्यता वाले किसी व्यक्ति के अभाव में बहुत समय मानसरोवर में तप से शुद्ध हुए पूर्व इन्द्र को ही लाकर बृहस्पति की सहायता से पुनः देवराज के पद पर आसीन किया जाता है।

देवराज के सिंहासन पर विश्वरूप को मारने वाले इन्द्र के पुनः आसीन होने पर जब त्वष्टा को पता चलता है तो इन्द्र के नाश के उद्देश्य से बड़े ही पराक्रमी एवं विशालकाय पुत्र वृत्र को उत्पन्न करता है। इन्द्र वृत्र की शक्ति से भयभीत हो जाता है। ब्रह्मा के परामर्श से देवगण एवं महर्षि दधीचि का शरीर शस्त्र निर्माण के लिए माँग लेते हैं। शस्त्रों के निर्माण

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

—स्कन्दपुराण माहेश्वर अ० १५ श्लोक ४६।

१ महाभारत उद्योगपर्व अ० ९ श्लोक ३८।

२ तद् दृष्ट्वा [illegible] पाकशासन।
[illegible] ॥

[illegible]
[illegible] ॥

—म० भा० उद्योगपर्व ९ श्लोक ४६ एवं ४८।

३ [illegible]

—स्कन्द पु० माहेश्वर १५ १०८।

के उपरान्त वृत्र से इन्द्र का भयंकर युद्ध होता है। इन्द्र मूर्छित होकर गिर पड़ता है। इस पराजय के पश्चात ब्रह्मा के परामर्श से इन्द्र वृत्र के साथ मित्रता कर लेता है किन्तु हृदय से, उसके घात के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करता रहता है। वृत्र में गर्व का अतिरेक हो जाता है। नर्मदा के तट पर पुनः इन्द्र और वृत्र का युद्ध होता है। इसमें वृत्र इन्द्र को उठाकर निगल लेता है। उदर में जाकर इन्द्र, अपने तीक्ष्ण वज्र से उसके उदर का विदारण करके बाहर आ जाता है। वृत्र मर जाता है।

स्कन्दपुराण के इस कथानक में वृत्र के मारने के उपरान्त इन्द्र को लगी किसी ब्रह्महत्या का उल्लेख नहीं है। परन्तु नहुष नाटक में विश्वरूप के मारने के उपरान्त तथा वृत्र के मारने के पश्चात दोनों ही ब्रह्महत्याओं का उल्लेख है। नाटक का आरम्भ ही वृत्र के मारने की घटना के घटित होने के बाद होता है परन्तु वृत्र के मारने का समस्त विवरण कार्तिकेय और जयन्त की बातचीत में दे दिया गया है। इसी विवरण से पता चलता है कि इन्द्र का वृत्र के साथ अंतिम संग्राम नर्मदा नदी के तट पर हुआ था—

नर्मदा तीर भयो अति संगर काल ने दानव-देव संहारयो।
'श्री गिरिधारन' के परताप सों वासव वृत्र को प्रान निकारयो ॥[1]

महाभारत के (उद्योगपर्व, अध्याय ९) कथानक में यह घटना समुद्र के किनारे पर घटी है—

छिद्रान्वेषी समुद्विग्नः सदा वसति देवराट्।
स कदाचित् समुद्रान्ते समपश्यत महासुरम्॥

एवं संचिन्तयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन्।
अथ फेनं तदापश्यत् समुद्रे पर्वतोपमम्॥

स वज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे निसृष्टवान्।
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत्॥

—म० भा० उद्योग १०, ३३-३६

महाभारत के इस कथानक में वृत्र के मारने का साधन भी भिन्न है। यह समस्त कार्य विष्णु के निर्देश एवं सहयोग से हुआ है।

नहुष नाटक में वृत्र की शक्ति एवं बल के भय से देवगण तथा इन्द्र के देवलोक छोड़ कर भाग जाने का उल्लेख हुआ है—

जा दिन सों अरि के भय भागि के त्याग कियो घर मेरे पिता ने।
ता दिन सों जननी ने तज्यो सब धारे हिये 'गिरिधारन' ध्यान॥[2]

इसके पश्चात सब क्षीरसागर के निकट विष्णु के पास जाकर उपस्थित परिस्थिति से उद्धार का उपाय पूछते हैं और उन्हें उत्तर मिलता है—

---

१ नहुष नाटक—१। पृ० २६।
२ नहुष नाटक—१।६ पृ० २३।

सब सुर जाहु दधीचि प मागहु तिनको गात ।
तासु अस्थि को कुलिस रचि करहु वृत्र को घात ।।[१]

महाभारत के कथानक म भी युद्ध म परास्त एव भयभीत देवा का विष्णु की शरण म जाने का उल्लेख है किन्तु वहाँ व प्रस्तुत परिस्थितिया म इन्द्र को वत्र के साथ सन्धि कर लेने का परामर्श तथा उसकी सहायता करन का आश्वासन देते हैं—

गच्छध्व सर्षिगन्धर्वा यत्रासौ विश्वरूपधृक् ।
साम तस्य प्रयुञ्जध्व तत एन विजेष्यथा ॥
भविष्यति जयो देवा शक्रस्य मम तेजसा ।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्यायुधोत्तमे ॥
गच्छध्वमृषिभि साध गन्धर्वैश्च सुरोत्तमा ।
वृत्रस्य सह शक्रेण सन्धि कुरुत मा चिरम् ॥

परन्तु यहाँ क आख्यान म वत्र पर विजय प्राप्त करन के उद्देश्य से महर्षि दधीचि की अस्थिया स कुलिश के निर्माण एव उससे युद्ध की चर्चा नहीं है । इस प्रसग म वहा दधीचि के उपाख्यान का कोई उल्लेख ही नहा है ।

परन्तु महाभारत म ही अन्यत्र इन्द्र के द्वारा वत्र क वध की घटना का तीन बार निरूपण आया है । वनपर्व म इन्द्र और वृत्र की कथा पूरे दो अध्यायो म विस्तार से वर्णित है ।[२] स्कन्दपुराण के माहेश्वरखण्ड म नहुष की कथा के अन्त म वृत्रवध के प्रसग म दधीचि द्वारा अस्थिदान का स्पष्ट वर्णन है । वस्तुत वृत्रवध की कथा के साथ महर्षि दधीचि के शरीर दान की कथा भी जुटी हुई है । प्राय दोनो का उल्लेख एक साथ मिलता है । नाटककार ने नहुष की कथा क साथ वृत्रवध क प्रसग को जोडत हुए दधीचि की कथा को भी मिला लिया है । इसके अतिरिक्त उद्योगपर्व[३] तथा शान्तिपर्व[४] म भी सक्षेप म इस वृत्रवध की कथा का वर्णन है ।

इन्द्र और वृत्र क इस सग्राम म नहुष नाटक क अनुसार वृत्र ने दो बार इन्द्र को छिन्नास्त्र एव परास्त किया है । प्रथम बार तो उस समय जब इन्द्र ने वृत्र को लक्ष्य करके गदा का प्रहार किया । वृत्र न इस बीच म ही पकडकर ऐरावत को मारा । इन्द्र इसी पर आरूढ था । गदा क लगते ही ऐरावत अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पडता है—और साथ ही उसका महावत भी—

तब सुरपति गहि गदा दनुज दिसि भये चलावत ।
ताहि पकरिकर नाम तजि लखिक ऐरावत ।।
तासा ह्व क विकल भयो गज भूतल आवत ।
चेत खोय बल गोय तुरत गिरि परयो महावत ।।[५]

१ नहुष नाटक १ ११ पृ २७ ।
२ महाभारत वनपर्व अ १ ० तथा १०१ ।
३ महाभारत उद्योग अ २१ श्लोक २६ ३० ।
४ महाभारत शान्ति अ ३४२ श्लोक ४० ।
५ नहुष नाटक १ ४ पृ० ३३ ।

नाटक की इस घटना का उल्लेख उद्योग पर्व की महाभारत की कथा में तो नहीं, किन्तु स्कन्द पुराण में कुछ भिन्नता के साथ जुड़ा हुआ है—

गदा प्रगह्य देवेन्द्रो वृत्र विव्याधता गदाम ।
धारयामास वृत्रोऽसावर्तिथि कृपणो यथा ।।
स्वयाञ्च स्वगदा दृष्ट्वा इन्द्रश्चि लामवापह ।[1]

यहाँ वृत्र में अपने प्रति किये गये इन्द्र के गदा प्रहार का ग्रहण तो किया है, पर प्रतिप्रहार नहीं। इसके पश्चात् नहुष नाटक में मातलि द्वारा सज्जित रथ प्रस्तुत कराया गया है—

तब मातलि लायो सुरथ सुदर अव लगाय ।
तापै चढ़ि सुरपति भिडे वृत्र सों जाय ।।[2]

इसका उल्लेख महाभारत अथवा स्कन्द पुराण में नहीं है। नाटक में इसके बाद वृत्र द्वारा एस प्रहार का वर्णन है जिसने इन्द्र को न केवल निरस्त्र किया है, अपितु लज्जित भी बनाया है तथा वृत्र का एक नम्रा नीतिपूर्ण उपदेश भी सुनना पड़ा है। नाटक की कथावस्तु के इस प्रसंग का भी कहीं उल्लेख नहीं है।

इसके अनन्तर दूसरी बार वाहनसहित इन्द्र का वृत्र द्वारा निगल जाने की घटना है।[3] महाभारत के उद्योग पर्व के आख्यान में केवल इन्द्र के निगल जाने का उल्लेख है इसके वाहन रथ या गज आदि का नहीं—

सकुद्धोमहाघोर प्रसक्त कुरुसत्तम ।
ततो जग्राह देवेन्द्र वृत्रो वीर शतक्रतुम ।।
अपावृत्याक्षिपद् वक्त्रे शक्र कोपसमन्वित ।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु सम्भ्रातास्त्रिदिवेश्वरा ।।[4]

परन्तु स्कन्द पुराण के आख्यान में कुंजर वज्र तथा किरीट के सहित इन्द्र का निगलन का निर्देश है—

प्रस्तुवामो महातेजा दत्वानामधिपस्तदा ।
आगत्य सहसा शक्र ग्रासयित्वा सकुंजरम् ।।
सवज्र स किरीट च भवन च जगज च ।
निमिषान्तरमात्रेण ग्रसितोऽसौ पुरन्दर ।।[5]

नाटक में वृत्र के उदर में जाकर वज्र से कुक्षि को चीरकर इन्द्र के बाहर आने का वर्णन है—

मारि कुलिस सो कुक्षि कढ़े तुरतहि ता थल माहिं ।[6]

स्कन्दपुराण के कथानक में भी इसी उपाय से इन्द्र के निगलने का उल्लेख है—

---

१ स्कन्दपुराण माहेश्वर खण्ड अ० १७ श्लोक २२६-२७ (बम्बई सं०)।
२ नहुष नाटक १ ६१ पृ० ३३।
३ नहुष नाटक १ पद्य ५१ पृ० ३५।
४ महाभारत उद्योग अ० ६ २१ ४२।
५ स्कन्दपुराण माहेश्वर ॥ १७ श्लो० २३५-३६।
६ नहुष नाटक १ ५३ पृ० ३८।

शम्भो प्रसादात सहसा विनिर्गत कुक्षि भित्त्वा देवराजस्तदानीम ।[1]

परन्तु, महाभारत के आख्यान रूप म वृत्र के जम्हाई लेने के समय, उसके मुख के द्वार से ही इन्द्र बाहर आता है—

विजम्भमाणस्य ततो वृत्रस्यास्यादपावृतात ।
स्वायगात्रभिसंक्षिप्य निष्क्रान्तो बलनाशन ॥[2]

इस प्रकार नहुष नाटक म इन्द्र द्वारा वृत्र की हत्या का जो वणन दिया है वह अनेक स्थलों म महाभारत के उद्योग पव म दिये विवरण से उतना सादृश्य नहीं रखता है, जितना कि स्कन्द पुराण के माहेश्वर खण्ड के विवरण से । परन्तु उसके साथ ही, यह भी द्रष्टव्य है कि नहुष नाटक की कथा वृत्र की हत्या के उपरान्त आरम्भ होती है । वृत्र की हत्या का समस्त विवरण प्रथम अक के दो पात्र जयन्त और कार्तिकेय की बातचीत स बाद का दशकों को सुना दिया गया ह । किन्तु स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड का नहुष से सम्बद्ध आख्यान त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की हत्या के पश्चात ब्रह्महत्या के भय स, स्वग का सिंहासन छोडकर दूर मानसरोवर म जाकर इन्द्र के छिप जाने पर आरम्भ होता है । अन्य छोटे मोटे अन्तरों को उपेक्षा कर देने पर भी कथा का यह अन्तर महत्वपूर्ण है । स्कन्दपुराण म वृत्र की हत्या की कथा नहुष के स्वग से पतन के पश्चात कुछ व्यवधान देकर आरम्भ होती है । बीच का व्यवधान है नहुष के पतन के बाद ययाति को स्वग का राजा बनाया जाना और फिर उसके पतन के अनन्तर माने हुए, पूव इन्द्र को ही पाप मुक्त करके पुन देवराज के सिंहासन पर आसीन करना । इन्द्र के पुन देवराजपद प्राप्त कर लेन पर ही पूव वर का प्रतिशोध लेने के लिए त्वष्टा अति कठिन तप से ब्रह्मा से वर प्राप्त करके एक अति शक्तिशाली पुत्र वृत्र का सजन करता है ।

इसलिए यह समझ बैठना उचित न होगा कि नहुष नाटक म वृत्र के संहार का जो विवरण दिया है वह पूण रूप स स्कन्दपुराण के माहेश्वरखण्ड के आख्यान पर आधारित है । पुराण के आख्यान को ध्यानपूवक पढ़ने पर एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि महाभारत के उद्योग पव के आख्यान म जो विवरण वृत्र के वध का दिया है स्कन्द पुराण के माहेश्वरखण्ड के आख्यान रूप म वैसा ही विवरण नमुचि के मारने का है । वह विवरण इस प्रकार है—

मध्य देश म इन्द्र के साथ नमुचि का भयकर संग्राम हुआ । इन्द्र न वज्र म उस पर प्रहार किया किन्तु नमुचि का एक रोम भी उससे नष्ट नहीं हुआ । यह देखकर सबको बड़ा आश्चय हुआ और इन्द्र तो बहुत ही लज्जित हुआ । इसके बाद साहस करके उसने नमुचि की जाँघ पर गदा म प्रहार किया । गदा भी चूर-चूर होकर भूमि पर गिर पडी । तत्पश्चात् उसने शूल म आक्रमण किया और वह भी खण्ड खण्ड होकर गिर पड़ा । इस प्रकार इन्द्र न नमुचि का मारने के लिए जितने भी आयुधों का प्रयोग किया व सब व्यथ हो गये और वह किंकतव्य विमूढ़ सा हो गया । नमुचि न उसके ऊपर कोई आक्रमण नहीं किया, वह खड़ा-खड़ा

१ स्कन्दपुराण माहेश्वर ख १७ श्लोक २६२ ।
२ महाभारत उद्योगपर्व अ ९ श्लोक २१ ।

हँसता रहा। इसी अवसर पर इन्द्र का लक्ष्य करके एक आकाशवाणी हुई कि इसे तुम फेन से मारो। अन्य किसी शस्त्र से यह मरेगा नहीं। यह सुनकर इन्द्र समुद्र के किनारे पर गया। नमुचि भी वहाँ गया और इन्द्र से पूछने लगा कि युद्धभूमि छोड़कर वह यहाँ क्यों आया है। इन्द्र ने उसकी ललकार के उत्तर में समुद्र का फेन हाथ में लेकर उसे मारा। जो नमुचि किसी शस्त्र से नहीं मरा, वह फेन लगते ही मर गया।'[1]

महाभारत के उद्योग पर्व के आख्यान में यही विवरण थोड़े से अन्तर के साथ, वृत्र के वध के प्रसंग में दिया हुआ है।[2] यहाँ के विवरण में अन्तर इतना ही है कि यहाँ इन्द्र वृत्र के साथ संधि करके उसे अपने विश्वास में ले लेता है। फिर किसी समय एक दिन संध्या काल में समुद्र के किनारे पर उसे निरस्त्र देखकर, समुद्र के फेन में वज्र को लपेटकर उसके ऊपर प्रहार करता है। इस कार्य में इन्द्र को विष्णु की भी सहायता प्राप्त होती है। महाभारत के इस आख्यान में नमुचि दैत्य का उल्लेख नहीं है।

नहुष नाटक में वृत्र के वध के पश्चात्, ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र का किसी अज्ञात प्रदेश की ओर भाग जाना बताया गया है। जयन्त के पूछने पर मातलि कहता है—

वृत्रासुर को मारिकै द्विजहत्या भय पागि।
हम नहिं जानत कौन थल गये देवपति भागि॥[3]

स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड में विश्वरूप की हत्या के उपरान्त पीछे लगी ब्रह्महत्या के भय से देवलोक को छोड़कर, किसी दूर प्रदेश की ओर इन्द्र के भागने का उल्लेख इस प्रकार किया है—

ततो भयेन महता पलायनपरोऽभवत्।
पलायमानं तं दृष्ट्वा ह्यनुयाता भयावहा॥
यतो धावति साऽधावत्तिष्ठन्तमनुतिष्ठति।
अगच्छता यथा छाया शक्रस्य परिवेष्टितुम्॥[4]

वृत्र के वध के पश्चात् भारत में इन्द्र की मानसिक स्थिति का चित्रण अधिक स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। यहाँ इन्द्र ने वृत्र का वध विश्वासघात करके छल से किया है। इससे पूर्व भी वह विश्वरूप (त्रिशिरा) को मारकर ब्रह्मघात का अपराध कर चुका था अतः सम्पूर्ण लोकों की अंतिम सीमा पर जाकर, अपने ही पाप से पीड़ित होकर वह अज्ञात रूप से छिप कर रहने लगा—

ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे।
अनृतेनाभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः
त्रैशीर्षयाभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया॥

---

१ स्कन्दपुराण माहेश्वर खण्ड अ० १७ श्लोक २७-४८।
२ महाभारत उद्योगपर्व अ० ९, श्लोक ३३-३९।
३ नहुष नाटक १ ६१ प० ३७।
४ स्कन्दपुराण माहेश्वर खण्ड अ० १५, श्लोक १४-१५।

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
न प्राज्ञायत देवेन्द्रस्त्वभिभूतः स्वकल्मषैः ॥[1]

नहुष नाटक के द्वितीय अंक में इन्द्र के चले जाने के बाद की स्थिति का वर्णन है। वन में तपस्या से देवलोक में लौटने के उपरान्त देवगुरु बृहस्पति इन्द्र का समाचार जानना चाहते हैं। उन्हें जयन्त से पता चल जाता है कि इन्द्र मानसरोवर के जल में ब्रह्महत्या के भय से कमल की नाल में छिपकर तप कर रहा है। इसके पश्चात् गुरु बृहस्पति घोषणा कर देते हैं कि जब तक इन्द्र की ब्रह्म हत्या दूर नहीं होती है तब तक राजसिंहासन पर किसी अन्य को अवश्य बिठा देना चाहिए—

जब लौं छूटै न सक्र की हत्या करि उपचार।
तब लौं चाहिअ राज पै थापन कोउ सरदार ॥[2]

इस पर जयन्त तथा अन्य देवगण बृहस्पति से आग्रह करते हैं कि इन्द्र का ही उपाय से शुद्ध करके पुनः देवेन्द्र पद पर आसीन किया जाए। किन्तु जब तक पाप का संयोग है तब तक इन्द्र लौट नहीं सकता यह कहकर बृहस्पति अस्वीकार कर देते हैं। इसके बाद, किसी अन्य देवता या जयन्त को ही इन्द्र बनाने के प्रस्तावों की उपेक्षा कर देते हैं। वे नहुष को ही इन्द्रासन देना चाहते हैं और इसी उद्देश्य से देवदूत चित्रांगद को नहुष के पास भेजा जाता है। वह देवराज बनने का प्रस्ताव स्वीकार तो करता है किन्तु इस शर्त पर कि इन्द्र की वस्तुएँ—खानपान वाहन, विपिन साजबाज आदि उसे प्राप्त हों—

सुचि खानपान बाहन बिपिन जो समाज सुरराज की।
सो मिलै मोहिं दिवपति भए तौ मैं साधौं काज की ॥
जो यामैं कछु कसर होय पहिले कहि दीजै।
तब मैं करिहौं राज समुझि जिहि यातैं न छीजै ॥
मोहिं कमति कछु नाहिं होइ सुनि जो मन लड्डू।
करौं मजूरी जाय जथा भाड़े को टट्टू ॥
जब अधिकार सुरेस को स्वर्ग लोक मैं पायहौं।
तब त्यागि आपुने राज कहँ इन्द्रासन पर जायहौं ॥[3]

गुरु बृहस्पति नहुष की सब शर्तें को मान लेते हैं और एक विशेष विमान से देवलोक में लाकर इन्द्रासन पर उसे अभिषिक्त कर दिया जाता है। सभी ऋषि और देवता उसे उपहार भेंट करते हैं। नहुष स्वर्ग का इन्द्र बनकर विविध प्रकार के सुखों का उपभोग करता है। स्वर्ग का राज्य पाने से पूर्व और पश्चात् समस्त कार्य पर्यन्त नाटक में नहुष का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है वह धार्मिकता और तेजस्विता की दृष्टि से बहुत अच्छा है। अपने शासन के उत्तर काल में जो उसके मन में शची के प्रति विकार उत्पन्न होता है वह वास्तविक नहीं है गुरु बृहस्पति के नहुष के विरुद्ध किये गये षड्यन्त्र का एक रूप है। इसमें

---

१ महाभारत उद्योगपर्व अ० १० श्लोक ४४-४५।
२ नहुषनाटक २.२३ पृ० ४१।
३ नहुष नाटक २.२४ पृ० ४१।

केवल बृहस्पति ही सम्मिलित नहीं हैं, वे तो इसके नेता हैं नारद शची जयन्त पुलोमा रम्भा, क्रोध, वसन्त आदि उनके सहायक हैं। गुरु बृहस्पति इस नहुष नाटक में बहुत ही प्रभावशाली व्यक्ति हैं कर्ता धर्ता और हर्ता—वे सब कुछ हैं। जिस पर कृपालु हो जायें पृथ्वी से उठाकर स्वर्ग का स्वराज बना दें और जिस पर रुष्ट हो जायें उसे इन्द्रत्व से भी हटाकर मिट्टी में मिला दें। इन्द्र ने एक अपराध विशेष के कारण उस पर क्रुद्ध हुए तो उसका समस्त वैभव ही नष्ट कर दिया। इन्द्र से प्रतिशोध लेने के लिए, उन्होंने पृथ्वी से नहुष को बुला कर इन्द्रत्व प्रदान किया। फिर परिस्थिति कुछ परिवर्तित हुई शची और इन्द्र के पुत्र जयन्त के अनुनय विनय क्षमा-याचना तथा अतिशय विनीत व्यवहार से गुरु बृहस्पति का इन्द्र के प्रति रोष शान्त पड़ गया। उधर इन्द्र ने भी क्षमा-याचना के लिए एक बड़ा ही दैन्य भावपूर्ण पत्र लिखा। इसका भी गुरु बृहस्पति पर बहुत प्रभाव पड़ा। जिस नहुष को उन्होंने स्वयं इन्द्र बनाया था अब वे उसी को अपदस्थ करने के लिए उपाय सोचने लगे। एक षडयन्त्र रचा गया। उसी की सफलता के लिए फलस्वरूप नहुष का पतन हुआ। नहुष नाटक के तीन अंकों की कथा में इसी का वर्णन है। लेखक ने इसे बहुत अधिक विस्तार दिया है। इसे पढ़ने के उपरान्त पाठक की सहानुभूति नहुष की ओर, जो नाटक का नायक है अधिक बढ़ जाती है क्योंकि उसकी दृष्टि में वह वास्तविक अपराधी नहीं रहता। परन्तु गुरु बृहस्पति के प्रति अरुचि तथा घृणा का भाव जागृत होने लगता है, क्योंकि वे अपने हाथों से रोपे वृक्ष को अपनी ही कुल्हाड़ी से काट डालते हैं।

नहुष नाटक की तृतीय से पंचम अंक तक की कथावस्तु के स्रोत का विचार करने पर महाभारत के उद्योगपर्व की कथा के साथ इसका साम्य अधिक है। इसमें यद्यपि गुरु बृहस्पति का वह रूप नहीं है जैसा नाटक में है। यहाँ वे एक शरण्य के रूप में सामने आते हैं जो कि अपनी शरण में आये हुए व्यक्ति की प्रत्येक प्रकार से रक्षा एवं सहायता करने के लिए प्रयत्नशील हैं। महाभारत के इस आख्यान में नहुष को स्वर्ग के रिक्त सिंहासन पर बिठाने वाले देवों एवं ऋषियों में गुरु बृहस्पति के नाम का उल्लेख नहीं है। वहाँ ऋषि और देवता सब मिलकर नहुष के पास जाकर स्वर्ग का राजा बनने की प्रार्थना करते हैं[1] किन्तु वह इस कार्य के लिए अपने को दुर्बल बताता है। तब वे अपना तपोबल उसे देते हैं और वरदान भी कि—

'जो देवता दानव यक्ष राक्षस, पितर गन्धर्व और भूत तुम्हारे नेत्रों के सामने आ जायेंगे, उन्हें देखते ही तुम उनका तेज हरण कर लोगे।[2] देवों एवं ऋषियों का तप और वरदान प्राप्त करते हुए नहुष देवेन्द्र बना तो सही किन्तु इतने बड़े वैभव और विविध प्रलोभनों में पड़कर वह कामभोगों में आसक्त हो जाता है और एक दिन पूर्व इन्द्र की पतिव्रता पत्नी के सौन्दर्य को देखकर उस पर मोहित हो जाता है। शची अपने सतीत्व की रक्षा के लिए गुरु बृहस्पति की शरण में जाती है[3] और वे शरणागत की पूर्णतया रक्षा करते

---

१ महाभारत उद्योग० [redacted] ११ श्लोक १२।
२ वही अ० ११ श्लोक ४८।
३ वही अ० ११ श्लोक १५।

हैं।[1] परन्तु उधर नहुष को अपने इन्द्रत्व का गर्व है वह पूर्व इन्द्र की प्रत्येक वस्तु पर अपना अधिकार समझता है। समय को टालने के लिए गुरु बृहस्पति के परामर्श से शची नहुष के पास जाकर कुछ काल की अवधि माँग लेती है। इसके पश्चात इन्द्र के पास जाकर उसकी सम्मति से अवाह्य यान पर अपने पास आने के लिए नहुष को स्वयं कहती है। विवेकविमूढ़ नहुष ऋषियों के कंधे पर पालकी रखवाकर जाता है और मार्ग में ही अगस्त्य के शाप से पतित हो जाता है।

नहुष नाटक की कथावस्तु में सप्त ऋषियों के कन्धे पर रखी पालकी में नहुष के पतन के पश्चात जयन्त बृहस्पति के आदेश से अपने पिता को मानसरोवर से इन्द्रपुरी में लाता है। अश्वमेध यज्ञ के पश्चात उसे पुनः इन्द्रासन पर अभिषिक्त किया जाता है। नाटक में समस्त घटनाओं का सूत्र गुरु बृहस्पति के हाथ में है वे ही सबके संचालक और विधायक हैं परन्तु स्कन्दपुराण के आख्यान में गुरु बृहस्पति, शची और नहुष का जो रूप चित्रित किया गया है वह सब-कुछ भिन्न है।

यहाँ देवलोक छोड़कर इन्द्र के चले जाने पर स्वर्ग में अराजकता सी फैल जाती है। समस्त कार्याकार्य को विचार कर अन्य देवों के साथ बृहस्पति उस जलाशय के पास जाते हैं जहाँ इन्द्र पानी में ब्रह्महत्या के भय से छिपकर बैठा हुआ है। बृहस्पति इन्द्र से कहते हैं कि तुम्हारी इस समय जो स्थिति है वह तुम्हारे किए कर्मों का फल है। तुमने जो मेरा अपमान किया उसी से तुम्हारा ऐश्वर्य नष्ट हो गया है। इस विश्वरूप की हत्या का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। तुम्हारे सौ अश्वमेधों का फल भी नष्ट हो गया है। इन्द्र ने कहा कि मैं तो अपने कर्मों का फल भोग ही रहा हूँ आप अमरावती में जाकर जिसे चाहते हैं इन्द्र बना दीजिए।[2]

अन्य देवों के साथ बृहस्पति इन्द्र के साथ हुई अपनी बातचीत का विवरण देकर, कर्त्तव्य का विवेचन कर ही रहे थे कि देवर्षि नारद ने नहुष को इन्द्र बनाने का प्रस्ताव किया और सर्वसम्मति से इन्द्र के सिंहासन पर नहुष को बिठा दिया यद्यपि शची को यह पसंद नहीं था। अंत में वही हुआ जिसकी शची को आशंका थी। नहुष ने इन्द्र बनते ही, शची को अपनी रानी बनाना चाहा। बृहस्पति के संदेश देने पर उसने प्रतिसंदेश भेजा कि अवाह्य वाहन से यहाँ आकर वह मुझे प्राप्त कर सकता है।[3] इसके पश्चात सप्तर्षि महाभाग दस ऋषियों के कंधों पर रखी शिविका में बैठकर वह चला और 'सर्प सर्प' कहकर उन्हें हाँकने लगा। अगस्त्य के शाप से उसका पतन हुआ। नहुष के पतन के पश्चात् इन्द्र के रिक्त आसन पर ययाति का अभिषेक हुआ। उसके भी पतन के अनंतर शची के प्रयत्न से पूर्व इन्द्र को लाकर पुनः देवराज बनाया गया है।

पुराण के इस आख्यान में नाटक की कथावस्तु की शची के समान यहाँ की शची न तो दीन है और न सर्वथा असमर्थ। गुरु बृहस्पति के आगे वह दीन बनकर नहीं आती है।

---

१ महाभारत उद्योग० अ० १२ श्लोक १८-१९।
२ स्कन्दपुराण माहेश्वर० १५ श्लोक २१-२४।
३ स्कन्द० माहेश्वर० १५-३१।

वह उन्हें काय का आदेश देती है। न करने पर शाप देने का भय दिखाती है।[1] बृहस्पति अन्य देवों के साथ जाकर ब्रह्महत्या को पृथ्वी, वृक्ष, जल एवं नारियों में विभक्त करके, निष्कलुष इन्द्र को अमरावती में लाकर पुनः देवराज बना देते हैं।

स्कन्दपुराण के आख्यान के इस भाग का, नहुष नाटक की इस कथा के साथ घटनाओं का, पात्रों के स्वरूपों का तथा विवरण का वैसा सादृश्य नहीं है जैसा कि महाभारत के उद्योगपर्व में कथानक के साथ है।

नाटक के षष्ठ अंक के अन्त में, पुनः इन्द्र के पुनः देवराज के सिंहासन पर आसीन होने पर नहुष को अगस्त्य से अभिशप्त, हजारों वर्षों पर्यन्त, अजगर के रूप में रहने के उपरान्त धर्मराज युधिष्ठिर के संयोग से मुक्ति पाकर एवं ब्रह्मलोक के धाम का अधिकारी बनकर, दिव्य शरीर धारण करके विमान से अमरलोक में गुजरता हुआ दिखाया गया है। इस घटना का आधार स्पष्टतः महाभारत है।[2]

विवेचन

लेखक ने नहुष नाटक की रचना न तो एकान्त रूप से महाभारत के उद्योगपर्व के कथानक के आधार पर ही की है और न स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड के कथानक के आधार पर ही। कुछ घटनाएँ महाभारत के आख्यान से मिलती जुलती हैं तो कुछ स्कन्दपुराण के आख्यान से। एक बात और भी है, नहुष के आख्यान का तो पुराण साहित्य में अधिक विस्तार नहीं है किन्तु इन्द्र और वृत्र के आख्यान का ऋग्वेद से लेकर पुराण ग्रन्थों तक विशेष रूप से, और उसके पश्चात् भी सामान्यतया बड़ा विस्तार है। यही बात दधीचि के आख्यान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भिन्न भिन्न ग्रन्थों में कथाओं के रूपों में भी भिन्नता आ गई है।

लोकविश्रुत ऐसे आख्यान अति दीर्घकाल तक जनता के साहित्य की, जिसका प्रमुख रूप संभवतः सहस्राब्दियों तक मौखिक रहा है, मूल्यवान सम्पत्ति रहे हैं। रामायण, महाभारत, पुराण प्रभृति आकर ग्रन्थों का जब संग्रह हुआ तो तत्तत् प्रदेश में प्रचलित कथा के रूपों को संग्रहकर्ताओं ने संगृहीत कर दिया। यह संग्रह भी किसी एक काल में नहीं हुए हैं, युगों तक चलते रहे हैं। इसलिए एक ही कथा, एक ही ग्रन्थ में कई स्थलों पर कुछ भेद के साथ मिल जाती है।

यही बात नहुष के आख्यान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। महाभारत में ही यह आख्यान पाँच स्थलों पर आया है। इसका सबसे अधिक विस्तृत रूप उद्योग पर्व के आख्यानरूप में है।[3] अनुशासनपर्व में जो आख्यान है, वह एक भिन्न प्रसंग में भृगु और अगस्त्य की बातचीत में आया है।[4] सन्दर्भ भेद से कथा का रूप भी भिन्न हो गया है। आदि,[5]

---

१ स्कन्द० माहेश्वर खण्ड १६ धर्मा० ४६।
२ महाभारत वनपर्व अ० १८१ ४४।
३ महाभारत उद्योगपर्व अ० ६ १८।
४ वही अनुशासनपर्व अ० ६६ १००।
५ वही आदिपर्व, अ० ७५ २५ ३०।

वन[1] एवं शान्ति[2] पर्वों के आख्यान बहुत छोटे हैं। वहाँ कथानक में वह प्रवाह और एकरूपता नहीं है। इसी प्रकार पद्म पुराण के भूमिखण्ड के आख्यान में नहुष की कथा का जो रूप मिलता है वह इन कथाओं से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। वहाँ उसके जन्म से लेकर विवाह पर्यन्त की कथा है।[3]

स्वर्ग में इन्द्रासन पर आसीन होने एवं अगस्त्य के शाप से पुनः पृथ्वी पर आने का वहाँ कोई उल्लेख ही नहीं है। उस आख्यानरूप का विकास सर्वथा भिन्न परिस्थिति में हुआ है। स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड का आख्यान भी विशिष्ट धार्मिक परिस्थिति के वातावरण में ढाला गया है। वहाँ के आख्यान में स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर शिव की पूजा एवं भक्ति का विधान है। इसीलिए वहाँ सर्वत्र शिव की ही प्रधानता है।

नहुष नाटक के लेखक श्रीकृष्ण के परम भक्त हैं। अतः स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी भावना का रंग नाटक की घटनाओं एवं पात्रों के विकास पर भी चढ़ाया है। महाभारत के उद्योगपर्व के आख्यान में भी ब्रह्मा और विष्णु की प्रधानता है इसीलिए कुछ घटनाओं को छोड़कर सामान्य रूप से नाटक की कथावस्तु का आधार महाभारत कथा ही अधिक है।

सत्य हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र द्वारा रचित सत्य हरिश्चन्द्र नाटक सन् १८७५ के अन्त में लिखा गया और अगले वर्ष काशी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। यह नाटक भारतेन्दु के प्रौढ़ काल की रचना है अतः इसे अत्युत्कृष्ट माना जाता है। इस नाटक के लिखने का उद्देश्य भारतेन्दुजी ने इसके उपक्रम में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

'मेरे मित्र बाबू बालेश्वरप्रसाद बी० ए० ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के योग्य हो, क्योंकि शृंगार रस के आपने जो नाटक लिखे हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्हीं की इच्छानुसार मैंने यह सत्य हरिश्चन्द्र नामक रूपक लिखा है।'[4]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि भारतेन्दुजी का इस नाटक को लिखने का उद्देश्य 'स्वान्तःसुखाय' न होकर बालजन हिताय मुख्य रूप से रहा है। स्वान्तःसुख तो फल के रूप में उत्कृष्ट कृतियों में प्राप्त हो ही जाता है। भारतेन्दुजी के हृदय में अपनी भाषा और राष्ट्र के लिए असीम स्नेह था। सत्य हरिश्चन्द्र द्वारा राष्ट्र में उच्च चरित्रवान व्यक्तियों के निर्माण में यह स्पष्ट

---

१ वन पर्व, अ० १७८ १ २८।
२ शान्ति पर्व अ० ३४२ ४४ ५३।
३ पद्म पुराण भूमिखण्ड अ० १०३ ११७।
४ भारतेन्दु नाटकावली सम्पादक ब्रजरत्नदास प्रकाशक रामनारायण लाल इलाहाबाद संस्करण सं० १९६२ पृ० ३१।

ही है। इसलिए उन्होंने अपनी रचना के माध्यम के लिए, भारतीय पौराणिक साहित्य का एक परमोज्ज्वल नवरत्न चुना, जो सत्य, धर्म, त्याग, तपस्या तथा कर्तव्यपालन के हेतु सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए सदा उद्यत रहा।

भारतेन्दुजी ने जिस प्रकार कृष्णानुराग की उच्च भूमि की स्थापना चन्द्रावली में की है उसी प्रकार आदर्श स्वरूप वांछित सत्यसिद्धान्त की स्थापना उन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र में की है।[1] राजा हरिश्चन्द्र के समान भारतेन्दुजी का अपना जीवन भी अपने सिद्धान्तों एवं आदर्शों की रक्षा के लिए ही अविरल द्वन्द्व में व्यतीत हुआ। विद्वानों ने नाटक के नायक एवं लेखक दोनों के जीवन में समता की स्थापना की है।

जो गुन नृप हरिचन्द में, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥[2]

बाबू हरिश्चन्द्र के सत्य हरिश्चन्द्र को कुछ आलोचकों ने उनकी सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचना माना है।[3] डॉ० दशरथ ओझा इसे सबसे प्रौढ़ और उत्तम कृति मानते हैं।[4] कुछ विद्वानों के विचार से यह उनकी प्रौढ़ एवं उत्तम कृति होते हुए भी, प्रस्तुत रचना सर्वथा मौलिक न होकर रूपांतर है। डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल का विचार है— भारतेन्दुजी के नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा विद्यासुन्दर रूपान्तरित नाटक हैं। रूपान्तरित नाटक अनुवादों से भिन्न होते हैं। नाटकों की आधारभित्ति पूर्ण मौलिक नहीं होती मूल कथा का आधार मानकर उनको स्वतन्त्र परिवर्तित कर दिया जाता है। उक्त मौलिक परिवर्तन में नाट्यकार की निज की प्रतिभा का विनियोग रहता है। छायानुवादों में नाट्यकार की अभिरुचि के अनुसार ही परिवर्तन देखने को प्राप्त होते हैं। रूपान्तरित नाटकों में अनूदित तथा मौलिक रचनाओं के मध्य के गुण होते हैं। अनुवाद का अंश न्यून होना है परन्तु मौलिक विचारधारा का समावेश अधिक दृष्टिगत होता है।'[5] सत्य हरिश्चन्द्र नाटक न तो अनुवाद है और न सर्वथा मौलिक। इन दोनों ही रूपों में सम्मिश्रण और दोनों से भिन्न यह रूपान्तरित है। इसमें कुछ अंश दूसरे का और कुछ सर्वथा भारतेन्दुजी की उद्भावना शक्ति की देन है क्योंकि यह रचना अति प्रौढ़ एवं सुसंगठित है, अतः यह सर्वथा मौलिक जैसी प्रतीत होती है। नाटक की कथा इस प्रकार है—

कथानक

इन्द्र राजसभा में बैठे हैं कि तभी नारदजी पहुँचकर हरिश्चन्द्र के सत्य और धर्म की प्रशंसा करते हैं। इन्द्र को ईर्ष्या होती है इसलिए विश्वामित्र इन्द्र की ईर्ष्या देखकर

---

१ डॉ० गोपीनाथ तिवारीकृत भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य प्रकाशक हिन्दी भवन, इलाहाबाद १९५९ पृष्ठ १५८।
२ वही पृ १५८-१६१।
३ सत्य हरिश्चन्द्र की प्रस्तावना पृ० २।
४ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आधुनिक हिन्दी साहित्य द्वि स १९४८ ई पृ० २०१।
५ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास प्रथम स पृष्ठ २१२।
६ भारतेन्दु का नाट्य साहित्य, प्रथम स० १९५५, पृ० १६३।

भूमण्डल पर उतरते हैं और परीक्षा हेतु स्वप्न में आकर उनका सम्पूर्ण राज्य दान में ले लेते हैं। प्रातःकाल हरिश्चन्द्र बड़े चिन्तित होते हैं कि स्वप्न में दिया हुआ राज्य, अब वे कैसे उपभोग करें इसलिए अज्ञातनामा ब्राह्मण की मुहर बनवाकर मंत्री के रूप में अज्ञात ब्राह्मण का राज्य चलाना चाहते हैं कि तभी विश्वामित्र आ पहुँचते हैं। अत्यधिक क्रुद्ध होकर वे उनका सम्पूर्ण राज्य ले लेते हैं और इसके अतिरिक्त दक्षिणा की सहस्र मुद्राएं भी मांगते हैं। सहस्र मुद्रा प्राप्ति के लिए काशी जाकर हरिश्चन्द्र पत्नी तथा स्वयं को बेच देते हैं। भैरवनाथ उपाध्याय बनकर शैव्या को खरीदते हैं। धर्म चाण्डाल और कापालिक सत्य चाण्डाल का अनुचर और बेताल का रूप धारण करते हैं। हरिश्चन्द्र चाण्डाल के हाथ बिकते हैं एवं श्मशान में निवास करते हैं। ऋद्धियां सिद्धियां आकर हरिश्चन्द्र को डिगाने का प्रयत्न करती हैं पर हरिश्चन्द्र डिगते नहीं। तक्षक से रोहित काटा जाता है। दाह क्रिया के लिए शैव्या मृत-पुत्र को श्मशान में लाती है। हरिश्चन्द्र पहचानकर भी आधा कफन मांगते हैं पर कफन भी नहीं है। शैव्या अपनी धोती के आधे टुकड़े को जिससे रोहित ढका है उसे ही फाड़ देने को उद्यत होती है कि तभी भगवान् नारायण महादेव पार्वती भैरव धर्म सत्य, इन्द्र और विश्वामित्र आकर धन्य धन्य कहते हैं। राज्य लौटाते हैं और आशीर्वाद देते हैं।

कथावस्तु का आधार एवं स्रोत

भारतेन्दुजी ने सत्य हरिश्चन्द्र के उपक्रम में आर्य क्षेमीश्वर के संस्कृत नाटक 'चण्डकौशिकम्' का उल्लेख किया है। इसमें तो सन्देह नहीं कि उन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र लिखने से पूर्व 'चण्डकौशिक' को पढ़ा है और लिखते समय भी वह उनके सामने रहा है। इतना ही नहीं उन्होंने अपने नाटक की कथावस्तु का आधार भी सामान्यतया 'चण्डकौशिकम्' को ही बनाया है यद्यपि अपनी उद्भाविका शक्ति से अपने नाटक के अनुरूप उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन परिवर्धन तथा परिवर्जन अपनी रचना में यथास्थान किए हैं इस बात की पुष्टि सत्य हरिश्चन्द्र पढ़ते समय सामने 'चण्डकौशिक' को रखकर पुस्तक का प्रति पंक्ति मिलाकर पढ़ने से हो जाती है। 'चण्डकौशिक'[1] के कुछ श्लोक तो भारतेन्दुजी ने ज्यों के त्यों उद्धृत किए ही हैं नाटक के पद्य भी अधिकतर 'चण्डकौशिक' के पद्यों का छायानुवाद हैं तथा गद्य के भी अनेक स्थल छाया से प्रभावित होते हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। आधार और आधेय का सम्बन्ध होते हुए भी दोनों के वस्तुगठन में और उद्देश्य में अन्तर है। ये दोनों ही तत्त्व सत्य हरिश्चन्द्र को 'चण्डकौशिक' का छायानुवाद होते हुए भी मौलिक नाटक की कोटि में ला देते हैं। जैसा कि 'उपक्रम' में भारतेन्दुजी ने स्पष्ट लिखा है इसकी रचना एक विशिष्ट उद्देश्य को सामने रखकर की गई है। निश्चित ही आर्य क्षेमीश्वर के समक्ष यह उद्देश्य न था। यदि ऐसा होता तो सम्भवतः उनके नाटक का गठन कुछ भिन्न प्रकार का होता। आगे के पृष्ठों में दोनों की समानता और भिन्नता पर तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला जाएगा। आर्य क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

महाराज हरिश्चन्द्र के आचार्य वसिष्ठ विघ्नों की शान्ति के लिए, उन्हें कुछ

---

१ [illegible] विद्यासागर [illegible] [illegible] १६३१।

है। प्रात काल महारानी शय्या, महाराज की उनीदी आँखें देखकर स्पष्ट होती हैं। इतने म ही गुरुजी के पास स एक तापस शांतिजल लेकर उपस्थित होता है, तब जागरण के रहस्य को जानकर महारानी उनसे क्षमायाचना करती है। उधर महाराज हरिश्चन्द्र विघ्नों के भय स व्याकुल होकर मनोविनोद की इच्छा से आखेट करने के लिए वन की ओर जाते हैं। वन म महर्षि विश्वामित्र महाविद्याओं का वश म करने के लिए, अपने आश्रम म यत्न कर रहे है। विघ्नराट उसम विघ्न डाल रहा है। नारी रूप म महाविद्याओं के आर्तनाद को सुनकर महाराज उनकी रक्षा करते हैं। महर्षि विश्वामित्र अपने कार्य म महाराज को बाधक समझ कर क्रुद्ध होकर उनकी भर्त्सना करते हैं। उनके क्रोध को शान्त करने के लिए महाराज उन्हें अपनी समस्त पृथ्वी तथा महादान की दक्षिणा के रूप म एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ भी दान कर देते हैं। दक्षिणा की मुद्राएँ प्राप्त करने के लिए वे काशी जाते हैं और आधा लाख स्वर्ण मुद्राओं के लिए रानी का और शेष के लिए चाण्डाल के हाथ स्वयं को बेचकर विश्वामित्रजी की दक्षिणा चुका देते हैं। चाण्डाल के दास के रूप म वे श्मशान म वहाँ क्रिया के लिए मुद्रा लाने वाला स कर के रूप म कफन लेने लगते हैं। एक दिन सर्प द्वारा काट लेने से रोहिताश्व की मृत्यु हो जाने पर दासी बनी रानी शैव्या पुत्र के अंतिम संस्कार के लिए उसी घाट पर आती है। हरिश्चन्द्र, मृत-पुत्र के पास विलाप करती रानी को पहचानकर बहुत दुःखी होते हैं किन्तु इस अवस्था म भी अपने कर्त्तव्य म विचलित नहीं होते हैं तथा क्रिया करने स पूर्व रानी से कफन मांगते हैं। राजा की सत्यनिष्ठा एवं कर्त्तव्यपरायणता स प्रसन्न होकर भगवान धर्म आते हैं और रोहिताश्व को पुनः जीवित कर तथा हरिश्चन्द्र का राज्य लौटाकर उस पर रोहिताश्व का अभिषिक्त कर देते हैं। महाराज अयोध्या की प्रजा सहित पुण्यों के भोग के लिए ब्रह्मलोक के अधिकारी बना दिए जाते हैं।[1]

अंतर

भारतेन्दुजी के सत्य हरिश्चन्द्र की कथावस्तु मे इससे कुछ भिन्नता है। देवराज इन्द्र की सभा म देवर्षि नारद अयोध्या स लौटते हुए जाते हैं। वे अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र की सत्यप्रियता की प्रशंसा करते हैं। सुनकर देवराज के हृदय म भय और विद्वेष की भावना जागृत होती है और वह उसकी सत्यनिष्ठा की परीक्षा लेना चाहता है। नारद उसके अशोभन विचार से सहमत नहीं होते हैं। इसी बीच महर्षि विश्वामित्रजी तथा इन्द्र दोनों मिलकर राजा हरिश्चन्द्र को सत्य स भ्रष्ट करने की एक योजना तैयार करते हैं। इसके समस्त क्रियान्वय का भार विश्वामित्रजी अपने ऊपर लेते हैं। उधर अयोध्या म राजा और रानी दोनों ही अशुभ स्वप्न देखते हैं। राजा, स्वप्न म महाविद्याओं को वश म करने वाले एवं क्रोधी ब्राह्मण से स्त्री रूपधारिणी महाविद्याओं की रक्षा करते हुए उसका कोपभाजन बन जाता है। विनयपूर्वक मनाए जाने पर वह राजा स उसका समस्त राज्य मांग लेता है। रानी को स्वप्न म राजा शरीर पर भस्म लगाये दिखायी देता है तथा रोहिताश्व को सर्प डस लेता

---

१ भारतेन्दु का नाट्य साहित्य १९५५ पृष्ठ १६६।

है। दोनों स्वप्नों के अशुभ फल की शांति के लिए कुलगुरु उपाय करते हैं।

राजा स्वप्न में दिए दान को उसी ब्राह्मण को सौंपने के लिए चिन्तित हैं तथा मन्त्री को बुलाकर आदेश देते हैं कि जब तक वह ब्राह्मण नहीं मिलता हरिश्चन्द्र प्रतिनिधि के रूप में उसके राज्य की रक्षा करते रहेंगे। इसी समय क्रोध से उद्दीप्त विश्वामित्र आ जाते हैं और स्वप्न में दिया राज्य तथा दान की दक्षिणा माँगते हैं। हरिश्चन्द्र राज्य अर्पित करके दक्षिणा की दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ एक मास में चुकाने का आश्वासन देते हैं। काशी आकर पाँच सहस्र में रोहिताश्व सहित रानी को एक ब्राह्मण के हाथ तथा शेष राशि के लिए अपने को एक चाण्डाल के हाथ बेचकर ऋणमुक्त हो जाते हैं। चाण्डाल का दास बनकर, श्मशान में अपने स्वामी के लिए कर वसूल करते हैं। एक दिन सन्ध्या मृत-पुत्र रोहिताश्व का शरीर लेकर क्रिया के लिए उसी श्मशान में पहुँचती है। हरिश्चन्द्र रानी और पुत्र शरीर को पहचानकर कुछ क्षणों के लिए विचलित होने लगते हैं परन्तु शीघ्र ही कर्तव्यनिष्ठ होकर मृत शरीर की क्रिया करने से पूर्व अपने स्वामी के आदेशानुसार रानी से आधा कफन माँगते हैं। इस कठोरतम परीक्षा में भी राजा को अविचल तथा सत्यनिष्ठ देखकर भगवान स्वयं दर्शन देते हैं। रोहिताश्व को पुनः जीवन प्राप्त होता है। इन्द्र और विश्वामित्र वहाँ आकर हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करते हैं तथा उनका राज्य लौटा देते हैं।

भारतेन्दुजी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' एवं आर्य क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' इन दोनों नाटकों की प्रस्तुत कथावस्तुओं की तुलना करने की दृष्टि से देखने पर दोनों में अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता है। साथ ही दोनों समान एक भी नहीं हैं। डा० वीरेन्द्रकुमार के अनुसार दोनों का अन्तर कुछ इस प्रकार है—

'सत्य हरिश्चन्द्र में नवीनता तथा मौलिकतापूर्ण कथापरिवर्तन, इन्द्रसभा में नारद का प्रवेश तथा अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करना है। इन्द्र का द्वेष के कारण ईर्ष्यायुक्त होना तथा उसकी परीक्षा की युक्ति निकालना, विश्वामित्र का आगमन, नारद के जाने के उपरान्त सत्य की परीक्षा लेने की मन्त्रणा करना और राजा तथा रानी के स्वप्न की बातें प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धियों के प्रलोभन से किंचित मात्र भी न डिगना, दुःख और विरक्ति से छुटकारा पाने के लिए आत्मघात के लिए उद्यत होना, अन्त में शिव, विष्णु आदि अन्य देवताओं का आना नवीन परिवर्तन कहे जा सकते हैं।'

चण्डकौशिक के कथानक में उपयुक्त छायानुवाद से भिन्न स्वरूप स्थापित करने वाले कथा प्रसंग इस प्रकार हैं—

'प्रथम अंक में विदूषक, राजा तथा रानी के कथोपकथन, विघ्नराट का वाराह रूप धारण करना तथा राजा का आखेट के लिए जाना, विश्वामित्र की तपश्चर्या, महाविद्याओं को भयभीत बचाने में राजा पर क्रोध तथा सर्वस्वदान, दो चाण्डालों का राजा हरिश्चन्द्र को श्मशानघाट तक ले जाना, मृतवत्सा की सूचना तथा रोहिताश्व का अभिषेक। आवश्यकतानुसार नवीन पात्रों का भी प्रवेश दिखाया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र में चण्डकौशिकम् के कुछ पात्रों के केवल नाम मात्र ही बदलने पड़े हैं। उदाहरणार्थ चण्डकौशिक की चारुमति के स्थान पर मन्त्री, मंगा के स्थान पर भैरव, तापस के लिए ब्राह्मण तथा धर्म के स्थान पर भगवान् का प्रवेश कर दिया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र की नवीनता केवल इसी प्रकार के

तथ्या म प्रदर्शित की जा सकती ह जिनसे कथानक के विकास की समानता व एकतानता वस्तुत कोई बाधा नही पडती। आय क्षेमीश्वर तथा भारतेन्दु दोनो ने विश्वामित्र एव महाराज हरिश्चन्द्र के कथोपकथन म नाट्य प्राय कथानक के स्वरूप को एक ही दिशा की ओर मोडा है जिस कारण सत्य हरिश्चन्द्र के द्वितीय अक के अन्तिम अश, पूरे तृतीय अक और चौथे से अन्तिम अश को छोडकर उसके पूरे चौथे अक म और चण्डकौशिक के द्वितीय अक के अन्तिम भाग पूरे तृतीय अक और चौथे के अन्तिम अश को छोडकर सम्पूर्ण पाचवे अक म समता दृष्टिगोचर होती है। आरम्भिक भिन्नता के विषय मे यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतेन्दु ने चण्डकौशिक के विष्कम्भक की छाया पर ही अपने नाटक म प्रसिद्ध पौराणिक देवी इन्द्र की कल्पना की ह तथा उसम प्रदर्शित महाविद्याओ की घटना को ही राजा हरिश्चन्द्र की सत्य प्रतिष्ठा को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए स्वप्न के रूप म कल्पित आधार दिया है।[1]

सत्य हरिश्चन्द्र की चण्डकौशिक से तुलना

भारतेन्दुजी ने सत्य हरिश्चन्द्र को आय क्षमीश्वर के 'चण्डकौशिकम्' स प्रचुर मात्रा म अनुप्राणित किया है इसम सन्देह नही। इस बात की सत्यता दोनो के तुलनात्मक अध्ययन करने पर प्रमाणित हो जाती है। भारतेन्दुजी ने कुछ स्थलो पर तो चण्डकौशिकम् के श्लोको को यथावत रूप म उद्धृत कर दिया है—

"जातिस्मय प्रहण लुलितविप्र कल्पदत्तसिद्ध मुनस्त्वातन धूमकेतुम।
सर्गान्तराहरण भीत जगत कृतान्त चण्डाल याजिनमवयि न कौशिक माम॥"[2]

× × × ×

"अन्तक्षयाविपु तथाविहिता मवर्त्ति राजप्रतिग्रह पराङ्मुख मानस स्वाम।
आडीवक प्रधन कम्पित जीवलोक कस्तेजसा च तपसा च निधि न वेत्ति॥"[3]

+ × × ×

"भगवति! चण्डि! प्रेते! प्रेतविमानप्रिये! लसत्प्रेते!
प्रेतास्थि रौद्ररूपे! प्रेताशिनि! भैरवि! नमस्ते॥"[4]

× × × ×

इन श्लोको के अतिरिक्त आय क्षेमीश्वर का चण्डकौशिक पढने के उपरान्त भारतेन्दुजी का सत्य हरिश्चन्द्र पढने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना भारतेन्दुजी ने चण्डकौशिक को सामने रखकर की है। ऐसा कहने का यह अभिप्राय नही कि उन्होने चण्डकौशिक का अनुवाद मात्र किया है। सत्य हरिश्चन्द्र को चण्डकौशिक का अनुवाद तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योकि इसम पर्याप्त अन्तर भी जहा-तहाँ देखने म आता है। परन्तु इसके साथ ही

१ भारतेन्दु का नाट्य साहित्य प्र० स १९५५ प १६८।
२ सत्य हरिश्चन्द्र प ६३ भारतेन्दु नाटकावली भाग १ प्र० स० १९६२ वि० चण्डकौशिक—अक २ श्लोक २६।
३ सत्यहरिश्चन्द्र प० ६० चण्डकौशिक अक २ श्लोक २८।
४ वही पृ० ६५ चण्डकौशिक अक ४ श्लोक १३।

इसमें भावसाम्य भी इतना अधिक है कि पाठक के मन में सत्यहरिश्चन्द्र पढ़ते समय चण्डकौशिक के साम्य-युक्त स्थलों की स्मृति प्रायः बिना नहीं रहती। इस कथन की पुष्टि के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि दोनों नाटकों का तुलनात्मक रूप यहाँ प्रस्तुत किया जाए।

सत्य हरिश्चन्द्र एवं चण्डकौशिक दोनों नाटकों से कुछ मूल अंश नीचे दिए जा रहे हैं—

सत्यहरिश्चन्द्र से—

हरिश्चन्द्र—लीजिए इसमें विलम्ब क्या है ? मैंने तो आपके आगमन के पूर्व ही से अपना अधिकार छोड़ दिया। (पृथ्वी की ओर देखकर)

जेहि पाली इक्ष्वाकु सों, अब लौं रवि कुल राज।
ताहि देत हरिचंद नृप, विश्वामित्रहिं आज॥
वसुधे तुम बहु सुख कियो, मम पुरुषन की होय।
धरम बद्ध हरिचंद को, छमहु सु परबस जोय॥"[1]

सत्य हरिश्चन्द्र के इस पद की तुलना चण्डकौशिक के निम्नांकित पद से कीजिए—

"राजा—भगवति वसुंधरे तदियमापृच्छामि—

अव्यक्तेन पतिभिः किल लोकधात्रि
त्वं देवि वीरमनसा सह रक्षितासि।
त्यक्ता मया यदसि दुर्लभ पात्र लोभाद्
एक क्षमस्व मम दुर्नयमेनमेव॥'[2]

दोनों पद्यों में विशेष अन्तर नहीं है। सत्य हरिश्चन्द्र में चण्डकौशिक के पद्य का ही स्वतन्त्र रूपान्तर मात्र है।

आगे उदाहरणस्वरूप कुछ और साम्य युक्त स्थल दोनों नाटकों से प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

सत्यहरिश्चन्द्र से—

'हरि०—महाराज मैं ब्रह्मदण्ड से उतना नहीं डरता जितना सत्य दण्ड से। इससे—

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मंद।
रखिहै निज बच सत्य करि अभिमानी हरिचंद॥"[3]

चण्डकौशिक से—

"आत्मानमेव विक्रीय सत्यं रक्षामि नान्यतम्।
तस्मिन्नर्राते नूनं सोऽद्ययमर्रातम॥'[4]

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु नाटकावली भाग १) पृ० ६२।
२ चण्डकौशिकम्—बालबोधिनीयन्त्र कलकत्ता १९३१ अंक २ श्लोक ३३।
३ सत्यहरिश्चन्द्र (भारतेन्दु नाटकावली भाग १) पृ० ६६।
४ चण्डकौशिक—अंक २ श्लोक ६ पृ० ८०।

सत्य हरिश्चन्द्र का दोहा चण्डकौशिक के श्लोक का नगण्य भेद के साथ छायानुवाद मात्र है।

× × × ×

सत्य हरिश्चन्द्र से—

"हरि०—क्या करें ? कुबेर को जीत कर धन लावें ? पर कोई शस्त्र भी तो नहीं है, तो क्या किसी से माग कर दें ? पर क्षत्रिय का तो यह धर्म नहीं, कि किसी के आगे हाथ पसारे ?"[1]

चण्डकौशिक से—

किं जित्वा धनमाहरामि धनदम् त्यक्तास्त्रिय किं जये ?
याचाद यमपि द्विजातिसुलभ न क्षत्रिया कुर्वते।"[2]

ऊपर सत्य हरिश्चन्द्र का गद्य भाग इस श्लोक की छायामात्र है।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र से—

विश्वामित्र—(आप ही आप) हमारी विद्या सिद्ध हुई भी इसी दुष्ट के कारण सब बहक गई। कुछ इन्द्र के कहने ही पर नहीं, हमारा इस पर स्वत भी क्रोध है, पर क्या करें, इसके सत्य, धर्य और विनय के आगे हमारा क्रोध कुछ काम नहीं करता। यद्यपि यह राज्य भ्रष्ट हो चुका, पर जब तक इसे सत्य भ्रष्ट न कर लूंगा, तब तक मेरा सन्तोष न होगा।"[3]

चण्डकौशिक से—

"प्रणाशाद विद्याना करतल-गतानामुपचितो।
निरुद्धो दुबुद्धे विनयमसणस्तस्य चरित ॥
× × ×
पश्यामि यावच्चलित न सत्याद्।
राज्यादिव स्वादचिराद् भवन्तम ॥
त्वद् नयोद्दीपित-तीव्र तेजा ।
तावन्नमे शान्तिमुपति मन्यु ॥"[4]

हिन्दी के गद्यखण्ड एव चण्डकौशिक के दोनो पद्यो के अतिशय साम्य का लक्ष्य कीजिए कितनी एकरूपता है—

सत्य हरिश्चन्द्र से—

'हरि०—(ऊपर देखकर) क्या कहा ? क्या तुम ऐसा दुष्कर कर्म करते हो ? आर्य यह मत पूछो, यह सब कर्म की गति है। (ऊपर देखकर) क्या कहा, तुम क्या कर सकते

---

१ सत्यहरिश्चन्द्र (भारतेन्दु नाटकावली भाग १) पृष्ठ ७४।
२ चण्डकौशिक—अंक २ श्लोक ८ पृष्ठ ७६।
३ सत्य हरिश्चन्द्र—(भा० ना० भाग १) पृष्ठ ७२।
४ चण्डकौशिकम्—अंक ३ श्लोक १२ १३ पृ० ८२ ८३।

हो क्या समझते हो और किस तरह कहोगे ? हमारा क्या पूछना है। स्वामी जो कहेगा वह करेंगे, समझने को सब कुछ है पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता और जिस प्रकार स्वामी रखेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया तब हमारा क्या विचार है। (ऊपर देखकर) क्या कहा ? कुछ काम कम करो ? और हम लोग तो क्षत्रिय हैं हम दो बात कहाँ से जानें। [1]

इस गद्यखण्ड को नीचे के चण्डकौशिक के खण्ड से प्रति पंक्ति और प्रति शब्द मिलाकर साम्य और असाम्य देखिए—

× × × (आकाशे) किं ब्रूथ ? किमस्मिन् त्वया ग्रहण कर्म प्राप्तमिति ? किमन्यानि विमर्शेन विनियोगाय जीवलोक । (पुनरन्यतो गत्वा आकाशे) किं ब्रूथ । का ते शक्ति किं च ते कर्म कौशलं च नामेति ? (स्मित्वा) —

यद यदादिशति स्वामी तत् करोम्यविचारितम् ।
नाशनास्खलनं भक्तुभृत्यस्य परमो गुण ॥

(आकाश्य) किं ब्रूथ ? भूरितर मूल्यमुक्तवानसि तत् पुन नावगमिष्यतीति ?
(सवैलक्ष्यम्) भो भो क्षत्रिय । क्षत्रिया वयम न पुन प्रतिवचनं जानाम । [2]

^ < × ×

सत्य हरिश्चन्द्र से—

'हरि०—अहह ! भाग्य ! यह भी तुम्हें देखना था ? हा ! अयोध्या की प्रजा रोती रह गयी। हम उनको कुछ धीरज भी न दे आए। उनको अब कौन गति होगी। हा ! यह नहीं कि राज छूटने पर भी छुटकारा हो। अब यह देखना पड़ा। हृदय ! तुम इस चक्रवर्ती की सेवा योग्य बालक और स्त्री का बिकना देखकर टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? (बारबार लम्बी साँस लेकर आँसू बहाता है।) [3]

सत्य हरिश्चन्द्र के इस खण्ड की तुलना अब चण्डकौशिक के नीचे के इस पद्य से कीजिए और इसमें अतिशय साम्य को लक्ष्य कीजिए—

'धारा सिक्त तथा विद्युत्तरला काम निरस्ता श्रिय
स्त्यक्तास्ते सुहृदोऽनु दीन वदना नाश्वासितास्ता प्रजा ।
दाराणा तनयस्य विक्रयमहो दृष्ट्वापि मच्चेतसा ।
क्रूरेण स्फुटित न भेऽद्य हृदय वज्रेण मन्ये कृतम ॥' [4]

× × × ×

सत्य हरिश्चन्द्र से—

'शैव्या—(ऊपर देखकर) क्या कहा ? क्या क्या करोगी ? परपुरुष से सभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और सब सेवा करूँगी। (ऊपर देखकर) क्या कहा ? इतने माल

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र—भा० ना० भाग १ पृ० ७७।
२ चण्डकौशिक—अंक ३ पृ० ८७ ८८।
३ सत्य हरिश्चन्द्र—अंक ३ श्लोक १६ पृ० ७८।
४ चण्डकौशिक—अंक ३ श्लोक १६ पृ० ८६।

पर कौन लेगा ? आय, कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

(उपाध्याय और बटुक आते हैं।)

उपाध्याय—क्यों रे कौण्डिन्य सच ही दासी बिकती है ?

बटुक—हां गुरुजी, क्या मैं झूठ कहूँगा।"[1]

अब इस खण्ड की एकरूपता नीचे के चण्डकौशिक के सम्बद्ध खण्ड में परिलक्षित कीजिए—

चण्डकौशिक से—

'शैव्या—(आकाशे कर्ण दत्वा) अज्जा ! किं भणाध ? किंदिसो दे समग्धात्ति ? परपुरिस-पज्जुवासण परुच्छिट्ठभोअण परिहरिअ सअलकम्मकारिणीत्ति ईदिसो मे समग्धो। (पुनः कर्णं दत्वा) किं भणाध ? का तुम इमिणा समएण किणिस्सदित्ति ? ता गच्छअ पसीदध, किं तुम्हाणं इमिणा पओअणं, णिअवरो दीणजणाणुकम्पी अण्णो वा कोवि साधू मं किणिस्सदि।'[2]

(ततः प्रविशति उपाध्यायो बटुकश्च)

उपा०—वत्स कौण्डिन्य सत्यमेवापणे दासी विक्रीयते ?

बटुक—किमलीकमुपाध्यायाय विज्ञाप्यते।'[3]

स्पष्टतः ही भारतेन्दु जी ने चण्डकौशिक के इस खण्ड का अनुवाद मात्र सत्य हरिश्चन्द्र में कर दिया है। कहीं कोई परिवर्तन नहीं है। यहां तक कि नाटकीय संकेत भी वही है। आगे के भाग का भी सादृश्य द्रष्टव्य है—

सत्य हरिश्चन्द्र से—

'उपा०—(शैव्या को देखकर) अरे यही दासी बिकती है ? पुत्री, कहो तुम कौन-कौन सेवा करोगी ?

शैव्या—परपुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और जो कहिएगा सब सेवा करूंगी।

उपा०—वाह ! ठीक है। अच्छा तो यह सुवर्ण। हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के काम काज नहीं कर सकती, सो तुम सम्हालना।

शैव्या—(हाथ फैलाकर) महाराज आपने बड़ा उपकार किया।

उपा०—(शैव्या को भलीभांति देखकर आप ही आप) अहा ! यह निस्सन्देह किसी बड़े कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है वह धीरे धीरे और बहुत सम्हाल के बोलती है। हा ! इसकी यह गति क्यों हुई ? (प्रगट) पुत्री, तुम्हारे पति है न ?

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० १) पृ० ७९।

२ (आकाशे कर्णं दत्वा) आर्याः किं भणत ? कीदृशः ते समय इति ? परपुरुषपर्युपासन परोच्छिष्टभोजन परिहृत्य सकलकर्मकारिणीति ईदृशो मे समयः। (पुनः कर्णं दत्वा) किं भणत ? कस्त्वामनेन समयेन क्रेष्यतीति ? तद् गच्छत प्रसीदत किं युष्माकम् अनेन प्रयोजनम्। निजवरो दीनजनानुकम्पो अन्यो वा कोऽपि साधुः मां क्रेष्यति।)

३ चण्डकौशिक—अंक ३ पृ० ९०।

(अन्या राजा की ओर देखती है।)

उपा०—(राजा को देखकर आश्चर्य से) अरे यह विशाल नेत्र, प्रशस्त वक्षस्थल और संसार की रक्षा करने योग्य लंबी लंबी भुजा वाला कौन मनुष्य है और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रखा है ? (प्रगट) महात्मा तुम हमको अपने दुःख का भागी समझो और कृपापूर्वक अपना सब वृत्तान्त कहो।

हरि०—भगवन्, और तो विदित करने का अवसर नहीं है इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उपा०—तो हमसे धन लेकर आप शीघ्र ही ऋणमुक्त हूजिए।

हरि०—(दोनों कानों पर हाथ रखकर) राम राम ! यह तो ब्राह्मण की वृत्ति है। आप से धन लेकर हमारी कौन गति होगी। [1]

सत्यहरिश्चन्द्र के इस उपर्युक्त खण्ड को ध्यानपूर्वक पढ़ने के पश्चात् यदि प्रति पंक्ति एवं प्रति शब्द की तुलना नीचे दिए चण्डकौशिक के संस्कृत खण्ड से की जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि भारतेन्दुजी ने चण्डकौशिक से अनुवाद मात्र कर लिया है। निम्न लिखित मूल अंश भी तुलना अपेक्षित है—

उपा०—(दृष्ट्वा साश्चर्यम्) कथमियं सा ? भवति कोऽत्रास्त समय ?

शैव्या—परपुरुषस्यपासन परोच्छिष्टभोजनं परिहृत्य सर्वकर्मकारिणीति।

उपा०—(सहर्षम्) सुष्ठु खल्वयन्ते समय। तन्मुनेव समयनास्मद्गृहे विश्रम्यताम्। पत्नी ममापि परिषया पराधीनतया न सम्यक् गृहावेक्षा क्षमा। तत गृह्यतां सुवर्णम्।

शैव्या—(सहर्षम्) अनुगृहीतास्मि। यन्नाथ आज्ञापयति इति।

उपा०—(चिरमवलोक्य सविस्मयमात्मगतम्)

निरो यदवगुण्ठितं सहज-न्न्द-लज्जानतम्
गतंच परिमन्थर चरणकोटिलक्ष्ये दृशौ।
वच परिमितिञ्च यन्मधुर मन्द मन्दाक्षरम्
निजं तदियमंगना वदति नूनमुच्च कुलम्॥

(सचिन्तम्) न युक्तमस्याकृतिविशेषस्यदमवस्यान्तरम्। तत कथमिमां दशामनुप्राप्ता ?

(प्रकाशम्) अयि जीवति ते भर्ता ?

शैव्या—(शिरसा संज्ञां ददाति।)

उपा०—अयि सन्निहित स्यात ?

शैव्या—(साश्रु राजानम् अवलोकयति)

उपा०—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) अयं ! कथमयमस्या भर्ता ? (चिरं निवर्ण्य सखेदम्)—

वपुस्कन्ध मत्तद्विरद-कर पीनायतभुजम्
वपुर्व्यूढोरस्कं ननु भुवनरक्षा क्षममिदम्।
तृणं मौलौ चूडामणि-समुचिते किं विदमहो।
नर यामारम्भ कमिव न विधाता प्रहरति।

---

[1] सत्यहरिश्चन्द्र भा ना १ पृ ७६ स ८१।

(उपसृत्य सास्रम्) भो महात्मन, स्वदुःखसम्भागविभागिन मा वक्तुमर्हसि। तत कथ्यतां किमर्थमेव त्वया आरब्धमिति।

राजा—भो साधो न विस्तरस्यदानीं दशकालो तत समासत कथयामि श्रूयताम् ब्रह्मस्व पीडितनेद मया आरब्धम।

उपा०—तन हि तत प्रतिगह्यता भो धनम्।

राजा—(कर्णौपिधाय) मा भो साधो, प्रथमवर्णवृत्तिरियं प्रतिषिद्धास्मदविधानाम।'[1]

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र से—

'हरि०—(अत्यन्त घबराकर) अरे अरे विधाता! तुझे यही करना था। (आप ही आप) हा। पहले महारानी बनाकर अब देव ने इसे दासी बनाया। यह भी देखना बदा था। हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान् सूर्य का भी मुख मलिन हो रहा है।'[2]

इस छोटे से सन्दर्भ की तुलना नीचे संस्कृत के मूल अंश से अवलोकनीय है।

चण्डकौशिक में—

"राजा—(सवैलक्ष्यम्) ननु अनुमतमेव भगवतो विधे। (सोपालम्भम आत्मगतम्) ननु भो कृतविध—

देवी भाव नीत्वा परगृह परिचारिका कृता यदियम।
सदिद चूडारत्न चरणाभरणत्वमुपनीतम॥

(सविशेषकरणम्) भो कष्टम—

मम विधि निहतस्य मन्द बुद्धे
ध्रुवमधुना सुत दार विक्रयेण।
निजकुल परिवार ममभूते
अपि सवितुर्मलिनीकृता मुखश्री॥"[3]

यहा स्पष्टत ही चण्डकौशिक मे जो बात कही गई है उसी को उसी क्रम मे प्राय उसी प्रकार के शब्दो मे सत्य हरिश्चन्द्र मे कुछ संक्षिप्त करके कह दिया गया है।

सत्य हरिश्चन्द्र मे—

'हरि०—(धैर्य से) देवी! उपाध्याय की आराधना भली प्रकार से करना और इनके सब शिष्यो से भी सुहृद्भाव रखना ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना बालक का यथासम्भव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना। विशेष हम क्या समझावे। जो जो दुख दिखावे उसे धीरज से देखना।'[4]

चण्डकौशिक से—

'राजा—(आत्मान संस्तभ्य) प्रिये—

---

1 चण्डकौशिकम्—अंक ३ पृ० ६३ ६४
2 सत्यहरिश्चन्द्र—(भा० ना० १) पृ० ८२
3 चण्डकौशिकम्—अंक ३ श्लोक २४ २५ पृ० ६६ ६७
4 सत्यहरिश्चन्द्र—(भा० ना० भाग १) पृ० ८२ ८३

आराध्योऽयं ब्राह्मणस्ते सनिष्यं,
पत्नीचास्य प्रातिवाद्योपचर्या।
रक्ष्या प्राणा बालक पालनीय
यद यद् दवनास्ति तत् तद् विधेयम ॥"[1]

यहाँ 'चण्डकौशिक' के इस श्लोक में जो कहा गया है, सामान्यत उसी की छायामात्र 'सत्य हरिश्चन्द्र' के सन्दर्भ में है।

× × × ×

सत्य हरिश्चन्द्र से—

बालक—(राजा से) पिता माँ कहाँ जाती है?

हरि०—(भय से आँसू रोककर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है।

बालक—(बटुक से) अरे मा को मत ले जा (माँ का आँचल पकड़ के खींचता है)

बटुक—(बालक को ढकेलकर) चल चल देर होती है।

(बालक ढकेलने से गिरकर रोता हुआ उठकर अत्यन्त क्रोध और करुणा से माता पिता की ओर देखता है।)

हरि०—ब्राह्मण देवता बालक के अपराध से रुष्ट नहीं होना चाहिए। (बालक को उठाकर धूर पोछ के मुह चूमता हुआ) पुत्र मुझ चाण्डाल का मुख इस समय ऐसे क्रोध से क्या देखता है? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा में सहना चाहिए। जाओ माता के संग मुझ भाग्यहीन के साथ रहकर क्या करोगे?'[2]

चण्डकौशिक में यह स्थल इस प्रकार है। तुलना अपेक्षित है—

'बालक—आवुक कहि अम्बा गच्छति?

राजा—(सखेदम्) यत्र ते पितु कलत्र दासी भूत्वा गच्छति।

बालक—अरे बटुअ कहि तुम अव णेदुमिच्छसि? (इति मातु पटान्त धारयति)

बटु—(सकोपम) अयहि गभमन्दास! (इति क्षिप्त्वा पातयति)

बालक—(साधरमग पितरौ पश्यति)

उभौ—(मास्रमवलोकयत)

राजा—भो ब्राह्मण अनपराद्ध खलु शैशवम। तन्नार्हस्येव कर्तुम। (बालकमुत्थाप्य शिर स्याघ्रायालिग्य च सवैक्लव्यम्)—

किं वत्स, मयुभरविस्फुरिताधरोष्ठ
पापस्य पश्यसि मुख मम निघृणस्य
येषा प्रिया न शिशव पिशिताशनानां
तेषामपि प्रियतमा वनिता तिरश्चाम ॥"[3]

उपर के दोनों खण्ड पढ लेने पर उनकी एकरूपता स्पष्ट झलकती है। कहीं भी कोई विशेष

---

१ चण्डकौशिकम—अंक ३ श्लोक २६ पृ ६७

२ सत्यहरिश्चन्द्र—(भा ना भाग १) पृ ८३

अन्तर नहीं है। 'चण्डकौशिक' के दो चरणों का भावानुवाद यहाँ किया गया है और शेष दो का हरिश्चन्द्र के अगले संवाद में आ गया है।

× × × ×

सत्य हरिश्चन्द्र से—

(विश्वामित्र आते हैं और हरिश्चन्द्र पैरों पर गिरकर प्रणाम करता है)

विश्वा०—ला दे दक्षिणा ! अब साँझ होने में कुछ देर नहीं है।

हरि०—(हाथ जोड़कर) महाराज आधी लीजिए, आधी अभी देता हूँ।

विश्वा०—हम आधी दक्षिणा लेके क्या करें, दे चाहे जहाँ से सब दक्षिणा।

(नेपथ्य में)

धिक् तपो धिक् व्रतमिदं धिक् ज्ञानं धिक् बहुश्रुतम्।
नीतवानसि यद् ब्रह्मन् हरिश्चन्द्रमिमां दशाम्॥

विश्वा०—(बड़े क्रोध से) आः हमको धिक्कार देने वाला यह कौन दुष्ट है ? (ऊपर देख कर) अरे विश्वेदेवा (क्रोध से जल हाथ में लेकर) अरे क्षत्रिय के पक्षपातियो, तुम अभी विमान से गिरो और क्षत्रिय के कुल में तुम्हारा जन्म हो और वहाँ भी लड़कपन में ही ब्राह्मण के हाथ मारे जाओ। (जल छोड़ते हैं। सुनकर और ऊपर देखकर आनन्द से) हह हह ! अच्छा हुआ ! यह देखो किरीट कुण्डल बिना मेरे क्रोध से विमान से छूटकर विश्वेदेवा उलट होकर नीचे गिरते हैं। और हमको धिक्कार दें।

हरि०—(ऊपर देखकर भय से) वाह रे तपस्या प्रभाव। (आप ही आप) तब तो हरिश्चन्द्र को अब तक शाप नहीं दिया है यह बड़ा अनुग्रह है। (प्रगट) भगवन् ! स्त्री बेचकर यह आधा धन पाया है सो लें और आधा हम अपने को बेचकर अभी देते हैं।

विश्वा०—हम आधा न लेंगे, चाहे जहाँ से अभी सब दें।[1]

सत्य हरिश्चन्द्र के इस सन्दर्भ का मूल चण्डकौशिक के साथ प्रति पंक्ति मिलाकर एकरूपता दर्शनीय है— —]

(ततः प्रविशति कौशिकः)

कौशिकः—आः कथमद्याधुनापि न मे सम्भतानि दक्षिणासुवर्णानि ?

राजा—(श्रुत्वा ससम्भ्रममुत्थाय) भगवन् गृह्यतां तावदर्धम्।

कौशिकः—आः कृतमर्धेन यदि प्रतिश्रुतमवश्य देयं मन्यते भवान् तदि शेषमेव प्रयच्छ।

(नेपथ्ये)

धिक् तपो धिक् व्रतमिदं धिक् ज्ञानं धिक् बहुश्रुतम्।
नीतवानसि यद् ब्रह्मन् हरिश्चन्द्रमिमां दशाम्॥

कौशिकः—(श्रुत्वा सक्रोधम्) आः ! के पुनरमी धिक्शब्देन मां गर्हयन्ति ? (ऊर्ध्वमवलोक्य) अये, कथममी विमानचारिणो विश्वेदेवाः।

(क्रोधं नाटयित्वा कमण्डलुवारिणोपस्पृश्य शापजलं गृहीत्वा) विगतात्मना अरेरे क्षुद्र क्षत्रियपक्षपातिनः —

---

[1] सत्य हरिश्चन्द्र—भा० ना० १ पृ० ८४-८५।

पचानामपि यो जन्म क्षत्रयोनौ भविष्यति।
तथापि ब्राह्मणो द्रोणि कुमारान यो हनिष्यति॥

(पुनरूर्ध्वमवलोक्य सहषम्) अथ कथममी—

मददर्प्पपात भय कम्पित लोल घण्टा
टङ्कार पूरित वियत् स्खलतो विमानात्।
वेल्लद ध्वजांशुक विदष्ट किरीट कोटि
प्रभ्रष्ट कुण्डलमवाङ्मुखमापतति॥

राजा— (ऊर्ध्वमवलोक्य सभयम्) अहो ! प्रभावस्तपसाम स्थान खलु विस्मयति हरिश्चन्द्र। भगवन् अलमन्यथा सम्भावितेन—

गृहीतामर्जितमिद भार्या तनय विक्रयात्।
शेषस्यार्थे करिष्यामि चाण्डालेप्यात्मविक्रयम्॥

कौशिक —(सक्रोधम्) कृतमर्थेन, नवदोषमेव दीयताम्।[१]

यहाँ दोनों सन्दर्भों को तुलनात्मक दृष्टि से रखने पर स्पष्ट ही भासित हो रहा है कि सत्य हरिश्चन्द्र में 'चण्डकौशिक' के कथोपकथन का प्रायः उसी रूप और क्रम से अनुवाद कर दिया गया है। अन्य तीन श्लोकों का अनुवाद गद्य में दिया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र के नाट्यनिर्देशन भी वही हैं जो चण्डकौशिक के हैं। हिन्दी में उनका अनुवाद मात्र कर दिया गया है।

ऊपर उल्लिखित खण्डों के अतिरिक्त नीचे तुलना के लिए दोनों नाटकों के कुछ और भी समान स्थल दिए जाते हैं—

सत्य हरिश्चन्द्र से—

धर्म—(आगे बढ़कर) अरे ! अरे ! हम तुमको मोल लेंगे लेव यह पचास सौ माहर लेव।

हरि०—(आनन्द से आगे बढ़कर) वाह कृपानिधान। बड़े अवसर पर आए। लाइए (उसको पहचानकर) आप मोल लेंगे ?

धर्म—हाँ हम मोल लेंगे। (सोना देना चाहता है।)

हरि०—आप कौन है ?

धर्म—हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार॥
सब मसान पर हमरा राज। कफन मांगन का है काज॥

हरि०—(बड़े दुःख से) अहह ! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ है। (विश्वामित्र से) भगवन ! पैर पड़ता हूँ मैं जीवन भर आपका दास होकर रहूँगा मुझे चाण्डाल होने से बचाइए।

विश्वा०—छि मूर्ख भला हम दास लेकर क्या करेंगे ? स्वयं दासास्तपस्विन।

हरि०—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजिएगा हम सब करेंगे।

विश्वा०—सब करेगा न ? (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा।

---

१ चण्डकौशिक अंक ३ पृ० ६६। २

हरि०—हाँ, हाँ जो आप आज्ञा कीजिएगा सब करूँगा।
विश्वा०—तो इसी मोहर के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।
हरि०—जो आज्ञा (आप ही आप) अब कौन सोच है। (प्रकट धर्म से) तो हम एक नियम पर बिकेंगे।
धर्म—वह कौन ?
हरि०—भीख असन, कंबल बसन, रखिहैं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइहै करिहैं सब ह्वै दास॥
धर्म—ठीक है, लेव सोना (दूर से राजा के आँचल में मोहर देता है।)
हरि०—(लेकर हर्ष से आप-ही आप)
ऋण छूट्यो पूर्यो वचन, द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडाल हू होइ आजु मोहि दाप॥
(प्रकट विश्वामित्र से) भगवन्, लीजिए यह मोहर।
विश्वा०—(मुँह चिढ़ाकर) सचमुच देता है ?
हरि०—हाँ हाँ यह लीजिए (मोहर देते हैं।)
विश्वा०—(लेकर) स्वस्ति (आप ही आप) बस अब चलो, बहुत परीक्षा हो चुकी। (जाना चाहते हैं)
हरि०—(हाथ जोड़कर) भगवन् दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न ?
विश्वा०—हाँ क्षमा हुआ। अब हम जाते हैं।"[1]

हरिश्चन्द्र के इस स्थल की तुलना नीचे दिए जा रहे चण्डकौशिक के भाग से कीजिए और देखिए कितना अधिक साम्य है—

'धर्म—(ससम्भ्रममुपगम्य प्रकाशम) अले उत्थेहि, अहं के तए अत्थी गह्ण एद अ जधा पत्थिद सुवण्ण।[2]
राजा—(सहर्षमुत्थाय) भो साधो! उपनीयताम। (दृष्ट्वा सविषादम) भद्र भवानर्थी ?
धर्म—बाढं हग जेव तए अत्थी।[3]
राजा—तत् को भवान ?
धर्म—णाह मशाणाहिवइ गुम्मट्ठाणाधिमाण पच्चन्दे।
वज्झट्ठाणिउत्ते चंडाल महत्तले हगे॥[4]
राजा—(सावेगमपसृत्य कौशिकस्य पादयोर्निपत्य) भगवन् प्रसीद, भगवन् प्रसीद—
तवैव दासतां गत्वा वरमानृण्यमस्तु मे।
न दृष्टा न श्रुता चेयं ब्रह्मन् चाण्डालदासता॥
कौशिक—धिङ् मूर्ख स्वयं दासार्थमर्थितवान्। तत् किं त्वया दासेन मे नियत ?

1 सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग 1) पृ० ८६-८६
2 अरे! उत्तिष्ठ अहं तवार्थी गृहाण यथाप्रार्थितं सुवर्णम्।
3 वाढम् अहमेव तवार्थी।
4 ननु श्मशानाधिपतिर्गुल्मस्थानाधिमानः प्रत्यक्षः।
वध्यस्थाननियुक्तश्चण्डालो महत्तरः खल्वहम्॥

राजा—(सानुनयम) भगवन यदादिशसि तत करिष्ये।
कौशिक —शृणवन्तु विश्वदेवा, यदादिशामि तत करिष्यसि ?
राजा—बाढम करोमि।
कौशिक —यद्येवम, अस्मिन्नवार्थिनि विक्रीयात्मानं प्रयच्छ मे दक्षिणासुवर्णानि।
राजा—(सवकन्यमात्मगतम) अहह ! का गतिरिदानीम् (प्रकाशम्) भगवन् यदादिशसि (चाण्डालमुपगम्य) मा स्वजातिमहत्तर समग्न मा क्रेतुमर्हसि।
चाण्डाल —अथ कौन्दि दे नमथ ?[1]
राजा—श्रूयताम—

मक्षयासो दूरतस्तिष्ठन रम्याम्बरपरिच्छद।
यद यदादिशति स्वामी तत करोम्यविचारितम॥

उभी—मपरितापम् अलं ! गुटठु एश द समए। गह्ण एद शुवण।[2] (इति दूरात्पयति)
राजा—(गहीत्वा सहृषम)—

अनणस्य ममेदानीमगप्तस्य द्विजन्मना।
अपरिभ्रष्ट सत्यस्य श्लाघ्या चाण्डाल दासता॥

(कौशिकम प्रति सानुनयम) भगवन प्रतिगृह्यतामिदमशेष धनम।
कौशिक —(मवलक्ष्यम्) दास्यसि ?
राजा—(सानुनयम) भगवन गृह्यताम।
कौशिक —(परिगृह्य स्वगतम) किमत पर निग्रहन ? भवतु गच्छामि। (मवलक्ष्य तथा करोति।)
राजा—(सविनय अञ्जलिं बद्ध्वा) भगवन बालाक्षेपकृतस्त्वपराधो मा प्रति मर्षणीय।
कौशिक —क्षान्तम। (इति निष्क्रान्त।)[3]

इस स्थल क अतिशय साम्य एव एकरूपता का देखकर एसा प्रतीत होता है कि चण्डकौशिक को सामने रखकर ही भारतेन्दुजी ने कहीं कहीं सामान्य सा परिवतन करके अनुवाद कर दिया है पर तु जहाँ परिवतन किया है वहा मूल की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता एव सौन्दय आ गया है।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र के चतुथ अंक म भारतेन्दुजी ने श्मशान का जो वणन किया है वह अति सजीव है। इस वणन से पूव इसी अक के आरम्भ म उन्होंने राजा हरिश्चन्द्र की मानसिक स्थिति का थोडा सा चित्रण किया है। यह भी अति स्वाभाविक एव हृदयस्पर्शी है। सत्य हरिश्चन्द्र के चतुथ अंक के आरम्भ के इस प्रसग का पढ़न के पश्चात यदि 'चण्ड

---

१ अथ कान्दि त समय ?
२ अरे मुष्ठु एष ते समय गहाणद सुवणम।
३ चण्डकौशिक अक ४, पृ० १०३ १०६

कौशिक के इसी प्रसंग के स्थल को पढ़ें तो हमें अत्यधिक साम्य मिलेगा। उदाहरण के रूप में दोनों नाटकों से कुछ अंश इस प्रसंग से भी नीचे उद्धृत हैं—

सत्य हरिश्चन्द्र से—

हरि०—(लंबी सांस लेकर) हाय ! जन्म भर यही दुःख भोगना पड़ेगा।

जाति दास चंडाल की, घर घनघोर मसान।
कफन खसोटी को करम, सब ही एक समान ॥

बड़ा न सच कहा है कि दुःख से दुःख जाता है। दक्षिणा का ऋण चुका तो यह कर्म करना पड़ा। हम क्या क्या सोचें ? अपनी अनाथ प्रजा को या दीन नातेदारों को, या अशरण नौकरों को या रोती हुई दासियों को, या दासी बनी महारानी को या उस अनजान बालक को, या अपने ही इस चण्डालपन को। हा ! बटुक के धक्के से गिरकर रोहिताश्व ने आधमरी और रानी ने जाते समय करुणाभरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था वह अब तक नहीं भूलती। (घबड़ाकर) हा देवी ! सूर्यकुल की बहू और चन्द्रकुल की बेटी होकर तुम बेची गई और दासी बनी। हा तुम अपने जिन सुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गूंथ सकती थीं उनसे बरतन कैसे माँजोगी ?''[1]

सत्य हरिश्चन्द्र के इस प्रसङ्ग की तुलना यदि हम चण्डकौशिक के सम्बद्ध स्थल से करें तो हमें दोनों में अतिशय सादृश्य मिलेगा। चण्डकौशिक का यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

राजा—(निःश्वस्य आत्मगतम्) कष्टम् अनवधिरयं यथोत्तरदारुणो मे व्यसनपरम्परापातः। तथाहि—

इदमद्य मम श्वपाकदास्यम्
वसतिर्घोरतरं महाश्मशानम्।
मृत-कम्बल हारिता च कर्म
परिणात व्यसनेष्वहो, न दैवम् ॥

(सास्रम्) सुष्ठु खल्विदमुच्यते 'दुःखं दुःखस्तिरोधीयते' इति। यतो दक्षिणानण्यनिव समाम आशोको बाधते।

(वैक्लव्यं नाटयित्वा)—

किं शोचामि महेश्वराधवतया सम्प्रत्यनाथाः प्रजाः ?
किं बन्धूनतिवत्सलानशरणानेताश्च भृत्यानहम् ?
किं दासीं द्विजसद्मनि प्रियतमां वत्सं च किं वा शिशुम् ?
किं चाण्डालभुजिष्यतामुपगतं पापो निजं जीवितम् ?

(विचिन्त्य सखेदमात्मगतम्)—अहह ! दृढं पीडयति मां सम्प्रति तत्, यत् तदा—

त्वरयति गुरौ भक्त्या तस्मिन् द्विजे च रुपारुणे
रुदति च तदा क्षिप्ते बाले पटान्तनिरोधिनि।
विधृत विधृतवाष्पोत्पीडजडीकृततारका
कथमपि तया क्रूरे दृष्टिश्चिरान्मयि संहृता ॥

1 सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग 1) चतुर्थ अंक, पृ० ६८ ६९

(सबाष्पम्) हा देवि—

यदि तपनकुलोचिता वधूस्त्वम्
यदि विमले नगरे कुले प्रसूता।
यदि विनिपातितासि भस्मराशौ
सुतनु घृताहुतियत् तदा क्व त्वम् ?

अपि च राजपुत्रि—

उपवन नवमालिका प्रसून
सजमपि या परिलिखने सृजन्ती।
परिजन वनिमोचितानि कर्मा
ण्यपरिचितानि कथं विधास्यति त्वम् ?''[1]

ऊपर 'चण्डकौशिक' के इस खण्ड के जिन श्लोकों में जो कहा गया है भारतेन्दुजी ने सत्य हरिश्चन्द्र के गद्य भाग में उसी का अनुवाद कर लिया गया है। जो कुछ अन्तर है वह दोनों का है प्रतिपाद्य वस्तु का नहीं। संस्कृत नाटकों की परम्परा में प्रभाव तथा स्वगत सम्भाषणों में भी गद्य के साथ श्लोकों की प्रचुरता देखने को मिलती है। श्लोकों के पढ़ने में स्वाभाविकता और प्रवाह में [illegible] पड़ जाता है पर जिस युग में चण्डकौशिक लिखा गया था, वह युग उसी प्रकार की रुचि का था। वर्तमान युग की रुचि भिन्न है, अतः भारतेन्दुजी ने इस प्रकार की अस्वाभाविकताओं को अपने नाटक से यथासम्भव परिष्कार कर दिया है। समय की गति बड़ी तीव्र है। समय के साथ ही मानव की भावनाओं एवं उसके मानदण्ड परिवर्तित होते रहते हैं। अतः बीसवीं शताब्दी के सप्तम दशक के पाठक और आलोचक की दृष्टि में तो भारतेन्दु युग भी अतीत का युग ही माना जाएगा। इस युग की कृतियाँ भी कुछ सीमा तक, प्राचीन युग की कृतियाँ मानी जाएँगी। सत्य हरिश्चन्द्र की भाषा शैली गीत आदि सभी कुछ बीसवीं शती के उत्तरार्ध में आलोचक की दृष्टि में प्राचीन सा हो गया। परन्तु इतना तो निर्विवाद ही है कि साहित्य की कोई भी विधा किसी भी युग की हो, उसका वास्तविक एवं समुचित मूल्यांकन तब तक सम्भव नहीं होता जब तक कि आलोचक उस उस युग की उन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल अपनी मनःस्थिति को न बना ले। आर्य क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' एवं भारतेन्दुजी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' के तुलनात्मक अध्ययन में भी इस दृष्टि बिन्दु का ध्यान रखना अपेक्षित है। ऐसा करने पर ही चण्डकौशिक में भारतेन्दुजी द्वारा किये गए परिवर्तनों को तथा सामान्य रूप से पद्य के स्थान पर गद्य के प्रयोग को भी समझा जा सकेगा।

+ + + +

भारतेन्दुजी ने सत्य हरिश्चन्द्र में श्मशान का वर्णन बड़ा ही सप्राण किया है परन्तु इसके लिए भी वे आर्य क्षेमीश्वर के ऋणी हैं। दोनों नाटकों के वर्णन की एक झाँकी इस प्रकार है—

सत्य हरिश्चन्द्र से—

---

१ चण्डकौशिक अंक ४ श्लोक १६ पृ० १०७ १११

'हरि०+ + + +(नेपथ्य में कोलाहल सुनकर) हाय हाय! कैसा भयंकर श्मशान है। दूर से मंडल बाँध बाँधकर चोंच बाए डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच नोचकर आपस में लड़ते हैं और चिल्लाते हैं। इधर अत्यंत कर्णकटु अमंगल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिराइंध फैलाती हुई, चट चट करती चिताएँ कैसी जल रही हैं जिनमें मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू वा चर्बी बहती है। आग का रंग मांस के सम्बन्ध से नीला पीला हो रहा है ज्वाला घूम घूमकर निकलती है कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मंद हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है। (आगे देखकर आदर से) अहा! यह वीभत्स व्यापार भी बड़ाई के योग्य है। शव! तुम धन्य हो कि इन पशुओं के इतने काम आते हो + + + अहा! देखो—

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनंद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै मांस उपारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान बिचारत॥

अहा! शरीर भी क्या निस्सार वस्तु है।

सोई मुख सोई उदर, सोई कर पद दोय।
भयो आजु कछु और ही, परसत जेहि नहिं कोय॥
हाड़ मांस लाला रकत, बसा तुचा सब सोय।
छिन्न छिन्न दुर्गन्धमय, मरे मनुस के होय॥
कादर जेहि लखि कै डरत, पंडित पावत लाज।
अहो! व्यर्थ संसार को, विषय वासना साज॥"[1]

यह स्थल 'चण्डकौशिक' में इस प्रकार है—

'राजा—(दृष्ट्वा सावष्टम्भम्) अये इदं महाश्मशानम्!—

विदूरादभ्यस्तर्विषयति बहुशो मण्डलशत
उदञ्चत पुच्छाग्र स्तिमित वितत पक्षतिपुटा।
पतन्त्येते गृध्राः शव पिशित लोलाननगुहा—
गलल्लालाफेन - स्थगित निजचञ्चूभयपुटा॥
(नेपथ्ये कलकलः)

राजा—(कर्णं दत्त्वा अवलोक्य च) अहो! वीभत्सरौद्रता श्मशानस्य। तथाहि—

इमा मूर्च्छन्त्यन्तः प्रतिरवभृतः कर्णकटवः
शिवाः क्रूराक्रन्दद्विगुणितपटहाडम्बर रवाः।
ज्वलन्त्येते ताप स्फुटित नरकोटी-पुट दरी
वसामस्तिष्कस्यन्द स्तिमितजटिलाग्रा हुतभुजः॥

(अग्रतोऽवलोक्य सश्लाघम्) अहो! वीभत्समपि स्पृहणीयमिदं वर्तते। भद्र!

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १), पृ० ६१-६३

कुणप ! सवस्वग्राहिभि प्रणयिभिश्च श्वापगण यथष्टमुपभुज्यमाना धत्य स्वमसि। तथाहि—

भिनत्त्यक्ष्णोमुद्रां निरसि चरणो यस्य करट
शिवा सक्कोपान्ते ग्रसति रसनाग्र विलुठितम।
छिनत्ति श्वा मेढ्र प्रथयति च गृध्रोऽस्र विवर
यथेष्टव्यापारास्त्वयि कुणप ! वञ्छवापदगणा ॥

अहा निस्सारता शरीराणाम्—

तन्मध्य सद्वस्तदेव वदन ते लोचन त भ्रुवौ
जात सवममेध्य शोणित वसा मासास्थि लालामयम।
भीरुणा भयद अपास्पदमिद विद्याविनीतात्मनां
तन्मूढ म्रियते वथा विषयिभि दुर्गेभिमानग्रह ॥"[1]

ऊपर सत्य हरिश्चन्द्र के खण्ड म श्लोक हमारा का वहा का पन्न और वहीं मानन अनुवाद है। भाव विस्तार भी किया गया है यथा

"छिनत्ति श्वा मेढ्र प्रथयति च गृध्रोऽस्र विवरम" का
'गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि के मास उचारत।
स्वान अगुरिन काटि काटि के खान विचारत॥'

इस रूप म अनुवाद करके भारतेन्दुजी न सस्कृत के श्ल पद्य म अभिव्यञ्जित अश्लीलता को भी बचा लिया है।

श्मशान की बीभत्सता क वणन म कात्यायनी की सज्जा भी कम बीभत्स नहीं है। यह भी दशनीय है। भारतेन्दुजी न सत्य हरिश्चन्द्र म उसका चित्रण इस प्रकार किया है—

(आग देखकर) अरे यह श्मशान देवी ह। अहा ! कात्यायनी को भी कसा बीभत्स उपचार प्यारा ह ? यह देखो, डोम लोगो न सूखे गल मड फूलो की माला गगा म से पकडकर देवी को पहिना दी ह और कफन की ध्वजा लगा दी है। मरे बल और भसा के गले क घटे पीपल की डार म लटक रहे ह जिनम लोलक की जगह नली की हड्डी लगी है। घट क पानी स चारो ओर से देवी का अभिषक होता ह और पड के खभे म लहू के— उतारा की बलि दी गई है उसके खान का कुत्ते सियार लड लडकर कोलाहल मचा रहे हैं।

(हाथ जोडकर)—

भगवति ! चण्डि ! प्रते ! प्रेतविमाने ! लसत्प्रते।
प्रतास्थिरौद्ररूपे ! प्रताशिनि ! भरवि ! नमस्ते॥

(नपथ्य म) राजन हम कवल चाण्डालो के प्रणाम के योग्य ह। तुम्हारे प्रणाम स हम लज्जा आती है। मागो क्या वर मागते हो ?

हरि०—(सुनकर आश्चय म) भगवति यदि आप प्रसन्न है तो हमारे स्वामी का कल्याण कीजिए। (नपथ्य म) साधु ! महाराज हरिश्चन्द्र साधु !"[2]

---

१ चण्डकौशिक अक ४ पृ० १११ ११४
२ सत्य हरिश्चन्द्र (भा ना० भाग १) पृ० ६५ ६६

सत्य हरिश्चन्द्र का यह प्रसंग 'चण्डकौशिक' में इस प्रकार है—

'राजा—(सवताऽवलोक्य सविस्मयम्) अहो बीभत्सापचारप्रियत्वं कात्यायन्या ।
तथाहि—

जरन्निर्माल्याढया मतमहिष गो-कण्ठलुलिता
प्रलम्बन्ते घण्टा श्रवणकटु-टङ्कार पटव ।
तरस्तम्भे देव्या कृतरुधिर पञ्चाङ्गुलितले
रटन्त्येते चास्मिन प्रकृति बलि लोला बलिभुज ॥

(सप्रणाममञ्जलिं बद्ध्वा)—

भगवति ! चण्डि ! प्रेते ! प्रेतविमानप्रिये ! लसत्प्रेत ।
प्रेतास्थिरौद्ररूपे ! प्रेताशिनि ! भैरवि ! नमस्ते ॥"[1]

'चण्डकौशिक' में श्मशान देवी का वर्णन अधिक नहीं है। भारतेन्दुजी ने इसमें थोड़ा बढ़ा दिया है परन्तु देवी की स्तुति का 'भगवति चण्डि'—यह श्लोक ज्यों का त्यों मूल रूप में ही उद्धृत किया है। इसका हिन्दी में अनुवाद करने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। इसके अतिरिक्त देवी की स्तुति के उपरान्त प्रसन्न होकर राजा हरिश्चन्द्र को वर माँगने के लिए कहना तथा राजा द्वारा अपने स्वामी चाण्डाल के कल्याण के लिए प्रार्थना करना तथा देवी द्वारा हरिश्चन्द्र की इस साधुता की सराहना करना—यह अंश 'चण्डकौशिक' में नहीं है। यह भारतेन्दुजी की अपनी उद्भावना है।

श्मशान के वर्णनक्रम में ही सूर्यास्त एवं उसके पश्चात् रात्रि के अन्धकार को भय करता तथा तत्रस्थ भूत पिशाचों के क्रिया कलाप का जो सजीव भयंकर चित्र भारतेन्दुजी ने उपस्थित किया है, वह 'चण्डकौशिक' में भी दर्शनीय है। सूर्यास्त का चित्र 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इस प्रकार है—

'हरि०—(ऊपर देखकर) यहाँ भिखमंगा किसी का भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और लौकिक वैदिक दोनों कर्मों का प्रवर्तक था जो दोपहर तक अपना प्रचण्ड प्रताप क्षण क्षण बढ़ाता गया जो गगनांगन का दीपक और काल सर्प का शिखा मणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गँवाकर देखो समुद्र में गिरा चाहता है। अथवा—

साँझ सोई पट लाल कसे कटि, सूरज खप्पर हाथ लह्यो है।
पच्छिन के बहु शब्दन के मिस जीव उचाटन मन्त्र कह्यो है॥
मद्य भरी नर खोपड़ी सो ससि को नव बिम्बहु धाइ गह्यो है।
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै कालकपालिक नाचि रह्यो है॥
सूरज धूम बिना की चिता सोई अन्त में लै जल माँहि बहाई।
बोले घने तरु बैठि विहंगम रोअत सो मनु लोग लुगाई।
धूम अँधार कपाल निसाकर, हाड नछत्र लहू सी ललाई॥
आनन्द हेतु निसाचर के यह काल मसान सो साँझ बनाई॥

---

1 चण्डकौशिक अंक ४ पृ० ११५-११६

सना । यह भाग घार म त ि माल नैना म ~ करता हुए पाने सा । माल । का घार था पा । है । मना म ार्गी ना मजबर प्रतार नाभ हा । म श्मशान के भीत र नर कौवा का मन मग पमगर श न म श्वर तार करता भौर मार के भागमा म मन म ाड़े का मान्द निम म य मी उभागी भौर नाम उन्न न करता है। य ध्तार भद्दा भी जाता है । यहाँ के कारण न श्मशानवासी मद्दा मा स्वरूप करना भी वैसा म्यानक मालूम होता है ।

> दम्मा वहूँ दिसि रक्त डरलगुरि क गरन्मारी ।
> पत्पटा होउ पग उप्तुहु रटत पुकारी ॥
> धंधकार-सन गिरत कार थम धाग कनन रव ॥
> गिद्ध गरज ह्हुन्ि भ अनतनि ि रिट भयत रव ॥
> रोमन सियार गन्न र नदो श्मशान भूमि डरपावहीं ।
> गान दादुर भोगुर स्वनगों ारमिि रवर कुसुम गवायही ॥'[१]

श्मशान का सन्ध्या का यह वर्णन चण्डकौशिक में इस प्रकार है—

(नन र वनतान)

राजा— (भावण्य) यहो नाना निगतानिना स्थान स्मगुकानां ि श्मशानमान शनिताा गंत वण निरगानाम । (प्रभाता मल्या) न कर्नतिाम न पूर्ववहमा ग्वानिनि —

> प्रयमतो गगनांगण-शीपद
> तरस वानभुत्र निलमणि ।
> क्षण विडम्बित साइय विपद
> पतनि वारिनिधौ विपुरो रवि ॥

(गमनान्तराय अविश्यगम्)

> सन्ध्यावध्यास गोण तनु-धन विनागार मन्दार बिम्बम
> तारानारास्यिराव विनान्तर करल्लुप्यमाणोश्म्यनेन्दु ।
> हृष्यन नक्तचरोघ घन तिमिर महाधूम धूम्राकुरारम ,
> जात कालान्मनान जगदग्निरमहा ! श्मशानपालितस्य ॥

(मवनोऽवनाय शायन्भम्) यहा ! अतिगम्भारभाषण सम्प्रति यन्न श्मशानागिन ।
तथाहि—

> भास्य धातुल्यतमन्त पगु कुहर-महल्लारि कूजत्युत्कूश
> धुम्पन्त पमपाली प्रबल विततश्शिला मूढ नि गृध्रा पतन्ति ।
> नासाग्रासम्थि गोधन-कुणप घन वसा गन्धमाघ्राय रोद्रम
> क्रदन्त स्फारयन्ति स्फुरदनल शिखा क्रव्य कोत्कृतानि ॥''[२]

उपर दिये गये दोनो नाटकों के दोनों वर्णनों को ध्यानपूर्वक पढ़ने के उपरान्त पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि भारतेन्दु जी सत्य हरिश्चन्द्र में श्मशान सन्ध्या का वर्णन करते समय चण्डकौशिक का आधार लेते हुए भी कुछ स्वतन्त्र हो गये हैं। उदाहरण के लिए—

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) पृ० ६६ ६७
२ चण्डकौशिक अंक ४ पृ० ११६ ११६

'चण्डकौशिक' के उपरिलिखित—"अयममौ ' आदि श्लोक के पूर्वार्ध के केवल दो चरणों का ही भारतेन्दुजी ने—"जो गगनागमन का दीपक और काल सर्प शिखामणि था —इन शब्दों में रूपान्तर किया है। शेष पंक्तियों का आधार, चण्डकौशिक नहीं है। इसी प्रकार आगे के ताना पद्य खण्ड, ऊपर लिखे—'सन्ध्यावध्याम्रगोणम्—" और 'आम्ब्धादुत्पतन ' इन दोनों श्लोकों के स्वतन्त्र रूपान्तर हैं। यत्र तत्र परिवर्तित रूप भी परिलक्षित हो रहा है। श्मशान सन्ध्या का यह वर्णन 'सत्य हरिश्चन्द्र' की अपेक्षा 'चण्डकौशिक' में अधिक उद्दाम है। जैसे—

शाखाग्रान्निम्ब शोषित कुणप घन-वसा-गन्धमादाय रौद्रम्।
प्र-दन्त स्फारयन्ति स्फुरदनलशिखा फेरव फेत्कृतानि ॥

में वीभत्स रूप की जो अभिव्यक्ति हुई है, वह सत्य हरिश्चन्द्र के "रूसा चहु दिसि— ' पद्य भाग की—

रोअत सियार गरजत नदी, स्वान भूकि डरपावहीं।
सग दादुर झींगुर रुदन धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावहीं ॥ आदि

पंक्तियों में नहीं है। चण्डकौशिक में ओजगुण[1] एव गौडीवृत्ति[2] ने श्मशान के वीभत्स-वर्णन को अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया है। परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं, जलती चिता का चित्र सत्य हरिश्चन्द्र में कितना सजीव है—

" इस समय य चिताएँ भी कैसी भयंकर मालूम पडती हैं। किसी का सिर चिता के नीचे लटक रहा है कहीं आग से हाथ पैर जलकर गिर पडे हैं, कहीं शरीर आधा जला है कहीं बिल्कुल कच्चा है किसी का वस ही पानी में बहा दिया गया है किसी को किनारे ही छोड दिया गया है किसी का मुह जल जाने से दाँत निकला हुआ भयंकर हो रहा है और कोई आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। वाह रे शरीर, तेरी क्या-क्या गति होनी है[3] ।।

यह वर्णन 'चण्डकौशिक' में नहीं है। श्मशान के वर्णन में पिशाच एवं डाकिनियों का वीभत्स चित्र भी बडा भयावह है—

हरि०—(कौतुक से देखकर) पिशाचों का क्रीडा कुतूहल भी देखने योग्य है। अहा ! यह कैसे काले काले झाड से सिर के बाल खडे किये लम्बे-लम्बे हाथ-पैर विकराल दाँत, लम्बी जीभ निकाले इधर उधर दौडते और परस्पर किलकारी मारते हैं मानो भयानक रस की सेना मूर्तिमान होकर यहाँ स्वच्छन्द विहार कर रही है। हाय ! हाय ! इनका खेल और सहज व्यवहार भी कैसा भयंकर है। कोई कटाकट हड्डी चबा रहा

---

१ ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्त त्वमुच्यते।
वीर-वीभत्स रौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥ —साहित्यदर्पण परि० ८ कारिका ६२६
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो ।
—काव्यप्रकाश ८ ६६

२ ओज प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर पुन । समास बहुला गौडी।
—साहित्यदर्पण ९, ६४७

३ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) पृ० ६७ ६८

है कोई खोपड़ी या में लहू भर भरकर पीता है कोई सिर का गेंद बनाकर खेलता है कोई अँतड़ी निकालकर गले में डाले है और कोई चन्दन की भांति चरबी और लोहू शरीर में पोत रहा है। एक दूसरे से मांस छीनकर ले भागता है। एक जलता मांस मारे तृष्णा के मुंह में रख लेता है पर जब गरम मालूम पड़ता है तो थू थू करके थूक देता है और दूसरा उसी को फिर झपटके ले खा जाता है। हा! देखो, यह चुड़ल एक स्त्री की नाक नथ समेत नोच लायी है जिसे देखने को चारों ओर से सब भूत एकत्र हो रहे हैं और सभी को इसका बड़ा कौतुक हो गया है। हँसी में परस्पर लोहू का कुल्ला करते हैं और जलती लकड़ी और मुर्दों के अंगों से लड़ते हैं और उनकी ले लेकर नाचते हैं। यदि तनिक भी क्रोध में आते हैं तो श्मशान के कुत्तों को पकड़ पकड़ कर खा जाते हैं।[1]

चुड़ल और पिशाचों का यह चित्रण चण्डकौशिक में भी इसी प्रकार का बीभत्स है। केवल भाषा एवं शैली का अन्तर है। वहाँ यह इस प्रकार है—

राजा—(सावष्टम्भ परिक्रम्य दृष्ट्वा) अहो! बीभत्सदर्शना कौणपनिकाया। तथाहि—

जरत्कूपाकारनयन परिवेपत्स्तनुशिरा
करालोच्चघोणा कुटिलरदना क्रूरवदना
शमी नाडी जंघा द्रुम कुहर निम्नोदर भुव
घन-स्नायुच्छन्न स्थपुटपटल बिभ्रति वपु ॥

(सकौतुकम् अवलोक्य) अहो! क्रीडा कलह कौशल पिशाचानाम्। तथाहि—

पिबत्येकोऽस्मात् घनरुधिरमाच्छिद्य चषकम्
चलज्जिह्वो वक्त्रादृगलितमपरो लेढि पिबत ।
ततस्त्यानान् कश्चित् भुवि निपतितान् शोणितकणान्
क्षणादुच्चग्रीवो रसयति लसद्दीर्घरसन ॥

(सकौतुकम् अवलोक्य सस्मितम्) अहो नु खलु भो। परिहास इव दुर्विदग्धाना केनिरपि रसान्तरम् आरभते यातुधानानाम्। तथाहि—

क्व रम्य सम्भोगो मृदु मधुर चेष्टासुभग
कटाक्षा क्वायोऽय प्रलम्बिततोल्काद्युतिभृत ।
क्व दंष्ट्रासंघट्ट ज्वलित - दहनश्चुम्बितविधि
घनाश्लेष क्वाय प्रतिरमदुर पञ्जर रव ॥

(सघृणम् अवलोक्य) धिक्। अतिबीभत्समत्र—

चिताग्नेराकृष्ट नलक शिखर प्रोतमसकृत
स्फुरदर्भिर्निर्वाय प्रलय-पवन फूत्कृतशत ।
शिरो नार प्रेत कवलयति तृष्णावशलल
करालास्य लुप्यद्वदन-मुहुरस्तूद्गिरति च ॥"[2]

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (भा ना भाग १) पृष्ठ ६६१ ०
२ चण्डकौशिक अक ४ प १२१-१२३

ऊपर उद्धत सत्य हरिश्चन्द्र के गद्य भाग एवं चण्डकौशिक के इन चारों श्लोकों की तुलना करने पर यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि हिन्दी का गद्य इन श्लोकों का ही स्वच्छन्द रूपान्तर है।

+ + +

सत्य हरिश्चन्द्र और चण्डकौशिक दोनों ही नाटकों में समान रूप से कापालिक के वेश में धर्म का प्रवेश कराया गया है। धर्म के स्वरूप का वर्णन, राजा हरिश्चन्द्र के साथ धर्म का सम्भाषण, विघ्न निवारण के लिए राजा से प्रार्थना, महाविद्याओं की सिद्धि एवं राजा की सेवा में उपस्थिति, स्वामी के प्रति राजा की कर्तव्यनिष्ठा आदि प्रसंग दोनों नाटकों में प्रायः एकरूप हैं। दोनों नाटकों की एकरूपता का दर्शन के लिए यह अच्छा रहेगा कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' के प्रत्येक सम्भाषण के उपरान्त तुलना के लिए चण्डकौशिक का मूल अंश साथ ही उद्धृत कर दिया जाय। ऐसा करने में एकरूपता एवं समानता की प्रतीति स्वरित होती चलेगी।

सत्य हरिश्चन्द्र से—

'हरि०—अरे! हमारी बात का यह उत्तर कौन देता है? चलें जहाँ से आवाज आई है वहाँ चलकर देखें (आगे बढ़कर नेपथ्य की ओर देखकर) अरे! यह कौन है?

चिता भस्म अंग लगाये। अस्थि अभूषन विविध बनाये।
हाथ कपाल मसान जगावत। को यह चल्यो रुद्रसम आवत॥"[1]

चण्डकौशिक के साथ इसकी तुलना कीजिए—

'राजा—(सावष्टम्भम्) कथं प्रतिव्याहारः। भवतु शब्दानुसारेणोपगम्य निपुणमवधारयामि कोऽयमिति। (परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य च सविस्मयम्) अये। कोऽयम्?

खट्वाङ्गधृग् भस्मकृताङ्गरागः
नरास्थिभूषोज्ज्वल-रम्य-कान्तिः।
कपालपाणिर्नकरत्व - मौलिः
आभाति साक्षादिव भूतनाथः॥"[2]

स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है कि भारतेन्दुजी ने 'चण्डकौशिक' का ही अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया है। यही एकरूपता आगे के वर्णन में भी द्रष्टव्य है—

'(कापालिक के वेश में धर्म आता है)

धर्म—अरे हम हैं।

वृत्ति अयाचित आत्मरति, करि जग के सुख त्याग
फिरहिं मसान मसान हम, धारि अनंद विराग॥

(आगे बढ़कर महाराज हरिश्चन्द्र को देखकर आप ही आप)

+ + +

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) पृ० १ २

२ चण्डकौशिक अंक ४ पृ० १२६

सो हम नित थित इक सत्य मे जाके बल सब जग जियो।
सोइ सत्य परिच्छन नृपति को, आजु भेष हम यह कियो॥

(कुछ सोचकर) यद्यपि हरिश्चन्द्र की दुःख परम्परा अत्यन्त शोचनीय और इनके चरित्र अत्यन्त आश्चर्य के हैं। अथवा महात्माओं का यह स्वभाव ही होता है।

सहत विविध दुख मरि मिटत, भोगत लाखन सोग।
प निज सत्य न छोड़हीं जे जग साँचे लोग॥
बरु सूरज पच्छिम उग, विन्ध्य तरै जल माँहि।
सत्यवीर जन प कवहूँ, निज बच टारत नाँहि॥

अथवा उनके मन इतने बड़े हैं कि दुःख को दुःख सुख को सुख गिनते ही नहीं। चलें उनके पास चल (आगे बन्दकर और देखकर) अरे! यही महात्मा हरिश्चन्द्र हैं? (प्रगट) महाराज कल्याण हो।'[1]

चण्डकौशिक में यह इस प्रकार है—

'(ततः प्रविशति कापालिकवेशो धर्म)

धर्म —अयमहं भोः।

अयाचितोपस्थितभक्ष्यवृत्ति
निवृत्त पञ्चेन्द्रियनिस्तरङ्गः।
व्यतीत्य संसार महाश्मशानम्
चरामि बीभत्समिदं श्मशानम्॥

(विचिन्त्य) स्थाने स खलु रुद्रो भगवान् महाव्रत चचार। परं क्लिष्ट प्रथमः कामचारिणाम। किन्तु—

भक्ष्याद्वत तपोऽद्वत क्रियाद्वत च तत्परम्।
सुलभं सर्वमेवैतदस्माद्वतं तु दुर्लभम्॥

× × × (समन्तादवलोक्य सानन्दम् आत्मगतम्)

मया प्रिय ने भुवन यमूनि
सत्यं च मां तत्सहितं बिभर्ति।
परीक्षितुं सत्यमतोऽस्य राज्ञः
कृतो मया वेश परिग्रहोऽयम्॥

(विचिन्त्य साश्चर्यम् आत्मगतम्) आश्चर्यं दुःखपरम्परास्वनोऽव्यमानस्य राजर्षेहरिश्चन्द्रस्य चरितम्। अथवा प्रकृतिरियं महात्मनाम्। कुतः —

सुख वा दुःख वा किमिव हि जगत्यस्ति नियतम?
विवेकप्रध्वंसात् भवति सुखदुःखव्यतिकरः।
मनोवृत्तिः पुंसां जगति जयिनी काऽपि महताम्
यया दुःखं सुखमपि सुखं वा न भवति॥

भवतु तत्सकाशमेव गच्छामि। (परिक्रम्य दृष्ट्वा सश्लाघम्) अये! अयमसौ महात्मा

1 सत्य हरिश्चन्द्र (भा. ना. भाग १) पृ० १०३

तदुपसपामि। (तथाकृत्वा) भो राजन ! सिद्धिभाजन भूया।[1]

'सत्य हरिश्चन्द्र' में 'चण्डकौशिक' के विचिन्त्य स्थान स खलु'—यहां से लेकर 'ग्रात्मा-द्रव्य तु दुर्लभम्' इस ग्रंश को छोड़ दिया गया है ग्रौर 'सहत विविध दुःख' से ग्रारम्भ करके 'निज वच टारत नाहिं' तक की पंक्तियां विशिष्ट हैं। नाप ग्रंश प्राय चण्डकौशिक का ग्रनुवाद मात्र ही है। न कहीं कोई परिवर्तन न वैशिष्ट्य।

× × ×

'हरि०—(प्रणाम करके) ग्राइए योगिराज !

धम—महाराज हम ग्रर्थी हैं।

हरि०—(लज्जा ग्रौर विकलता का नाट्य करता है।)

धम—महाराज, ग्राप लज्जा मत कीजिए। हम लोग योग बल से सब-कुछ जानते हैं। ग्राप इस दशा पर भी हमारा ग्रर्थ पूर्ण करने के लिए बहुत हैं। चन्द्रमा राहु से ग्रसा रहता है, तब भी दान दिलवाकर भिक्षुग्रों का कल्याण करता है।

हरि०—हमारे योग्य जो कुछ हो ग्राज्ञा कीजिए।

धम—ग्रंजन गुटिका पादुका, धातु भेद वैताल।
वज्र रसायन जोगिनी, मोहिनी सिद्धि यहि काल॥

हरि०—तो मुझे जो ग्राज्ञा हो वह करूं।

धम—ग्राज्ञा यही है कि यह सब मुझे सिद्ध हो गए हैं पर विघ्न इसमें बाधक होते हैं। सो विघ्नों का निवारण कर दीजिए।

हरि०—ग्राप जानते हैं कि मैं पराया दास हूं इससे जिसमें मेरा धर्म न जाए वह मैं करने को तैयार हूं।

धम—महाराज, इसमें धर्म न जाएगा क्योंकि स्वामी की ग्राज्ञा तो ग्राप उल्लंघन करते ही नहीं। सिद्धि का ग्राकर इसी श्मशान के निकट ही है ग्रौर मैं ग्रब पुरश्चरण करने जाता हूं ग्राप विघ्नों का निषेध कर दीजिए। (जाता है।)

हरि०—(ललकारकर) हटो रे हटो विघ्नो ! चारों ग्रोर से तुम्हारा प्रचार हमने रोक दिया।[2]

यह ग्रंश चण्डकौशिक में भी इसी प्रकार है—

'राजा—स्वगत महाव्रतचारिणा नष्ठितस्य।

कापालिक—भो राजन ग्रर्थिनो वयं भवन्तमुपागताः।

राजा—(लज्जा नाटयति)

कापालिक—ग्रल व्रीडया याचभूपा हि वयं विन्तितवन्तो ता एव भवन्त। तथाप्येवमवस्थस्यापि तेन न समीहितदान दारिद्र्यम्। तथाहि पश्य—

परोपकाराय न कथंचिन्न साधव।
कुहूमपि समासाद्य धिनोती ट्वनस्पतीन॥

---

१ चण्डकौशिक ग्रंक ४ पृ० १२६-२६

२ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) पृ० १० १०२

तदवधत्ता पुन ।
राजा—अवहितोऽस्मि ।
कापा०— वताल - वज्र गुटिकाजन पादलेप—
दत्याङ्गना विधि रसायन धातुवादा ।
तच्चित्यता करतलोपगता ममते
विघ्न पटरिव यथा न तिरस्क्रियन्ते ॥
तदादिश्यता विघ्नप्रत्यूह इति ।
राजा—भो साधक योगबलाज्ज्ञानात्यव भवान् अस्वाधीनमिद शरीरकम् तत् स्वाम्यर्था विरोधन प्रयतिष्य ।
कापा०—भो राजन् कुताऽत्र स्वाम्यर्थविरोध ? न वाञ्छामात्रसम्पाद्य न समीहित भवत । तन्निता नातिदूरे सिद्धरमाता महानिधानमस्ति । तदथमस्माभिरारम्भणीयमस्ति । भवता पुनरिहस्थेनव विघ्नप्रत्यूह प्रति सावधानेन भवितव्यम । (इति निष्क्रान्त)
राजा—(सावष्टम्भ सवत परिक्रम्य) प्रासरत प्रासरत विघ्ना सवथा प्रतिहतो व प्रसर इति ।[1]

चण्डकौशिक की इन पंक्तियों की सत्य हरिश्चन्द्र के ऊपर के उद्धृत स्थल के साथ तुलना करने पर यह बात स्पष्ट रूप म भासित होने लगती है कि भारतन्दुजी ने यहाँ चण्डकौशिक के समान अंश का अनुवाद मात्र कर दिया है। दोनों अंशों म कहीं कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रसंग का आगे का अंश भी द्रष्टव्य है—

सत्य हरिश्चन्द्र से—

'(नपथ्य म), महाराजाधिराज जो आना। आप से सत्यवीर की आज्ञा कौन लांघ सकता है।
खुल्यो द्वार कल्याण को, सिद्ध जोग तप आज।
निधि सिधि विद्या सब करहिं, अपने मन को काज॥

हरि०—(हप स) बडे आनन्द की बात है कि विघ्नों ने हमारा कहना मान लिया। (विमान पर बठी हुई तीनों महाविद्याएँ आती हैं।)

म०विद्याएँ—महाराज हरिश्चन्द्र ! बधाई है। हमीं लोगों को सिद्ध करने को विश्वामित्र ने बड़ा परिश्रम किया था तब देवताओं ने माया म आपको स्वप्न म हमारा रोना सुनाकर हमारा प्राण बचाया।

हरि०—(आप ही आप) अरे ! अरे ! यही सृष्टि का उत्पन्न पालन और नाश करने वाली महाविद्याएँ हैं जिन्ह विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके। (प्रकट हाथ जोडकर) त्रिलोकविजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है।

म० वि०—महाराज हम लोग तो आपके वश म हैं। हमारा ग्रहण कीजिए।

हरि०—देवियो यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वशवर्तिनी हो, उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है।

म०वि०—धन्य महाराज धन्य जो आज्ञा। (जाती हैं।)

---

1 चण्डकौशिक अंक ४ पृ० १२६ ३१

(धर्म एक वैताल के सिर पर पिटारा रखवाए हुए आता है।)

धर्म—महाराज का कल्याण हो। आपकी कृपा से महानिधान सिद्ध हुआ। आपको बधाई है। अब लीजिए इस रसेन्द्र को।

याही के परभाव सों, अमर देव सम होइ।
जोगी जन विहरहिं सदा, मेरु शिखर भय खोइ॥

हरि०—(प्रणाम करके) महाराज, दासधर्म के यह विरुद्ध है। इस समय स्वामी से कहे बिना मेरा कुछ भी लेना स्वामी को धोखा देना है।

धर्म—(आश्चर्य से आप ही आप) वाह रे महानुभावता! (प्रगट) तो इससे स्वर्ण बनाकर आप अपना दास्य छुड़ा लें।

हरि०—यह ठीक है, पर मैंने तो विनती की न कि जब मैं दूसरे का दास हो चुका तो इस अवस्था में मुझे जो कुछ मिले सब स्वामी का है क्योंकि मैं तो देह के साथ ही अपना स्वत्वमात्र बेच चुका, इससे आप मेरे बदले कृपा करके मेरे स्वामी ही को रसेन्द्र दीजिए।

धर्म—(आश्चर्य से आप ही आप) धन्य हरिश्चन्द्र! धन्य तुम्हारा धैर्य! धन्य तुम्हारा विवेक और धन्य तुम्हारी महानुभावता!

चले मेरु बरु प्रलयजल, पवन झकोरन पाय।
पै बीरन के मन कबहुँ चलहिं नहीं ललचाय॥

तो हम भी इसमें क्यों हठ करें। (प्रत्यक्ष) वैताल, जाओ जो महाराज की आज्ञा है वह करो।

धर्म—महाराज, ब्राह्ममुहूर्त निकट आया, अब हमको भी आज्ञा हो।

हरि०—योगिराज, हमको भूल न जाइएगा, कभी-कभी स्मरण कीजियेगा।

धर्म—महाराज, जो-जो देवता आपका स्मरण करते हैं और करेंगे। मैं क्या कहूँ? (जाता है।)[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह भाग चण्डकौशिक में निम्न प्रकार से है। दोनों की तुलनीयता दर्शनीय है—

(नेपथ्य) राजन्! यथा॰ ज्ञापयसि—

श्रयामि निर्वृत्ताराध्यं विद्या स्ववशगा।
सिद्धास्तु कामचारिण्यस्त्वदाज्ञा कोऽनिवर्तते॥

राजा—(सहर्षम्) दिष्ट्या भवन्ति प्रतिपन्नमस्मद्वचनं विद्याः। प्रियं नः प्रियम्। (ततः प्रविशन्ति विमानचारिण्यो विद्याः)

विद्याः—(सहर्षमुपसृत्य) राजन्! हरिश्चन्द्र! दिष्ट्या वर्धसे—

त्वय्यचेष्टत राजर्षे क्रुद्धो यत्र दारुणो मुनिः।
विद्यास्त्वद्विपदां मूलं ता वयं समुपस्थिताः॥

राजा—(दृष्ट्वा साश्चर्यं आत्मगतम्) कथमिमास्ता भगवत्यो विद्याः। यासु भगवतो

---

1 सत्य हरिश्चन्द्र (भा॰ ना॰ भाग 1) पृ 1 2 1 8

विश्वामित्रस्यापि तीव्रं स्तपामिरवमानम। (प्रणामं प्रकल्प्य बद्धवा) नमद्भिरिलोर विजयिनीभ्यो विद्याभ्य।

विद्या—राजन त्वदायत्ता वयम अतस्त्व शाधि न।

राजा—यदि मामनुग्राह्य भवत्यास्तुमन्यत, तदा भगवन्त कौशिकम् उपतिष्ठध्वम् तनो मन पराद्ध मुनेरात्मान समर्पयामि।

विद्या—(सविस्मय परस्परम अवलोक्य) राजन ! एवमस्तु।

(इति निष्क्रान्ता)

(तत प्रविशति स्कन्धारोपित निधानेन वतालनानुगम्यमान कापालिक)

कापालिक—(सहसोपसृत्य) राजन् त्वय्या वद्धस ममिद्धरमस्यास्य महानिधानस्य लाभा त्पुदयन तदुपयुज्यता भगवान रसेन्द्र।

यस्योपयोगादवधूय मृत्युम, आसाद्य सद्योऽमरलोकमागम।
विलङ्घकल्पद्रुम मञ्जरीणि, निरासि मेरोर्विहरन्ति सिद्धा॥

राजा—ननु दासभावविरुद्धमेतत एव किल कश्चिन स्वामी स्यात।

कापालिक—(साश्चर्यम् आत्मगतम्) अहो आश्चर्यम् भवतु एव तावत (प्रकाशम्) यद्येव गृह्यता सन्त्रलत्रस्यात्मनो निष्क्रयाय एत महानिधानम्।

राजा—कथमेव भविष्यति? यताऽपन दासभाव मन्यते। स्वाम्यर्थतस्तु नैव प्रत्याख्यान महति इत्यनुमत एवाय भवत सकल्प। तत आप्यता स्वामिनो निभृतमिद महा निधानम।

कापालिक—(साश्चर्यम् आत्मगतम्) अहो धैर्यम ! अहो ज्ञानम ! अहो महानुभावता च ! अथवा—

चलन्ति गिरय काम युगान्त पवनाहता।
कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणा निश्चल मन॥

तन्ममापि किमतिनिबन्धेन? (प्रकाश वताल प्रति) भद्र ! गम्यताम्, नियतामस्य राज समीहितम्।

कापालिक—(समन्तादवलोक्य) भो राजन् प्रभातप्राया वर्तते विभावरी, तत् साधयिष्याम तावत्।

राजा—भो साधक ! स्मतव्या वय दु स्थितकथासु।

कापालिक—राजन ! देवतास्त्वा स्मरिष्यन्ति।"[1]

सत्य हरिश्चन्द्र के उपरिनिर्दिष्ट पूव खण्ड के समान इस खण्ड म भी अतिशय समानता है। जहा-कही कुछ अन्तर है भी वह अति अल्प है। जसे, चण्डकौशिक म जिन्हे विद्याएँ कहा गया है सत्य हरिश्चन्द्र म उन्हे महाविद्या कहकर पुकारा गया है। ये विद्याएँ या महाविद्याएँ दोनो ही नाटक म राजा हरिश्चन्द्र की वशवर्तिनी होने की घोषणा करती हैं।[2] परन्तु

---

१ चण्डकौशिक अक ४ पृ० १३१ १३६

२ राजन् त्वदायत्ता वयम् अतस्त्व शाधि न —चण्डकौशिक, अक ४ पृ० ३३
महाराज ! हम लोग तो आपके वश मे हैं हमारा ग्रहण कीजिए—स० ह०)

चण्डकौशिक में विद्याओं द्वारा जो विश्वामित्र का उल्लेख हुआ है उसमें उन्हें हरिश्चन्द्र की विपत्ति का मूल कहा गया है—

त्वय्यचेष्टत राजर्षे क्रुद्धो यद दारुणो मुनि ।
विद्यास्त्वद्विपदा मूल ता वयं समुपस्थिताः ॥

यहाँ उस घटना की ओर संकेत किया गया है जब विद्याओं का आर्तनाद सुनकर राजा हरिश्चन्द्र रक्षा के लिए उद्यत होते हैं तथा उनके इस प्रयत्न से क्षुब्ध विश्वामित्र के क्रोध का भाजन बनते हैं। इसीलिए यहाँ 'त्वद्विपदा मूलम्' कहा गया है। किन्तु सत्य हरिश्चन्द्र में इस घटना को कुछ भिन्न रूप में स्वप्न में घटित बताया गया है अतः यहाँ पर भी हमी लोगों को सिद्ध करने को विश्वामित्र ने बड़ा परिश्रम किया था तब देवताओं ने माया से आपको स्वप्न में हमारा रोना सुनाकर हमारा प्राण बचाया ऐसा महाविद्याओं से कहलाया गया है। यदि 'चण्डकौशिक' की पंक्तियों का अनुवादमात्र कर लिया जाता तो सत्य हरिश्चन्द्र की एक प्रधान घटना में विरोध हो जाता। अतः भारतेन्दुजी ने कौशल से इसे बचा लिया है। शेष खण्ड के रूपान्तर में उल्लेख योग्य कोई अन्तर नहीं है।

चण्डकौशिक में ऊपर उल्लिखित खण्ड की समाप्ति के साथ ही चतुर्थ अंक की समाप्ति हो जाती है, परन्तु सत्य हरिश्चन्द्र में चतुर्थ अंक चलता रहता है। यहाँ राजा की परीक्षा का क्रम अभी और चलता है। यहाँ की अष्ट महासिद्धियाँ, नव निधियाँ बारह प्रयोग और देवताओं द्वारा हरिश्चन्द्र की आग की परीक्षा का वर्णन चण्डकौशिक में नहीं है। राजा हरिश्चन्द्र को डिगाने के अन्य उपायों के असफल हो जाने पर अन्तिम उपाय के रूप में तक्षक का उपयोग किया जाता है—

'(एक स्वर से) तो अब अन्तिम उपाय किया जाय?

(दूसरे स्वर से) हाँ, तक्षक का आना दें। अब और कोई उपाय नहीं है।'[1]

इसके पश्चात रोहिताश्व का सर्प द्वारा डसा जाना और उसे लेकर अन्तिम क्रिया के लिए शैव्या का श्मशान में आना, विलाप करना करुण स्वर से आकृष्ट होकर राजा हरिश्चन्द्र का समीप आना, देखना, पहचानना और धैर्य धारण करते हुए अपने कर्तव्य पथ से किंचित भी च्युत न होना आदि बातें बाद की घटना हैं। चण्डकौशिक में रोहिताश्व का मरना और उसके पश्चात की सभी घटनाएँ पंचम अंक में सन्निविष्ट हैं। इन घटनाओं के वर्णन क्रम में दोनों नाटकों में यद्यपि पर्याप्त समानता है फिर भी उतनी नहीं जितनी ऊपर प्रदर्शित खण्डों में परिलक्षित होती है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के चतुर्थ अंक के उत्तरार्द्ध में पूर्वार्द्ध की अपेक्षा कुछ अधिक स्वतन्त्रता से काम लिया गया है। इस खण्ड को अनुवाद न कहकर स्वतन्त्र रूपान्तर कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि यहाँ भी इस प्रकार के अनेक छोटे-छोटे अंश उद्धृत किये जा सकते हैं जो कि चण्डकौशिक के अनुवादमात्र हैं तथापि अधिकांश गद्य एवं पद्य ऐसा है जिसका रूप या तो कुछ स्वतन्त्र है या स्वच्छन्द रूपान्तर है।

सत्य हरिश्चन्द्र के चतुर्थ अंक के उत्तरार्ध में रोहिताश्व के मरने पर शैव्या का

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) पृ० ११०

विलाप बड़ा ही हृदयद्रावक है। यह इतना करुण है कि पत्थर को भी पिघला देने वाला है—

अपि ग्रावा रोदिति, अपि दलति वज्रस्य हृदयम्।[1]

यह दृश्य 'चण्डकौशिक' में भी अति करुण है। भारतेन्दुजी ने इसे आधार बनाते हुए इसमें अपनी कल्पना का पुट देकर इसे अतिशय करुण बना दिया है। दुःखातिरेक के कारण शैव्या आत्मघात करना चाहती है। उसी समय आड़ में से राजा हरिश्चन्द्र उसे सावधान कर देते हैं—

तनहिं बेचि दासी कहवाई। मरति स्वामि आयसु बिनु पाई॥
करु न अधम सोच जिय माहीं। 'पराधीन सपने सुख नाहीं'॥

सुनकर शैव्या सचेत हो जाती है—अहा! यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया। सच है मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर मरूँ? हाय देव! तुझसे यह भी न देखा गया कि मरकर भी सुख पाऊँ?[2]

राजा भी पुत्रमरणजनित अत्यधिक वेदना के कारण दुपट्टे से गले में फाँसी लगाकर मरने का प्रयत्न करता है किन्तु उसे आत्मिक चेतना से सचेत हो जाता है और चौंककर कहने लगता है, गोविन्द! गोविन्द! यह मैंने क्या अनर्थ विचारा! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राणत्याग करना चाहा।[3]

चण्डकौशिक में राजा के प्राणघात के प्रयत्न का यह दृश्य इस प्रकार चित्रित किया गया है—

तदलं विलम्बेन। भवतु भागीरथी-तटपातितेषु सुलभोऽग्निः दह्यमानमात्मानं निर्वापयामि। (इति मन्दं परिक्रम्य स्मृतिम् अभिनीय ससम्भ्रमम्) अहह! मनाक् पराधीनमात्मानं विस्मृतोऽस्मि। (विचिन्त्य सखेदम्) कष्टं भोः कष्टम्—

मरणान्निवृत्तिं यान्ति धन्याः स्वाधीनवृत्तयः।
आत्मविक्रयिणः पापाः प्राणत्यागेऽप्यनीश्वराः॥

(वैकल्यं नाटयित्वा) तत् अस्मादपि मनोरथात् भ्रष्टोऽस्मि मन्दभाग्यः।

पुनः—

दारुणस्यास्य दुःखस्य धर्म एवास्य भेषजम्।
दुर्वारविनिपातोऽयं भर्तुराज्ञाप्यतिक्रमः॥"[4]

यहाँ शैव्या को भी राजा इसी (मरणान्निवृत्तिम्) उद्बोधन के द्वारा सचेत करता है। सत्य हरिश्चन्द्र की 'तनहिं बेचि दासी कहवाई' ये पंक्तियाँ भारतेन्दुजी की कल्पनाप्रसूत हैं 'मरणान्निवृत्तिं यान्ति धन्याः' का रूपान्तर मात्र हैं।

मर्मान्तक दुःख की इस अवस्था में भी राजा अपने स्वामी के आदेश एवं अपने कर्तव्य के प्रति सावधान रहता है। मुर्दे का आधा कफन लिए बिना वह श्मशान में किसी को भी

---

१ उत्तररामचरित अंक १ श्लो० ८

२ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) पृ० १२० १२१

३ वही पृ० ११६

४ चण्डकौशिक अंक ५, पृ० १२० १२१

अंतिम क्रिया की आज्ञा नही देता है। रानी स भी राहिताश्व का दाहकम करन से पूव आधा कफन माँगता है। कफन मागन के लिए राजा के हाथ फैलाने के साथ ही आकाश स पुष्पवृष्टि हाती है और नपथ्य से—

अहो धर्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम।
त्वया राजन हरिश्चन्द्र सव लोकोत्तर कृतम ॥[1]

चण्डकौशिक म भी—

राजा—महाभाग

अकृत्वा मत्परिज्ञानमदत्वा मृतकम्बलम।
प्रवतनीया केनापि न श्मशानोचिता क्रिया ॥

तदुपनीयता म मतकम्बल । (इति सवाप्यस्तम्भ कर प्रसारयति।)

शव्या—(सय नाटयती) महमुह दूरदा चिट्ठ। अह द उवणइस्स।[2]

राजा—(थोडा नाटयित्वा स्थित)

श या—(राहिताश्वस्य शरीरात पटमाकृष्य अपयन्ती हस्त समालाक्य सविस्मयम आत्मगतम) कध चक्कवत्ति लक्खण मणाहो वि अम पाणी इमस्स वावारस्स उवणीदो (अपमय शन प्रत्यङ्गम अवलाक्य सप्रत्यभिज्ञानम) कध उज्ज उत्तो (ससम्भमम) हा! अज्ज उत्त परित्ताहि परित्ताहि (इति आत्मान पातयति)।[3]

राजा—अपमत्य देवि! न मा श्वपाक शस्य दूषित स्पष्टुमर्हसि तत समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

शव्या—(समाश्वस्य) हद्धी हद्धी! किं ण्णेदं।

राजा—रमणी विपाक तदल परिम्बितन, उपनीयतामेतत।

श या—(सनक यम अपयति) आकाशात पुष्पवृष्टि।[4]

सत्य हरिश्चन्द्र म भी शव्या मृत कम्बल मागन क लिए राजा के हाथ फलाने पर उसके हाथ म चक्रवर्ती का चिह्न दखकर राजा का पहचानती है और कफन क लिए राजा क आग्रह करन पर फाडन के लिए उद्यत हाती है। ठीक उसी समय पथ्वी कापन लगती है। भगवान नारायण स्वय उपस्थित हाकर राजा का हाथ पकड लत ह। चण्डकौशिक म रानी आधा कफन फाडकर दती है उस पर पुष्पवृष्टि होती है। एक म फाडन क लिए उसका उद्यत हाना है और दूसरे म फाडकर दना है यही दोना का अन्तर है। इसी प्रसग म 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अहो धयमहो सत्यम आदि श्लाक चण्डकौशिक म भी ह किन्तु थाड स परिवतन के साथ। यह वहा इस प्रकार है—

---

१ सत्यहरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) पृ० २०१

२ भद्रमुख दूरतो तिष्ठ अह त उपनयामि।

३ कथ चक्रवर्तिल क्षणमनाथोऽप्यय पाणिरतस्य व्यापारस्योपनीत! कथ आर्यपुत्र! हा आर्यपुत्र! परित्रायस्व! परित्रायस्व!

४ चण्डकौशिक अक ५ प० १५७ १६०

अहो दानमहो शीलम अहो धर्यम अहो क्षमा ।
अहो सत्यमहो ज्ञान हरिश्चन्द्रस्य धीमत ॥[1]

सत्य हरिश्चन्द्र म मत रोहिताश्व के श्मशान म लाने से लेकर उसके पुन जीवित होने तक का दृश्य बडा ही करुण एव नाटकीय दृष्टि स अति प्रभावोत्पादक है। चण्डकौशिक म भी यह दृश्य कम कारुणिक नहीं है परन्तु भारतेन्दुजी ने अपनी परिष्कृत लेखनी से इसे अधिक चमत्कारी, प्रभावशाली एव स्वाभाविक बना दिया है। आधार वही है किन्तु अपनी कल्पना और प्रतिभा से इसे और अधिक चमका दिया है। इसम जो गति एव प्रभाव प्रतीत होता है, वह मूल म उस मात्रा म परिलक्षित नहीं होता। इस कथन की पुष्टि के लिए दो उदाहरण सत्य हरिश्चन्द्र म से नीचे उद्धृत है—

हरि०—प्रिय ! धीरज धरो यह रोने का समय नहीं है। देखो, सबेरा हुआ चाहता है ऐसा न हो कि कोई आ जाए और हम दोनों को जान ल और एक लज्जा मात्र बच गई है वह भी जाय। चलो कलेजे पर सिल रखकर रोहिताश्व की क्रिया करो और आधा कम्बल हमको दो।

शैव्या—(रोती हुई) नाथ ! मेरे पास तो एक भी कपडा नहीं था, अपना आचल फाडकर इसे लपेट लाई हूँ इसम से आधा दे दूगी तो यह खुला रह जाएगा। हाय ! चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन भी नहीं मिलता। (बहुत रोती है।)

हरि०—(बलपूर्वक आसुओं को रोककर और बहुत धीरज धरकर) प्यारी रोओ मत। ऐसे ही समय म तो धीरज और धरम रखना काम है। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिए क्रिया मत करने दो। इसम मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझकर तुमसे आधा कफन न लू तो बडा अधम हो। जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म न छोडा उसका धर्म आधा गज कफन के वास्ते मत छुडाओ और कफन स जल्दी आधा कपडा फाड दो। देखो, सबेरा हुआ चाहता है ऐसा न हो कि कुलगुरु भगवान सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित्त म उदास हो। (हाथ फैलाता है।)

शैव्या—(रोती हुई) नाथ जो आज्ञा। (रोहिताश्व का मृतकम्बल फाडा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है। तोप छूटने का सा शब्द और बिजली का सा उजाला होता है। नपथ्य म बाजे की और बस धन्य और जय जय की ध्वनि होती है फूल बरसते हैं और भगवान नारायण प्रकट होकर राजा हरिश्चन्द्र का हाथ पकड लेते हैं।)[2]

चण्डकौशिक का सम्बद्ध प्रसग ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। दोनों की तुलना करने पर यह स्पष्ट है कि जो कारुण्य की गम्भीर सरिता सत्य हरिश्चन्द्र म प्रवाहित हो रही है वह चण्डकौशिक म नहीं है। वज्र के हृदय को भी दलित करने की क्षमता सम्भवत उसम नहीं है। इसके पश्चात् घटने वाली घटनाओं को दृष्टि म रखकर नाटकों की तुलना करने पर जो निष्कर्ष निकलते है व निम्नलिखित हैं —

---

१ चण्डकौशिक अक ५, पृ १६
२ सत्य हरिश्चन्द्र भा (ना० भाग १) पृ० १२२ १२५

१ सत्य हरिश्चन्द्र म भगवान नारायण स्वय प्रकट होत हैं। राजा और रानी दोनो को धैय और आश्वासन दत हुए रोहिताश्व को जीवनदान दते हैं। इसके पश्चात महादेव, पार्वती, भरव, धम, सत्य, इन्द्र और विश्वामित्र वहीं उपस्थित होत हैं। विश्वामित्र राजा को उसका राज्य लौटाना चाहत हैं परन्तु हरिश्चन्द्र प्रश्नभरी दृष्टि से भगवान और धम की ओर देखत हैं। धम कहता है—

महाराज, राज आपका है, इसका मैं साक्षी हू। आप नि सन्देह इस लीजिए।"[1]

सत्य समथन करता है—

ठीक है, जिसन हमारा अस्तित्व ससार म प्रत्यक्ष कर दिखाया, उसी का पृथ्वी का राज्य है।'[2]

श्रीमहादेव आशीर्वाद दत हैं—

'पुत्र हरिश्चन्द्र! भगवान नारायण के अनुग्रह स ब्रह्मलोक पयन्त तुमन पाया तथापि मैं आशीवाद देता हूँ कि तुम्हारी कीर्ति जब तक पृथ्वी है, तब तक स्थिर रह और रोहिताश्व दीर्घायु प्रतापी और चक्रवर्ती हो।[3]

इन्द्र भी राजा को आलिंगन कर एव हाथ जोडकर कहता है—

महाराज मुझे क्षमा कीजिए यह मेरी दुष्टता थी, परन्तु इस बात स आपका कल्याण ही हुआ। स्वग कौन कह आपन अपन सत्यबल स ब्रह्मपद पाया। देखिए, आपकी रक्षा के हेतु श्री शिवजी न भरवनाथ को आज्ञा दी थी आप उपाध्याय बने थ। नारदजी बटुक बन थे, साक्षात धम न आपके हतु चाडाल और कापालिक का भेष लिया और सत्य न आप ही के कारण चाण्डाल क अनुचर और वताल का रूप धारण किया। न आप बिके न दास हुए, यह सब चरित्र भगवान नारायण की इच्छा स केवल आपक सुयश क हतु किया गया।"[4]

अन्त म हरिश्चन्द्र भगवान स एक वर मांगत है कि उनकी प्रजा भी उनक साथ वकुण्ठ जाए और सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रह। उनकी यह कामना पूण होती है। भगवान वर दत हैं—

'एवमस्तु तुम ऐस ही पुण्यात्मा हो कि तुम्हार कारण अयोध्या के कीट पतग जीव-मात्र सब परमधाम जायेंगे और कलियुग म धम क सब चरण टूट जायेंगे, तब भी वह तुम्हारी इच्छानुसार सत्यमात्र एक पद स स्थिर रहेगा।'[5]

इस प्रकार भारतन्दुजी ने पत्नी और पुत्र सहित राजा हरिश्चन्द्र को प्रमुख दवताओ का एव विश्वामित्र का आशीर्वाद तथा राज्य दिलाकर नाटक को समाप्त किया है। परन्तु इस प्रसग के चित्रण म चण्डकौशिक म कुछ भिन्नता ह। यह इस प्रकार है—

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना, भाग १) पृष्ठ १२५
२ वही प १२५
३ वही पृ० १२५
४ वही पृ० १२६
५ वही पृ० १२७

यहाँ दाहक्रिया करने से पूर्व मृतकम्बल लेने का तो उल्लेख है, आधे मृतकम्बल का नहीं—

> अकृत्वा मत्परितोषमदत्वा मृतकम्बलम् ।
> प्रवर्तनीया केनापि न श्मशानोचिता क्रिया ॥[१]

चाण्डाल का दास बनने के समय भी राजा के श्मशान में कर्तव्य के निर्देश में भी चंडाल रूपधारी धर्म की ओर से—दक्षिणश्मशानं गत्वा मृतकचीरहारकेण भूत्वा अहोरात्रं जागरितव्यम् अहमपि स्वभवनमेव गच्छामि ।'[२] में मृतकचीर का ही उल्लेख है अर्धचीर का नहीं। सत्य हरिश्चन्द्र के तृतीय अंक में जहाँ हरिश्चन्द्र डोम के हाथ बिकते हैं वहाँ भी कफन के दान का ही उल्लेख है—

> जाओ अभी दक्खिनी मसान । लेव वहाँ कफन का दान ॥
> जो कर तुमको नहीं चुकावे । सो क्रिया करने नहिं पावे ॥[३]

यह पद 'चण्डकौशिक' के अकृत्वा मत्परितोषम् का ही रूपान्तर है। परन्तु चतुर्थ अंक में आधे कफन का प्रथम बार उल्लेख—*तो अब चलें उससे आधा कफन मांगें* (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आंसुओं को रोककर शैव्या से) महाभाग, श्मशानपति की आज्ञा है कि आधा कफन दिये बिना कोई मुर्दा फूंकने न पावे सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो।[४] इसी स्थल पर कुछ ही आगे—लाओ मृतकम्बल हमें दो और अपना काम आरम्भ करो।[५] में केवल मृतक के वस्त्रमात्र का ही उल्लेख है किन्तु इसी पृष्ठ पर शैव्या की उक्ति में पुनः आधे वस्त्र का उल्लेख है—नाथ मेरे पास एक भी कपड़ा नहीं था अपना आँचल फाड़कर इसे लायी हूँ उसमें से भी आधा दे दूँगी तो यह नंगा रह जाएगा।[६] इससे आगे—मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिए क्रिया मत करने दो। इससे मैं यदि अपनी स्त्री और पुत्र समझकर तुमसे इसका आधा कफन न लूँ तो अधर्म हो। जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म न छोड़ा उसका धर्म आधा गज कफन के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो।[७]

इस प्रकार सत्य हरिश्चन्द्र में दो स्थलों पर कफन की चर्चा है और उनमें से दूसरे में आधे कफन का उल्लेख है।

६ 'चण्डकौशिक' में हरिश्चन्द्र के शैव्या से मृतवस्त्र मांगने एवं अर्पण के पश्चात आकाश से पुष्पवृष्टि के साथ जो दृश्य परिवर्तन होता है उसमें केवल धर्म का ही प्रवेश दिखाया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र के समान भगवान नारायण धर्म सत्य शिव पार्वती इन्द्र भैरव विश्वामित्र आदि बहुत से व्यक्तियों का नहीं। यहाँ धर्म को ही सर्वोपरि देवता माना गया है। *सत्य हरिश्चन्द्र में जो काम भगवान नारायण से कराया गया है वह यहाँ*

---

१ चण्डकौशिक अंक ५ श्लोक १६
२ वहीं अंक ३ पृ० १०६
३ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) अंक ३ पृ० ८६
४ वहीं अंक ४ पृ० १२१
५ वहीं अंक ४ पृ० १२२
६ वहीं अंक ४ पृ० १२३
७ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १) अंक ४ पृ० १२३

धम न किया है। उम यहाँ 'भगवान धम' कहा गया ह। उसका सामथ्य भी कम नही है—

अन्येषा ये दुलभा पार्थिवाना सत्यदर्निर्जित कर्मभिश्च।
तानेवाह ब्रह्मसालोक्य-पूतानाप्तो दातु शाश्वतानद्य लोकान्॥[1]

राजा हरिश्चन्द्र अब भी अपने को श्वपाक-दास्य दूषित' समझते हैं इसलिए पुनरुज्जीवित पुत्र रोहिताश्व का अपने शरीर-स्पर्श का निषेध करते हैं। परन्तु धम उन्हें दिव्यचक्षु देकर उनकी धारणा का निराकरण करते हैं—

अेता योऽस्या ब्राह्मणस्ते सवारो यश्चाण्डालो यत्र राज्य च तत ते।
राजन्, गुह्य तत्त्वतोज्ञातुमेनद्दिव्य चक्षु साम्प्रत ते ददामि॥[2]

इसके पश्चात राजा हरिश्चन्द्र विमान पर बैठकर दिव्य चक्षु में समस्त स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान प्राप्त करते हैं। वे समझते हैं कि विद्याओं की उपलब्धि से संतुष्ट होकर भगवान कौशिक ने हरिश्चन्द्र का राज्य मन्त्रियों को सौंप दिया है। धम उन्हें बताता है कि मुनि विश्वामित्र ने तुम्हारी सत्यपरीक्षा के लिए ही वैसा किया था राज्य की कामना से नहीं इसीलिए उनके प्रति भ्रम नहीं होना चाहिए—

राजन्, भवत सत्यजिज्ञासयैवामो मुनिरेतत् कृतवान न तु राज्यार्थितया। तन्न सम्भ्रमेण। विशुद्धभावेनैतत् तत्सर्वम।'[3] राजा दिव्य चक्षु से स्वयं सारी स्थिति का ज्ञान लेने पर अपनी रानी शैव्या को भी परिचित कराते हैं—

देवि दिष्ट्या वर्द्धसे—

क्रेता स ते प्रकृतिकारुणिको द्विजन्मा,
जाया सखी ननु निधौ किल दम्पती तौ।
क्रेता ममापि खलु यो भगवान स धम,
तेनाधुना मनसि नास्त्यसुपति नात्तिम॥[4]

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है सत्य हरिश्चन्द्र में समस्त स्थिति का स्पष्टीकरण इन्द्र के मुख से कराया गया है।[5]

सत्य हरिश्चन्द्र के विपरीत चण्डकौशिक में मुनि विश्वामित्र द्वारा राज्य लौटा दिये जाने पर भी राजा हरिश्चन्द्र स्वयं राज्यसिंहासन पर नहीं बैठते हैं अपितु धम के आदेश से पुन रोहिताश्व का राज्याभिषेक किया जाता है और सब विमानधारी देवता इसका अभिनन्दन करते हैं— दिष्ट्या विमानचारिणीभिर्देवतामिरभिनन्द्यते वत्स रोहिताश्वस्याभिषेक महोत्सव।[6] धम के आग्रह से राजा हरिश्चन्द्र को तो ब्रह्मलोक का अधिकारी बनाया जाता है, किन्तु राजा अकेले नहीं अपनी प्रजा को साथ लेकर ही ब्रह्मलोक जाना चाहते हैं। विश्वामित्र के द्वारा राज्य ग्रहण के समय जो प्रजा उनके साथ जाने के लिए उद्यत थी,

---

१ चण्डकौशिक अंक ५ श्लोक २१
२ वही अंक ५ श्लोक २ पृ० १६४
 वही अंक ५ पृ० १६५
४ वही अंक ५ श्लोक २८
५ सत्य हरिश्चन्द्र (भा० ना० भाग १)
६ चण्डकौशिक अंक ५ पृ १६८

आज ब्रह्मलोक का अधिकारी बनने पर स्वार्थी बनकर उस प्रजा को कैसे छोड़ दें—

> वृद्धे तजन तत्परे खलु गते दृष्टाघरे कौशिके
> नाथतान क्व विहाय गच्छसि ? नयास्मानप्यनायानिति ।
> प्रत्यग्रागतवाष्प दीन वदनरक्तोऽस्मि यस्तान कथम,
> त्यक्त्वाऽऽत्मम्भरिरप्युपमि भवता लोकान प्रदिष्टानहम ?[1]

परन्तु इस ससार में तो प्राणी अपने किये कर्मों का फलोपभोग करता है । निम्नोन्नत कर्मों में रत समस्त प्रजा का यह अहोभाग्य कैसे हो सकता है कि राजा के साथ वह सीधे ब्रह्मलोक जाय ? यही धर्म की आपत्ति है— राजन स्वधर्म वचियोच्चावच स्वभावाना प्रजाना क्व पुनरस्तावति भागधेयानि ।[2] किन्तु राजा हरिश्चन्द्र उनके पुण्यों के अभाव में अपने पुण्यों में अन्न में ही उन्हें साथ ले जाना चाहते हैं—

> क्षण क्षणाच सह तामिरेव लोकान प्रजाभिर्विहरामि तास्तान ।
> ममैव या पुण्यलवेन तासा भवन्तु लोका भवता प्रदिष्टा ॥[3]

राजा हरिश्चन्द्र की स्वपुण्यदान की भावना से प्रभावित होकर धर्म प्रजा को भी ब्रह्मलोक का अधिकारी बना देता है—

धर्म — (सविस्मयम्) अहो ! लोकोत्तर चरितमस्य राजर्षे । राजन अनेन पुण्यदान सम्भावितेनापरेण पुण्यसम्भारेण प्रजानामामनश्वरापादिता शाश्वता लोका ।[4]

इस प्रकार उपर उल्लिखित उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि सत्य हरिश्चन्द्र का अन्तिम भाग अपने आधारभूत ग्रन्थ आर्य क्षमीश्वर के चण्डकौशिक से कुछ भिन्न हो गया है । सत्य हरिश्चन्द्र में न तो रोहिताश्व के राज्याभिषेक का कहीं उल्लेख है और न उसी समय राजा के ब्रह्मलोक के लिए प्रस्थान करने का । यद्यपि राजा हरिश्चन्द्र ने यहाँ भी भगवान से यह वर माँगा है कि मेरी प्रजा भी मेरे साथ बैकुण्ठ जाय और सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रहे ।[5] तथापि यहाँ तत्काल ही राजा के ब्रह्मलोक के लिए प्रस्थान करने का आदेश नहीं है । सम्भवतः नाटककार को शिशु रोहिताश्व के ऊपर से पिता की छाया हटाना अभीष्ट नहीं था ।

विवेचन

ऊपर हरिश्चन्द्र की कथानक एवं उसके मूलस्थान का विवेचन करते हुए चण्डकौशिक से उसकी तुलना विस्तार से की गयी है । इसका परिमाण कुछ अधिक हो गया है किन्तु ऐसा करना आवश्यक था । हुआ कि भारतेन्दु के नाट्य साहित्य का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करने

---

१ चण्डकौशिक अंक ५ श्लोक २७
२ वही अंक ५ पृ १६६
३ वही अंक ५, श्लोक २८
४ वही अंक ५, पृ १७० १७१
५ सत्य हरिश्चन्द्र (भा ना० भाग १)

वाले डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने भी इन दोनों नाटकों की विस्तृत तुलना नहीं की है।[1] दूसरे रूपान्तरित नाटकों की समीक्षा करते समय, यह बताना भी आवश्यक हो जाता है कि कितना अंश अनूदित है और कितना स्वकल्पित। यहाँ समस्त नाटक की प्रतिपंक्ति एवं प्रतिशब्द की तुलना तो नहीं की गयी है, क्योंकि ऐसा करने में अत्यधिक विस्तार हो जाता और सम्भवतः यहाँ इतने विस्तार से ऐसा करना अपेक्षित भी नहीं था। फिर भी द्वितीय अंक के अन्तिम भाग से लेकर चतुर्थ अंक की समाप्तिपर्यन्त सभी साम्यद्योतक स्थल संनिविष्ट हो गये हैं।

इन सभी स्थलों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के उपरान्त यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सत्य हरिश्चन्द्र के द्वितीय अंक के उत्तरार्द्ध में चतुर्थ अंकान्त पर्यन्त कुछ अन्तिम अंश को छोड़कर दोनों नाटकों में अति साम्य है और चण्डकौशिक का अनूदित भाग ही इसमें अधिक है। कहीं-कहीं मूल के भाव का पल्लवन भी है। इसके साथ कहीं संक्षिप्तीकरण और कहीं अनुपयोगी अंश का परित्याग भी देखा जाता है। चतुर्थ अंक के श्मशान वर्णन, शैव्या का विलाप तथा हरिश्चन्द्र की मार्मिक वेदना के चित्रण में भारतेन्दुजी ने स्वतन्त्रता से काम लिया है। यहाँ अनुवाद के साथ साथ उनकी कल्पना का योग भी देखने को मिलता है। जहाँ कहीं उन्होंने अपनी ओर से कुछ नया जोड़ा है वहाँ स्वाभाविकता तथा नाटकीय सौन्दर्य में वृद्धि हुई है इसमें सन्देह नहीं। डॉ० वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने इस अन्तर को इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

"चण्डकौशिक के जिन स्थलों को उन्होंने छोड़ दिया है वे अधिक उपयोगी प्रतीत नहीं होते। उनके स्थान पर काल्पनिक घटनाचक्रों को जोड़ा है। विदूषक और महाराज तथा रानी और चारुमति की वार्ता, वनचर द्वारा सुमेरु की प्रशंसा, राजा तथा सूत के द्वारा आश्रम का वर्णन, चाण्डालों का हरिश्चन्द्र का पथप्रदर्शक बनना, मतवत्सा के आने की सूचना, हरिश्चन्द्र की बार-बार आने वाली मूर्च्छा तथा अभिषेक के प्रबन्ध आदि प्रसंगों को निरर्थक समझकर छोड़ दिया गया है और कथाविस्तार के लिए नवीन घटनाओं को रखा गया है। महाविद्या के प्रसंग को स्वप्न में दिखाकर सत्य हरिश्चन्द्र की कथा को स्वाभाविक तथा रोचक बनाने का प्रयास किया गया है। संस्कृत नाटक के शिथिल प्रसंग जिनसे नाटकीय कथावस्तु में शिथिलता आने की आशंका थी छोड़ दिये गए हैं।"[2]

सत्य हरिश्चन्द्र के कथानक में कहीं कहीं जो दोष आ गए हैं उनकी ओर भी डॉ० शुक्ल ने संकेत किया है— कथावस्तु में कुछ असम्भाव्य प्रसंग आ गये हैं जो कथानक में खटकने वाली घटनाएँ प्रतीत होती हैं। ऐतिहासिक तथ्यानुसार राजा हरिश्चन्द्र के काल में गंगा का वर्णन असंगत लगता है। भगीरथ राजा हरिश्चन्द्र के बाद हुए हैं, अतः उस काल में गंगा का वर्णन प्रामाणिक वस्तु नहीं कही जा सकती। स्वप्न में दान देकर प्रतिष्ठित सत्य मानकर, अमुक नाम ब्राह्मण को अपना सर्वस्व अर्पण कर देना, कथानक की स्वाभाविकता में बाधा उत्पन्न करता है। कथाकार ने अपने कथानक में अतिरंजना का अत्यधिक

---

१ भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य प्रकाशक रामनारायणलाल प्रयाग प्रथम सं० १९५५।
२ वही पृ० १७१-७२

आश्रय लिया है।[1]

भारतेन्दुजी भावुक व्यक्ति थे। भावना के प्रवाह एवं प्रभाव में बहकर उन्हें शास्त्र-क्रम का ध्यान नहीं रहा है। प्रतिरंजन लोप का माध्यम। कारण है। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक है। मानव भी उसी का एक अंग है। रजोगुण का चरम गति के साथ जब सत्व का पक्ष कुछ निराश्रित हो जाता है तो प्राय बौद्धिक चिन्तन की क्षमता कुछ कम हो जाती है। भावनाप्रवण व्यक्तियों के साथ ऐसा अधिक होता है बौद्धिकपक्ष की अपेक्षा इन्द्रियपक्ष उनका अधिक प्रबल बन जाता है। इसीलिए साहित्यस्रष्टा के लिए ये दोष सर्वथा असम्भव नहीं होते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र के चतुर्थ अंक में रानी शैव्या के विलाप और राजा हरिश्चन्द्र की करुणाद्रता के चित्रण भारतेन्दुजी की भावुकता के प्रकृष्ट उदाहरण हैं।

वस्तुत सत्य हरिश्चन्द्र भारतेन्दुजी की सर्वथा मौलिक रचना न होकर रूपान्तर कृति है। इसलिए इसमें उनका मौलिक योग उतना नहीं आ पाया है जितना कि स्वतन्त्र रचनाओं में मिलता है। इसकी आधारभूमि प्राय क्षेमीश्वर का चण्डकौशिक ही है। इसकी रचना में यत्र तत्र लेखक की स्वतन्त्र वृत्ति भी परिलक्षित होती है अत इसे सर्वथा अनुवाद न कहकर छाया अनुवाद स्वच्छन्द अनुवाद अथवा स्वतन्त्र रूपान्तर कह सकते हैं। यों तो राजा हरिश्चन्द्र की कथा पुराणों में मिलती है। विशेषत ब्रह्मपुराण[2] भागवतपुराण[3] और देवी भागवतपुराण[4] में इस कथा का पर्याप्त विस्तार है। प्राय क्षेमीश्वर के चण्डकौशिक की कथावस्तु का आधार पुराण प्रसिद्ध कथा ही रही है इसमें सन्देह नहीं। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा का आधार मुख्य रूप से चण्डकौशिक है अत इसकी तुलना चण्डकौशिक से करना ही समीचीन प्रतीत हुआ पुराणों में प्राप्त कथा के रूपों से नहीं।

चण्डकौशिक की कथा का आधार

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भारतेन्दुजी के सत्य हरिश्चन्द्र की कथावस्तु का मुख्य आधार प्राय क्षेमीश्वर का चण्डकौशिक है और इसकी कथावस्तु का आधार मुख्य रूप से मार्कण्डेय पुराण में वर्णित महाराज हरिश्चन्द्र की कथा है।[5] हरिश्चन्द्र की कथा अन्य कई पुराणों एवं ऐतरेय ब्राह्मण में भी विस्तार से वर्णित है किन्तु चण्डकौशिक की घटनाओं का साम्य जितना मार्कण्डेय पुराण की कथा में प्राप्त है उतना अन्यत्र नहीं।

चण्डकौशिक के प्रथम अंक में अनिष्ट स्वप्नदर्शन से अशान्त राजा हरिश्चन्द्र का मनोविनोद के लिए मृगया करने वन में जाना वहाँ महर्षि विश्वामित्र द्वारा वश में लाने के प्रयत्न में खिन्न महाविद्याओं का नारी-स्वर में आर्तनाद करना तथा सुनकर राजा द्वारा

---

१ भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य प्रयाग १९५८ पृ १७४
२ ब्रह्मपुराण आनन्दाश्रम पूना अ १०४ १५
३ भागवतपुराण स्कन्ध ९ अ ७ ७ २३
४ देवीभागवतपुराण स्कन्ध ७ अ० १४ २७
५ मार्कण्डेयपुराण अ ७ और ८

उनकी रक्षा, उसके इस कार्य से विश्वामित्र का क्रुद्ध होना, मनाने के लिए राजा का प्रयत्न तथा समस्त पृथ्वी विश्वामित्र को दान कर देना और दक्षिणा का धन चुकाने के लिए एक मास की अवधि माँग लेना आदि सभी घटनाएँ मार्कण्डेयपुराण में बिना किसी विशेष परिवर्तन के उसी रूप में वर्णित हैं।

मार्कण्डेयपुराण की कथा के क्रम में थोड़ा सा यह अन्तर है कि यहाँ विश्वामित्र को यथेष्ट वस्तु देने के लिए राजा के प्रतिश्रुत हो जाने पर, ऋषि पहले 'राजसूयिकी दक्षिणा' माँगते हैं। इसका आश्वासन प्राप्त होने के पश्चात पृथ्वी के दान की याचना करते हैं। राजा ने कहा—

उच्यतां भगवन् यत्ते दातव्यमविशङ्कितम्।
दत्तमित्येव तद् विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुर्लभम्॥
हिरण्यं वा सुवर्णं वा पुत्रः, पत्नी, कलेवरम्।
प्राणा राज्यं पुरं लक्ष्मीर्यदभिप्रेतमात्मनः॥[1]

राजा के इस वचन के पश्चात विश्वामित्र ने कहा—

राजन् प्रतिगृहीतोऽयं यस्ते दत्तः प्रतिग्रहः।
प्रयच्छ प्रथमं तावद् दक्षिणां राजसूयिकीम्॥[2]

दक्षिणा का आश्वासन देते हुए और भी कुछ वाञ्छित वस्तु माँगने के लिए राजा ने ऋषियों से आग्रह किया—

ब्रह्मंस्तामपि दास्यामि दक्षिणां भवतो ह्यहम्
व्रियतां द्विजशार्दूल यस्तवेष्टः प्रतिग्रहः॥[3]

राजा हरिश्चन्द्र के वचन से आश्वस्त होकर महर्षि विश्वामित्र ने यह बड़ा दान माँगा—

ससागरां धरामेतां सभूभृद्ग्रामपत्तनाम्।
राज्यं च सकलं वीर रथाश्वगजसंकुलम्॥
कोष्ठागारं च कोषं च यच्चान्यद् विद्यते तव।
विना भार्यां च पुत्रं च शरीरं च तवानघ॥
धर्मं च सर्वधर्मज्ञ यो यान्तमनुगच्छति।
बहुना वा किमुक्तेन सर्वमेतत् प्रदीयताम्॥[4]

इतना महादान प्राप्त करने के पश्चात भी पुनः प्रतिश्रुत 'राजसूयिकी दक्षिणा' के लिए ऋषि के आग्रह पर राजा पत्नी पुत्र सहित एक मास की अवधि लेकर काशी चला जाता है।

द्वितीय अंक में चतुर्थ अध्याय की घटनाओं में कोई उल्लेख योग्य परिवर्तन नहीं है। पंचम अंक का आरम्भिक भाग भी सामान्य है। इस अंक के उत्तरार्द्ध में रोहिताश्व को जीवित करने के उपरान्त इन्द्र, धर्म, विश्वामित्र प्रभृति सब लोग प्रकट हो जाते हैं।

---

१ मार्कण्डेयपुराण अ० ७ श्लोक २३-२४
२ वही श्लोक २५
३ वही श्लोक २६
४ वही श्लोक २७ से २९

वहाँ सर्वप्रथम विश्वामित्र रोहिताश्व का राज्याभिषेक करते हैं—

आनीय रोहिताश्वं च विश्वामित्रो महातपा ।
अयोध्याख्ये पुरे रम्ये सोऽभ्यषिंचन्नृपात्मजम् ॥[1]

और राजा हरिश्चन्द्र देवताओं के आग्रह से अपनी प्रजा सहित परमधाम की यात्रा करते हैं ।

इस प्रकार से, आदि और अन्त में, चण्डकौशिक नाटक में जो भेद पाया जाता है, उसका कारण उसका आधार है ।

सत्याग्रही

राजा हरिश्चन्द्र एवं विश्वामित्र के कथानक को लेकर लिखा गया व्रजनन्दन शर्मा का सत्याग्रही इस विषय का दूसरा नाटक है ।[2] यह नाटक लेखक ने विशेष परिस्थितियों में एवं एक विशेष दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर लिखा है इसलिए इसकी मूलकथा, पुराणों में प्रसिद्ध हरिश्चन्द्र की कथा में लेखक ने इच्छानुसार अनेक परिवर्तन किये हैं । नीचे संक्षेप में नाटक की कथावस्तु दी जा रही है ।

कथानक

अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र कुछ दिन ग्राम्य जीवन बिताकर राजधानी में लौटते हैं । ग्रामवासियों का सरल जीवन उन्हें बहुत प्रभावित करता है । उनमें शिक्षा आदि की कमी को दूर करने के लिए वे पूरा प्रयत्न करते हैं सबके दुःख दर्द को सुनते हैं । प्रजा उन्हें बहुत स्नेह करती है । उनकी दानशीलता एवं सत्यवादिता दोनों लोकविश्रुत है । वे देवलोक में इन्द्र को भी आश्चर्यचकित कर देती हैं ।

एक दिन परोक्ष में राजा के कुछ सैनिक महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में जाकर आश्रम की कुछ हानि पहुंचाते हैं परन्तु राजा को इसकी कोई सूचना नहीं मिलती है । आश्रम की हानि का पता लगने पर विश्वामित्र का क्रोध भड़क उठता है । वे समझते हैं कि जो कुछ हुआ है वह राजा के परिज्ञान में एवं उसके संकेत से ही हुआ है । वे राजा से इसका बदला लेने के लिए और उसकी ख्याति के प्रति स्वाभाविक डाह के कारण उसे असत्यवादी सिद्ध करने के लिए उसके पास जाकर उसका समस्त राज्य माँग लेते हैं और दक्षिणा के रूप में एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ देने के लिए भी विवश करते हैं ।

---

१ मार्कण्डेयपुराण अ० ८ श्लोक २७०

२ ले० व्रजनन्दन शर्मा प्रका० दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास प्र० सस्क० १९३९ ई०

राजा हरिश्चन्द्र तो पहले ही राज्य के प्रति नि स्पृह हैं। उसके प्रति उसकी कोई आसक्ति नहीं। उसकी तो इच्छा पहले से ही एक कृषक जैसा जीवन बिताने की रही है। दूसरी बात यह कि वह स्वप्न म एक ब्राह्मण का राज्य दान कर ही चुका ह, इसलिए भी उस पर अपना अधिकार वह नहीं समझता। अत विश्वामित्र के मागने पर वह प्रसन्नता से राज्य उन्हे दे देता है और विश्वामित्र की इच्छानुसार केवल पहने हुए वस्त्रो के साथ पत्नी शैव्या और पुत्र रोहित को लेकर राज्य की सीमा से बाहर हो जाता है। काशी म जाकर वह अपनी पत्नी और स्वय को बेचकर विश्वामित्र को देने के लिए दक्षिणा की सहस्र मुद्राएँ जुटाता है। रानी दासी बनती है और वह स्वय एक डोम का भृत्य। वह सर्प के काटने स पुत्र के मरने पर भी अपने सत्य और धर्म म विचलित नही होता।

इधर विश्वामित्र को काशी म राजा के कष्टो का जब समाचार मिलता ह तो उनका पत्थर हृदय द्रवित हो उठता है। पश्चात्ताप की अग्नि उन्हे अशान्त बना देती है। उनका क्रोध शान्त हो जाता है। उनके हृदय म करुणा का एक पवित्र ज्वार उमड आता है। वे अयोध्या के प्रमुख नागरिको को लेकर काशी जाते हैं। वहा वे उस समय पहुचते है जबकि रोहित को चिता पर रखा ही जा रहा है। दूर से ही पुकारते हुए वे उस रोक देते है। रोहित की जिह्वा और नाडी को देखकर वे उस एक जडी देते हैं। कुछ और उपचार भी करते है। रोहित जीवित हो जाता है। विश्वामित्र राजा के चरणो म गिरकर उससे क्षमा याचना करते है और राज्य को पुन स्वीकार करने के लिए उसस प्रार्थना करते हैं पर हरिश्चन्द्र दान दी हुई वस्तु कैसे लौटा ले? अन्त म समस्या का समाधान यह किया जाता है कि विश्वामित्र राज्य रोहित को दे दें और जब तक रोहित राज्य के योग्य न बन जाय हरिश्चन्द्र उसके म त्री के रूप म काय करे। इसी म हरिश्चन्द्र के वचन और विश्वामित्र की इच्छा की पूर्ति सम्भव होती है।

आधार

इस सत्याग्रही नाटक की मूल कथा म कोई विशेष अन्तर नही है। परन्तु यहा लेखक ने उसी पुराणो म प्रसिद्ध कथा को आधुनिक युग की नयी दृष्टि परिवर्तित वातावरण एव विचारधारा के अनुकूल ढालने का प्रयत्न किया है। कोई भी घटना अमानवीय अथवा अलौकिक नहीं है। जो कुछ भी घट रहा है वह स्वाभाविक है और इसलिए ग्राह्य भी। नाटककार ने इस नाटक के घटनाचक्र का गठन कुछ इस रूप म किया है कि कहीं पर भी सामान्यतया बुद्धिग्राह्योतरता अथवा अनिरजकता नही आने पायी है। इसके गठन के सम्बन्ध म नाटक के आरम्भ के कथन म लेखक ने अपना दृष्टिकोण इस प्रकार स्पष्ट किया है—

इस नाटक के सम्बन्ध म दो बातें प्रधानतया आएँगी। पहली यह कि इसकी कथा नर पौराणिक और बहुत प्रचलित है। फिर भी मैंने इसे नया रूप या आधुनिक रूप दिया है। दूसरी बात यह है कि हिन्दी की पुरानी शैली म ही अपने को न बाँधकर इसम मैंने राष्ट्रभाषा या हिन्दुस्तानी शैली बरती है। इन बातो का मेरा यह उत्तर होगा—

'हमने पुराने नाटको के पौराणिक पात्रो को अमानव या अतिमानव बनाकर उनके द्वारा होने वाले मनुष्य जीवन पर के असर को बहुत कम कर दिया है। उसका फल यह

होता है कि पाठक या दर्शक उसके गुणों को अलौकिक मानकर स्तम्भित रह जाता है उन्हें पाने की कोशिश नहीं करता। इस प्रकार पौराणिक या उस तरह के नाटक सिर्फ साहित्य और कल्पना की चीज ही रह गए हैं। उनमें मानव जीवन को उठाने की ताकत कम हो गयी है। उस जमाने के लिए वह भले ही ठीक रहा हो लेकिन आजकल के वैज्ञानिक या तार्किक युग के लिए यह जरूरी है कि हर एक बात जहां तक हो सके मनुष्य की बुद्धि की पहुँच के अन्दर कर दी जाय ताकि वह उससे अधिक से अधिक फायदा उठा सके। इस नाटक में इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर मैंने यह कोशिश की है कि इसके पात्रों को आज की आवश्यकता और उच्च तर विचारों के अनुकूल बनाऊं तथा इसके कथानक को ज्यादा स्वाभाविक और वैज्ञानिक बनाऊँ। मैंने पूरी कोशिश की है कि हरिश्चन्द्र की प्रचलित कथा में विशेष परिवर्तन न हो।[1]

जैसा कि नाटककार के इस वक्तव्य से स्पष्ट है इस नाटक की रचना विशेष उद्देश्य को सामने रखकर की गयी है। अति मानवीय घटनाओं को मानवीय रूप देने में उसे पर्याप्त चिन्तन करना पड़ा होगा इसमें सन्देह नहीं। अधिक कठिनाई इसलिए भी हुई होगी कि हरिश्चन्द्र की प्रचलित कथा में किसी विशेष परिवर्तन के बिना ही घटनाओं का आधार वैज्ञानिक एवं वातावरण के अनुकूल बनाने की ओर लेखक का ध्यान रहा है।

इस नाटक की प्रस्तावना वाराणसी के वयोवृद्ध साहित्यकार बाबू रामचन्द्र वर्मा ने लिखी है। इसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"चण्डकौशिक भी इसी प्रकार के आदर्श नाटकों में से एक है जिसके आधार पर स्वर्गीय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उस सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की रचना की थी जिसका आदर आज तक हिन्दी जगत् में बराबर होता आता है। महाराज हरिश्चन्द्र की जगत् प्रसिद्ध तथा अनुपम दानशीलता के आधार पर यह सत्याग्रही नाम का नाटक लिखा गया है जो अनेक दृष्टियों से नवयुवकों और विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। यह नाटक विद्यार्थियों और विशेषतः दक्षिण भारत के उन विद्यार्थियों के लिए लिखा गया है जिनमें आजकल हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार बहुत जोरों से बढ़ रहा है।"[2]

सत्याग्रही नाटक की कथा का आधार राजा हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में प्रसिद्ध पौराणिक कथा ही है। यत्र-तत्र उस कथा में स्वाभाविकता एवं बुद्धिगम्यता लाने के लिए लेखक ने कुछ परिवर्तन किये हैं जिनका स्पष्टीकरण उसने नाटक के आरम्भ में दिए गये अपने वक्तव्य में कर दिया है। अतः इसके स्रोत भी वही हैं जो सत्य हरिश्चन्द्र एवं चण्डकौशिक के हैं।

विवेचन

इस नाटक के आरम्भ में ही स्वयं नाटककार ने एवं प्रस्तावना लेखक बा० रामचन्द्र वर्मा ने नाटक का क्षेत्र और उद्देश्य स्पष्ट कर दिये हैं। यह नाटक पाठ्य होने के साथ साथ

---

१ सत्याग्रही भूमिका पृ० ९१

२ सत्याग्रही प्रस्तावना पृ० ६

अभिनय भी है। इसके दृश्यों में कहीं अतिरंजन या अस्वाभाविकता नहीं है। इन दृश्यों को सफलतापूर्वक रंगमंच पर दिखाया जा सकता है। इसकी भाषा परिमार्जित एवं सरल है।

ऊपर की पंक्तियों में राजा हरिश्चन्द्र की कथा को आधार बनाकर लिखे गये तीन नाटकों की चर्चा की गयी है। ये तीनों ही, रचना की दृष्टि से, इतिहास के तीन युगों की विशेषताओं को अपनी अपनी कथा और शिल्प में सन्निविष्ट किये हुए हैं। तीनों नाटकों का प्रतिपाद्य लक्ष्य भी पृथक् पृथक् रहा है। आर्य क्षेमीश्वर के चण्डकौशिक की रचना एक निश्चित लक्ष्य को समक्ष रखकर की गयी है। जैसा कि नाटक के शीर्षक से ध्वनित हो रहा है, उसमें महर्षि विश्वामित्र के प्रचण्ड स्वरूप का चित्रण करना, सम्भवत, नाटककार का प्रमुख उद्देश्य रहा है। यहाँ नाटक के दो प्रधान पात्र महर्षि विश्वामित्र और राजा हरिश्चन्द्र क्रमश अपने क्रोध और सत्यौदार्य की चरम सीमा पर खड़े हुए चित्रित किये गए हैं। अन्त में विजय राजा हरिश्चन्द्र के त्याग और शील की ही होती है। अपने निर्माणकाल की चिंतनधारा एवं सामाजिक परिस्थितियों से भी यह प्रभावित है। भारतेन्दुजी ने चण्डकौशिक का अवलम्ब लेते हुए भी, सत्य हरिश्चन्द्र में राजा हरिश्चन्द्र की अविचल सत्यपरायणता के चित्रण को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाया है। भारतेन्दुजी का समय राष्ट्रीय चेतना एवं हिन्दी के नवोत्थान का युग था। इसकी भावना को सत्य हरिश्चन्द्र में स्पष्ट देखा जा सकता है। तृतीय नाटक, व्रजनन्दन शर्मा के 'सत्याग्रही' में गांधीजी के युग का स्वर ध्वनित हो रहा है। अपने युग के स्वर को ध्वनि देने के लिए उन्होंने कथा के मूल रूप को ही एक भिन्न दृष्टि दी है। उन्होंने आज के बुद्धिवादी युग के समक्ष राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा की तर्कसंगत बुद्धिग्राह्य व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

वेण कथा

पुराणों में एक अति क्रूर राजा वेण नाम से प्रसिद्ध है। यह आजीवन प्रजा को सताने, अत्याचार करने तथा अनीति अपनाने में ही रत रहा। इसके जीवन से सम्बंधित निम्नलिखित नाटक प्राप्त हुए हैं—

वेणु संहार बालकृष्ण भट्ट, वेनचरित बदरीनाथ भट्ट, क्रूर वेण हरद्वार प्रसाद जालान।

वेणु संहार[1]

बालकृष्ण भट्ट लिखित वेणु संहार एक संक्षिप्त नाटक है। यह तीन अंकों में विभाजित है। दृश्यों के स्थान पर गर्भांक हैं। इस नाटक का आरम्भ पुराने नाटकों के ढंग पर होता है। नान्दी से प्रारम्भ करके सूत्रधार नटी का आगमन तथा प्रस्तावना इत्यादि सभी कुछ दिखाया गया है। आरम्भ में सूत्रधार के द्वारा नाटक का नाम न कहलाकर इस प्रकार कहलाया है—

सूत्रधार— (थोड़ा ठहर याद कर) हम तो भूल ही गये थे। अच्छी याद आयी हाल में हिन्दी प्रदीप के सम्पादक महाशय ने एक नया नाटक तैयार कर हमें दिया है वह इस समय के लोगों की रुचि के बहुत ही अनुकूल होगा। चलो उसी के लिए तैयार होने को अपने साथियों से कहें।'

कथानक

नाटक का प्रारम्भ एक पुरुष के द्वारा ढांडी पिटने से होता है जो कहता है कि राजा का आदेश है कि राज्य में कोई व्यक्ति धर्म-कर्म एवं दान पुण्य न करे। न होतव्य न दातव्य। जनता यह सुनकर अति चिंतित होती है। तपोवन में छात्रगण परस्पर वार्तालाप करते हैं जिससे विदित होता है कि कुछ शिष्ट व्यक्तियों के पधारने के कारण उस दिन अनध्याय है। उधर भृगु मुनि विचार करते हैं कि देश में अनावृष्टि दुर्भिक्ष तथा ऋतु विपर्यय होने का कारण राजा की अनैतिकता तथा अत्याचार ही हो सकता है। नागरिक आकर यही सूचित करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि राजा के अत्याचार से उन्हें मुक्त किया जाय। राजा वेणु अति मदांध एवं दुःशील है। भृगु जब ऋषिगणों के साथ राज दरबार में पहुंचते हैं तो वेणु अति उद्दंड हो उनका अपमान करता है और उनकी कोई

[1] प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा काशी भट्ट नाटकावली म प्र स १९४० ई०

सम्मति सुनने के लिए तैयार नही होता । तब ऋषि समूह मारण मन्त्र पढकर वेणु का सहार (अन्त) कर देते हैं।

वेनचरित[1]

प्रस्तुत कथा से सम्बधित प० बदरीनाथ भट्ट बी० ए० लिखित दूसरा नाटक वेनचरित' है, जिसे लेखक के कथनानुसार नया रूप दिया गया है—

'इस नाटक मे अराजकता के भीषण परिणाम तथा बरास राजसत्ता की भयानक अठखेलिया और फिर उसका अन्त दरसाने की चेष्टा की गयी है। आजकल ससार म राजनतिक उथल पुथल की धूम है। इसीलिए हिन्दी पाठको के मनोरजनाथ इस पुरानी कहानी को नई पोशाक मे रखने का साहस मैंने किया है।'[2]

इस नाटक की कथा लगभग पूववत ही है किन्तु इसी नाटक म उच्च वण तथा निम्न वण का वैषम्य भी प्रदर्शित किया गया है। राजा अग का पुत्र वेन बहुत अत्याचारी है। प्रजा म दो दल हैं—एक तो द्विजातिया का जिसम आपस मे भी एकता नही है और जो वन को राजा बनाने के पक्ष म भी नही है। दूसरा दल शूद्रा का है जिसम सगठन है और यह वग वेन का पक्षपाती है। वेन अत्याचारी और क्रूर है। राजा बनकर वह शूद्र दल के नायक को अपना मन्त्री बनाता है। यह व्यक्ति उच्च पद पाकर और अभिमानी बनकर अपन वग के लोगा का भी कोपभाजन बन जाता है। उसके द्वारा शूद्रा पर भी अतिरिक्त कर लगाये जाते हैं।

अन्तत दोना वर्गों म मेल हो जाता है। राजा के अत्याचार और बढ जाते हैं। किन्तु हर वस्तु की एक सीमा होती है। सम्मिलित प्रजा विद्रोह कर देती है, वन को बन्दी बना लिया जाता है। उसकी माता को पूव महाराज अग के पास भेज दिया जाता है। राज्य शासन प्रजा के हाथ म आ जाता है। इसम वन की मृत्यु नही दिखायी जाती।

क्रूर वेण[3]

कथानक

हरद्वारप्रसाद जालान लिखित 'क्रूर वेण नाटक तीन अको म सम्पूर्ण होता है। अपने बालसाथी सुदरसिंह को यह अपना प्रधान मत्री बनाता है और दूसर साथी क्रूरसिंह

---

१ प्रकाशक रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स आगरा प्रथम सस्क स १९७९

२ नाटक म लेखक का निवेदन

३ प्रकाशक हरद्वारप्रसाद जालान नवरमलाल तुलस्यान चौक आगरा प्र० सस्क० १९८१ ई०

का प्रधान प्रान्तीय शासक। सुंदर वार रमणियां ही इसकी मनोरंजन की साधन होती हैं। कोष में सत्ताइस करोड़ का लाभ होने पर भी बीस करोड़ का झूठा घाटा दिखाकर प्रजा के ऊपर तरह तरह के कर लगाये जाते हैं। राज्य में सर्वत्र कठोर दण्ड दिया जाता है। दरबार में विलासिता और क्रूरता का साम्राज्य है। नाम के लिए एक प्रतिनिधि सभा भी बनी हुई है किन्तु उसके सदस्यों को कोई पूछता तक नहीं।

एक दिन शिकार के लिए राजा वन में जाता है जहाँ कामातुर होकर वह ऋषिकन्या गायत्री को पकड़ लेता है और ऋषियों के विरोध करने पर भी बलपूर्वक उसे घर ले जाता है। कन्या के पिता अपने योगबल से ऐसा चित्र दिखाते हैं कि राजा भयभीत होकर मूर्छित हो जाता है। ऋषि के आदेश से राजा के शरीर के टुकड़े करके उसका मन्थन किया जाता है। उससे एक दिव्य पुरुष उत्पन्न होता है जिसे सब प्रणाम करते हैं और क्रूर वेण का अन्त होता है।

आधार

इन तीनों नाटकों के कथानक लगभग एक समान हैं। सर्वत्र वेण एक क्रूर अत्याचारी एवं अधार्मिक राजा के रूप में चित्रित किया गया है। राजा वेण की कथा विभिन्न पुराणों में भी केवल कुछ भिन्नताओं के साथ लगभग समान रूप में ही उपलब्ध होती है अतः तीनों नाटकों के मूलाधार समान स्थल ही कहे जा सकते हैं। ये स्थल इस प्रकार हैं—

भागवतपुराण[1]

भागवतपुराण में वेण सम्बन्धित कथा इस प्रकार है—

एक बार राजर्षि अंग ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। उसमें वेदवादी ब्राह्मणों के आवाहन करने पर भी देवता जब अपना भाग लेने नहीं आये तो राजा ने चिन्तित होकर इस बात का कारण पूछा। ऋत्विजों ने बताया कि राजा के पुत्रहीन होने के कारण ही देवता उदासीन हैं। ऋत्विजों ने ही तब राजा को पुत्र प्राप्ति कराने का निश्चय कर यज्ञरूप में रहने वाले विष्णु भगवान के पूजन के लिए पुरोडाश नामक चरु समर्पित किया। अग्नि में आहुति डालते ही अग्निकुण्ड से सोने का हार और शुभ्र वस्त्रों से विभूषित एक पुरुष प्रकट हुआ जो एक स्वर्णपात्र में सिद्ध खीर लिए हुए था। पुत्रहीना रानी सुनीथा ने यह खीर खाकर वेण को जन्म दिया जो अपने नाना मृत्यु के प्रभाव के कारण अति क्रूर हुआ। उसके दुर्व्यवहार एवं क्रूरता से दुखित होकर राजा अंग ने एक रात चुपचाप घर छोड़ दिया।

दुष्ट वेण के राजा बनने पर उसके अत्याचार देख सारे ऋषि मुनि एकत्र हुए और अपना दायित्व समझ उसे समझाने लगे कि उसे यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठान बन्द कर देवताओं का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। वेण ने ऋषियों के उपदेश पर कोई ध्यान नहीं दिया और उसने विष्णु भगवान की भरपूर निन्दा की। फलस्वरूप वह मृत्यु को प्राप्त

[1] भागवतपुराण चतुर्थ स्कन्ध अध्याय १३ और १४

हुआ किन्तु वेण के भय एवं उसकी अमोघ शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए, मृत राजा की जांघ को मथकर, ऋषियों ने एक काले वर्ण पुरुष की उत्पत्ति की, जो 'निषाद' कहलाया और जिसके वंशधर हिंसा लूटपाट इत्यादि में रत रहने लगे। वेण की भुजाओं का मन्थन करने से राजा पृथु तथा उसकी पत्नी अर्चि का जन्म हुआ।

मत्स्य पुराण

मत्स्य पुराण[1] में भी वेण के पिता का नाम अंग और माता का नाम सुनीथा है। वेण यहाँ भी अति अत्याचारी अधर्मी और नास्तिक है। उसके कुकर्मों के कारण ऋषि मुनियों ने शाप द्वारा नष्ट कर उसका मन्थन किया। उसकी देह के मातृभाग से म्लेच्छ जाति के व्यक्ति उत्पन्न हुए और पितृभाग से एक धार्मिक पुरुष उत्पन्न हुआ, जो अति तेजोमय और दिव्य स्वरूप वाला था। यह वेण की दक्षिण भुजा से उत्पन्न हुआ था और जन्म के साथ ही धनुष-बाण, गदा और रत्नमय कवच तथा अंगद से युक्त था। अभिषेक के उपरान्त भी उसने बड़ा भारी तप किया और एक अति प्रतापी राजा बना।

विष्णु पुराण

विष्णु पुराण[2] की कथा में भी मृत्यु की सुनीथा नाम वाली प्रथम पुत्री प्रजापति अंग को पत्नी रूप में दी गयी थी। स्वभाव से दुष्ट अत्याचारी व्यसनी तथा अधर्मी वेण इनका पुत्र था जिसने राजा बनने पर घोषणा कर दी कि यज्ञपुरुष मैं ही हूँ अतः मेरी ही पूजा की जाय। ऋषिगण ने समझाया कि 'यदि तुम हम धार्मिक कृत्यों की स्वतन्त्रता दोगे तो हमारे पुण्यफल में से छठे भाग के तुम भी अधिकारी बनोगे' किन्तु वेण पर किसी तर्क अथवा प्रार्थना का कोई प्रभाव नहीं हुआ। फलस्वरूप ऋषियों ने उसकी बहुत निन्दा की और लोगों को आदेश दिया कि ऐसे दुराचारी राजा को मार डालो, किन्तु भगवान की निन्दा तथा अपने कुकृत्यों के कारण वेण पहले ही मर गया। इसके उपरान्त मुनियों ने उस मरे हुए राजा को मन्त्र से पवित्र किये हुए कुशों से पुनः पीटा।

तत्पश्चात राष्ट्र के राजाहीन होने से प्रदेशभर में बड़ी धूल उठी। तब मुनियों ने सम्मति करके, राजा की जंघा को पुत्र के लिए यत्नपूर्वक मन्थन किया। जंघा के मथन पर जो पुरुष निकला वह जले ठूंठ के समान काला नाटा और छोटे मुख वाला था। उसने भयाकुल होकर पूछा—मैं क्या करूँ? तो मुनियों ने उससे बैठ जाने के लिए कहा (निषीद) और इसीलिए वह निषाद कहलाया—

> किं करोमीति तान्सर्वान्स विप्रानाह चातुरः।
> निषीदेति तमूचुस्ते निषादस्तेन सोऽभवत ॥[3]

भागवत पुराण में भी इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है— निषीदत्यत्र वस्तात स निषाद

---

१ मत्स्य पुराण अध्याय १ श्लोक ३१

२ विष्णु पुराण प्रथम अंश अ० १३, श्लोक ११-४२

३ विष्णु पुराण वही अ० १३ श्लोक ३५

ततोऽभवत् ।'[1] वेण की दाईं भुजा का मन्थन करने से परम प्रतापी वेणपुत्र पृथु उत्पन्न हुआ। सत्पुत्र के जन्म लेने से वेण 'पुं' नामक नरक से बच गया।

वामन पुराण

वामन पुराण[2] में वेण के पिता का नाम अंग न होकर ध्रुव है जो मनुपुत्र है और इसकी पत्नी वेण की माँ का नाम सुनीथा है जो यमराज की पुत्री है। राजा ध्रुव के उपरान्त वेण राजा बना। विष्णु पुराण के सदृश यहाँ भी वेण ने प्रजा के ऊपर, अत्यधिक अत्याचार किये हैं और देवपूजा पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया है। प्रजा के हाहाकार के कारण ऋषि मुनियों ने उसे नष्ट कर दिया है और उसकी वाम भुजा से एक ह्रस्वकाय पुत्र निषाद उत्पन्न किया है जो वेण के पाप को लेकर उत्पन्न हुआ। दाईं भुजा से जो पुरुष उत्पन्न हुआ उसकी भुजा धनुष-बाण, चक्र और ध्वजा से अंकित थी। इसका नाम पृथु था। ऋषि मुनि तथा देवगण ने मिलकर इसका अभिषेक किया और अपने पिता के स्थान पर यह प्रजा का रंजन करने वाला बना। उसी समय से पृथ्वी पर शासन करने वाले व्यक्ति का नाम राजा प्रचलित हुआ—

पित्रा विरंजिता तस्य तेन सा परिपालिता ॥
ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथिव्या रंजनादभूत ॥[3]

इसके उपरान्त की कथा पृथु द्वारा पिता के पाप मार्जन करने तथा उन्हें स्वर्ग में प्रेषित करने से सम्बन्धित है। पृथु को नारदजी द्वारा ज्ञात हुआ कि उसका पिता वेण मृत्यु के उपरान्त म्लेच्छों के मध्य उत्पन्न हुआ है और क्षय और कुष्ठ रोग से पीड़ित है। नारदजी ने मोक्ष का उपाय उसके पिता द्वारा विभिन्न तीर्थों की यात्रा निश्चित की। तदनुसार पृथु स्वयं पहुँचकर, अपने पिता को म्लेच्छों के बीच से लाया और विभिन्न तीर्थों की यात्रा स्वयं करवायी। कुरुक्षेत्र के समीप स्थाणु तीर्थ पर स्नान करने से पूर्व ही आकाश वाणी द्वारा उसे स्नान करने से रोका गया जिससे तीर्थ अपवित्र न हो जायें किन्तु ब्राह्मणों की सम्मति के अनुसार प्रतिकूल दिशा में जाते हुए समस्त तीर्थों पर स्नान करने के उपरान्त जब उसके द्वारा स्थाणु तीर्थ से जल लेकर स्नान करके शिवजी की आराधना की गयी तो शिवजी ने उसे प्रसन्न होकर वरदान दिया कि अपने पापों से मुक्त होने के लिए उसे हिरण्याक्ष असुर के यहाँ अन्धक नाम से एक जन्म और लेना पड़ेगा और तत्पश्चात शिवजी के द्वारा वध किये जाने के उपरान्त वह शिवजी के भृंगि नाम के गण के रूप में उनके गणों में सम्मिलित हो जायगा और शिव के समीप रह सकेगा।

आलोच्य नाटकों की कथा से यह कथा सर्वथा भिन्न है।

---

१ भागवत पुराण चतुर्थ स्कन्ध अ० १४ श्लोक ४५
२ वामन पुराण अध्याय ४७ ४८
३ वामन पुराण अ० ४७ श्लोक २४

हरिवंश पुराण

हरिवंश पुराण[1] में भी वेण के पिता अंग और माता सुनीथा है। अन्य पुराणों की कथा से यहाँ यह अन्तर है, कि यहाँ वेण की जीवितावस्था में ही उसे पकड़कर ऋषि मुनियों द्वारा उसकी दाईं जंघा का मन्थन कर निषाद को प्रकट किया गया है। पृथु का जन्म दाईं भुजा से हुआ है। भागवत पुराण में भी जंघा के मन्थन से निषाद की उत्पत्ति हुई है पर जांघ का दायाँ-बायाँ वहाँ उल्लिखित नहीं है। वेण की भुजाओं से पृथु तथा उसकी पत्नी अर्चि उत्पन्न हुई। जंघा से निषाद की उत्पत्ति का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता।

ब्रह्म पुराण

ब्रह्म पुराण[2] में वेण की माता का नाम सुनीथा ही है किन्तु पिता का नाम प्रजापति तग है जो अत्रि वंश में उत्पन्न हुआ है। मातामह के दोष से ही वेण महा अत्याचारी राजा सिद्ध हुआ। ऋषियों ने यहाँ भी वेण की दाईं भुजा को मथकर निषाद तथा दाईं से पृथु को उत्पन्न किया है। वेण की मृत्यु से राज्य में शान्ति छा गयी है और पृथु की उत्तम राज्य व्यवस्था से प्रजा का रंजन हुआ है तथा सत्पुत्र का पिता होने के कारण, यहाँ भी वेण की पुन्नाम नरक से मुक्ति वर्णित है। राजा नाम को सार्थक सिद्ध करने वाला वामन पुराण का समकक्ष श्लोक इस पुराण में भी उपलब्ध है—

पित्रापरंजितास्तस्यप्रजास्तेनानुरंजिताः।
अनुरागात्ततस्तस्य नाम राजाभ्यजायत॥[3]

ब्रह्माण्ड पुराण[4]

इस पुराण में वेण सम्बन्धी कथा मत्स्य पुराण की कथा के सदृश ही है। राजा नाम सिद्ध करने वाला श्लोक यहाँ भी प्राप्य है—

पित्रापरञ्जितास्तस्य प्रजास्तेनानुरंजिताः॥ १५५
ततो राजेति नामास्य ह्यनुरागादजायत॥ १५६

—ब्रह्माण्ड पुराण अध्याय ३६

पद्म पुराण

राजा वेण की कथा पद्म पुराण[5] में अति विस्तार से मिलती है। इसका रूप भी अन्य पुराणों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का है—

---

१ हरिवंश पुराण हरिवंश पर्व अध्याय ५ श्लोक १-२१
२ ब्रह्म पुराण चतुर्थ अध्याय श्लोक २८-५२
३ ब्रह्म पुराण चतुर्थ अध्याय श्लोक ५७
४ ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्व भाग) अ० ३६ श्लोक १२६-१५६
५ पद्म पुराण (भूमि खण्ड) अध्याय २८-३६

वेन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह प्रजापति पुत्र अंग का मनस्वी और गुणी पुत्र था। यहाँ इस स्थल में प्रारम्भ होता है कि इसने पाप किया था न ही। तब उसकी विपरीत किस प्रकार हुई? सूतजी ऋषियों की इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि एक बार अंग ने स्वर्ग में इन्द्र का वैभव देखा और उसके मन में यह कामना जगी कि उसका पुत्र भी इतना ही वैभवशाली हो। इस उद्देश्य से वह तपस्या करने लगा। उधर वन में सुनीथा के द्वारा, जब वह एक दिन वन में उसने निरपराधी तपस्वी सुशंख तपस्या करते हुए मारा गया तो उसने सुनीथा को शाप दिया—

> माहात्म्य च तपस्त्वाय सद्भर्ता यदा भवेत् ।
> पापाचारमय पुत्रो देवब्राह्मणनिन्दकः ॥[1]

सुनीथा के पिता धर्मराज यह सुनकर बहुत दुःखी हुए। उधर तपश्चरत अंग से विष्णु ने प्रसन्न होकर वर माँगने के लिए कहा तो अंग ने विष्णु से इन्द्र जैसा वैभववान् पुत्र पाने की ही कामना की।[2]

विष्णु ने यह वर सहर्ष प्रदान किया। किन्तु वर प्राप्त करने के उपरान्त भी अंग अत्र सुन्दर सुयोग्य पत्नी की प्राप्ति के लिए तपश्चरत रहा। सुनीथा अति सुन्दरी थी। पुत्री को उदास देख पिता धर्मराज ने आश्वस्त किया था कि मैं तुम्हारा विवाह एक श्रेष्ठ व्यक्ति से करूँगा कि तपस्वी सुशंख का शाप कभी फलीभूत नहीं होगा। सुनीथा यह सुनकर प्रसन्न चित्त अपनी सखी रम्भा के साथ नन्दनवन की ओर घूमने निकल गयी। अंग इसी स्थल पर तपस्या कर रहा था। रम्भा के द्वारा अंग का परिचय पाकर और स्वयं उसकी ओर आकर्षित हुई सुनीथा ने रम्भा की सम्मति से मायिक रूप धारण कर लिया और एक अति सुन्दर झूले पर बैठकर झूलने और गाने लगी। मधुर स्वरलहरी से खिंचकर अंग भी सुनीथा के प्रति आकर्षित हुआ और उसके कुल तथा गुणों से प्रभावित होकर अंग ने सुनीथा का सान्निध्य में प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। रम्भा ने सुनीथा की ओर से राजा के प्रस्ताव को स्वीकार किया किन्तु साथ ही यह प्रतिज्ञा करवा ली कि यदि उसे सुनीथा में कोई दोष भी दिखेगा तो वह उसे त्यागेगा नहीं। अंग ने यह स्वीकार किया और सुनीथा से गान्धर्व विवाह कर लिया। कुछ समय के पश्चात् वेण का जन्म हुआ। विष्णु के वरदान के अनुसार वेण सत्यनिष्ठ प्रतापी तेजोमय वेदों में निष्णात तथा देव और ब्राह्मणों में निष्ठा रखने वाला आस्तिक पुरुष था। ऋषि मुनियों ने इसे प्रजापति का पद दिया। अपने पद पर स्थित हुए वेण ने न्यायपूर्ण ढंग से राज्य संचालन का कार्य किया।

एक दिन सभा मण्डप में पहुँचे हुए एक अपरूप यज्ञोपवीत रहित तपस्वी जैसी आकृति वाले व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट होकर वेण नास्तिक और वेद तथा ब्राह्मणों से घृणा करने वाला बन गया। पिता तथा माता के आदेश की भी उसने उपेक्षा की और वैदिक धर्म छोड़कर जिनधर्मानुयायी बन गया। शेष कथा अन्य पुराणों के सदृश ही है अर्थात् ऋषि मुनियों के समझाने से जब वेण सत्पथ पर नहीं आया तो ऋषियों ने उसकी बाईं भुजा का मन्थन कर

1 पद्म पुराण (भूमि खण्ड) अध्याय ३० श्लोक ७०
2 वही अध्याय ३२ श्लोक ६४-७

निपाद को तथा दाड़ से पृथु को उत्पन्न किया। निपादरूपी पाप के निसृत हो जाने से वेण शुद्ध हो गया तथा तप करने अरण्य में चला गया। वहाँ १०० वर्ष पर्यन्त उसने तपस्या की और मोक्षपद प्राप्त किया। अन्य कथाओं के सदृश यहाँ वेण की मृत्यु नहीं होती।

इस कथा के मध्य जैन धर्म के सिद्धान्त उनका महत्त्व तथा पापमार्जन के विभिन्न उपायों का भी विस्तार से वर्णन है।

अन्तर

बालकृष्ण भट्ट रचित वेणु संहार तथा हरद्वारप्रसाद जालान लिखित नाटक 'क्रूर वेण' के कथानकों में मूल कथाओं से सामान्यत कोई विशेष अन्तर नहीं है। नाटक में सौन्दर्य लाने तथा रचना में नाटकीय तत्त्व की प्रतिष्ठा करने के लिए प्राय साधारण हेर-फेर लेखक द्वारा किया जाता है, किन्तु ये अन्तर तभी तक वाञ्छनीय हैं जब तक मुख्य कथा के तत्त्व इससे विकृत न हों। इस प्रकार के अन्तर यहाँ द्रष्टव्य हैं।

भट्ट जी रचित 'वेणु संहार' नाटक में डाडी फिन्ना मुनि के आश्रम में शिष्यों द्वारा अनध्याय सम्बन्धी वार्तालाप, इसी प्रकार के दृश्य हैं। हरद्वारप्रसाद जालान लिखित क्रूर वेण में सुन्दरसिंह, क्रूरसिंह इत्यादि पात्र कल्पित हैं। कामातुर होकर राजा वेण के द्वारा ऋषि कन्या गायत्री को बलात पकड़ लिया जाना भी काल्पनिक दृश्य है।

पौराणिक कथाओं में प्राप्त वेण की देह से निपाद का जन्म जैसी घटना वेणु संहार तथा 'क्रूर वेण' किसी नाटक में नहीं है। वेण की देह के टुकड़ों का मन्थन करने के उपरान्त, जो दिव्य पुरुष क्रूर वेण नाटक में जन्म लेता है उसका नाम वहाँ नहीं दिया गया है अन्य नाटकों तथा आधारभूत कथानकों में यह पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।

बदरीनाथ भट्ट लिखित वेणचरित नाटक अन्य नाटकों तथा उनके मूलभूत पौराणिक कथानकों से इस दिशा में भिन्न है कि यहाँ लेखक ने द्विजाति तथा शूद्र दलों के मध्य वैमनस्य दिखाया है। वेण की मृत्यु भी यहाँ नहीं है केवल वेण अपने अपराधों के कारण बन्दी बना लिया जाता है। पद्म पुराण[1] की कथा से इस नाटक का कथानक अधिकांश में भिन्न है क्योंकि वैदिक धर्मावलम्बी तथा जिनधर्मानुयायियों के पारस्परिक संघर्ष का संकेत यहाँ भी है। वेण की मृत्यु भी पद्म पुराण की कथा में नहीं है दाहिनी भुजा से निपाद के निकल जाने पर वेण यहाँ शुद्ध पापमुक्त हो जाता है और सौ वर्षों तक तप करता है।

विवेचन

संघर्ष के उपर्युक्त साधारण संकेत को लेकर, इस नाटक में युगानुरूप ढालना, लेखक की मौलिकता का परिचायक है। यह नाटक अपने युग की धार्मिक एवं तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। गांधीवादी सिद्धान्तों एवं तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलन से नाटककार अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है।

कथानक तथा शैली, दोनों दृष्टिकोणों से यह नाटक अन्य नाटकों तथा पुराणों में

---

१ पद्म पुराण भूमि खण्ड अध्याय २८ ३६

प्राप्त कथानकों से कुछ अंश में भिन्न है। वेन चरित नाटक में पौराणिकता की छाप कहीं नहीं दिखायी देती। 'पुरानी कहानी को नयी पोशाक में रखने वाले'[1]—स्वयं नाटककार के शब्द इस नाटक के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य उतरते हैं।

साधारण भिन्नताओं के रहते हुए भी यह सुनिश्चित है कि ये नाटक वेण सम्बन्धी पौराणिक कथाओं के अति निकट हैं। नाटककारों ने वेण का अत्याचारी, दुराचारी और विमूढ़ चित्रित करने के अतिरिक्त उसकी देह का मन्थन तथा उसकी देह से पृथु का जन्म भी दर्शाया है।

मारण मन्त्र के प्रभाव से वेण का संहार (वेणुसंहार-बालकृष्ण भट्ट) देह के टुकड़े करके दिव्य पुरुष की उत्पत्ति (क्रूर वेण-हरद्वारप्रसाद जालान)—ये दृश्य पौराणिकता की रक्षा करने की दृष्टि से भले ही सफल माने जायें किन्तु नाटक के शास्त्रीय नियमों तथा तार्किकता से ये मेल नहीं खाते। इतना बीभत्स दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत करना, न तो सम्भव ही दीखता है और न सुरुचिपूर्ण और उपादेय। इसका अभिनय केवल जादू के खेल से अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध न होगा।

---

१ नाटककार के निवेदन से

द्वितीय अध्याय

१ अजना कथा — (क) अजना (सुदर्शन), (ख) अजना सुन्दरी, (ग) अजना सुन्दरी (उमाशंकर-मेहता)।

२ शिव-पार्वती चरित — (क) शिव विवाह, (ख) सतीदहन, (ग) गौरी शंकर (घ) गणेशजन्म, (ङ) सती पार्वती

३ वरमाला

४ राजा शिवि

अजना

अजना नाटक हिन्दी के यशस्वी कहानीलेखक श्री सुदर्शनजी की उनके प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन की सुन्दर कृति है।[1] इस नाटक की कथा निम्नलिखित है—

कथानक

अमृतपुर के राजा की पुत्री सुलक्षणा पवन के प्रति आसक्त है। पवन, राजा प्रह्लाद विद्याधर का पुत्र है। पवन अपने माता पिता की इच्छानुसार अजना से विवाह करने का निश्चय कर लेता है और चित्र मे अजना के अद्भुत लावण्य को देखकर अजना का विवाह से पूर्व ही देखने के लिए अपने मित्र प्रहसित के साथ चल पडता है। इससे पूर्व वह सुखदा से भी

---

१ प्रकाशक नाथूराम प्रेमी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय गिरगाँव बम्बई प्रथम सस्करण १९२३

मिलता है जो उससे अपने साथ विवाह करने का आग्रह करती है किन्तु पवन उसकी ओर ध्यान नहीं देता। महेन्द्रनगर के प्रमोदवन में पहुँचकर अंजना तथा उसकी सखियों का पारस्परिक वार्तालाप सुनकर पवन अनुमान लगाता है कि अंजना एक अन्य राजकुमार विद्युत्प्रभ के प्रति भी आकर्षित है। अतः वह निश्चय कर लेता है कि विवाह से बारह वर्ष पर्यन्त वह अंजना का मुख नहीं देखेगा।

उधर विद्युत्प्रभ पवन से बदला लेना चाहता है। इस षड्यन्त्र में सुकन्या भी जो विद्युत्प्रभ के प्रस्ताव को ठुकरा चुकी थी सम्मिलित हो जाती है और अपना नाम ललिता रखकर पवन और अंजना को दण्ड देने के लिए निकल पड़ती है।

विवाह के उपरान्त अंजना के साथ उसकी सखी वसन्तमाला भी जाती है। पवन अपनी प्रतिज्ञा का पालन करता है किन्तु दुर्मति नगर के अधिपति वरुण से लड़ने जाने पर वहाँ नदी के किनारे चकवी का करुण स्वर सुनकर अंजना के प्रति वह पुनः सदय हो उठता है।

प्रहसित के कहने पर और क्योंकि बारह वर्ष का समय भी समाप्ति पर ही है पवन छुपकर अंजना से मिलने के लिए पहुँचता है और कुछ समय उसके पास रहने के उपरान्त अपनी अंगूठी जिसमें नग के नीचे उसके हस्ताक्षरों से युक्त कागज रखा था अंजना को देकर और आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग में लाने के लिए कहकर वह चला जाता है। वह उस समय अपने माता पिता से नहीं मिलता है।

विद्युत्प्रभ और ललिता छल से वह अंगूठी लेकर चम्पा दासी के द्वारा अंजना के पास नकली अंगूठी भिजवा देते हैं। अंजना के गर्भचिह्न प्रकट होने पर उसकी सास केतुमती उसके शील पर सन्देह करके उसे घर से निकाल देती है। अंजना अपनी सखी वसन्तमाला के साथ वन में घूमती रहती है। सुकन्या और विद्युत्प्रभ वहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ते और उसे तरह तरह से कष्ट देते हैं। वहीं जंगल से अंजना के मामा मामी प्रतिसूर्य और रविसुन्दरी उसे अपने घर ले आते हैं। बालक का जन्म मामा के घर हनूनगर में होने के कारण उसका नाम हनुमान रखा जाता है। यहीं अंजना के माता पिता आते हैं और अंजना को पवन के युद्ध से लौट आने का शुभवाद सुनाते हैं। किन्तु पवन जंगल में अंजना को ढूँढ़ते हुए विद्युत्प्रभ के द्वारा पकड़ा जाता है।

उधर सुकन्या चम्पा दासी को अंजना के धोखे में मार डालती है और फिर पागल हो जाती है। अगले दृश्य में पवन और अंजना एक दूसरे से मिल नहीं पाते हैं। अन्त में एक जंगल में जहाँ चिता जल रही है और अँगूठी पड़ी है दोनों मिलते हैं।

सुकन्या को अन्तिम क्षण तक नहीं मालूम पड़ता कि अंजना जीवित है और उसके स्थान पर चम्पा मरी है। पागलपन की यह पराकाष्ठा है।

अन्तिम दृश्य पवन और अंजना के प्रेमालाप से समाप्त होता है।

आधार

अंजना हनुमान की माता और पवन पिता था। अंजना और पवन की कथा बहुत प्रसिद्ध है। महर्षि वाल्मीकि की रामायण[1] में हनुमान के जन्म का विवरण मिलता है। आनन्द

---

1 वाल्मीकि रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ६६ ८-२९ निर्णयसागर सं. १९

रामायण[1] एवं अध्यात्म रामायण[2] में भी हनुमान की जन्म-कथा के कुछ संकेत मिलते हैं। सीता जी की खोज के अवसर पर समुद्र पार जाने के लिए सुग्रीव के अनुचरों के निराश होने पर जाम्बवान ने हनुमान के बल का स्मरण दिलाते हुए उसके जन्म और वरदानों की प्राप्ति की कथा वाल्मीकि रामायण में सुनाई है। यहाँ के आख्यान में कहा गया है कि पुञ्जिकस्थला नाम से विख्यात एक श्रेष्ठ अप्सरा थी। उसका नाम अंजना था और वह केसरी वानर की पत्नी थी। वानरों के राजा कुंजर की यह पुत्री, तीनों लोकों में, अप्रतिम सुन्दरी थी। स्वेच्छा से शाप के कारण वह वानरयोनि में आयी। एक समय रूप और यौवन से सुशोभित होने वाली अंजना मानवी शरीर धारण करके वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामकान्ति वाले एक पर्वत शिखर पर रेशमी वस्त्र एवं पुष्पाभरण धारण किए हुए विचर रही थी। लाल किनारी वाले उसके पीले वस्त्र का मारुत ने धीरे से हरण किया। उसके मोहक रूप को देखते ही वह काम मोहित हो गया, एवं अपनी विशाल भुजाओं से उसने अंजना का आलिंगन में भर लिया। उसकी इस क्रिया से हड़बड़ाकर अंजना ने उससे कहा कि मैं पतिव्रता नारी हूँ। मारुत ने उसे आश्वासन दिया कि उसके शील का भंग नहीं होगा और उसे एक शक्तिशाली पुत्र होगा। उसके पश्चात् पर्वत की गुहा में उसने अति पराक्रमी पुत्र को जन्म दिया। अपने शैशव में ही यह पुत्र एक दिन उगते हुए सूर्य को फल समझकर पकड़ने के लिए तीन सौ योजन ऊपर आकाश में उड़ गया। सूर्य की ओर तेज़ी से जाते हुए को देखकर इन्द्र ने वज्र का प्रहार किया जिससे उसकी ठोड़ी का बायाँ भाग खण्डित हो गया। बालक को आहत हुआ देखकर क्रुद्ध वायु ने अपनी गति रोक दी। ब्रह्मा ने उसे युद्धभूमि में किसी भी शस्त्र से न मारे जाने का और इन्द्र ने इच्छामृत्यु पाने का वर दिया।[3]

वाल्मीकीय रामायण में हनुमान की यही कथा विस्तार से पुनः उत्तरकाण्ड में कही गयी है। वहाँ इस कथा के कहने वाले महर्षि अगस्त्य हैं और श्रोता स्वयं श्रीरामचन्द्र हैं।[4] दोनों स्थलों की कथा का प्रसंग भिन्न है परन्तु कथा एक-सी ही है। अन्तर केवल इतना है कि किष्किन्धाकाण्ड की कथा का रूप कुछ संक्षिप्त है और उत्तरकाण्ड की कथा का विस्तृत। किष्किन्धाकाण्ड की कथा में हनुमान को ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, यम, सूर्य, कुबेर, शंकर और विश्वकर्मा से उत्तमोत्तम वर दिलाए गये हैं। अप्रतिम शक्ति प्राप्त कर ऋषियों की हानि करने के कारण उनसे उसे शाप भी दिलाया गया है, कि 'जब तक कोई अन्य व्यक्ति स्मरण नहीं दिलाएगा वह अपने बल को भूला रहेगा'। यही कारण है कि सुग्रीव और बाली के संघर्ष में हनुमान सुग्रीव की कोई सहायता नहीं कर सके और जब तक जाम्बवान ने स्मरण नहीं दिलाया सीता के अन्वेषण के कार्य में भी हनुमान अपनी शक्तिहीनता का अनुभव करते रहे।

अध्यात्म रामायण में भी हनुमान के जन्म एवं पराक्रम का जो उल्लेख है, वह वाल्मीकीय रामायण के समान सीता के अन्वेषण के प्रसंग में जाम्बवान ने ही किया है। हनुमान का

---

१ आनन्द रामायण सारकाण्ड सर्ग १३ श्लोक १५५-१७८
२ अध्यात्म रामायण गीताप्रेस सं० २०१४ दशम सं० किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ९ १६-२०
३ वाल्मीकीय रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ६६ श्लोक ८-२९
४ वाल्मीकीय रामायण उ० काण्ड सर्ग ३५-३६

उदबोधित करते हुए वे कहते हैं कि तुम मौन होकर एकान्त में क्या बठे हो इस समय तुम अपना बल प्रदर्शित करो। तुम तो वायु के समान पराक्रम वान साक्षात वायु के पुत्र हो। राम के काय के लिए ही तुम्हें उत्पन्न किया गया है। तुम उत्पन्न होने के उपरान्त ही, उदित होते हुए सूय को पका फल समझकर पकडने के लिए पाँच सौ योजन उड गये थे। तुम्हारे बल की महत्ता का वणन ससार में कौन कर सकता है।[1]

वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड एव उत्तरकाण्ड के आख्यानों में अध्यात्म रामायण के आख्यान में और आनन्द रामायण के आख्यान में भी शिशु हनुमान के उदय कालीन सूय के बिम्ब को देखकर पके फल की भ्रान्ति से पकडने के लिए आकाश में सहस्रों योजन दौडने का उल्लेख है। वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड एव आनन्द रामायण के कथानकों में इसके साथ राहु का प्रसग भी जुड़ा हुआ है। शिशु हनुमान जिस दिन सूय बिम्ब की ओर दौडा जा रहा था उस दिन अमावस्या थी। अत राहु भी सूर्यबिम्ब को ग्रसने के लिए उसके पास पहुँचा हुआ था। हनुमान ने राहु को दबाया। राहु किसी अन्य राहु की आशका से डरकर इन्द्र के पास गया। इन्द्र राहु को साथ लेकर अपने ऐरावत पर चढ़कर उसी ओर चला। हनुमान ऐरावत को ही फल समझकर उसे पकडने के लिए लपका। इन्द्र ने अपना वज्र चलाया। हनुमान आहत होकर पाँच सौ योजन दूर पृथ्वी पर गिरा। उसकी बाइ ओर की ठोडी टूट गयी। पुत्र की यह अवस्था देखकर वायु क्रुद्ध हुआ और परिणामस्वरूप हनुमान को सब प्रमुख देवों का वरदान प्राप्त हुआ। अध्यात्म रामायण की कथा में हनुमान के सूय बिम्ब की ओर जाने का उल्लेखमात्र है। राहु का विवरण यहाँ नही है। हाँ पाच सौ योजन दूर भूमि पर गिरने का निर्देश है।

वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड के आख्यान में सुमेरु पवत के शासक केसरी को हनुमान का पिता कहा गया है तथा उसकी पत्नी अजना के गर्भ से इस वायु द्वारा उत्पादित बताया गया है।

सूयदत्तवरस्वण सुमेरुर्नाम पवत ।
यत्र राज्य प्रशास्त्यस्य केसरी नाम व पिता ॥
तस्य भार्या बभूवेष्टा अजनेति परिश्रुता ।
जनयामास तस्या व वायुरात्मजमुत्तमम ॥[2]

किष्किन्धाकाण्ड के आख्यान में भी हनुमान को केसरी का क्षेत्रज पुत्र और मारुत का औरस पुत्र कहा गया है—

स त्व केसरिण पुत्र क्षेत्रजो भीमविक्रम ।
मारुतस्यौरस पुत्रस्तेजसा चापि तत सम ॥[3]

वाल्मीकीय रामायण के दोनो स्थलो के आख्यानों में हनुमान की माता का नाम अजना और पिता का नाम केसरी है तथा वह अपने पिता केसरी का औरस पुत्र नहीं क्षेत्रज

---

१ अध्यात्म रामायण किष्किन्धाकाण्ड सग ६ श्लोक १६ २
२ वाल्मीकीय रामायण उ काण्ड सग ३ १६ २
३ वाल्मीकीय रामायण किष्किन्धाकाण्ड सग ६६ श्लोक २६

पुत्र है। ऊपर के श्लोक में क्षेत्रज और औरस शब्दों की स्पष्टता ने इस बात के लिए सन्देह का कोई अवसर नहीं छोड़ा है।

वाल्मीकीय रामायण के किष्किन्धाकाण्ड के आख्यान में हनुमान का जन्म राजमहल में नहीं गुहा में हुआ बताया गया है—

एवमुक्ता ततस्तुष्टा जननी ते महाकपे।
गुहायां त्वां महाबाहो प्रजज्ञे प्लवगर्षभ ॥[1]

उत्तरकाण्ड के आख्यान में गुहा का स्पष्ट निर्देश तो नहीं है किन्तु हनुमान का जन्म वन में हुआ इसमें तो सन्देह नहीं है—

शालिशूकनिभाभासं प्रासूतेमं तदाञ्जना।
फलान्याहर्तुकामा वै निष्क्रान्ता गहने वरा ॥

जिस समय बालक उत्पन्न हुआ उस समय उसकी कान्ति धान के अग्रभाग के सदृश थी। एक समय फल लेने के लिए अंजना गहन वन में निकल गयी। यहाँ निष्क्रान्ता गहने वरा से स्पष्ट है कि हनुमान का जन्म एवं पालन पोषण वन में ही हुआ है। रामायण के इन दोनों स्थलों के आख्यानों में हनुमान के जन्म के समय उसके पिता केसरी या किसी अन्य सम्बन्धी का अंजना के पास होने का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः इन आख्यानों में अंजना, उसके माता पिता, सास-ससुर, पति सखियां परिजन आदि किसी का विवरण नहीं दिया है। इन आख्यानों से अंजना एवं पवन के वैवाहिक जीवन, अंजना की कष्टसहिष्णुता, पतिभक्ति, आत्मसम्मान आदि बातों पर प्रकाश नहीं पड़ता है। यहां हनुमान के जन्म से पूर्व की कथा को सर्वथा छोड़ दिया गया है। दो स्थलों पर, जिन प्रसंगों में यह आख्यान दो भिन्न व्यक्तियों द्वारा सुनाया गया है वहां मुख्य रूप से हनुमान के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन करना ही मुख्य लक्ष्य रहा है। इसलिए भी रामायण में अंजना की समस्त कथा सुनाने की सम्भवतः आवश्यकता ही नहीं थी। इसलिए सुन्दरम जी की अंजना की कथावस्तु के मूल-स्रोत के विवेचन के लिए रामायण के अतिरिक्त और स्रोत भी खोजने की आवश्यकता है। रामचरितमानस में इस कथा को सर्वथा छोड़ दिया गया है। ऊपर बताये प्रस्तुत प्रसंग में वहां केवल इतना ही है—

कहई रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना ॥
पवन-तनय बल पवनसमाना। बुधि विवेक विग्यान निधाना ॥[2]

डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित इण्डियन प्रेस के रामचरितमानस में इस चौपाई की पादटिप्पणी में हनुमान के जन्म के सम्बन्ध में, वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा का संक्षिप्त रूप दिया हुआ है।[3] यहाँ हनुमान की माता का नाम अंजनी लिखा है।

हनुमान के शौर्य एवं पराक्रम की कथा का महाभारत के वनपर्व में बड़ा विस्तार है।[4]

---

१ वाल्मीकीय रामायण कि० का० सर्ग ६६ २०
२ रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड चतुर्थ सोपान ३२ २ इण्डियन प्रेस म०
३ रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड चतुर्थ सोपान पृ० ७४८ ४६
४ महाभारत वनपर्व अ० १४६ १५१ वन २८२ २९५

कुछ पुराणों में भी इसका वर्णन है परन्तु इन ग्रन्थों में प्रधान रूप से अजना के चरित्र पर प्रकाश नहीं डाला गया है।

आचार्य रविषेण का पद्मपुराण

जैन सम्प्रदाय के आचार्य रविषेण की एक महत्त्वपूर्ण रचना पद्मपुराण है।[1] इसमें प्रधान रूप से रामकथा का वर्णन है। राम से सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों के चरित्र भी इसमें मिलते हैं। इसमें हनुमान, हनुमान के पिता, पवनंजय और माता अजना का चरित्र बड़े विस्तार से दिया हुआ है।[2] इनके अतिरिक्त उस युग की और भी अनेक बातों का स्पष्टीकरण यहाँ मिलता है। श्रीसुदर्शन के नाटक अजना की कथा का मूल आधार यह पद्मपुराण की कथा ही है। ग्रन्थ के सात विशाल पर्वों एवं नब्बे पृष्ठों में यहाँ इस कथा का विस्तार है। आचार्य रविषेण के पद्मपुराण में वर्णित यह कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

भरतक्षेत्र के अन्त में महासागर के निकट आग्नेय दिशा में दन्ती नामक पर्वत है। अति पराक्रमी महेन्द्र विद्याधर जब से उस पर्वत पर नगर बसाकर रहने लगा तभी से उसका नाम महेन्द्रगिरि पड़ गया और उस नगर का नाम महेन्द्रनगर प्रसिद्ध हो गया। विद्याधरों के राजा महेन्द्र के हृदयवेगा नाम की रानी थी जिससे राजा के सौ पुत्र और अन्तिम पुत्री उत्पन्न हुई। पुत्री का नाम राजा ने अजनासुन्दरी रखा। यह तीनों लोकों में परमसुन्दरी थी। जब यह युवति हुई तो पिता को इसके विवाह की चिन्ता हुई। उसने अपने प्रधान राजपुरुषों के साथ विचार विनिमय करके यह निश्चय किया कि आदित्यपुर नगर के राजा प्रह्लाद के रूपवान गुणी एवं पराक्रमी पुत्र पवनंजय के साथ अजना का विवाह करना चाहिए।

इसके पश्चात वसन्त ऋतु में फाल्गुन मास के अन्तिम आठ दिनों में आष्टाह्निक महोत्सव आया। इसे मनाने के लिए राजा महेन्द्र अपने समस्त परिवार सहित कैलाशपर्वत पर गया। आदित्यपुर का राजा प्रह्लाद भी अपने आत्मीय जनों सहित वहाँ पहुँचा था। राजा महेन्द्र ने जब प्रह्लाद के सामने उसके पुत्र पवनंजय के साथ अपनी पुत्री अजना के विवाह का प्रस्ताव रखा तो उसने स्वीकार कर लिया और ज्योतिषियों के परामर्श से तीन दिन के पश्चात वहीं कैलाश पर ही विवाह कर देने का निश्चय हुआ परन्तु पवनंजय को बीच के तीन दिनों का व्यवधान भी असह्य हो गया अतः वह अपने मित्र प्रहसित के साथ अजना को देखने के लिए वेश बदलकर उसके भवन में गया। भवन के सप्तम खण्ड में जहाँ अजना अपनी सखियों सहित विद्यमान थी दोनों मित्र मोतियों की जाली के पीछे छिपकर झरोखे में बैठ गये। सखियों की बातचीत का विषय अजना का विवाह ही था। उसकी सखी वसन्ततिलका ने पवनंजय के शौर्य आदि की खूब प्रशंसा की किन्तु एक मिश्रकेशी नाम की अन्य सखी ने हेमपुर के राजा कनकद्युति के पुत्र विद्युत्प्रभ की प्रशंसा की और पवनंजय को उसकी तुलना में हीन बताया। यह सुनकर पवनंजय को बड़ा क्रोध आया। उसने अपने मित्र प्रहसित से कहा कि अवश्य ही यह बात अजना के लिए इष्ट होगी तभी तो यह स्त्री मिश्रकेशी इसके समक्ष

१ पद्मपुराण भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्र० सं० १९५८ ई० प्रथम भाग

२ पद्मपुराण पर्व १५-२१ पृष्ठ ३३४-४२३

इस घृणित बात को कह जा रही है। एसा कहकर वह अपनी तलवार से दोनो कन्याओं का मस्तक काटने के लिए उद्यत हुआ, किन्तु प्रहसित के समझाने से वह विरत हो गया और वे दोनो अपने निवासस्थान पर आ गये।

पवनजय ने अजना से भिन्न होकर वहा से सेना सहित प्रस्थान का निगुन बजवा दिया। उधर राजा महेन्द्र के शिविर म भी इस समाचार स बडी चिन्ता हुई। किसी प्रकार श्वसुर और पिता के अनुरोध से पवनजय विवाह के लिए तयार हुआ किन्तु उसने निश्चय कर लिया कि विवाह के उपरान्त वह अजना को समागम के बिना दुःखी करेगा। प्रहसित ने भी पवनजय के इस विचार का अनुमोदन किया—

समुद्ह्य ज्ञातयाप्येना दुःखेनासगजन्मना।
येनान्यतोऽपि नवेयाप्नोति पुरुषात् सुखम्॥
चकार विदिताय च मित्र तेन च भाषित।
साधु ते विदित बुद्ध्या मयाप्येतन्निरूपितम्॥[1]

विवाह के उपरान्त पवनजय ने अजना की सवथा उपेक्षा कर दी। अपने महल म वह अपनी सखी वसन्ततिलका के साथ रोते हुए दुःख से दिन काटने लगी। इसी प्रकार दिन मास और वष बीतते गये।

इसी समय पाताल के राजा वरुण के साथ विद्याधरों के अधिपति रावण का युद्ध छिड गया। रावण ने पहले तो दूत भेजकर अपनी अधीनता स्वीकार कर लेने के लिए सन्देश भेजा, किन्तु वरुण के अस्वीकार करने पर उसने एक विशाल सेना के साथ वरुण पर आक्रमण कर दिया। वरुण की सेना और उसके राजीव, पुण्डरीक आदि सौ पुत्रों के शौर्य के आगे रावण की सेना टिक नही सकी। खरदूषण बन्दी बना लिए गये। रावण ने खरदूषण के प्राणो को सकट म आया देख युद्ध को उस समय बन्द कर देना ही ठीक समझा। इसके पश्चात उसने अपने विद्याधर सामन्तो को सहायता के लिए पत्र लिखे। आदित्यपुर के राजा प्रह्लाद के रावण की समस्त सहायता के लिए जाने को तयार होने पर पिता के स्थान पर पवनजय ने स्वय जाना उचित समझा। एक बडी सेना और मित्र प्रहसित के साथ उसने प्रस्थान किया। चलते समय उसने अजना की दुःखी दशा भी देखी। तथापि वह द्रवित नही हुआ।

सेना का पहला पडाव मानसरोवर पडा। पवनजय रात को चकवे के विरह म दुःखी चकवी को देखकर और भावविभोर होकर अजना से मिलने के लिए अति उत्कठित हो उठा। चकवी थोडी देर के लिए भी अपने प्रिय का विरह नही सह सकती थी और उसने तो बारह वष तक अजना का अनादर किया है। अपने मित्र के साथ परामश करके उसी रात गुप्त रूप स वह अजना के महल म गया और कई दिन तक उसके साथ रहा। अजना के अनुरोध करने पर भी लज्जा के कारण वह अपने आगमन का समाचार देने के लिए अपने माता पिता के पास नही गया किन्तु अपने शीघ्र लौटने का आश्वासन देकर और आवश्यकता पडने पर दिखाने के लिए स्वनामाकित कडा देकर पुन युद्ध के लिए चला गया।

कई महीने बीत जाने पर भी पवनजय युद्ध स नही लौटा। इधर अजना के शरीर

---

१ रविषेणाचाय पद्मपुराण पव १५ श्लो० ११७ ११८ १० २४६ ५०

मे गर्भ के चिह्न देखकर उसकी सास केतुमती ने उसके साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया। पवनंजय का दिया कड़ा निशान पर भी उसका विश्वास नहीं किया और उसे वसन्तमाला के साथ उस भवन पर से निकाल दिया। केतुमती का सेवक अंजना को महेन्द्रनगर के समीप वन में छोड़कर वापस चला गया। दोनों ने रात्रि वन में ही बितायी। प्रातः वे दोनों महेन्द्र नगर पहुँची किन्तु पिता का द्वार बन्द देखकर भी पिता ने उनका वहाँ आदर नहीं किया यही सोच कि अपने राज्य में आश्रय देने के लिए भी प्रह्लाद की आशंका करता थी। वसन्तमाला के साथ अंजना फिर वन में चली गयी। वहाँ अमितगति नाम के मुनिवर की कृपा से अंजना को उन्हीं की गुफा में आश्रय मिल गया। मुनिवर कहीं और जाकर रहने लगे। एक दिन एक भयंकर सिंह के अंजना पर आक्रमण करने पर वहाँ रहने वाले एक गन्धर्व द्वारा उसकी रक्षा की गयी। इसके पश्चात् साधारशील वन में उसी मुनि की गुफा में अंजना ने एक पुत्र को जन्म दिया। कुछ समय के पश्चात् दैवयोग से हनुरुह नामक द्वीप का विद्याधर राजा प्रतिसूर्य अपनी पत्नी के साथ विमान में उधर आ निकला। अंजना के रोने के शब्द को सुनकर वह रुक गया। वसन्तमाला से अंजना का परिचय प्राप्त कर उसने अपना परिचय दिया। प्रतिसूर्य अंजना का मामा था। वह पुत्र सहित अंजना और वसन्तमाला को विमान पर बिठाकर अपनी राजधानी के लिए चल पड़ा परन्तु मार्ग में शिशु अंजना की गोद से उछलकर नीचे गिर पड़ा। जिस शिला पर वह गिरा था उसके टुकड़े टुकड़े हो गये किन्तु बालक को कोई चोट नहीं आयी।

अपनी राजधानी हनुरुह नगर में आ जाकर प्रतिसूर्य ने बालक का जन्मोत्सव खूब धूमधाम से मनाया। बालक ने शैल पर जन्म प्राप्त किया और पश्चात् गिरने पर चूर्ण भी किया अतः उसका नाम श्रीशैल रखा गया। हनुरुह नगर में बालक के संस्कार हुए अतः उसे हनुमान कहा गया।

उधर जब पवनंजय वरुण रावण युद्ध में विजय प्राप्त करके आदित्यपुर आया तो अंजना को वहाँ न देखकर बड़ा दुःखी हुआ और अपने कालमेघ नाम के हस्ती पर सवार होकर अपने मित्र के साथ अंजना को खोजने के लिए निकल पड़ा। सबसे पहले वह महेन्द्रनगर गया। वहाँ से निराश होकर उसने अपने मित्र प्रहसित को तो अपने आने के कार्यक्रम का समाचार देने के लिए आदित्यपुर भेज दिया और स्वयं अंजना को खोजने के लिए वन की ओर चल पड़ा। भूतरव नामक वन में हाथी से उतरकर मुनि के समान आसन जमाकर अंजना का ध्यान करता हुआ वह वहीं बैठ गया। उसने निश्चय कर लिया कि यदि प्रिया नहीं मिलेगी तो वह वन में ही मर जायगा। उसका हस्ती उसकी रक्षा करता हुआ पास में ही बैठा रहा।

प्रहसित ने जब आदित्यपुर जाकर पवनंजय का वृत्तान्त कहा तो रानी केतुमती को अंजना के साथ किये गये अपने व्यवहार के लिए बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे सब लोग एक साथ पवनंजय के पास चले। राजा प्रह्लाद ने एक दूत हनुरुह नगर में राजा प्रतिसूर्य के पास भी भेज दिया। पवनंजय के अंजना की खोज में जंगल में निकल जाने के समाचार से प्रतिसूर्य और अंजना को बड़ा दुःख हुआ। प्रतिसूर्य विमान में बैठकर उसी वन में पवनंजय को खोजने के लिए गया। ऊपर से उसके हाथी को पहचानकर वह नीचे उतरा। अन्य सब सम्बन्धीजन भी वहीं पहुँच गये। प्रतिसूर्य ने उन सब के सामने अंजना प्राप्ति

ग्रौर उसके पुत्र के सम्बन्ध म समस्त समाचार विस्तार से सुनाया। सबको अपने साथ लेकर वह अपनी राजधानी हनुरुह गया। सब विद्याधर वहा दो मास तक रहकर अपने अपने स्थान को चले गए। पुत्र हनुमान और पत्नी अजना को पाकर पवनजय की मानसिक स्थिति ठीक हो गयी। जब हनुमान युवा हुआ तो उसका शरीर मेरु पवत के समान देदीप्यमान हो गया। उसे समस्त विद्याएँ सिद्ध हो गयीं। वह बडा ही प्रभावशाली विनयी गुणी बलवान समस्त शास्त्रों म निष्णात् उदार तथा गुरुजनो का शुश्रूषक था।[1]

हनुमान की कथा रविषेण के पद्मपुराण म आगे और आगे चलती है। वरुण के साथ रावण के पुन युद्ध म वह उसकी सहायता करता है। उसकी वीरता की बडी ख्याति होती है। उसका विवाह होता है आदि। यहा आगे की कथा इसलिए नहीं दी जा रही कि हमारे प्रस्तुत नाटक अजना की कथावस्तु से आगे की कथा का कोई सम्बन्ध नही है।

हनुमान की यह कथा स्वयम्भदव के अपभ्रश भाषा के महाकाव्य 'पउमचरिउ' म भी आती है।[2] यहा पर आचाय रविषेण के पद्मपुराण के कथानक के समान कथा का अधिक विस्तार नही है। बीच बीच म विस्तत वणन भी यहाँ नही दिये गए हैं तथापि क्रमबद्ध कथा के प्रवाह म कहीं शिथिलता नहीं आने पायी है। यहा के आख्यान की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जा रही हैं—

१ यहा पवनजय का पिता आदित्यपुर का राजा प्रह्लाद कैलाश पर पवयात्रा के समय महेन्द्रनगर के राजा महेन्द्र से जब मिलता है तो वह उपहास म ही अपने पुत्र पवन के साथ उसकी पुत्री अजना का विवाह कर देने के लिए कहता है। राजा महेन्द्र को यह प्रस्ताव पसन्द आ जाता है और तीसरे दिन दोनो के विवाह का निश्चय कर दिया जाता है।[3] यहाँ बीच के दो दिनो म ही पवन की असह्य कामातुरता का वणन है। पद्मपुराण म अजना का पिता महेन्द्र बहुत सोच विचार के पश्चात प्रह्लाद के सामने प्रस्ताव रखता है। वहा अजना के प्रति पवन की उत्सुकता तो दिखायी है किन्तु असह्य कामवदना नहीं।

२ वरुण और रावण के युद्ध म रावण की सहायता के लिए अपनी सना के साथ जाते हुए मानसरोवर से पवन अपने मित्र के साथ केवल एक रात्रि के कुछ घण्टो के लिए ही अजना के पास रुकता है तथा प्रभात होने से पूव ही चला जाता है। आचाय रविषेण के आख्यान म पवन अजना के पास गुप्तरूप से कई दिनो तक रहता है।

३ अजना से मिलने के पश्चात अपवाद की सम्भावना को रोकने के लिए पवन उसे कगन से अतिरिक्त और भी कुछ वस्तुएं दे जाता है। केतुमती के सन्देह करने पर अजना की सखी वसन्तमाला उन सभी वस्तुओं कगन परिधान और स्वणमाला को दिखाकर अजना की शुद्धता का प्रमाण प्रस्तुत करती है किन्तु इन वस्तुओं के रहते

---

१ यहाँ जन पद्मपुराण की कथा को सक्षिप्त रूप में इसलिए दिया गया है कि नाटक की कथावस्तु के स्रोत की विवेचना करने के लिए मूलकथा के स्वरूप का जानना अति आवश्यक है।

२ पउमचरिउ प्रथम भाग सधि १८-२० प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम सस्करण १९५७

३ वही सधि १८ ४ ७९।

हुए भी केतुमती पहले उन दोनों को कोड़ों से बार बार पीटती है और फिर घर से निकाल देती है।[1] आचार्य रविषेण के आख्यान में केवल घर से निकाल देने का ही उल्लेख है और वहाँ दोनों के कोड़ों से पीटे जाने की चर्चा भी नहीं है।

४ अंजना जब अपनी सखी के साथ सास से तिरस्कृत और निष्कासित होकर अपने पिता के घर शरण लेने के लिए जाती है तो न केवल पिता, भाई प्रसन्नकीर्ति के द्वारा भी वह अपमानित की जाती है। दोनों भृत्य से अंजना को वन की ओर खदेड़वा देते हैं। आचार्य रविषेण की कथा में केवल पिता के कठोर व्यवहार का ही उल्लेख है भाई के व्यवहार नहीं।

५ वरुण के साथ युद्ध में रावण के विजयी होने पर पवन के समय अपने घर लौटने पर अंजना को घर से निकाल दिए जाने के समाचार से दुःखी होकर पवन वन को चला जाता है और वहाँ विक्षिप्त सा पवन पशु पक्षी आदि से अंजना का समाचार पूछता है और उसके वियोग में साधक बन जाता है। आचार्य रविषेण के आख्यान में पवन के विरह की इतनी तीव्रता का चित्रण नहीं है।

अन्तर

सुदर्शनजी की अंजना की कथावस्तु के साथ रविषेणाचार्य के पद्मपुराण की कथा की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सुदर्शनजी ने अंजना की कथावस्तु के लिए इस पद्मपुराण को मुख्य आधार बनाते हुए भी यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन किए हैं। इस कथा में उनका प्रमुख परिवर्धन तो यह है कि उन्होंने इस नाटक में पवनजय के प्रति प्रणय का एक प्रतिस्पर्धी पात्र सुखदा की भी सृष्टि की है। सुखदा भी अंजना के समान राजकुमारी है। वह अमृतपुर के राजा की पुत्री है। वह अपने शैशव से ही पवन से स्नेह करती है किन्तु उसका विवाह उसके माता पिता राजकुमार विद्युत्प्रभ से करने का निश्चय करते हैं किन्तु वह इन्कार कर देती है। वह पवन के पास जाकर अपना प्रणय निवेदन करती है परन्तु वह तो पहले ही अंजना को अपनी प्रेयसी बनाने का निश्चय कर चुका है। अतः सुखदा के प्रणय को ठुकरा देता है। बस यहीं से उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। तिरस्कृत होकर वह पवन से कहती है—

तुमने मेरा दिल तोड़ा है इसलिए याद रखो तुम सुख की नींद नहीं सो सकते। जिसके कारण तुमने मुझ अबला को ठुकराया है, वह आराम से जीवन व्यतीत नहीं कर सकती। स्त्री को प्रेम के पश्चात् प्रतिकार प्यारा है। मेरा प्रेम तुम देख चुके अब क्रोध

---

१ इम भवणु इम परिहणउ इम कचीणामु पढु जणहो।
ण तो वा वि परिकम्म कर परिमुञ्जन्तु जण मज्झ जणहो॥
■ विमुणवि वेढनि ममन्दिय यम्पुण।
के वि ताउ कमधाएँ हयउ पुणप्पुणु॥
—पउमचरिउ प्रथम भाग सन्धि १६ १ १० ।

की वारी है।[१]

१ सुखदा को सुदर्शनजी ने बडा ही सशक्त और भयावह चित्रित किया है। प्रतिक्षण उसमें प्रतिशोध की अग्नि प्रज्वलित रहती है। वह आंधी, बाढ और बिजली के समान तेज और भयंकर है। सुखदा बडी चतुरता से अपने कार्य में राजकुमार विद्युत्प्रभ को सहायक बना लेती है। पद्मपुराण की मूल कथा में कनकपुर के राजा हिरण्यद्युति के पुत्र विद्युत्प्रभ का नाम राजकुमारी अंजना के विवाह के प्रसंग में आया है।[२] परन्तु सुखदा के सम्बन्ध के समान अंजना के चुनाव के अवसर पर भी पवन से उसे तिरस्कृत होना पडा है अतः पवन को दिखाने के उद्देश्य से सुखदा को सहायता देने के लिए वह उद्यत हो जाता है। सुखदा रानी केतुमती की दासी चम्पा को भी लोभ देकर अपनी सहायिका बना लेती है और अपना ललिता नाम रखकर आदित्यपुर के राजमहल में दासी बनकर रहने लगती है। बारह वर्ष के पश्चात् इस अंजना से बदला लेने का अवसर मिलता है।

२ अंजना नाटक में बारह वर्ष पर्यन्त, अंजना की उपेक्षा करने के उपरान्त युद्ध के लिए जाते हुए मार्ग से गुप्त रूप में लौटकर पवन के अंजना के पास तीन दिन तक रहने की घटना का वर्णन मूल आख्यान में भी आता है परन्तु वहां तीन दिन की अवधि निश्चित नहीं हुई है। वहां अनेक रात्रियां और अनेक दिन तक उन दोनों का सहवास बताया गया है—

तयोरज्ञातयोरेव यथोचितविधायिनो ।
अतीयाय निशामेका क्षणाद्गन भीतयो ॥
उत्तिष्ठ मित्रगच्छाव साम्प्रत बहवो गता ।
दिवसास्ते प्रसवतस्य प्रियासम्मानकम णि ॥[३]

३ मूल कथा में, अंजना से मिलने के लिए जाते हुए पवनंजय के साथ उसका मित्र प्रहसित भी जाता है किन्तु नाटक में पवन तीन दिन तक अंजना के पास रहने के लिए मित्र को सेना की देखभाल के हेतु मानसरोवर पर ही छोड देता है। अंजना मिलन के परिणाम से आशंकित होकर पति से अनुरोध करती है कि वह अपने आने और मिलने की सूचना अपने माता पिता को अवश्य दे दे परन्तु पवन युद्ध के लिए जाते हुए मार्ग से ही गुप्त रूप से लौटकर आने के कारण, अपने माता पिता के सामने जाने में लज्जा का अनुभव करता है। वह अंजना को आश्वासन देता है कि गर्भ के चिह्न प्रकट होने के पूर्व ही वह युद्ध से वापिस आ जायगा। तथापि शंका दूर करने के लिए वह अपनी अंगूठी देकर चला जाता है।

मूल कथानक में अंगूठी के स्थान पर स्वनामाङ्कित सोने के कडे का उल्लेख है।[४]

---

१ अंजना अंक १ पृ १२
२ पद्मपुराण जनपर्व श्लो ३७४१
३ पद्मपुराण जन पर्व १६ श्लोक २१२ २२२
४ पद्मपुराण पर्व १६ श्लोक २३७

४ अंजना के आख्यान में, पद्म के पवन जातक में ग्रन्थ नाटक में मूल आख्यान से अधिक ही घटनाएँ घटती हैं किन्तु नाटककार ने उन्हें पर युक्तियुक्त रूप देने का प्रयत्न किया है। पवन की खोई हुई वास्तविक अँगूठी सुखदा चम्पा द्वारा ले ली जाती है और उसके स्थान पर मिलती जुलती दूसरी अँगूठी खोई हुई अंजना के हाथ में पहनवा देती है। उधर रानी केतुमती के कान अंजना के चरित्र के विरुद्ध भर दिए ही भर दिए जाते हैं। अपने पाप गुप्त रूप से अपने पति के आगमन का अंजना प्रमाणित कर नहीं पाती। अँगूठी खोटा पर नकली सिद्ध हो जाती है। केतुमती अंजना के शील पर सन्देह करती है और उस घर से निकाल देती है।

अंजना के घर से निकालने की घटना मूल कथानक में भी है। वहाँ वह अपने पति का नामांकित कड़ा दिखाती है फिर भी केतुमती विश्वास नहीं करती। प्रमाण होने पर भी वह उस निकाल देती है। यहाँ नाटककार ने केतुमती के व्यवहार पर औचित्य का आवरण डालने के लिए ही सम्भवतः अँगूठी की कल्पना की है। आजकल पुरुष कड़ा नहीं पहनते हैं अँगूठी की कल्पना सम्भवतः इसीलिए की गई है।

इसके पश्चात् गर्भवती अंजना और वसन्तमाला पिता के घर महेन्द्रनगर से तिरस्कृत होकर जब वन में रहने लगती हैं उस समय सुखदा अंजना की हत्या का प्रयत्न करती है। चम्पा अपनी बलि देकर अंजना की रक्षा करती है। विद्युत्प्रभ के हाथों में पड़ने पर एक बार सुखदा भी अपने प्राणों को संकट में डालकर पवन को बचा लेती है और इस प्रकार से अपने पापों का प्रायश्चित्त सा कर लेती है।

५ इन घटनाओं का मूल कथा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है सुखदा और चम्पा दोनों नाटककार की अपनी सृष्टि हैं। कथा में चमत्कार औत्सुक्य और गति लाने के लिए ही सम्भवतः नाटककार ने प्रतिद्वन्द्वी पात्रों की रचना की है। जो भी हो, इनसे कथा के प्रवाह में कहीं अस्वाभाविकता नहीं आने पायी है। मूल कथा में विद्युत्प्रभ का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उसका कथा के विकास में कहीं कोई योग नहीं है। नाटककार ने सुखदा की कल्पना के साथ प्रतिनायक के रूप में उसका पूरा उपयोग किया है।

मूल कथा में अन्य जो परिवर्तन किए गए हैं वे विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कथा के प्रवाह अथवा पात्रों के चरित्र चित्रण पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है अतः विशेष रूप से यहाँ पृथक्-पृथक् उनकी चर्चा नहीं की गई है।

विवेचन

अंजना पवन और हनुमान—इनके सामाजिक जीवन स्वरूप आदि के सम्बन्ध में रामायण महाभारत पुराण तथा जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भले ही मतभेद हो किन्तु एक बात ऐसी है जिसमें सबका एक मत है और वह है हनुमान का जन्म। चाहे वह केसरी[1] का

---

१ रामायण किष्किन्धाकाण्ड ६६ ८

पुत्र हो या मारुत[1] का, पवनंजय[2] या पवन का[3] और उसकी पत्नी अंजना, चाहे अप्सरा[4] रही हो या विद्याधरी[5], मानुषी[6] या वानरी[7]—हनुमान का जन्म वन में एक गुहा में हुआ और कुछ समय तक वहीं उनका पालन-पोषण भी हुआ। विविध ग्रन्थों की कथाओं के जितने रूप मिलते हैं उनमें इस बात की सर्वत्र समानता है।

हनुमान की कथा के विविध रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथा जन साहित्य में अति प्राचीन समय से चली आ रही होगी। कथा के प्रसार क्षेत्र के भेद से कथा के रूप में भी कुछ अन्तर पड़ गया होगा। कथा को लोकप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त करने के कारण लिखित साहित्य में इसे स्थान प्राप्त होने पर, व्यक्ति और प्रदेश के भेद से पूर्व का भेद कुछ स्थिरता प्राप्त कर गया होगा। पवन वायु का भी पर्याय है अतः वह वायु (भौतिक) का पुत्र भी बन गया। क्षत्रज और औरस की कल्पना के मूल में भी कुछ इसी प्रकार के तत्त्व रहे होंगे। साहित्य में भौतिक तत्त्वों को मानवीकृत रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा तो प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी देखी जा सकती है।[8] हनुमान के हनुमान और श्रीशैल नामों के लिए जो तर्क और आधार प्रस्तुत किये गये हैं, वे भी कम रोचक नहीं हैं। ऊपर से गिरने से 'हनु' (ठोडी) टूट गयी तो 'हनुमान' नाम पड़ गया।[9] इसी प्रकार शैशव में 'हनुरुह' नगर में लालन-पालन हुआ तो 'हनुमान' नाम हुआ।[10] पर्वत पर वह उत्पन्न हुआ या ऊपर से नीचे गिरने पर उसने शिला को तोड़ डाला, इसलिए वह श्रीशैल हो गया।[11] इस प्रकार की मान्यताओं एवं कल्पनाओं के पीछे भी विचारधारा का इतिहास हो सकता है। व्यक्तिगत नामों के निर्वचन की परम्परा का पुराणों

१ रामायण कि० का० ६६ २८ (मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः)।

२ पद्मपुराण (जैन) पर्व १५ ४६

३ रामायण कि० काण्ड अ० ६६ १४

४ अप्सराप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला।
अंजनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः।
(रा० कि० ६६ ८)।

५ महेन्द्र विद्याधर की पुत्री होने से विद्याधरी—(विद्याधरी महेन्द्राख्या महेन्द्रोपमविक्रम)।
—पद्मपुराण पर्व १५ १३

६ मानवं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी—(रा० कि० ६६ ९)।

७ अभिशापादभूत् तात कपित्वे कामरूपिणी—(रा० कि० ६६ ६)।

८ ऋग्वेद संहिता उषस् (१ ४८ ४६) इन्द्र (१ ८१ ५७) आदि

९ रामायण—उत्तरकाण्ड ३६ ११
पतत एतस्य वज्रेण हनुरस्य यथाहतः।
नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति॥

१० पद्मपुराण (जैन) पर्व १७ ४ ३—
पुरे हनुरुहे यस्माज्जात संस्कारमाप्तवान।
हनुमानिति तेनागात् प्रसिद्धिं स महीतले॥

११ पद्मपुराण श्लोक ४ २—
जन्म लेभे यतः शैले शैलं चाचूर्णयत्ततः।
श्रीशैल इति नामास्य चक्रे माता समूयया॥

में पर्याप्त विस्तार मिलता है।

हनुमान के बल पौरुष एवं लोकोत्तर पराक्रम के सम्बन्ध में जिस प्रकार का वर्णन रामायण, महाभारत एवं पुराणों में है, उस प्रकार का अतिरंजित चित्रण रविषेणाचार्य के पद्मपुराण में नहीं है। यहां के वर्णन में लोकोत्तरता की अपेक्षा स्वाभाविकता अधिक है। यही बात अंजना और पवन के चरित्रों में भी मिलती है। यह बात नहीं कि अतिरंजन का यहां अभाव है। विस्मय अद्भुतता कौतूहल आदि का भाव न्यूनाधिक रूप में मानव प्रकृति में ही पाया जाता है।

अंजना सुदर्शनजी का एक सफल नाटक है। इसके संवाद बड़े सजीव तथा ओजपूर्ण हैं किन्तु भाषा की दृष्टि से यह नाटक कुछ शिथिल है। इसका कारण एक तो सुदर्शनजी हिन्दी में उर्दू से आये हैं। दूसरे वे जन्म से पंजाबी हैं तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा पालन-पोषण सब पंजाब में ही हुआ इसलिए भी इस नाटक में उनकी भाषा में वह परिष्कार नहीं है जो कि उनके प्रौढ़ जीवन की रचनाओं में मिलता है। केवल एक भाषा-शैथिल्य को छोड़कर, जो कहीं-कहीं ही है सर्वत्र नहीं अन्य नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से उनका अंजना नाटक स्तुत्य है। श्रीसीताराम बी० ए० की दृष्टि में 'सुदर्शनजी की यह रचना एक सिद्धहस्त नाटककार की रचना है। संवाद अंक और दृश्य वितरण रंगभूमि के संकेत इत्यादि जितनी भी नाटक की विशेषताएं होती हैं उन सब पर आपका पूर्ण ध्यान है। प्रत्येक दृश्य आपस में खूब सम्बद्ध है। कथानक ऐसे ढंग से रखा गया है कि पाठकों की उत्सुकता बराबर बढ़ती चली जाती है। पुस्तक को समाप्त किये बिना छोड़ना कठिन हो जाता है। सम्पूर्ण नाटक शृंगार वीर करुण और अद्भुत रस से ओत प्रोत है। इसमें स्वामिभक्ति पतिभक्ति प्रेम तथा प्रकृति का वर्णन अनूठा है। सुदर्शनजी मानव मनोविकारों को खूब समझते हैं। उनके प्रकट करने में भी वे कमाल करते हैं। मनोभावों और कल्पनाओं का वर्णन वे ऐसी स्पष्ट रीति से करते हैं कि पाठकों की आंखों के सामने उनका एक जीता-जागता चित्र-सा नाचने लगता है।'[1]

अंजनासुन्दरी

यह नाटक भरतपुर के श्री कन्हैयालाल ने लिखा है।[2] इसमें पांच अंक हैं और प्रत्येक अंक दृश्यों में नहीं गर्भांकों में विभाजित है। प्रथम में दो द्वितीय में तीन तृतीय में चार चतुर्थ में तीन तथा पंचम में पांच गर्भांक हैं। इस नाटक के लिखने में लेखक का एक विशेष उद्देश्य रहा है और वह है रचना के माध्यम से नारी के सुन्दर चरित्र को प्रकाश में लाना और इस प्रकार नारीजगत को प्रभावित करना। अपने उद्देश्य की सफलता के लिए उन्होंने धार्मिक कथा को आधार बनाया है।[3] नाटक के प्रारम्भ में अंग्रेजी में लिखी अपनी भूमिका में उन्होंने अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है—

---

१ अंजना की प्रस्तावना—पृष्ठ २

२ प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्णदास श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई में १६२७ वि० अथवा सन् १८२२

३ अंजनासुन्दरी नाटक भूमिका पृ० १

I have been cherishing innumerable new ideas for the betterment of the condition of the fair sex and in order to lay them before the public in the interesting drama, I have selected this story so that it may be both novelty and didactic x x x x I have made it a general instructive comedy without any regard to the religious sentiments

ग्राधार

नाटककार ने नाटक की भूमिका में इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि यह धार्मिक कथा उन्होंने किस ग्रन्थ से ली है। ऊपर सुदर्शनजी की ग्रंजना की विवेचना करते समय रविषेणाचार्य के पद्मपुराण की हनुमानकथा का संक्षिप्त रूप दिया गया है। नाटक ग्रंजनासुन्दरी की कथा का आधार भी यही पुराण है। इसके लेखक कन्हैयालाल ने भी मूल कथा में जहाँ-तहाँ सामान्य हेर-फेर किये हैं। उनसे मुख्य कथा के प्रवाह अथवा उसकी मूल भावना में कहीं अन्तर नहीं आया है। कथावस्तु के कुछ परिवर्तन को नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

ग्रंतर

१ ग्रंजनासुन्दरी नाटक का पवनंजय, पाताल के राजा वरुण के साथ रावण के युद्ध में सहायता करने के लिए अपनी सेना लेकर मित्र प्रहसित के साथ जाते हुए सायंकाल के समय मानसरोवर पर रुकता है। वहाँ क्रौंच पक्षी द्वारा चकवे के मार दिए जाने पर वह अपने प्रिय के वियोग में तड़पती हुई चकवी को देखता है और उसे ग्रंजना का स्मरण आ जाता है। उसका हृदय प्रति द्रवित हो उठता है। इसके पश्चात् प्रहसित के साथ पवनंजय आदित्यपुर में ग्रंजना के पास रात में ही जाता है और प्रभात होने से पूर्व ही लौट जाता है। विदा लेते समय, ग्रंजना के आग्रह करने पर वह अपनी अंगूठी ग्रंजना को देकर उसे आश्वासन दे जाता है कि संकट की संभावना का समय आने से पूर्व ही वह युद्धभूमि से लौट आयगा।

मूल कथा में क्रौंच पक्षी के द्वारा चकवे के मारने का कोई उल्लेख नहीं है। हृदय को अधिक करुण बनाने की दृष्टि से नाटककार ने ही यह परिवर्तन किया है। सम्भव है ऐसा करते समय वाल्मीकीय रामायण के व्याध द्वारा क्रौंच पक्षी के मारे जाने और वियोग में तड़पती हुई क्रौंची का उसे स्मरण हो आया हो। दूसरी बात यह है कि नाटक में रात ही रात में ग्रंजना से मिलकर पवनंजय के मानसरोवर पर पड़ी अपनी सेना से मिलने का वर्णन है। मूल कथा में पवन गुप्त रूप में कई दिन तक ग्रंजना के महल में उसके साथ रहता है। प्रहसित के चलने के लिए आग्रह करने पर ही उसके साथ वह पुनः सेना में जाता है।

२ सास रानी केतुमती द्वारा घर से निकाली गयी ग्रंजना आश्रय पाने के विचार में जब अपने पिता के घर महेन्द्रनगर जाती है तो पिता के आदेश से भाई प्रसन्नकीर्ति द्वारा वन में खदेड़ दी जाती है। मूलकथा में भाई से खदेड़े जाने का कोई उल्लेख नहीं है। पिता

के घर से निकाल दी जाती है तब अपनी सखी वसन्तमाला के साथ अजना वन ... पहुँचती है वन में चली जाती है।

३ पवनजय को वरुण के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करके लौटने पर जब अजना के घर से निकाल दिये जाने का समाचार मिलता है तो वह भी वह ... करके ... अजना की खोज में ... निकल पड़ता है। वहाँ प्रतिसूर्य से समाचार पाकर वन की ओर उस नाटक के लिए चला जाता है। उसके बाद पवनजय के माता पिता राजा प्रह्लाद, प्रतिसूर्य और उसकी पत्नी तथा पुत्र हनुमान सहित अंजना—सभी पात्र लगभग एक साथ ही पवनजय से वन में मिलते हैं। मूल कथानक में अंजना अपने पुत्र के साथ अपने मामा के साथ ही हनुरुह द्वीप में रहती है। अतः वहाँ पवनजय का नामकरण और साथ लेकर हनुरुह से लौट आते हैं और वहीं से नाम रखा है।

नाटक की भाषा परिष्कृत रही है। बीच बीच में कहीं कहीं संस्कृत और उर्दू के पद हैं। संस्कृत के श्लोकों का भी साथ ही अर्थ दिया हुआ है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से भी यह एक साधारण नाटक है।

अजनासुन्दरी

इस कथा पर आधारित तीसरा नाटक उमाशंकर मेहता का अजनासुन्दरी है।[1] इस नाटक की कथावस्तु का मुख्य आधार भी यही रविषेणाचार्य के पद्मपुराण की हनुमान कथा है। नाटककार ने मूल कथा का नाट्यीकरण करते समय थोड़े से निम्नांकित परिवर्तन किये हैं—

अन्तर

१ अजनासुन्दरी नाटक का आरम्भ विद्याधर राजा महेन्द्र की पुत्री अजना और आदित्यपुर के राजा प्रह्लाद विद्याधर के पुत्र पवनजय के विवाह के उपरान्त होता है। विवाह से पूर्व की समस्त घटनाओं की सूचना पवनजय के मित्र प्रहसित और विदूषक की बातचीत से याद करा दी गयी है।

२ इस नाटक में विदूषक की कल्पना इस कथा पर आधारित अन्य नाटकों की तुलना में सर्वथा नयी है।

३ अजना की सास रानी केतुमती अन्य लोगों के समझाने-बुझाने पर भी अपने निश्चय से टलती नहीं है। अजना के पवनजय की अँगूठी दिखाने पर भी वह अपने विचार को बदलती नहीं है और अजना को घर से निकाल ही देती है।

४ रानी केतुमती के द्वारा घर से निकाल दिये जाने पर अजना आश्रय पाने के लिए अपने पिता के घर महेन्द्रपुर में नहीं जाती है। वह अपनी सखी वसन्तमाला के साथ

[1] प्रकाशक एस० एम मेहता एण्ड ब्रदर्स काशी प्रकाशन स १९८६ वि

सीधे वन म चली जाती है।

५ वन म भटकते हुए शिव और पार्वती से उसका साक्षात्कार हो जाता है और उनके अनुरोध म वह उन्ही के आश्रम म रहने लगती है। उनके आश्रम म ही उसके पुत्र का जन्म होता है।

शिव और पार्वती के साथ अजना का परिचय तथा उन्ही के आश्रय म रहने की कल्पना नाटककार की अपनी नयी कल्पना है। मूलकथा म इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है। अजना के मामा प्रतिसूय और उनकी पत्नी के साथ उसका शिवपार्वती के आश्रम म ही मेल हो जाता है। यही से प्रतिसूय पुत्र के साथ उसे अपनी राजधानी हनुपुर ले जाता है। प्रतिसूय के विमान से हनुमान के नीचे गिरने का उल्लेख यहाँ नहीं है।

६ अजना के वियोग म दुखी पवनजय के उसकी खोज म वन म चले जाने पर अन्य सम्बन्धी जन भी पवनजय को खोजने निकल पडते हैं। खोजते-खोजते निराश होकर पवनजय अपने जलने के लिए शिवजी के आश्रम के समीप ही एक चिता तैयार करता है। ठीक समय पर उसका एक सम्बन्धी वहाँ पहुँच जाता है। अजना के जीवित रहने तथा पुत्र होने का शुभ समाचार राजा प्रतिसूय से वही मिलता है। सब लोगो का शुभ मिलन शिवजी के आश्रम म ही होता है।

प्रस्तुत नाटक की भाषा एव इसका स्तर सामान्य है।

शिव पार्वती चरित

शिव-पार्वती की कथा पर आधारित निम्नलिखित नाटक उपलब्ध हुए हैं।

१—शिव विवाह	रामगुलामरसिक विहारी
२—सती-दहन	वही
३—गौरी शकर	रामनारायणसिंह जायसवाल
४—गणेश जन्म	रामशरण आत्मानन्द
५—सती-पार्वती	राधेश्याम कथावाचक

शिवविवाह नाटक[1]

रामगुलाम रसिकविहारी लिखित प्रस्तुत नाटक पाँच अको म विभाजित है। कथानक नाटक के नामानुसार शिव के विवाह से सम्बन्ध रखता है। नाटक म कथा का स्वरूप इस प्रकार है—

हिमवान के घर म कन्या का जन्म होता है। सब लोग प्रसन्न होते हैं। देवता भी आकर बधाई देते हैं। नारदजी तप करके शिवजी को प्राप्त करने के लिए उपदेश देते हैं।

१ प्रकाशक कन्हैयालाल बुकसेलर पटना सिटी प्रथम सस्करण स० १६६८ सन् १६११

पार्वती नारदजी के उपदेशानुसार तप करने के लिए वन में चली जाती हैं। वहाँ आकाशवाणी होती है कि 'जिस समय तुम्हारे पास सप्तर्षि आयें तुम अपनी तपस्या को पूर्ण समझना।' अनेक वर्षों तक पार्वती की कठोर तपस्या चलती रहती है। सप्तर्षि शिवजी के पास जाते हैं और पार्वती की तपस्या का सम्पूर्ण समाचार देते हैं। पार्वती की निष्ठा की परीक्षा लेने का प्रस्ताव भी वे शिवजी के सम्मुख रखते हैं। शिवजी अनुमति दे देते हैं। सप्तर्षि पार्वती के समीप पहुँचकर पहले तो शिवजी की निन्दा करते हैं किन्तु पार्वती की शिव के प्रति अटल आस्था देखकर उसे मनोरथ पूर्ण होने का आशीर्वाद देकर कहते हैं कि तुम्हारी तपस्या पूर्ण हो गयी और शीघ्र ही शिवजी से तुम्हारा विवाह सम्पन्न होगा। हिमवान नारदजी से पार्वती के तप की पूर्णता का समाचार पाकर उसे घर बुला लेते हैं।

उधर तारक इत्यादि असुरों के अत्याचारों से प्रजा एवं ऋषि मुनि सब व्यथित हैं। अपनी तपस्या में विघ्न उपस्थित देख वे मिलकर ब्रह्मा के पास जाते हैं। ब्रह्मा शिवजी के मन में काम भावना जाग्रत करने के लिए कामदेव को शिवजी के आश्रम में भेजते हैं किन्तु शिव काम के कुकृत्य का अनुभव कर अपने तृतीय नेत्र से उसे भस्म कर डालते हैं। तदनन्तर शिव कामदेव की दुःखी पत्नी रति की प्रार्थना पर कामदेव को अनंग बनाकर उसे प्राणिमात्र के मन में विचरण करने वाला रूप दे देते हैं। देव और ऋषि मुनि अब उनसे पार्वती से विवाह कर लेने की प्रार्थना करते हैं और शिव को स्वीकार करना पड़ता है। ऋषि मुनि तथा अपने गणों की बरात बनाकर शिव नन्दी पर चढ़कर पार्वती को ब्याहने जाते हैं। उनके इस रूप को देखकर पार्वती की माँ तथा अन्य सम्बन्धी डर जाते हैं। नारदजी के समझाने-बुझाने से विवाह सम्पन्न होता है।

यह कथा लगभग इसी रूप में विभिन्न स्थलों पर प्राप्त होती है। प्रमुख स्थल निम्नलिखित हैं—

रामचरितमानस

रामचरितमानस[1] की कथा में केवल यही अन्तर है कि यहाँ शिवजी से पार्वती के साथ विवाह करने की प्रार्थना श्रीरामचन्द्रजी करते हैं। तत्पश्चात सप्तर्षि शिवजी के पास पहुँचते हैं और शिवजी की अनुमति से पार्वती की निष्ठा की परीक्षा लेते हैं। शेष कथा पूर्ववत है।

स्कन्द पुराण (माहेश्वर खण्ड)

प्रस्तुत कथा स्कन्द पुराण[2] में केवल इसी अन्तर के साथ मिलती है कि वहाँ शिवजी

---

१ रामचरितमानस मानसांक (गीताप्रेस गोरखपुर) बालकाण्ड ६४ दोहे की तीसरी चौपाई लेकर १ दोहे की तीसरी चौपाई पर्यन्त पृ० ११२-१३७

२ स्कन्द पुराण (गुरुमण्डल प्रकाशन कलकत्ता) सं० २०१६ सन् १९५९
(माहेश्वर खण्ड) प्रथम भाग अध्याय २१-२६
वराह पुराण अध्याय २२ श्लोक १-५०

पार्वती की तपस्या करते समय, स्वयं वटु के रूप में परीक्षा लेने आते हैं। वे पार्वती के सम्मुख शिव की निन्दा करते हैं। पार्वती कुपित होकर वटुरूपधारी शिव को चले जाने का आदेश देती हैं। वटु के तुरन्त अदृश्य हो जाने पर पार्वती समझ लेती हैं कि वे शिव थे। तत्पश्चात शिवजी पुनः प्रकट होते हैं और वर देकर पार्वती के तप को पूर्ण बतलाते हैं। अब पार्वती घर लौट आती है। सप्तर्षि पिता के घर ही उन्हें देखने जाते हैं। तत्पश्चात विवाह संस्कार सम्पन्न होता है।

वराह पुराण

वराह पुराण में इस कथा में जो अन्तर दीख पड़ता है वह इस प्रकार है—

पार्वती दक्ष के यज्ञकुण्ड में सती होकर हिमाचल के यहाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु शिव को पाने की इच्छा उनकी इस जन्म में भी प्रबल बनी रहती है। अतएव वे तप प्रारम्भ करती हैं। वहाँ एक दिन शिव, वृद्ध ब्राह्मण के रूप में भिक्षा माँगने आते हैं। पार्वती नदी में स्नान कर ब्राह्मण से भिक्षा लेने के लिए कहती हैं तो ब्राह्मण वेषधारी शिव नदी के पानी में गिर पड़ते हैं और रक्षा की याचना करते हैं। क्षण भर को पार्वती को संकोच होता है कि वे ब्राह्मण (परपुरुष) का स्पर्श कैसे करें किन्तु रक्षा के अभाव में ब्राह्मण के नष्ट हो जाने के डर से वे उसका हाथ पकड़कर बाहर निकाल लेती हैं। शिवजी प्रकट होकर कहते हैं कि जिसके लिए तुम आराधना कर रही हो उसी ने तुम्हारा हाथ थामा है।[1] पार्वती प्रसन्नतापूर्वक घर लौट, पिता से यही सब निवेदन करती हैं और इसके उपरान्त शिव पार्वती का विवाह हो जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण

ब्रह्मवैवर्त पुराण[1] की कथा में शिव, पार्वती के सम्मुख शिशु के रूप में पहुँचते हैं, तथा शीघ्र ही तुम्हें शिव के दर्शन होंगे ऐसा कहकर उन्हें घर भेज देते हैं। तदुपरान्त भिक्षुरूप में शिव पुनः पार्वती के घर पधारते हैं और पार्वती के समक्ष शिव की निन्दा करते हैं पर पार्वती अपने निश्चय पर अडिग रहती हैं। सम्पूर्ण भेद प्रकट होने पर विवाह सम्पन्न होता है।

लिंग पुराण[2] तथा पद्म पुराण[3] दोनों में यह कथा इसी रूप में मिलती है।

देवी भागवत पुराण[4] में केवल गौरी जन्म की कथा है। कथा से सम्बन्धित अन्य विवरण यहाँ प्राप्त नहीं है।

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण अध्याय ३८-४५
२ लिंगपुराण (मनसुखराय मोर प्रकाशन कलकत्ता) सं० २०१७ सन् १९६० अध्याय १०१-१०२
३ पद्म पुराण वही सं० २०१४ सन् १९५७
(सृष्टि खण्ड) प्रथम भाग अध्याय ४५
४ देवी भागवत पुराण (पंडित पुस्तकालय काशी) १९५६ सप्तम स्कन्ध अध्याय ३१

शिव पुराण

शिवपुराण[1] में नारद पार्वती से तप करने के लिए नहीं कहते, प्रत्युत पार्वती स्वप्न में देखती हैं कि कोई तपस्वी ब्राह्मण शिवजी की प्राप्ति के उद्देश्य से उनसे तप करने के लिए कह रहा है। पिता से सम्पूर्ण वृत्त वर्णित किये जाने पर तथा पुत्री के आग्रह पर हिमवान कन्या को लेकर शिव के समीप पहुँचते हैं और शिव के समीप पार्वती को उनकी सेवा के लिए छोड़ने की इच्छा प्रकट करते हैं किन्तु शिव इसे स्वीकार नहीं करते। अतः पार्वती स्वयं समाधिस्थ हो जाती हैं। इस प्रसंग में तारकासुर के जन्म की कथा भी विस्तार में वर्णित है। सप्तर्षियों के उपरान्त यहाँ शिवजी ब्राह्मण का रूप धारण कर स्वयं पार्वती की परीक्षा लेने आते हैं। पार्वती की तपस्या सफल होती है किन्तु शिवजी हिमवान से पार्वती को स्वयं मांगने के लिए प्रस्तुत नहीं होते। उनका कथन है कि मांगने से व्यक्ति छोटा हो जाता है। पार्वती निराश होकर घर लौट आती है। अब शिवजी नर्तक का वेष धारण कर हिमवान के घर पहुँचते हैं और उस समय भिक्षा में शिवा (पार्वती) को मांगते हैं। पार्वती की माता, मेना नर्तक (भिक्षुक) की यह मांग सुनकर अति क्रुद्ध होती है। हिमवान भी पुत्री को एक नर्तक को देने के लिए राजी नहीं होते, तो शिवजी अदृश्य हो जाते हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मा सप्तर्षियों को हिमवान और मेना को समझाने के लिए भेजते हैं। अरुन्धती कोप भवन में पड़ी मेना को समझाती हैं। कई उदाहरण तथा घटनाएँ प्रस्तुत करती हुई कहती है कि भवितव्यतावश शिवजी पार्वती को स्वयं ही प्राप्त कर लेंगे, इसमें अच्छा है कि तुम अपने हाथ से ही कन्यादान कर दो। पिप्पलाद मुनि और राजा अनरण्य की पुत्री पद्मा का विवाह अन्ततः होकर ही रहा।

सब-कुछ समझ-बूझकर पति-पत्नी शिव के साथ पार्वती का विवाह रचाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं किन्तु शिवजी की बरात तथा उनका स्वरूप देखते ही मेना मूर्च्छित हो जाती है और चेतन होने पर फिर हठ पकड़ लेती है कि वह अपनी पुत्री का विवाह शिवजी के साथ नहीं करेगी। ऋषि-मुनि हिमवान को फिर समझाते हैं और मेना से शिवजी के अनुपम गुणों का वर्णन करते हैं। हिमवान स्वयं सब लोगों से सम्मति लेते हैं और सबकी सहमति पाकर तथा मेना की स्वीकृति पर पुरोहित गर्गाचार्य द्वारा विवाह सम्पन्न होता है।

ब्रह्म पुराण

ब्रह्म पुराण[2] में शिव विवाह का रूप अन्य पौराणिक कथाओं से भिन्न प्रकार का है। यह प्रसंग यहाँ स्वयंवर से सम्बन्ध रखता है। ब्रह्मा द्वारा दक्ष को एक यशस्विनी पुत्री प्राप्त होने का वरदान मिलता है। दक्ष के तीन पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं—अपर्णा, एकपर्णा तथा एकपाटला। उमा नामधारिणी अपर्णा शिव के लिए तप करती है। शिव वहाँ एक

---

१ शिव पुराण रुद्रसंहितान्तर्गत (पार्वतीखण्ड) अ० १४८

२ ब्रह्म पुराण (गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता) में २ १ सन् १९५४ प्रथम भाग अध्याय ५ ३६ पृ० २४१-२६५।

अपरूप ब्राह्मण के रूप म पहुँचते है—

विकृत रूपमास्थाय ह्रस्वो बाहुक एव च।
विभग्न नासिको भूत्वा कुब्ज केशात पिंगल ॥[1]

पावती शिव को पहचान लेती हैं और पूजा अचना के उपरान्त, स्वय को पिता मे मागन के लिए प्राथना करती है। पिता से पावती की याचना करन पर, शिवजी को प्रत्युत्तर मिलता है कि 'उमा का स्वयवर रचा जायगा, उसम कन्या जिसको वरेगी उसी से उसका विवाह सम्पन्न होगा।' शिवजी निराश होकर पावती के समीप पुन जात हैं और सन्देह प्रकट करत हैं, कि सम्भवत स्वयवर म उमा उन्ह न वरे इस पर देवी, अशोक का गुच्छा लेकर शिवजी के कन्धे पर रखकर कहती हैं कि मन स मैंन तुम्हें वर लिया—

गहीत्वा स्तवक सा तु हस्ताभ्यां तत्र संस्थिता।
स्कन्धे शम्भो समाधाय देवी प्राह वृतोऽसि मे ॥[2]

इसके उपरान्त भी शिवजी शिशु रूप म सरोवर म गिर पडत हैं और उमा की परीक्षा लेने के लिए ग्राह स स्वय की रक्षा करन की याचना करत हैं। ग्राह उमा स कहता है कि शिशु को छोडन म मैं असमथ हूँ क्योंकि 'महीने के छठे दिन जो वस्तु मुझे प्राप्त हो, उसी को मैं अपना आहार बनाऊँ ऐसा मेरे लिए विहित है। आज महीने का छठा दिन है।' उमा सब किसी भी मूल्य पर शिशु को बचाने की इच्छा प्रकट करती है। ग्राह कहता है कि यदि तुम अपने समस्त पुण्य दान मे दे दो तो मैं इस शिशु को छोड दूगा। उमा इसे सहष स्वीकार कर लेती है और अपने सम्पूण पुण्य दान म दे देती है। ग्राह प्रसन्न होकर तपस्या का पुण्य तथा शिशु दोनो ही लौटाना चाहता है किन्तु उमा दिया हुआ दान लने से इन्कार कर देती है। शिशु इस घटना के उपरान्त ही अदृश्य हो जाता है। इसके पश्चात् स्वयवर होता है और वहा पावती शिशु रूप मे पधारे शिवजी का ही वरण कर लेती है। यह देख कर इन्द्र प्रहार करने के लिए हाथ उठाता है किन्तु इन्द्र का हाथ स्तम्भित हो जाता है। तदनन्तर ब्रह्मा पुरोहित बनत है और शिव उमा विवाह-काय सम्पन्न करवाते हैं।

अन्तर

ब्रह्मपुराण के अतिरिक्त अन्य किसी भी पुराण तथा आलोच्य नाटका म शिव के विवाह की कथा स्वयवर स नही जुडी है। इस दृष्टि स यह कथा एक नूतनता लिए हुए है।

पुराणा की शिव विवाह सम्बन्धी ये सभी कथाएँ थोडी बहुत एक दूसर से भिन्न अवश्य हैं किन्तु यह निश्चित है कि शिव पावती विवाह बडे सघष एव पावती के महान तप के द्वारा ही सम्पन्न हुआ।

---

१ ब्रह्मपुराण (गुरुमण्डल प्र कलकत्ता) स० २ १० सन् १९५४ प्रथम भाग अध्याय ५ श्लोक ५
२ वही अध्याय ३१ श्लोक २१

सतीदहन नाटक[1]

रामगुलाम रसिक बिहारी लिखित, यह दूसरा नाटक शंकर के जीवन की घटना से ही सम्बन्धित है। इसका कथानक निम्नलिखित है—

दण्डक वन में राम-लक्ष्मण सीताहरण के बाद दुःखी होकर भटक रहे हैं। इसी समय शिवजी और सती वहाँ आते हैं। शिवजी राम के ब्रह्ममय रूप का ध्यान करते हुए उन्हें प्रणाम करते हैं। सती पति से प्रणाम करने का कारण पूछती हैं। शिवजी राम के महत्त्व और स्वरूप का वर्णन करते हैं किन्तु सती विश्वास नहीं करतीं। शिवजी की अनुमति से जब वे स्वयं परीक्षा लेती हैं तभी उन्हें विश्वास होता है। शिवजी से परीक्षा सम्बन्धी कुछ बातें वे फिर भी छिपाती हैं। शिवजी मन ही मन समस्त विवरण जानकर सती से शरीर सम्बन्ध न रखने का निश्चय करते हैं।

इसके उपरान्त अपने पिता दक्ष प्रजापति के यज्ञ का समाचार पाकर सती शिव से वहाँ जाने की अनुमति माँगती हैं और अनिमन्त्रित अवस्था में भी जाने के लिए उत्सुक हो उठती हैं। शिवजी अनिच्छापूर्वक अनुमति दे देते हैं। वहाँ अन्य देवताओं के साथ पति का भाग न देखकर स्वयं को अपमानित अनुभव करके पिता का तिरस्कार कर अपने ही तेज से वे वहीं भस्म हो जाती हैं। शिव के गण यह समाचार शिवजी को देते हैं और शिव वीरभद्र को बुलाकर यज्ञ को विध्वंस कर डालने का आदेश देते हैं। वीरभद्र के द्वारा शिव के आदेश का पालन किया जाता है। दधीचि भी दक्ष का साथ देकर यज्ञस्थल से चले जाते हैं। दक्ष को मार डाला जाता है। बहुत से देव भी अंग विकल हो जाते हैं।

प्रमुख देवगण तब शिवजी के समीप पहुँचकर उनकी स्तुति करते हैं। शिवजी प्रसन्न होकर यज्ञस्थल पर पधारते हैं। दक्ष के धड़ पर बकरे का सिर रखकर शिवजी द्वारा उन्हें जीवित कर दिया जाता है। दक्ष शिवजी से क्षमा प्रार्थना करते हैं और यज्ञ पूर्ण होता है।

आधार

प्रस्तुत नाटक का आधार मुख्य रूप से रामचरितमानस[2] है। केवल दक्ष के धड़ पर बकरे का सिर रखकर उन्हें जीवित कर दिये जाने वाला प्रसंग यहाँ नहीं है। यह प्रसंग शिवपुराण[3] तथा भागवत पुराण[4] में प्राप्त होता है। शिव द्वारा अनुमित पार्वती द्वारा राम की परीक्षा लेने की घटना तो नाटक में रामचरितमानस के निम्नलिखित पद की छाया ही प्रतीत होती है—

---

१ प्रकाशक प्रह्लाद दास बुकसेलर चौक पटना सिटी प्र. सं. सन १९१२

२ रामचरितमानस मानसांक (गीताप्रेस गोरखपुर) बालकाण्ड मासपारायण पहला विश्राम ४७ दोहे से मासपारायण दूसरे विश्राम के ६४ दोहे की दूसरी चौपाई तक पृष्ठ १०-११२

३ शिव पुराण रुद्र संहिता द्वितीय (सती खण्ड) अध्याय २४-४३

४ भागवत पुराण (गीताप्रेस गोरखपुर) चतुर्थ स्कन्ध अध्याय ७ श्लोक १०

जो तुम्हरे मन अति संदेहू । तो किन जाइ परीछा लेहू ।।
तब लगि बठ अहऊँ बट छाहीं । जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं ।।
जसे जाइ मोह भ्रम भारी । करेहु सो जतनु विवेक विचारी ।।
चली सती सिव आयसु पाई । करहिं बिचारु करौं का भाई ।।[1]

सीता का रूप धारण कर पावती के द्वारा राम की परीक्षा लेने वाला प्रसग शिवपुराण[2] म भी इसी रूप म उपलब्ध है।

वायु पुराण

सतीदहन की कथा वायुपुराण[3] म भी मिलती है किन्तु वहा पर सतीदहन का सम्बन्ध यज्ञ की घटना स नही है और जहा यज्ञ की घटना है वहा सती यज्ञ-स्थल म प्राण नही त्यागती। य दोनो प्रसग वायु पुराण म इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रसग

दक्ष के आठ कन्याएँ थी। के यज्ञअवसर पर अपनी सभी पुत्रियो को आमन्त्रित कर दक्ष न उनका अच्छा सत्कार किया, किन्तु अपनी सबस बडी पुत्री सती को, जो महादेव स व्याही थी, नही बुलाया। उसके अनामन्त्रित चले आने पर तथा आमन्त्रित न करने का कारण पूछने पर दक्ष न कहा कि 'यद्यपि तू मेरी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्री है किन्तु तेरा पति महादेव मेरे विरुद्ध है। तू उन्ही की सेवा करती है इसलिए मैंने तुझे नही बुलाया।" इस पर तिरस्कृत अनुभव कर क्रोधित हो, सती योगासन लगाकर बैठ गयी। मन ही मन उन्होंने अग्नि की धारणा की। उस धारणा स आग्नेयी वायु उत्पन्न हुई जिसने समूची देह म आग भडकाकर सती को समाप्त कर दिया। शिव न तब दक्ष को आगामी जन्म म दक्षकन्या मारिषा के गर्भ स उत्पन्न होने तथा दक्ष नाम ही रहने का शाप दिया।[4]

दूसरा प्रसग

दक्ष न हिमालय के पृष्ठ देश म यज्ञ आरम्भ किया। इस यज्ञ म देव, यक्ष, गन्धर्व मरुतगण तथा विष्णु सभी पहुँचे किन्तु शिव को आमन्त्रित नही किया गया। दधीचि न शिव की अनुपस्थिति के कारण यज्ञ की सफलता पर सन्देह प्रकट किया पर दक्ष न ध्यान नही दिया। उधर देवी पावती न रुद्र आदि देवताओ को जाते देख शिव से पिता द्वारा न बुलाए जाने का कारण पूछा। शिव ने कहा कि देवो ने ही यह निश्चित किया है कि हमारे लिए किसी भी यज्ञ म भाग न रखा जाय। देवी न पूछा कि मैं इसके लिए कौन-सा दान नियम या तप करूँ जिससे आपको भाग मिलने लगे। शिव ने समझाया कि इस यज्ञ म

---

1 रामचरितमानस मानसाङ्क गीताप्रेस गोरखपुर) बालकाण्ड (५१ दोहे के उपरान्त चौपाई १ २
2 शिव पुराण रुद्र संहिता (सतीखण्ड) अ २४ २६
3 वायु पुराण (उपोद्घातपाद) अ० ८ श्लोक ३७ १७६
4 वायु पुराण (उपोद्घातपाद) अध्याय ० श्लोक ३७ ६२ व ४१ ८२।

हमारे लिए चाहे भाग न रखा जाय, पर सर्वत्र हमारी ही महिमा व्याप्त हो रही है। पार्वती के निवेदन करने पर शिव ने अपने मुख से जाज्वल्यमान अग्नि की तरह एक भूत को उत्पन्न किया, जिसके हजार सिर, हजार पैर तथा हजार आँखें थीं। अपने सभी हाथों से हजारों मुद्गर और हजारों बाणों को वह थामे हुए था। इसकी आकृति का विस्तृत वर्णन वायु पुराण में है। इसी व्यक्ति ने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस किया और इसी का नाम वीरभद्र था। पार्वती के क्रोध से उत्पन्न माहेश्वरी भद्रकाली भी वीरभद्र के साथ हो गयी थी।[1]

शिव पुराण

सती दहन का प्रसंग शिवपुराण की वायुसंहिता[1] में भी मिलता है। यहाँ भी सती ने यज्ञकुण्ड में गिरकर प्राण नहीं त्यागे हैं, प्रत्युत शरीर को योग द्वारा त्यागकर वे हिमालय पर्वत को चली गयी हैं। इसके उपरान्त शिवजी दक्ष को शाप देते हैं कि सती का अपमान करने के कारण तेरे धर्म, अर्थ, काम के कार्यों में सदा विघ्न पड़ेगा। सती के पार्वती रूप में हिमालय के घर जन्म लेने तथा शिव के साथ विवाह होने के उपरान्त, जब दक्ष अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ करते हैं तो फिर शिव पुनः वीरभद्र के द्वारा यज्ञविध्वंस करवाते हैं।

शिवपुराण की रुद्र संहिता[2] में भी वीरभद्र के द्वारा ही दक्ष का वध होता है। उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त सती दहन का प्रसंग प्रकारान्तर से अन्यत्र भी उपलब्ध है।

पद्म पुराण

पद्म पुराण[3] में पार्वती जब दक्ष के यज्ञ में पहुँचती है तो वे सभी देवताओं तथा गन्धर्वों को देखकर अपने पिता प्रजापति दक्ष से शिव के आमन्त्रित न करने का कारण पूछती है। दक्ष कहता है कि मैंने शिव को उनके अशुभ वस्त्र, वेश तथा स्वरूप के कारण ही आमन्त्रित नहीं किया। वे पार्वती को विविध प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु पार्वती दक्ष को कटु-वचन कहती हुई ... तथा दक्ष के सम्मुख ही शिवजी का तिरस्कार देख अपने धाम को चली जाती है। तत्पश्चात् हिमवान् की पुत्री के रूप में जन्म लेकर यौवन को प्राप्त करके तपस्या द्वारा वे शिव को पुनः प्राप्त करती हैं।

स्कन्द पुराण (माहेश्वर खण्ड)[4]

के मध्य शिव को न देख, दधीचि दक्ष से कहते हैं कि, "समस्त देव ऋषि तथा नरेशों के आ जाने पर भी पिनाकी (शिव) के बिना तुम्हारा यज्ञ शोभा नहीं देता। कपर्दी नीलकण्ठ की कृपा से अमंगल मंगल में परिवर्तित हो जाते हैं और सर्वत्र शान्ति छा जाती है। ऐसे शिव को विष्णु के द्वारा अवश्य आमन्त्रित किया जाना चाहिए था।' दधीचि की बात सुनकर दक्ष कहते हैं—'यहां क्रूर शिव का क्या काम है? मैंने ब्राह्मणों के कहने से गलती से अपनी कन्या उसे ब्याह दी है। वह शिव कुलहीन है भूत पिशाचों का स्वामी है और दुरात्मा है।' इस प्रकार दक्ष शिव के लिए अनेक दुर्वचन कहते हैं।

उधर महासती जब चन्द्र इत्यादि विविध देवों को विमान से गुज़रते देखती हैं, तो शिव से पूछने पर उन्हें पिता के यज्ञ के सम्बन्ध में विदित होता है तब पिता माता मुझे किस प्रकार भुला बैठे, यह विचार करती हुई, अपने गणों से घिरे बैठे शिव से पितृ-गृह जाने की अनुमति चाहती हैं। सती के पूछने पर शिव, पिता के यहां जाने के लिए मना करते हुए कहते हैं—

अनाहूताश्च ये सुभ्रु गच्छन्ति परमन्दिरम्।
अपमानं प्राप्नुवन्ति मरणादधिकं ततः॥
परेषां मन्दिरं प्राप्त इन्द्रोऽपि लघुतां व्रजेत्।
तस्मात्त्वया न गन्तव्यं दक्षस्य यजनं शुभे।[1]

शिव की सम्मति सुनकर भी सती पिता के दुष्ट आचरण का कारण जानने के लिए, जाना ही चाहती हैं। तब शिव अपने पांच सहस्र गणों के साथ देवी को दक्ष के यज्ञ में भेज देते हैं। पितृगृह पहुंचते ही वे पिता से शम्भु के अनादर का कारण पूछती हैं, तो दक्ष तटस्थ भाव से उत्तर देते हैं—

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे, कस्मात्त्वं हि समागता।
अमंगलो हि भर्ता ते अशिवोऽसौ सुमध्यमे॥[2]

पिता के इस प्रकार के वचन सुनकर सती अपमान से पीडित होकर अग्नि में प्रविष्ट हो जाती हैं। लौटे हुए गणों से सम्पूर्ण समाचार सुनकर शिव वीरभद्र को दक्ष-यज्ञ नष्ट करने के लिए भेजते हैं। वीरभद्र के द्वारा दक्ष का शिरश्छेदन कर दिया जाता है। ब्रह्मा द्वारा पुनः स्तुति किये जाने पर शिव वीरभद्र को दक्ष के सिर के स्थान पर पशु के सिर को जोड़ कर जीवित करने का आदेश देते हैं।

यह कथा इस पुराण में अति विस्तार से वर्णित है।

स्कन्द पुराण (काशी खण्ड)[3]

इस स्थल पर भी यह कथा इसी रूप में उपलब्ध है।

---

१ स्कन्द पुराण (गुरुमण्डल प्र० कलकत्ता) वि० सं० २०१६ सन् १९५९ (माहेश्वर खण्ड पूर्वार्द्ध) अध्याय २ श्लोक ३७ ३८ पृष्ठ ७

२ स्कन्द पुराण (गुरुमण्डल प्र० कलकत्ता) सं० २०१६ सन् १९५९ (माहेश्वर खण्ड) प्रथम भाग अध्याय ३ श्लोक १६ पृष्ठ ९

३ स्कन्द पुराण (काशी खण्ड गुरुमण्डल प्र० कलकत्ता) सं० २०१८ सन् १९६१ अध्याय ८७-८९

कूर्म पुराण

कूर्म पुराण की इस कथा में अन्य कथाओं से यह अन्तर है कि यहाँ सती प्राण विसर्जन नहीं करतीं, प्रत्युत पार्वती के रूप में भाग लेती हैं और ऋषि महर्षियों तथा उग्र अन्य सहायकों सभी के विनाश के लिए शिव से याचना करती हैं—

दक्षो यज्ञेन यजते पिता मे पूर्व जन्मनि । विनिन्द्य भवतो भावम् आत्मानं चापि शंकर ॥
देवा सहर्षयश्चासंस्तत्र साहाय्यकारिणः । विनाशयाशु तं यज्ञं वरमेतं वृणोम्यहम् ॥[1]

ब्रह्म पुराण

दक्षयज्ञ विध्वंस सम्बन्धी कथा ब्रह्मपुराण[3] में भी उपलब्ध है । इसका रूप यहाँ लगभग वायुपुराण के सदृश हो है । वैवस्वत मनु के समय में दक्षयज्ञ विध्वंस किस प्रकार हुआ ? इसके प्रत्युत्तर में यहाँ ब्रह्मा कथा सुनाते हैं । इस कथा के अनुसार सती दक्षयज्ञ में नहीं जाती, प्रत्युत मेरुपर्वत पर शिव के साथ अवस्थित पार्वती देवगण को जाते हुए देख शिवजी से इस सम्बन्ध में वार्तालाप करती हैं । शिवजी अपनी कोपाग्नि से वीरभद्र को तथा महाकाली को उत्पन्न करके, दक्षयज्ञविध्वंस के लिए भेजते हैं । यज्ञ तो नष्ट होना ही है देवताओं के साथ शिवजी भी अपने भाग के अधिकारी बन जाते हैं । यहाँ वीरभद्र के द्वारा जब यज्ञ रूपी मृग का पीछा किया जाता है तो जो स्वेदबिन्दु श्रम के कारण धरती पर गिर पड़ते हैं उनसे ही ज्वर की उत्पत्ति होती है । दक्ष अपने कृत्य के लिए क्षमा माँगता है और तदनन्तर शिवजी की कृपा से यज्ञ समाप्त होता है ।

इस पौराणिक कथा में निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं—

१ यह दक्षयज्ञविध्वंस पार्वती—हिमवान की पुत्री—और शिव के विवाह के बाद की घटना है शिवजी तब श्वसुर गृह से मेरु पर्वत चले गये थे और दक्ष का यज्ञ हिमालय की पृष्ठ भूमि में प्रारम्भ हुआ था ।

२ अतः दक्ष यहाँ पार्वती के पिता नहीं हैं । इस दक्षयज्ञविध्वंस का कारण केवल शिवजी को उनका भाग न मिलना तथा पार्वती का इस कारण कुपित होना बताया गया है ।

हरिवंशपुराण

हरिवंशपुराण में दक्ष[4] के यज्ञ में सती के जाने का उल्लेख नहीं है । केवल रुद्रदेव अपने सहयोगी नन्दी तथा गणों के साथ पहुँचते हैं और यज्ञ का विध्वंस कर देते हैं । महादेवजी दोनों घुटनों के बल खड़े हो महायज्ञ को अपने बाण का निशाना बनाते हैं । बाण से घायल हो वह यज्ञ आकाश में उछलता है और मृग होकर आर्तनाद करता हुआ ब्रह्माजी के

---

१ कूर्म पुराण (गुरु मण्डल प्र० कलकत्ता) सं० २ १७ सन १९६१ (पूर्वार्द्ध) अ० १५

२ वही अ० १५ श्लोक ३४ ३५

३ ब्रह्मपुराण (गुरु मण्डल प्र० कलकत्ता) स २ १ सन् १९५४ (पूर्वार्द्ध) प्रथम भाग अ० ३९

४ हरिवंश पुराण (गीताप्रेस गोरखपुर) भविष्यपर्व अध्याय ३२

पास दौडा चला जाता है। ब्रह्माजी उसे सान्त्वना देकर कहते हैं— तुम एक महान मृग के रूप में आकाश में स्थित रहोगे और मृगशिरा कहलाओगे।"[1]

लिंग पुराण

लिंग पुराण[2] की कथा के अनुसार भी दक्ष यज्ञ के अवसर पर अपमानित पार्वती के योगाग्नि से भस्म हो जाने पर शिव क्रोधित होते हैं। यहाँ वे वीरभद्र के साथ भद्र नामक अपने गण को भी भेजते हैं जो यज्ञ विध्वंस करने में वीरभद्र की सहायता करता है। यज्ञ में पधारे हुए इन्द्र का वह सिर काट लेता है। वीरभद्र अग्निदेव के दोनों हाथ तथा जीभ भी काट देता है। यहाँ विष्णु तथा शिव का युद्ध भी होता है। शिव दक्ष का सिर काटकर अग्नि में डाल देते हैं। सरस्वती की नासिका के अग्रभाग का छेदन भी शिव के द्वारा किया जाता है। ब्रह्मा की प्रार्थना पर ही शिव का क्रोध शान्त होता है और दक्ष के साथ समस्त अंग विकल देवगण पुनः जीवित तथा स्वस्थ हो जाते हैं।

विवेचन

इस प्रकार सतीदहन नाटक की घटनाएं पुराणों में विविध स्थलों पर बिखरी मिलती हैं। प्रस्तुत नाटक की विभिन्न घटनाओं के स्रोत उपर्युक्त विभिन्न स्थल ही हैं। स्थान स्थान पर सतीदहन के विविध रूप हैं। कहीं सती यज्ञ में भस्म होती हैं कहीं वे स्वयं योगाग्नि से समाप्त होती हैं और कहीं यज्ञस्थल पर वे उपस्थित भी नहीं होतीं। किन्तु, इन सब कथाओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सतीदहन का सम्बन्ध दक्ष यज्ञ के साथ ही है। वीरभद्र यहाँ एक प्रमुख चरित्र है और दधीचि की भविष्यवाणी भी अपना एक विशिष्ट महत्व रखती है।

जहाँ तक नाटक की शैली का प्रश्न है यह नाटक घटनाप्रधान है इसमें चरित्र चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। नाटक की भाषा तथा शैली दोनों साधारण हैं।

गौरी शंकर नाटक[3]

कथानक

कथा का आरम्भ देवलोक की एक सभा से होता है जहाँ समय की गंभीर स्थिति पर विचार करने के लिए प्रधान देवगण यथा विष्णु इन्द्र चन्द्र, यम, आदि एकत्रित होते हैं। विचारणीय विषय है कि असुर तारक ने अमरलोक की जो दुर्दशा कर दी है, देवों की शान्ति और सुख नष्ट कर दिया है उसे किस प्रकार समाप्त किया जाय। उधर ब्रह्मा ने तारक

१ हरिवंश पुराण (गीताप्रेस गोरखपुर) भविष्यपर्व अ० ३२ श्लोक २३ २४ २७
२ लिंग पुराण (गुरुमण्डल प्रकाशन कलकत्ता) सं २ १७ सन् १६६ (पूर्वार्द्ध) ६६ १०
प्रकाशक लेखक स्वयं वीरपुर जिला गाजीपुर (प्रथम सं) सन् १६२८

था, उसकी तपस्या से तुष्ट होकर वर दिया है कि शिव पार्वती से उत्पन्न (कार्तिकेय) पुत्र के अतिरिक्त कोई भी अन्य व्यक्ति उसका वध करने में समर्थ नहीं होगा।

उधर दक्षसुता सती के शरीर त्याग के बाद शिवजी कैलाश पर्वत पर विरह से दुःखी होकर अखण्ड समाधि में लीन हैं। देवों के प्रयत्न से काम वहीं उसी स्थान पर पहुँचता है और समाधि भंग करने में सफल हो जाता है किन्तु उसी समय शिव के तृतीय नेत्र से भस्म भी कर दिया जाता है। तदनन्तर हिमवान् नारदजी के द्वारा सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर तथा यह मानकर कि पार्वती पूर्व जन्म की सती ही है शिव के साथ पुत्री का विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं और सरलता से विवाह सम्पन्न हो जाता है।

आधार

प्रस्तुत कथा विभिन्न पुराणों में स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी है। इन पुराणों का सन्दर्भ शिवविवाह नाटक की विवेचना के प्रसंग में ऊपर दिया जा चुका है। इसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनपेक्षित है। नाटक का विशिष्ट आधार भी वे ही स्थल हैं।

अन्तर

इस नाटक की कथा में प्रमुख अन्तर यही है कि इसमें शिव की प्राप्ति के लिए पार्वती तपस्या नहीं करती प्रत्युत शिव पार्वती को पाने के लिए विह्वल दीख पड़ते हैं। यह स्थल कल्पित प्रतीत होता है क्योंकि पुराणों की कथा में सर्वत्र ही पार्वती द्वारा शंकर प्राप्ति के लिए तपस्या का वर्णन है।

विवाह के समय पार्वती इस नाटक में आठ वर्ष की आयु की दिखायी गयी हैं किन्तु उनकी बातों में सम्पूर्ण नाटक में कहीं भी बालत्व नहीं झलकता। यहाँ पार्वती को अपने पूर्व जन्म का सम्पूर्ण वृत्त भी स्मरण है।

पार्वतीजी के स्थान पर शिवजी का ही पार्वती प्राप्ति के लिए विह्वल प्रदर्शित कर नाटककार ने नाटक को इस स्थल पर एक नया रूप दिया है। इसके मूल में सम्भवतः युग परिवर्तन ही कारण है। युग की नयी मान्यताओं के अनुसार पुरुष और नारी का स्तर समान है। अतः यह स्थल नारी के प्रति लेखक की अधिक संवेदनशीलता मौलिकता एवं कल्पना प्रवणता को प्रदर्शित करता है।

गणेश जन्म

रामशरण आत्मानन्द लिखित 'गणेश जन्म'[1] नाटक बहुत विस्तृत है। नाटक का नाम यद्यपि गणेश जन्म है किन्तु लेखक ने शिव पार्वती के जन्म से सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं

१ प्रकाशक उ... प्रथम संस्करण सन् १६३

रा भी मुख्य घटना के आरम्भ म लिया है । इनम स अधिकाश घटनाएँ पूव विवेचित नाटका के सदृश ही है । सक्षेप म कथावस्तु इस प्रकार है—

महर्षि भगु एक यज्ञ का आयोजन करते हैं। इसम ब्रह्मा विष्णु, महेश एव अन्य देवा को आमन्त्रित किया जाता है। यज्ञ चल रहा है। प्रजापति दक्ष पधारते है। दक्ष के सम्मान म ब्रह्मा, विष्णु और महेश का छोड, सभी देव और ऋषि-मुनि खडे हो जाते हैं। ब्रह्मा उनके पिता हैं, विष्णु आराध्य देव हैं इसलिए उनका खडा न होना उचित कहा जा सकता है पर जामाता महेश के न खडे होने पर वे रुष्ट हो जाते हैं। वे इसे अपना घोर अपमान मानते हैं और महेश को भला-बुरा कहते हैं। ब्रह्मा और विष्णु दोनो ही दक्ष के व्यवहार की निन्दा करते हैं समझाते भी हैं किन्तु दक्ष का क्रोध शान्त नही होता। महेश शात रहते हैं।

इस घटना का विवरण भागवत पुराण[1] म यथावत मिलता है किन्तु वहा उपलक्ष्य भगु द्वारा यज्ञ न होकर ब्रह्मा द्वारा अपने पुत्र दक्ष का प्रजासर्जन का काय सौंपना है और इसी उपलक्ष्य म सभा का आयोजन किया गया है। इसके उपरान्त की कथा राम गुनाम रसिक-बिहारी लिखित नाटक सतीदहन की कथा के सदृश है जहा सती राम के माहात्म्य के सम्बन्ध मे शिवजी के बताने पर भी विश्वास नही करती और उनकी परीक्षा लेने पर उदास हो जाती हैं। परिणामस्वरूप परिस्थितिवश व अपने पति का प्रेम खो देती हैं। तदुपरान्त ही दक्षयज्ञ की घटना घटती है जहा अनामन्त्रित अवस्था म पहुँचने पर उनका अपमान होता है। पति की निन्दा सहन न करने के कारण वे योगाग्नि स अपना शरीर का भस्म कर देती हैं। इसके उपरान्त वीरभद्र के द्वारा दक्ष का सिर काटा जाता है।

इस घटना के स्रोतो का विवेचन सतीदहन नाटक के विवेचन के समय किया जा चुका है। इससे आगे की घटनाएँ सती के हिमवान के घर जन्म लेने से सम्बन्ध रखती हैं और शिव विवाह नाटक की घटनाओ के समान हैं। अतएव इन घटनाओ तथा उनके स्रोतो की पुनरावृत्ति यहा अनावश्यक है।

नाटक का प्रमुख प्रसग जो शिव-पार्वती की कथा से सम्बद्ध है और अब तक विवेचित किसी भी नाटक म उपलब्ध नही है गणेश जन्म है। नाटक म प्रस्तुत प्रसग का रूप निम्न प्रकार है—

पार्वतीजी स्नान करने के लिए अपने भवन से बाहर सरोवर पर जाना चाहती हैं किन्तु उस समय घर म किसी अन्य व्यक्ति के उपस्थित न होने के कारण वे अपने शरीर के मल स गणेश नाम के एक पुत्र का निर्माण करती हैं। तदुपरान्त उस घर के द्वार पर चौकसी के लिए बठाकर उसे आदेश देती हैं कि उनकी अनुपस्थिति म कोई भी व्यक्ति भीतर प्रवेश न कर पाए। थोडी देर के उपरान्त वहा शिव पधारते हैं। गणेश उनसे परिचित न होने के कारण, पार्वतीजी के आदेशानुसार उन्हे भीतर प्रविष्ट होने की अनुमति नही देते। क्रुद्ध हो शिव उनका सिर काट लेते हैं और भीतर चले जाते हैं। पार्वतीजी लौटकर अपने पुत्र की यह दुरवस्था देखती हैं तो महासंहारिणी काली का रूप धारण कर लेती हैं और समस्त

१ भागवत पुराण (गीताप्रेस गोरखपुर) चतुथ स्कन्ध अध्याय २ श्लोक १६ १६

चराचर को निगलने के लिए उद्यत हो जाती हैं।

देवगण एकत्रित होकर पार्वतीजी से शान्त होने के लिए विनय करते हैं और शिवजी से प्रार्थना करते हैं कि वे उस मृत पुत्र को जीवित कर दें। शिवजी के आज्ञानुसार ब्रह्माजी उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं क्योंकि उनसे कहा जाता है कि जो प्राणी इस दिशा में सबसे पूर्व मिले यदि उसका सिर काटकर गणेश के धड़ पर रख दिया जाए तो वह जीवित हो जाएगा। ब्रह्माजी को सर्वप्रथम एक हाथी दिखाई देता है। वे उसका सिर काटकर ले आते हैं और इस प्रकार गणेश को पुनः जीवन प्राप्त हो जाता है।

शिवजी गणेशजी को वर देते हैं कि सबसे पहले उन्हीं की पूजा होगी। शिवजी के ज्येष्ठ पुत्र यह सुनकर अति क्रुद्ध होते हैं। कार्तिकेय नाम के इस पुत्र का कथन है कि वे बड़े हैं अतः उनका सम्मान प्रथम होना उचित है। शिवजी कार्तिकेय तथा गणेश दोनों पुत्रों से कहते हैं कि जो सम्पूर्ण भूमण्डल की परिक्रमा करके पहले आ जायगा वही बड़ा माना जायगा। कार्तिकेय सुनते ही परिक्रमा के लिए निकल पड़ते हैं किन्तु गणेशजी सात बार केवल माता पिता की परिक्रमा करने के उपरान्त ही बैठ जाते हैं। उनका कहना है कि वे पृथ्वीमण्डल से भी माता पिता की परिक्रमा का विस्तार अधिक समझते हैं। उनके ज्ञान से प्रसन्न होकर देवगण उन्हें आशीर्वाद देते हैं और कहते हैं कि निश्चित ही सब देवताओं में सबसे पूर्व उनकी ही पूजा होगी क्योंकि वे ज्ञानी होने के साथ साथ माता पिता के भक्त भी हैं।

आधार

शिवपुराण में यह कथा उपाख्यान-रूप में मिलती है।[1] साधारण अन्तर निम्नलिखित हैं—

१ शिव पुराण में गणेशजी के निर्माण का कारण नाटक के कारण से भिन्न है। वहाँ जया विजया नाम की सखियाँ पार्वतीजी को सुझाती हैं कि तुम्हारी रक्षा सर्वदा शिव के गणों से ही की जाती है। शिव के गण होने के कारण वे गण शिवजी की ही आज्ञापालन करने में तत्पर रहते हैं। शिवजी एक दिवस तुम्हारे स्नान करते समय इसीलिए भीतर चले आये थे क्योंकि उन्हें कोई बताने वाला अथवा रोकने वाला नहीं था। यदि तुम अपने किसी निजी गण का निर्माण कर लो तो वह तुम्हारी सेवा करने तथा आज्ञा मानने के लिए सदा उद्यत रहेगा। सखियों के सुझाव को उपयोगी मान पार्वतीजी ने अपने मल से गणेश का निर्माण कर लिया तथा उसे द्वार पर पहरा देने तथा किसी को भीतर प्रविष्ट न होने देने का कड़ा आदेश दिया।

२ शिव पुराण में शिव को भीतर न आने देने पर भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध करने वाले प्रथम शिव के गण तदुपरान्त अन्य देवगण तथा विष्णु थे।[2]

३ शिव पुराण में कुमार कार्तिकेय और गणेश में विवाद का विषय नाटक से भिन्न एक दूसरे से पूर्व विवाह करने की हठ है जबकि नाटक में एक-दूसरे से बढ़कर सम्मान पाने

---

१ शिव पुराण श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई रुद्रसंहिता (कुमार खण्ड) अध्याय १३ १६

२ शिव पुराण श्री वेंकटेश्वर प्रेस रुद्रसंहिता (कुमार खण्ड) अ० १४ से अध्याय १७ के श्लोक ३४ तक।

की कामना है।[1]

मत्स्य पुराण

मत्स्य पुराण[2] में भी इस कथा का संकेत है, किन्तु इसका रूप वहां दूसरा है।

विवाह के उपरान्त दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी जब पार्वती के कोई सन्तान न हुई, तो पार्वती ने एक दिन शिवजी से पुत्र की इच्छा प्रकट की। शिवजी ने सामने खेलते हुए अनेक बालकों में से एक स्वस्थ सुन्दर बालक को लाकर पार्वती से कहा कि यह तुम्हारा पुत्र गणेश है। पार्वती ने इसे पुत्र रूप में स्वीकार किया।

पद्म पुराण

पद्म पुराण[3] में गणेश जन्म की कथा भी अति संक्षिप्त है। विवाहोपरान्त मन्दर गिरि पर निवास करते हुए एक बार पार्वतीजी ने कृत्रिम पुत्र के खिलौने बनाकर खेलना प्रारम्भ किया। एक दिन शैलजा ने उबटन करने के उपरान्त, अपने मल से एक पुरुष आकृति बना दी और उसे खेलते खेलते जल में फेंक दिया। वहां वह पार्वती की सखी जाह्नवी के संरक्षण में पोषित हुआ और इसी को गणेश की संज्ञा दी गई।[4]

वामन पुराण

वामन पुराण[5] में प्रस्तुत कथा का रूप इस प्रकार है—

शिवजी को पार्वती के साथ आसक्त हुए जब पर्याप्त समय हो गया और सवन अव्यवस्था फैलने लगी तो देवगण एकत्रित होकर शिवजी के द्वार पर पहुँचे। द्वार पर नन्दी नामक गण के द्वारा विदित हुआ कि प्रवेश निषिद्ध है। देवगण अति निराश हुए। चिन्तातुर स्थिति में सबने एकाएक देखा कि हंसों की एक बड़ी पंक्ति भीतर से निकल रही है। अग्नि देव के मस्तिष्क में तब एक विचार जगा और वे स्वयं हंस का रूप धारण करके शिव के समीप पहुंच गये। वहां पहुंचकर अति सूक्ष्म रूप धारण कर जब उन्होंने शिव से देवताओं की प्रतीक्षा के सम्बन्ध में बताया तो शिव तुरंत बाहर आ गये। प्रसन्न होकर उन्होंने देवताओं से वरयाचना के लिए जब कहा तो देवों ने पार्वती से सन्तति उत्पन्न न करने का वर मांगा—

> यदि तुष्टोऽसि देवानां वरं दातुमिहेच्छसि।
> तन्निरुध्यतां तावन्महामैथुनमीश्वर ॥[6]

शिवजी ने इसे स्वीकार किया किन्तु पार्वती यह सुनकर अति दुःखित हुई और उन्होंने

---

१ शिवपुराण वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई रुद्रसंहिता कुमारखण्ड अध्याय १३ श्लोक ११ १२
२ मत्स्य पुराण (मनसुखराय मोर कलकत्ता) सं० २ ११ सन् १९५४ अ० १५३ पृ० ४५१
३ पद्म पुराण वही सं० २ १ सन् १९५७ (सृष्टि खण्ड) अध्याय ४८
४ वही अध्याय ४५ श्लोक ४४८—४४८
५ वामन पुराण अ० २४ विनायकोत्पत्ति श्लोक ५०-७३ पृ० ६८
६ वही श्लोक ४६

देवताओं का नाश किया कि व मत्ता सतात रहित रहेंग ।

तत्पश्चात पावती अपनी सखिया मालिनी की सहायता स स्नान के लिए तयारी करने लगी । उबटन इत्यादि लगाकर मालिनी बाहर गई तो पावतीजी ने अपने उबटन के मल स एक ऐसे बालक का निमाण किया जो चतुभुज, पीन वक्ष और पुरुष के लक्षणों स युक्त था । शिव इस आकृति को देखकर अति प्रसन्न हुए, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा क्योंकि इस बालक की उत्पत्ति सुभग नहीं हुई है इसलिए इसका नाम विनायक होगा—

मायकेन विना देवी मया भूतोऽपि पुत्रक ।
यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायक ॥[1]

ब्रह्मववत पुराण

ब्रह्मवैवत पुराण[2] म गणेश जन्म की कथा इस प्रकार वर्णित है—

एक बार पावतीजी ने श्रीकृष्णजी की स्तुति की तो श्रीकृष्ण अति रम्य रूप म उनके सम्मुख प्रकट हुए । श्रीकृष्ण का वह स्वरूप अति ललित था । अपने सुन्दर आभूषणों स सुसज्जित उनका सौंदय करोड़ो कामदेवों के लावण्य के सदृश प्रतीत हो रहा था । पावती जी ने श्रीकृष्ण के इस आकषक सौंदय को देखकर मन म उसी रूप का पुत्र पाने की कामना की । तदनुसार वर देकर ही श्रीकृष्ण अन्तधान हो गए ।[3]

पावती ने इसके उपरान्त विभिन्न व्यक्तियों को बहुत-सा दान दिया और पुष्प, चन्दन कस्तूरी इत्यादि से युक्त हो व शिव के समीप आ पहुची । शिव तथा पावती अभी सुरत व्यापार म ही रत थे कि उसी समय विष्णु भगवान एक दीन वृद्ध ब्राह्मण के रूप म शरणागत बनकर आ पहुचे । पावती और शिव दोनो ही उस ब्राह्मण की पुकार से सम्भ्रम सहित उठ बठे और अतिथि जानकर उनका भरपूर स्वागत किया । पूण रूप से परितृप्त हो विष्णु भगवान ने पावती को आशीर्वाद दिया कि उनकी गोद म शीघ्र ही गणेश रूप श्रीकृष्ण क्रीडा करेंगे । उनके इस कथन के उपरान्त ही वृद्ध अतिथि रूपधारी विष्णु अदृश्य हो गए और शिशु रूप म पावती की उसी शय्या पर जाकर प्रकट हो गए, जहाँ शिव का शुक्र शय्या पर रह गया था ।[4]

विवेचन

शिव-पावती के दोनो पुत्रो मे विवाद का कारण शिवपुराण की कथा से भिन्न प्रस्तुत करके इस नाटक म लेखक ने निसदेह मौलिकता के साथ साथ अपनी सुरुचि का भी परिचय दिया है । सम्पूण कथानक पौराणिकता की रक्षा करने मे पूणरूपेण समथ है किन्तु गणेशजी का सिर कटने तथा जुडने जसी अन्य घटनाओं के कारण नाटक बुद्धिसगत नहीं रह

---

१ वामन पुराण अध्याय ५४ श्लोक ७२
२ ब्रह्मवैवत पुराण अध्याय ८ गणेश खण्ड
३ वही अध्याय ८ श्लोक ८ ९
४ ब्रह्मववर्त पुराण अध्याय ८ श्लोक ८३ ८४

पाया है, साथ ही प्रस्तुत रचना की विभिन्न घटनाओं का कई स्थलों पर अभिनय करना भी सरल नहीं है।

प्रस्तुत नाटक का विभाजन यद्यपि तीन ही अंकों में है तथापि नाटक का कलेवर बहुत बढ़ गया है। इसकी शैली थियेटरिकल नाटकों जैसी है किन्तु इसकी भाषा परिष्कृत है।

सती पार्वती[1]

इस कड़ी का अन्तिम नाटक कवि राधेश्याम कथावाचक लिखित सती पार्वती नाटक है जो विस्तार में गणेश जन्म नाटक के सदृश ही बड़ा है। इसके कथानक में भी पूर्व उल्लिखित नाटकों के सदृश ही शिव-पार्वती से सम्बन्धित विभिन्न प्रसंग समाविष्ट हैं। प्रमुख प्रसंग तथा उनके स्रोत निम्नलिखित हैं—

गणेश जन्म नाटक के समान यहां भी नाटक प्रारम्भ देवसभा के आयोजन से होता है। यह आयोजन यहां प्रजापति का कार्यभार दक्ष को सौंपने के उपलक्ष्य में किया जाता है। यहां दक्ष के क्रुद्ध होने का कारण शिव की सभा में विलम्ब से पहुंचना दिखाया गया है।

इस प्रसंग का आधार भागवत पुराण है[2] किन्तु भागवत पुराण की कथा से नाटक की कथा में कुछ प्रमुख अन्तर भी देखे जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं—

१ भागवत पुराण में दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सभी बड़े-बड़े ऋषि देवता और मुनि इत्यादि एकत्रित होते हैं। दक्ष के प्रवेश करने पर महादेव और ब्रह्मा के अतिरिक्त सब उठकर खड़े हो जाते हैं। दक्ष महादेव के इस व्यवहार को अपना अपमान समझता है और मनोमालिन्य उत्पन्न हो जाता है।

२ पौराणिक घटना से नाटक की घटना में द्वितीय अन्तर यह भी है कि नाटक में इस दुर्भावना के जन्म लेने के उपरान्त, सती स्वयंवर आयोजित होता है जबकि भागवत पुराण में यह मनोमालिन्य विवाह के बाद का प्रसंग है।[3]

कथा का अगला प्रसंग सतीदहन नाटक की कथा से सादृश्य रखता है जहां पिता के आमन्त्रित न किए जाने पर भी सती यज्ञ-स्थल पर पहुंचकर अपने प्राण त्याग देती है।

आधार

इस प्रसंग के आधार-स्थल सती-दहन [नाटक के सदृश रामचरितमानस[4] तथा

१ प्रकाशक लेखक स्वयं राधेश्याम पुस्तकालय बरेली सन् १९३६

२ भागवत पुराण (गीताप्रेस गोरखपुर) चतुर्थ स्कन्ध अध्याय २ श्लोक १५ १६

३ भागवत पुराण (गीताप्रेस गोरखपुर) चतुर्थ स्क० अ० २ श्लोक १५ १६

४ रामचरितमानस (मानसांक गीताप्रेस गोरखपुर) बालकाण्ड मास पारायण दूसरा विश्राम ६ दोहे की ४ चौपाई पृ० १११

भागवत पुराण[1] के अतिरिक्त अन्य व पुराण भी हैं जिनका विवरण शर्मिष्ठा नाटक का विवेचन करते समय दिया जा चुका है।

अन्तर

इस स्थल पर अन्तर केवल इतना ही है कि नाटक में रानी यनाकुण्ड में गिरकर स्वयं को भस्म करती है जबकि रामचरितमानस तथा भागवत पुराण की कथाओं में सती योगाग्नि द्वारा अपने को यज्ञस्थल पर ही समाप्त कर देती है।

इसके आगे की कथा तारक प्रभृति असुरों की समाप्ति के लिए कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति हेतु शिवजी के विवाह हेतु की घटनाओं का चित्रण करती है। रामगुलाम रसिक बिहारी लिखित नाटक शिव विवाह में भी ऐसी घटना का उल्लेख है। इस नाटक में कामदेव के द्वारा शिव की समाधि भंग करने का प्रकरण अति विस्तार में है। रति के विलाप से द्रवित हो शिवजी कामदेव को अनंग के रूप में फिर जीवित कर देते हैं तथा शरीर रूप में द्वापर में प्रद्युम्न के रूप में जन्म लेने की बात कह प्रदृश्य हो जाते हैं। नाटक कथा विविध प्रसंग तथा उनके आधार शिव विवाह नाटक के विवेचित प्रसंगों तथा उनके आधारों के सदृश ही हैं।

विवेचन

प्रस्तुत नाटक का सृजन काल पूर्व विवेचित अन्य सभी नाटकों के पश्चात सन् १९३६ है। इस दृष्टि से इस नाटक में पौराणिक असंगतियों के अभाव की कल्पना की जा सकती थी क्योंकि किसी भी कलाकृति के रचनाकाल की मूल प्रवृत्तियों से रचनाकार का बचना प्रायः सम्भव नहीं होता किन्तु कल्पना के विपरीत प्रस्तुत नाटक कई असंगत प्रसंगों का पिटारा दिखाई देता है।

इन्हीं कथानकों पर आधारित इससे पूर्व रचित नाटक इसलिए क्षम्य कहे जा सकते हैं कि उनके रचनाकाल में पाठकों अथवा दर्शकों का तार्किक बुद्धि का पलड़ा धार्मिक भावना के समक्ष नीचा ही रहा होगा। प्रस्तुत नाटक के सृजनकाल तक पाठक पर्याप्त तार्किक हो चुके होंगे और इस प्रकार की असंगत घटनाओं में उनका जी नहीं रमता होगा। राधेश्याम कथावाचक युग की प्रवृत्तियों से प्रभावित नहीं हुए अर्थात् उन्होंने पौराणिक घटनाओं को अपनी कल्पना के बल पर कोई नूतन युगानुरूप जामा नहीं पहनाया इसका कारण सम्भवतः उनका स्वयं का कथावाचकीय धार्मिक दृष्टिकोण तथा रचनाओं में पौराणिकता की भरपूर रक्षा का लक्ष्य ही प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो राधेश्याम की रोचक शैली सन्तुलित चरित्र चित्रण एवं पात्रानुकूल भाषा के दर्शन इस नाटक में भरपूर होते हैं। साथ ही यह तथ्य भी अवलोकनीय है कि नाटक में इतनी घटनाओं का गुम्फन होते हुए भी इसमें कहीं असम्बद्धता नहीं आने पायी है। पौराणिक प्रसंगों की रक्षा की दृष्टि से यदि इस नाटक का मूल्य आँका जाय तो निःसन्देह यह नाटक अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

---

१ भागवत पु० चतुर्थ स्कन्ध अ० ४ श्लोक २७

वरमाला

वरमाला[1] तीन अकों का एक सुन्दर सयोगान्त नाटक है। इसके लेखक गोविन्दवल्लभ पत हैं। नाटक की कथावस्तु निम्नलिखित है—

कथानक

करधम भूमडल के महाराज का पुत्र अवीक्षित विवाह की कामना से विदिशा की राजकुमारी (राजा विशाल की पुत्री) वैशालिनी के पास विवाह से पूर्व ही प्रहरियों को रिश्वत देकर उपवन मे प्रविष्ट हो जाता है। राजकुमारी वहाँ आगामी दिन होने वाले स्वयवर के लिए वरमाला तयार कर रही है। अवीक्षित को इस स्थिति म देखकर वह कहती है कि कल चाहे वह किसी के कण्ठ म माला डाल देगी पर अवीक्षित को नही वरेगी। अवीक्षित की अनुनय विनय तथा प्रणय-याचना कुछ भी राजकुमारी को अपने निश्चय से नही हटा पाते।

राजकुमार अवीक्षित दूसरे दिन उसे बलात् रथ पर चढाकर चल पडता है किन्तु वैशालिनी फिर भी प्रभावित नही होती। मार्ग मे दोनो रथ से उतरते हैं। वैशालिनी, अशोक वृक्ष की छाया म बैठती है। अवीक्षित अपना धनुष बाण रखकर जल लेने के लिए, नदी के तट पर जाता है। राजकुमारी इस बीच रथ पर बैठकर भागना चाहती है किन्तु थोडी देर बाद राजकुमार का रक्षा के लिए स्वर सुन पडता है। वैशालिनी जाकर देखती है कि एक मगरमच्छ अवीक्षित को निगलने का प्रयत्न कर रहा है। वैशालिनी धनुष-बाण उठाकर उसे विद्ध कर देता है।

तभी अवीक्षित को वैशालिनी के पिता की सेना आकर घेर लेती है। अवीक्षित क्षत विक्षत हो जाता है किन्तु उस स्थिति म भी वैशालिनी के द्वारा दी गई कटार से तीरो को काटता चला जाता है। वैशालिनी अति प्रसन्न होती है और राजप्रासाद मे पहुँचकर उसकी सेवा शुश्रूषा मे जुट जाती है। अब राजकुमारी अवीक्षित से विवाह करना चाहती है किन्तु अवीक्षित अपने को कायर एव अनुपयुक्त कहकर उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। वैशालिनी सन्यासिनी बनकर वन म चली जाती है। अवीक्षित राजकुमारी वैशालिनी के लिए व्यथित रहने पर भी राज काय मे मन लगाने का प्रयत्न करता है।

एक दिन वन म पहुचा हुआ अवीक्षित वैशालिनी को सताने वाले राक्षस को मार डालता है। वैशालिनी पेड के पीछे छिप जाती है कहती है—

राजकुमारी जानकर प्यार नही किया तो भिखारिणी को कैसे करोगे। पर अन्त म वैशालिनी सूखी हुई वरमाला निकालकर अवीक्षित के गले म डाल देती है।

---

१ प्रकाशक गगा पुस्तकमाला कार्यालय अमीनाबाद पार्क लखनऊ

आधार

उपर्युक्त कथा मूलतः मार्कण्डेय पुराण[1] पर आधारित है। वहाँ कथा का रूप इस प्रकार है—

यहाँ राजकुमार अवीक्षित प्रहरियों को घूमाकर राजकुमारी के उपवन में नहीं पहुँचता, वह राजकुमारी को सीधे स्वयंवर मण्डप से बलात् उठाकर ले जाता है।[2] उपस्थित नृप-समूह वहीं उस पर आक्रमण करता है। अवीक्षित सामना करता है किन्तु संघर्ष में क्षत-विक्षत हो जाता है। अवीक्षित का पिता करंधम राजा विशाल पर आक्रमण करता है। पर्याप्त मारकाट होती है। अंततः दोनों में मेल हो जाता है किन्तु अवीक्षित अब वशालिनी से विवाह करना स्वीकार नहीं करता। उसका कथन है कि राजकुमारी के सामने ही मैं पराजित हुआ हूँ, मेरा स्वाभिमान अब राजकुमारी से सम्बन्ध करने की आज्ञा नहीं देता।[3]

पिता के आग्रह करने पर भी अवीक्षित इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करता है। वशालिनी निराश और उदास होकर तपस्या करने चली जाती है। तीन माह तक निरंतर तप करने के उपरान्त वह देह त्यागने का निश्चय करती है, तभी एक देवदूत आकर कहता है कि तुम चक्रवर्ती पुत्र की माता बनोगी।[4] राजकुमारी आश्चर्य प्रकट करती है क्योंकि अवीक्षित के अतिरिक्त वह किसी से भी विवाह करने के लिए प्रस्तुत नहीं थी।

इसके उपरान्त कथा उस स्थल को छूती है जहाँ अवीक्षित की माता वीरा पुत्र से किमिच्छक व्रत करने का समाचार देती है। साथ ही बताती है कि इसका समापन अवीक्षित तथा उसके पिता की सहायता पर निर्भर है। अवीक्षित विश्वास दिलाता है कि वह अपनी देह से इस दिशा में हर सम्भव प्रयत्न करेगा। राजा करंधम से नीति निपुण मन्त्री कहते हैं कि पुत्र के निपुत्र रहने से राज्य की तथा तुम्हारी बहुत हानि होगी। अतः किमिच्छक व्रत के अन्तर्गत अवीक्षित के द्वारा अर्थियों को आश्वस्त करने पर कि वह उनकी इच्छा अवश्य पूर्ण करेगा, उसका पिता राजा करंधम स्वयं याचकों में सम्मिलित हो जाता है और याचना में पौत्र दर्शन की कामना करता है। विवश होकर अवीक्षित को विवाह न करने का अपना निश्चय त्यागना पड़ता है।

मार्कण्डेय पुराण में कथा अब आगे बढ़ती है। राजपुत्र अवीक्षित जंगल में मृगया के लिए जाता है जहाँ वह 'त्राहि त्राहि' का शब्द सुनकर उसी दिशा में भागता है। वहाँ एक

---

१ मार्कण्डेय पुराण कलकत्ता संस्करण १८१२ शक सं० अध्याय १२२-१२६
२ कन्यां परिभूयाखिलान् भूपान् स्वेच्छया न वतस्या।
बलाज्जग्राह विप्रर्षे! यथाया बलगर्वित ॥
—अध्याय १२२ श्लोक २१
३ मार्कण्डेय पुराण अध्याय १२५ श्लोक २६-३ ३६
४ वहा—"त्व भविष्यसि कल्याणि जननी चक्रवर्तिनः।
—अध्याय १२४ श्लोक ५४

कन्या को राक्षस के द्वारा केश पकड़ी हुई पाता है। वह कन्या आक्रमणकारी को बता रही थी कि वह राजा करंधम की बहू तथा अवीक्षित की भार्या है। अवीक्षित को आश्चर्य होता है, किन्तु वह उसकी रक्षा करता है और सरलता से ही दुष्ट दानव को बाणों से छेद डालता है। देवता प्रसन्न होते हैं। देवताओं के आग्रह से वह रक्षित की हुई कन्या वैशालिनी को ही पत्नी रूप में स्वीकार करता है और इस प्रकार पिता की इच्छा पूर्ण करता है।

अन्तर

नाटक में मूल कथा से मुख्य अन्तर यही है कि यहाँ वैशालिनी अवीक्षित से विवाह करना स्वीकार नहीं करती जबकि मूल कथा में अवीक्षित स्वयं विवाह करने के लिए प्रस्तुत नहीं होता।

विवेचन

नाटककार ने अपने नाटक में कथा को एक नया मोड़ देकर नारी के स्वाभिमान को उभारने का प्रयत्न किया है। स्वभावतः नारी, पुरुष में अदम्य साहस और अतुलित पौरुष देखने की कामना करती है। पुरुष के बलात्कार के सम्मुख समर्पण करना नारी कभी स्वीकार नहीं करती। इसी आन के कारण नाटक की नायिका वैशालिनी राजकुमार अवीक्षित को उस समय तक स्वीकार नहीं करती जब तक वह उपवन में चुपके से प्रवेश करके तथा अपहरण इत्यादि कुकृत्यों द्वारा अपने उच्छृंखल साहस का प्रदर्शन करता रहता है। प्राणों का उत्सर्ग करके जब वह उसके पिता की सेना से जूझकर अपने पौरुष का चमत्कार दिखाता है तभी वैशालिनी में समर्पण की भावना जागती है। अवीक्षित को राजपुत्र जानकर भी वैशालिनी उसे अस्वीकार करती रही यही नारी का स्वाभिमान है।

नाटक की सब घटनाएँ मूल कथा से ही ग्रहण हैं। नारी का भावनागत मानसिक अन्तर्द्वन्द्व अन्त में स्पष्ट उभरा है। यह दर्शक के हृदय में एक कसक मिश्रित आनन्द की अनुभूति जगा जाता है। नाटक संयोगान्त होते हुए भी दर्शक और पाठक के मन में एक विचित्र टीस छोड़ जाता है।

प्रस्तुत नाटक के सम्बन्ध में सम्पादक का मत इस प्रकार है—

'हिन्दी साहित्य में वास्तव में नाटक कहे जाने योग्य नाटक कम हैं। जो कुछ हैं भी उनमें ऐसे नाटकों की संख्या बहुत ही थोड़ी है जो सफलता के साथ रंगमंच पर खेले जा सकने का गौरव पा सकें। इसका कारण यही है कि नाटक-लेखक प्रायः अभिनय तथा रंगमंच से अपरिचित ही रहते हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त प्रतिभाशाली उदीयमान लेखक हैं। यह मौलिक नाटक, हिन्दी में नयी चीज है। यह पटना के नायक होने के साथ ही सुचारु रूप से रंगमंच पर खेलने लायक भी है। आप व्याकुल नाटक कम्पनी के नाटक लेखक रह चुके हैं।

संयोगान्त नाटक का प्रथम लक्षण यही है कि उसकी नायिका अपने प्रेमास्पद को अन्त में पा जाती है। इस नवीन नाटक की नायिका पहले जिसे नहीं चाहती उसी के गले अन्त में वरमाला डालती है—ऐश्वर्य के लिए नहीं राज्यविभव के लोभ के लाभ से नहीं

तृतीय अध्याय

१ च्यवन सुकन्या कथा (क) सती सुकन्या
(ख) आदर्श कुमारी (ग) सुकन्या
२ सगरविजय
३ शक्ति पूजा
४ देवहूति

भृगु ऋषि के पुत्र लोक विश्रुत महर्षि च्यवन और वैवस्वत मनु के पुत्र राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या की कथा के आधार पर लिखे हुए हिंदी में तीन नाटक मिले हैं जिनके नाम लेखकों सहित इस प्रकार हैं—सती सुकन्या बाबू श्यामाचरण जौहरी आदर्श कुमारी श्रीरामचन्द्र भारद्वाज सुकन्या श्रीराजाराम शास्त्री। इन सब नाटकों का कथानक लगभग एक-सा है। जो थोड़ा-बहुत अन्तर है वह केवल कुछ स्थलों पर और अति साधारण है। इन सबमें सबसे पहला नाटक सती सुकन्या है।

सती सुकन्या[1]

महाराज शर्याति अपनी महारानी पुत्री तथा सेना के साथ वनविहार के लिए निकल पड़ते हैं। वन में उनकी पुत्री सुकन्या अपनी सखियों के साथ पुष्प चयन के लिए जाती है। एक कुंज में वह मिट्टी के बड़े ढेर में दो चमकती हुई रत्न जैसी चीजें देखती है। वह कुतूहलवश यह जानने के लिए कि वह चीजें क्या है एक काँटेदार लकड़ी से उन्हें कुरेदती है। उस ढेर में से एक पीड़ायुक्त स्वर सुनकर उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता।

---

१ प्रकाशक—शिवरामनाम पन्त उपन्यासबहार आफिस काशी प्र० संस्क० १९२३ ई०।

बात को विदित होता है कि सुकन्या ने भूल से दीर्घकाल से तपस्या में लीन, च्यवन ऋषि की आँखें फोड़ दी हैं। राजा शर्याति महर्षि के वार्धक्य तथा अंधेपन को ध्यान में रखकर अपराध प्रक्षालन के निमित्त अपनी कन्या सुकन्या का विवाह उनके साथ कर देते हैं।

सुकन्या, परमवृद्ध महर्षि च्यवन को अपना परम आराध्य मानकर तन मन से उनकी परिचर्या करती है। इसी समय घूमते घामते अश्विनीकुमार उस वन में जा निकलते हैं जहाँ महर्षि च्यवन का आश्रम था। सुकन्या अपने पति की पूजा के लिए पुष्प चयन करने पास के वनखण्ड में जाती है। वहाँ अकेली एवं परमसुन्दरी सुकन्या को देखकर वे दोनों विविध प्रकार से उसके शील की परीक्षा लेते हैं और उससे प्रसन्न होकर वे उसके वृद्ध एवं अंधे पति महर्षि च्यवन को, सुन्दर युवा बनाने का विश्वास दिलाते हैं। किन्तु ऐसा करने के लिए वे एक शर्त उपस्थित करते हैं, कि स्नान करने के लिए एक सरोवर में दोनों कुमार तथा महर्षि च्यवन एक साथ ही प्रवेश करेंगे और एक साथ ही बाहर निकलेंगे। सरोवर से बाहर निकलने पर तीनों का रूप रंग एवं आकार, वयस सब समान होगा। उस समय सुकन्या को तीनों में से अपने पति को पहचानना होगा। अश्विनीकुमारों की इस शर्त को भी सुकन्या स्वीकार करती है। वृद्ध एवं सर्वथा जीर्ण च्यवन अश्विनीकुमारों की कृपा से कामदेव से भी सुन्दर रूप और पुनः नवज्योति के साथ पूर्ण यौवन प्राप्त करते हैं। सुकन्या उन तीनों एक से दिखने वाले नवयुवकों में से अपने पति को पहचानकर अश्विनीकुमारों की इस परीक्षा में भी सफल होती है। देवचिकित्सक अश्विनीकुमारों के इस कार्य से महर्षि च्यवन अपने को अति अनुगृहीत अनुभव करते हैं तथा कृतज्ञ भाव से प्रत्युपकार के रूप में, इन्द्र प्रभृति अन्य देवताओं के साथ यज्ञों में उन्हें भी सोमपान का अधिकार दिलाने का आश्वासन देते हैं।

इसके पश्चात महर्षि च्यवन अपने आश्वासन को पूर्ण करने के लिए अपने श्वसुर महाराज शर्याति को प्रेरित करके एक सोमयज्ञ का आयोजन करते हैं। इस यज्ञ में इन्द्र प्रभृति अन्य देवताओं के साथ अश्विनीकुमार भी प्रथम बार सोमपान करने का अधिकार प्राप्त करते हैं और इसी रूप में वे अपने उपकार का प्रतिदान पाते हैं। राजा शर्याति के इस यज्ञ में महर्षि च्यवन स्वयं पुरोहित बनते हैं।

आदर्श कुमारी[1]

आदर्शकुमारी के लेखक रामचन्द्र भारद्वाज ने सुकन्या के प्रभाव की विशिष्टता एवं अलौकिकता बताने के लिए मुख्य कथा के साथ जो 'सती सुकन्या के समान ही है,' इतर कथा के रूप में राजकुमार चन्द्रकेतु की कथा को और जोड़ दिया है पर इससे मुख्य कथा के रूप में कोई अन्तर नहीं आया है।

---

१ प्रकाशक — श्री [illegible] कार्यालय [illegible] सितम्बर १९३२ ई ।

सुकन्या[1]

श्री राजाराम शास्त्री ने भी प्रस्तुत नाटक की कथा का प्रस्तुतीकरण कं थोड़े भेद के अतिरिक्त सभी स्थलों पर सती सुकन्या के समान ही रखा है।

इन तीनों नाटकों के कथानक समान होने के कारण इनके आधार-स्थल भी समान हैं। इसीलिए इनके मूल स्रोतों का विवेचन अलग अलग न करके एक साथ ही किया जायगा।

आधार

च्यवन और सुकन्या की यह कथा बहुत प्राचीन है। भार्गव च्यवन का नाम ऋग्वेद में ऋषियों में आता है।[2] अश्विनी सूक्तों में कई स्थलों पर च्यवन (च्यवान) ऋषि के पुनः यौवन प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है।[3] शतपथ[4] और जैमिनीय[5] ब्राह्मणों में च्यवन और सुकन्या की कथा मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण[6] में भी कथा का संकेत मिलता है। निरुक्त[7] में भी च्यवन के नवयौवन प्राप्ति की चर्चा आयी है। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण[8] में भी यह कथा आती है। ऋग्वेद संहिता पर आधारित द्विवेद के ग्रन्थ नीति मंजरी[9] में भी च्यवन की कथा का उल्लेख हुआ है। इन वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त महाभारत[10] भागवत पुराण[11] पद्म पुराण[12] देवीभागवत पुराण[13] और विष्णुधर्मोत्तर पुराण[14] आदि ग्रन्थों में भी इस कथा की किसी न किसी रूप में चर्चा आई है और इन ग्रन्थों में इसके कहीं विस्तृत और कहीं संक्षिप्त विवरण पाये जाते हैं।

आलोच्य नाटकों की कथा के मूल स्रोत को जानने के लिए वैदिक साहित्य एवं

---

१ प्रकाशक सहयोगी प्रकाशन जवाहरनगर दिल्ली।
२ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १६
३ ऋग्वेद अश्विनी सूक्त मण्डल १ सूक्त ११६ मन्त्र १ । मं० १ सूक्त ११७ मन्त्र १३। मण्डल १ सूक्त ११८ मन्त्र ६। मण्डल ५ सूक्त ७४ मन्त्र ५। मण्डल ७ सूक्त ६८ मन्त्र ६। मण्डल ७ सूक्त ७१ मन्त्र ५। मण्डल १ सूक्त ३६ मन्त्र ४
४ शतपथ ४ १ ५ ६
५ जैमिनीय ब्राह्मण ३ १२० १२७
६ ऐतरेय ब्राह्मण ८ २१
७ निरुक्त ४ १६
८ जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४ ७१ ८ ३ ५
९ नीति मंजरी (वाराणसी) पद्य ३८ पृ० ८१ ८३
१० महाभारत वनपर्व अ० १२१ १२३ आदि० अ० ५६
११ भागवत पुराण स्कन्ध ६ अ ३
१२ पद्मपुराण पातालखण्ड ॥ १४ १६
१३ देवी भागवत पुराण ७ अ० २ ७
१४ विष्णुधर्मोत्तर पुराण १ अ० १६६

उत्तर-वदिक साहित्य म प्राप्त कथा के विविध रूपा पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है अत पहले वदिक साहित्य और उसके पश्चात उत्तरवदिक साहित्य के कथा रूपा पर विचार करना उपयुक्त होगा।

सुकन्या की कथा का मूल स्रोत हम ऋग्वेद सहिता[८] म मिलता है। यद्यपि यहा सुसम्बद्ध कथा ता नही मिलती है किन्तु अनेक मण्डला के विविध सूक्ता मे विच्छिन्न जा मनके मिलत हैं, यदि उन्ह एक सूत्र म पिरा दिया जाय, ता व कथा का एक सम्बद्ध रूप ग्रहण कर लत है। जिन सूक्ता म वद्ध च्यवन ऋषि के अश्विनीकुमारा की कृपा से, पुन यौवन प्राप्त करन तथा यौवन सम्पन्न कन्या से विवाह का उल्लेख है व सूक्त प्राय अश्विनीकुमारा स सम्बद्ध हैं और उन्ही की स्तुति के प्रसग म वर्णित है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रह हैं—

जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चत द्रापिमिव च्यवानात।
प्रातिरत जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुत कनीनाम॥
—ऋग १ ११६, १०

इस मत्र का भाष्य करत हुए सायणाचाय, मत्र की पृष्ठभूमि के रूप म इससे सम्बद्ध एक आख्यान का उल्लख करत हैं—

अत्रेदमाख्यानम। वलीपलितादिभिरुपतो जीणाग पुत्रादिभि परित्यक्त च्यवनाख्य ऋषि अश्विनौ तुष्टाव। स्तुतावश्विनौ तस्मै ऋषय जरामपगमय्य पुनर्यौवनमकुरुता मिति।'

मत्र की व्याख्या म यह बात और भी स्पष्ट करक कही गई है—

हे अश्विनौ जुजुरुष जीणात च्यवानात च्यवनाख्यात ऋषे सकाशात वव्रिकृत्स्न शरीरमावरणावस्थिता जरा प्रामुञ्चतम प्रकर्षेणामाचयतम।

तत्र दृष्टान्त। द्रापिमिव। द्रापिरिति कवचस्याख्या। यथा कश्चिन कवच कृत्स्नशरीरव्यापक धत्वा पश्चात शरीरात पृथक करोति तद्वत जहितस्य पुत्रादिभि परित्यक्तस्य ऋषे आयु जीवन प्रातिरत प्रावधयतम। युवान सत कनीना कन्याना पति भतार अकृणुतम अकुरुतम्॥

इस मन्त्र और इसके भाष्य स तीन बाता पर स्पष्ट रूप स प्रकाश पडता है—

१ वृद्ध च्यवन क बुढाप को अश्विनीकुमारा न दूर किया।
२ उन्हाने ऋषि का यौवन के साथ आयु भी दी।
३ कन्याओ का पति बनाया।

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र १ १७७, १३ म यह बात और भी स्पष्ट करके कही गई है—

"युव च्यवानमश्विना जरन्त पुनर्युवान चक्रथु शचीभि।"

---

८ ऋग्वेद सहिता १ ११६ १ १ ११७ १३ १ ११८ ६ ५ ७४ ५ ७ ६८ ६ ७ ७१,५ १० ३९ ४

सायण—

"हे अश्विनौ, युवं युवां शचीभिः आत्मीयैः कर्मभिः जरन्तं जीर्यन्तं च्यवानं एतत् संज्ञं ऋषिं युवानं पुनर्यौवनोपेतं चक्रथुः कृतवन्तौ।"

यही बात एक और मन्त्र (१ ११८ ६) में भी 'च्यवानं चक्रथुर्युवानम्' के रूप में दुहरायी गई है। और एक अन्य स्थान (७ ७१ ५) पर भी यही बात 'युवं च्यवानं जरसो मुमुक्तम्' कहकर कही गई है। जिस प्रकार से एक चतुर बढ़ई जीर्ण रथ में नये पुर्जे लगाकर उसको पुन नये जैसा कर देता है इसी प्रकार अश्विनीकुमारों ने भी वृद्ध च्यवन को पुन युवा बना दिया (१० ३९ ४)।

एक अन्य स्थल (७ ६८ ६) पर च्यवन ऋषि के यौवन प्राप्ति के प्रसंग में प्रत्युपकार के रूप में च्यवनकर्तृक हवि का भी उल्लेख किया गया है जो कि इस कथा का एक अंग है। यहां यह बात विशेष रूप से स्मरणीय है कि इससे पूर्व अश्विनीकुमारों को यज्ञ में अन्य इन्द्र प्रभृति देवताओं के साथ हवि प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। यह च्यवन ऋषि के ही प्रयत्न का फल था कि उनको भी सबके साथ यह अधिकार प्राप्त हो गया।

इस प्रकार इस प्रसंग के समस्त मन्त्र या मन्त्र खण्डों को एक साथ मिलाकर उनके प्रतिपाद्य अर्थ की यदि अन्विति मिलायी जाय तो ऋषि च्यवन और महाराज शर्याति की पुत्री सुकन्या के सम्बन्ध में सूत्र अधिक अंश में मिल जाते हैं। कथा के ताने-बाने को क्रमिक रूप में प्रस्तुत करने के लिए कल्पना का भी सहारा लेना होगा क्योंकि कथा के रूप में यहाँ कथा नहीं है। अश्विनीकुमारों के जीवन के उदात्त कार्यों के प्रसंग में च्यवन ऋषि के प्रति जो कुछ उन्होंने किया और पाया उसका संक्षेप में संकेत मात्र हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण[1] में जो च्यवन और सुकन्या की कथा है वह कुछ भिन्न प्रकार की है। विचारार्थ संक्षेप में उसका यहां हिंदी रूपान्तर दिया जा रहा है—

भृगु के पुत्र च्यवन जीर्ण और विरूप थे। एक समय मनुपुत्र शर्याति अपने परिवार और राजकीय पुरुषों सहित विचरण करते हुए उसी वन में पहुंचे और आश्रम के समीप ही उन्होंने अपना शिविर डाला। इधर उधर क्रीडा करते हुए उनके कुमारों ने जीर्ण एवं भयानक रूप वाले मुनि को अनर्थकारी समझकर ढेलों से आहत किया। मुनि ने क्रुद्ध होकर शर्याति के लोगों में मति विभ्रम (असंज्ञा) उत्पन्न कर दिया। पिता पुत्र से भाई भाई से युद्ध करने लगे। राजा ने इस अनर्थ के कारण की जिज्ञासा की। परिणामस्वरूप, उसके गोपालों और अविपालों ने कुमारों के व्यवहार की बात राजा से निवेदन कर दी। इस प्रकार शर्याति को ज्ञात हुआ कि उसके कुमारों ने किसी ऐसे वैसे व्यक्ति के साथ नहीं, अपितु महर्षि च्यवन के साथ यह दुर्व्यवहार किया है। वह रथ पर चढ़कर उनके पास

1 शतपथ ब्राह्मण ४ १ ५ १-१२ (काण्ड ४ अ १ ब्रा ५ कण्डिका १-१२)

क्षमा याचना के लिए गया और उपहार म अपनी पुत्री सुकन्या को देकर अपराध के लिए क्षमा मागी और वचन दिया कि इसके बाद ऐसा फिर नहीं होगा।

एक समय घूमते हुए अश्विनीकुमार उसी प्रदेश म आए। सुकन्या के पास जाकर उन्होंने जीर्ण और भयकर (कृत्या रूप) मुनि को त्यागकर अपने से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कहा। पिता ने जिसे सौंप दिया है जीवन पर्यन्त उसको नही छोड़ूगी।' ऐसा कहकर सुकन्या न उनकी मान का विरोध किया। मुनि को सुकन्या स जब यह विदित हुआ तो उन्होंने कहा कि 'यदि पुन व तुमसे इस प्रकार कहे तो तुम उन्हे बताना कि आप लोग अपूर्ण और असम्पन्न हैं, फिर भी मेरे पति की निन्दा करते हैं।' जब व पूछें कि 'कैसे ? ता तुम कहना कि पहले आप मेरे पति को युवा बना दीजिए तब बताऊँगी। ऐसा ही हुआ। अश्विनीकुमारो न कहा कि तुम्हारे पति यदि इस सरोवर मे डुबकी लगाएँ तो जैसा रूप चाहेंगे वैसा ही रूप मे युक्त होकर बाहर निकलेंगे। च्यवन न वैसा ही किया। फलत वे पुन युवा बन गए। तब अश्विनीकुमारो न सुकन्या म पुन वह प्रश्न पूछा कि वे अपूर्ण और असम्पन्न किस प्रकार हैं। प्रत्युत्तर म च्यवन न कहा है—

कुरुक्षेत्र म देव लोग जो यज्ञ कर रहे हैं उसमे आपको भाग नही दिया गया है। इसलिए आप अपूर्ण और असम्पन्न हैं।' इसके पश्चात् अश्विनीकुमार कुरुक्षेत्र गए और वहा उन्होंने अपने कौशल स यज्ञ भाग प्राप्त किया। यहाँ का यह विवरण कुछ विस्तार म है और मुख्य कथा के साथ उसका साक्षात सम्बन्ध नही है अत अनपेक्षित है।

शतपथ ब्राह्मण की कथा की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं ऋषि च्यवन के नाम के साथ भार्गव और 'आंगिरस दोनो विशेषण सयुक्त हैं। राजा को यहा शर्यातमानव कहा गया है। इसके अतिरिक्त—

१ ऋषि के जीर्ण और भयानक रूप को देखकर राजा के कुमारो ने उसे अनर्थकारी समझकर अज्ञान स ढेले मार मारकर आहत किया है।

२ राजा के पूछने पर गोपालो और अविपालो ने कुमारो के द्वारा ऋषि के ताडन रूप व्यवहार की सूचना दी है। मारने मे उनका योग नहा रहा है।

३ ऋषि के अक्षि हनन या करने का यहाँ कोई उल्लेख नही है।

४ ऋषि के क्रोध मे राजा के लोगो म अविवेक (असज्ञा) उत्पन्न हुआ है।

५ ऋषि का क्रोध शान्त कराने के लिए राजा ने स्वय ही सुकन्या को अर्पित किया है। ऐसा करने के लिए, ऋषि के सकेत या आग्रह का यहा उल्लेख नही है।

६ च्यवन ऋषि की प्रेरणा से सुकन्या अश्विनीकुमारो से पति को पुन युवा बनाने के लिए कहती है।

७ युवा बनने के लिए यहा सरोवर म केवल च्यवन ऋषि ने ही प्रवेश किया है, अश्विनी कुमारो ने नही जैसा कि अन्यत्र मिलता है।

८ च्यवन ऋषि द्वारा कराए गए किसी ऐसे यज्ञ का जिसम प्रत्युपकार के रूप म अश्विनीकुमारो को सोमपायी बनान का प्रयत्न हो, यहा उल्लेख नहीं है।

९ वृद्ध एव जीर्ण च्यवन ऋषि को युवा बनाने स पूर्व बदले म उन्हें भी ऋषि द्वारा यज्ञ म सोमपान का अधिकार दिलान की किसी शर्त का या युवा बनने के उपरान्त प्रत्यु

पवार के रूप में ऋषिपत्नी दिखी गयी प्रयत्न का भी यहाँ उल्लेख नहीं है।
१० जीण च्यवन को युवा बनाने जैसा विशिष्ट कार्य कर देने पर भी न तो अश्विनी कुमारों की ओर से यज्ञ में कुछ पान का और न ऋषि की ओर से कुछ देने का कहीं कोई उल्लेख है।

जैमिनीय ब्राह्मण[1]

जैमिनीय ब्राह्मण में यह कथा शतपथ ब्राह्मण की कथा से अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से मिलती है। इसलिए इस स्थल की कथा में स्पष्टता भी पर्याप्त है। यहाँ की यह कथा सामवेद के वास्तुपस्य ब्राह्मण[2] के गान की चर्चा के प्रसंग में आयी है।

यहाँ की कथा के विवरण से प्रतीत होता है कि भृगु के पुत्र ऋषि च्यवन पुत्रों वाले हैं। वे अपने वार्धक्य से दुःखी हैं। वे पुनः युवा होकर किसी कुमारी से विवाह करना चाहते हैं। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे सहस्र मुद्राओं से एक वृहद् यज्ञ करते हैं। उनके पुत्रों ने उनका त्याग किया है और वे अपनी जीर्ण अवस्था में तपोरत रहते हुए सामस्तुति में लीन रहते हैं।

एक दिन मनुपुत्र शर्यात अपने दल-बल के साथ विचरण करते हुए उधर पहुँच जाता है। उसके कुमार गोपाल और अविपाल सब ढेले गोबर और धूल ऋषि के ऊपर डालते हैं। ऋषि के क्रोध से सब में मतिभ्रम सा आ जाता है। कारण विदित होने पर राजा ऋषि के पास जाकर धन आदि देकर उन्हें सन्तुष्ट करना चाहता है किन्तु ऋषि उसकी पुत्री सुकन्या को ही लेना चाहते हैं। राजा को झुकना पड़ता है परन्तु आश्रम से जाते हुए राजकीय पुरुष उससे कहते हैं कि इस वृद्ध के पास तुम्हारा रहना उचित नहीं। तुम हमारे पीछे-पीछे चली आना। वह जाना चाहती है कि मार्ग में एक काले सर्प के आ जाने से रुक जाती है।

इसके बाद इसमें अश्विनीकुमारों का प्रसंग आता है। यह कुछ अंशों में तो शतपथ ब्राह्मण के समान है और कुछ में भिन्न भी है। यहाँ सुकन्या अश्विनीकुमारों से कहती है कि आप तो देवता होकर भी सोमपायी नहीं हैं अतः अपूर्ण हैं और मेरे पति सोमपायी हैं अतः पूर्ण हैं। वे आपको भी सोमपायी बना सकते हैं किन्तु एक शर्त के साथ कि पहले आप मेरे पति को युवा बना दें। अश्विनीकुमार स्वीकार करते हैं। सरोवर में प्रवेश करने से पूर्व च्यवन सुकन्या को अपनी विशेष पहचान बता देते हैं जिससे कि वह उन्हें पहचान सके। क्योंकि सरोवर के बाहर आने पर तीनों का रूप एक सा होगा ऐसी सूचना अश्विनीकुमार पूर्व ही दे चुके होते हैं।

च्यवन के यौवन प्राप्त होने पर अश्विनीकुमार उनसे अपना वचन पूरा करने के लिए

---

१ जैमिनीय ब्राह्मण ३ । १२ । १२८ स० डा० रघवीर प्रकाशक इंटरनेशनल एकेडमी आफ इण्डियन कल्चर नागपुर १९५४

२ भवदानन्द चन्द्रि इंडक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जक्ट्स भाग २ प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास जवाहरनगर दिल्ली १९५८ पृ० २९३

कहते हैं। यहाँ च्यवन उन्हें एक उपाय बताते हैं कि कुरुक्षेत्र में देवलोग शिरहीन यज्ञ से यजन कर रहे हैं। क्योंकि उस शिर के रहस्य को जानते हैं। आप लोग दधीचि के पास जाइए। वे आपको जो बतायेंगे उससे आप सोमपायी बन जायेंगे। वे दोनों जाते हैं, किन्तु इन्द्र ने पहले ही दधीचि से कह दिया है कि उन्होंने यदि यह रहस्य किसी को बताया तो वह उनका शिर काट देगा। अश्विनीकुमार दधीचि के वास्तविक शिर के स्थान पर अश्व का शिर लगा देते हैं और उससे वास्तव समस्त रहस्य (मधुविद्या) उनसे जान लेते हैं। इन्द्र को जब यह बात मालूम होती है तो अपनी प्रतिज्ञानुसार वह दधीचि का अश्व शिर काट देता है। अश्वशिर के कटने पर अश्विनीकुमार वास्तविक शिर पुनः दधीचि के लगा देते हैं। इस प्रकार इन्द्र की प्रतिज्ञा भी पूरी हो जाती है और रहस्य विद्या भी वे दधीचि से सीख लेते हैं।

इसके पश्चात् वे उन याजकों के पास जाते हैं जो अपूर्ण यज्ञ करने के कारण किसी वाञ्छित फल को प्राप्त करने में असमर्थ हैं। याजकों के अनुरोध से उनके यज्ञ को वे पूर्ण कर देते हैं और बदले में उनको सोमपायी बना दिया जाता है।

जैमिनीय ब्राह्मण की इस कथा में वस्तुतः दो कथाएँ—च्यवन-सुकन्या की कथा और अश्विनीकुमारों की दधीचि से मधुविद्या की प्राप्ति की कथा एक साथ मिला दी गयी हैं। इसीलिए यहाँ कथा यह कथा कुछ विस्तृत हो गयी है। वैसे दोनों के बीच में अन्विति कहीं छिन्न नहीं होने पायी है अन्यथा पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होती है।

यहाँ च्यवन ऋषि ने यौवन प्राप्त करने के बदले में स्वयं किसी ऐसे यज्ञ का आयोजन तो नहीं किया है जिसमें सबके साथ इन दोनों देवताओं को भी सोमपान का अधिकार दिलाया हो। इस कथा में उन्होंने उनको उपाय मात्र बताकर अनृणता प्राप्त कर ली है।

जैमिनीय ब्राह्मण की कथा में भी राजा शर्यात के निज मनुष्यों को आग से च्यवन ऋषि को जो कष्ट दिया गया है उसमें सुकन्या का कोई भाग नहीं है। ऋषि की प्रवृद्ध लालसा के कारण ही राजा को सुकन्या उन्हें अर्पित करनी पड़ी है। यहाँ भी ऋषि के प्रति होने या किये जाने का वहीं उल्लेख नहीं है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण की कथा में ऋषि के कुरूप का भी वहाँ संकेत नहीं है। यहाँ और शतपथ ब्राह्मण की कथा में कुमारों गोपालों और अविपालों के च्यवन ऋषि के प्रति किये गये व्यवहार का चित्रण बहुत स्वाभाविक हुआ है। उन्होंने जो कुछ किया है वह बालसुलभता और उत्सुकतावश किया है। आज भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है। हाँ इसके विपरीत ऋषि से अधिक उदारता की आशा की जा सकती थी। कुमारों के अपराध का दण्ड बेचारी राजकन्या को क्या भोगना पड़ा, इस बात की सगति एक विचारवान व्यक्ति के मस्तिष्क में नहीं बैठती। बहुत सम्भव है कि इस असंगति का परिहार करने के लिए ही शतपथ और जैमिनीय ब्राह्मणों के पश्चात् कथा का जो रूप विकसित हुआ उसमें सुकन्या को ही ऋषि के मुख्य अपराधी की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया गया और उसके सुकुमार हाथों से ऋषि को आघात करवाकर कथा का रूप ही परिवर्तित कर दिया। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण की कथा में कुमारों के अपराध के बदले में ऋषि के बिना मांगे ही स्वयं शर्यात का सुकन्या को भेंट देना तथा जैमिनीय ब्राह्मण में कुमारों गोपालों और अविपालों के सम्मिलित अपराध के दण्डस्वरूप, ऋषि का

शर्याति से सुकन्या देने के लिए आग्रह करना कुछ युक्तिसंगत-सा प्रतीत नहीं होता है। यह असंगति कथा कहनेवाले और सुननेवालों दोनों को ही खटकी होगी। सम्भवतः इसीलिए इसका अधिक युक्तियुक्त परिहार करने के लिए सुकन्या को ही मुख्य अपराधी की कोटि में रख दिया गया है।

शतपथ और जैमिनीय ब्राह्मणों की कथा का उत्तर भाग भी कुछ खटकता है। अश्विनी कुमारों द्वारा इतना महान उपकार किये जाने पर भी ऋषि की कृतज्ञता का रूप उभरा हुआ नहीं है। वहाँ वे सोमपायी बन सकने का केवल उपाय बतलाकर अपने कर्त्तव्य से सन्तुष्ट हो गये हैं। कथा का यह अंश भी पाठक या श्रोता के मन में खटकता है। उसके विचार में ऋषि की कृतज्ञता उपाय बतलाने मात्र से पूर्ण नहीं होती है। सम्भवतः इसीलिए उत्तरकाल के कथाकारों ने च्यवन ऋषि से ही एक ऐसे यज्ञ की योजना तैयार करायी जिसमें इन्द्र के विरोध करने पर भी उनके प्रयत्न से अश्विनीकुमारों को सोमपान का अधिकार दिलाया गया। ऐसा करने से च्यवन ऋषि की अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता और प्रत्युपकार की भावना को विशेष बल मिला है। यहाँ वे उदात्त चरित्र वाले बन गये हैं। मूल कथा में इन दोनों परिवर्तनों ने उसे युक्त और सुन्दर बना दिया है।

ऐतरेय ब्राह्मण[1]

ऐतरेय ब्राह्मण में भी च्यवन ऋषि की कथा का कुछ संकेत मिलता है। यहाँ यह महाभिषेक विधि के प्रसंग में आया है। इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि भृगुपुत्र च्यवन ने मनुपुत्र शर्याति का अभिषेक किया। इसके अनन्तर शर्याति ने समस्त पृथ्वी को जीतकर अश्वमेध यज्ञ किया और देवों के सत्र में भी वह गृहपति बना—

ऐन्द्रेण महाभिषेकेण च्यवनो भार्गवः शार्यातं मानवमभिषिषेच। तस्मादु शार्यातो मानवः समन्तं सर्वतः पृथ्वीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे देवानां हापि सत्रे गृहपतिरास।

इस पर भाष्यकार आचार्य सायण ने लिखा है—

भृगोः पुत्रः च्यवन नामको महर्षिः मनुवंशोत्पन्नं शार्यातनामकं राजानं अभिषिषेच। तस्मात् फलं पूर्ववत्। किं च देवानां सम्बन्धिनि सत्रेऽपि शार्यातो गृहपतिरभूत्।

इस उल्लेख में राजा का नाम शार्यातमानव है। मानव से अभिप्राय 'मनु का पुत्र' और 'मनु गोत्र में उत्पन्न सन्तान' दोनों ही सम्भव है। शार्यात शर्याति का पुत्र भी हो सकता है। शार्याति का शर्यात भी लेखक की भूल से सम्भव है। आचार्य सायण ने शार्याति का स्पष्टीकरण तो नहीं किया किन्तु मानव का मनुवंशोत्पन्न किया है। भार्गव च्यवन का सम्बन्ध मनुपुत्र शर्याति से शतपथ और जैमिनीय ब्राह्मणों की कथा से स्थापित हो चुका है। जैमिनीय ब्राह्मण[2] में शर्याति से एक सहस्र भुनाए लेकर च्यवन ऋषि के एक यज्ञ का

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण भाग ४ स० सत्यव्रत सामश्रमी एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता १९०६ पृ० २४७ (८ ४ ७)

२ डॉ० रघुवीर सम्पादित नागपुर १९५४ (३ १२८) पृ० ४ ७

उल्लेख है।

अथ ह च्यवनो भार्गवः पुनर्युवा भूत्वागच्छच्छर्यातं मानवम्। तं प्राच्यां स्थल्याम् अयाजयत्। तद् अस्मै सहस्रम् अददात्। तेनायजत्। एतद् वै तच्च्यवनो भार्गव एतेन साम्ना स्तुत्वा पुनर्युवाभवत् कुमारीं जायाम् अविन्दत सहस्रेणायजत।

इससे शर्यात मानव को यजमान बनाकर भार्गव च्यवन का यज्ञ कराना स्पष्ट है। अतः अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि भूल से 'शर्यात' ही यहाँ 'शायात' बन गया है।

निरुक्त[1]

आचार्य यास्क के निरुक्त में भी च्यवन और सुकन्या की कथा का कुछ संकेत मिलता है। यह 'च्यवन' शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध में आया है—

'च्यवन ऋषिर्भवति। च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति।' इस पर प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य लिखते हैं— "च्यवानम् इति एव रूपेण अपि अस्य ऋषेः भृगुपुत्रस्य सुकन्या भर्तुः छन्दसि निगमा भवन्ति।"

निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य च्यवन और सुकन्या की कथा से परिचित हैं यह उनकी व्याख्या से स्पष्ट है। आगे ऋग्वेद[2] के एक मन्त्र की व्याख्या के अन्त में दुर्गाचार्य लिखते हैं—

एवमेतस्मिन् मन्त्रे च्यवानशब्देन च्यवन एव ऋषिरुक्तः स हि श्रूयते सौकन्य आख्याने जीर्णः सन् अश्विभ्यां पुनर्युवा कृत इति तस्माद् उपपन्नम् एतत्।

आचार्य यास्क ने जिस मन्त्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, उसमें च्यवान शब्द है च्यवन नहीं। परन्तु लोक में 'च्यवन' नाम ही प्रसिद्ध है। इसीलिए दोनों को यहाँ स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता पड़ी और इस प्रसंग में सुकन्या से च्यवन के सम्बन्ध तथा कथा का भी उल्लेख हो गया है।

नीति मंजरी

ऋग्वेद संहिता की ऋचाओं पर आधारित नीतिमंजरी[3] द्या द्विवेद का वैदिक ग्रंथ है। इसमें उदाहरण के रूप में सर्वत्र ही लेखक ने ऋग्वेद के मन्त्रों को ही उद्धृत किया है। डा० ए० बी० कीथ ने द्या द्विवेद का समय पन्द्रहवीं शताब्दी माना है।[4]

जराजन्य कष्टों का निर्देश करते हुए द्या द्विवेद ने महर्षि च्यवन की जरा और अश्विनीकुमारों की कृपा से पुनर्यौवन की प्राप्ति का उल्लेख किया है—

सर्वेषामेव जन्तूनां सर्वदुःखाधिका जरा।
च्यवनोऽप्यश्विनौ स्तुत्वाप्ययासीत्सोऽमृतः पुनर्युवा॥

---

१ निरुक्त ४ १९ स० मुकुन्द झा निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३ पृ० १८७-१८८
२ ऋग्वेद १० ३९ ४
३ सम्पा० सीताराम जयराम जोशी हरिहर मण्डल कालभैरव काशी १९३३
४ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर आक्सफोर्ड प्रेस १९२८ पृ० २ ६

कोई विशेष अन्तर नहीं है। यहाँ पात्रान्तर यथा का ही लेकर कथा का ताना-बाना बुना गया है। पात्रान्तर घटनाओं का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है।

महाभारत की कथा में महर्षि च्यवन के युवा होने का समाचार राजा शर्याति को अपनी राजधानी में ही मिल जाता है। समाचार प्राप्त करने के उपरान्त ही वह मिलने के लिए आश्रम में जाता है। यहाँ की कथा में पत्नी का समाचार प्राप्त करने के लिए राजा पहुँचता है और वहाँ आश्रम में वृद्ध च्यवन के स्थान पर युवक को देखकर पुत्री के शील पर सन्देह करने लगता है। वास्तविकता मालूम होने पर हर्षित होता है और च्यवन के प्रस्ताव के अनुसार यज्ञ आयोजन करने का आयोजन करता है।

इस आयोजन में अश्विनीकुमारों के सोमपान का विरोध करते हुए महर्षि को मारने के लिए इन्द्र के वज्र उठाने पर उसकी बाहु को वहीं महर्षि ने स्तम्भित किया है किन्तु इन्द्र को मारने के लिए महाभारत की कथा में जिस कृत्या का उल्लेख है वह यहाँ नहीं है। बाहुस्तम्भन के पश्चात् ही यहाँ इन्द्र अश्विनीकुमारों को भी सोमपान का अधिकार देने के लिए सहमत हो जाता है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में[1] महर्षि के पुत्र सुनामा के विनाश की चर्चा करते हुए महर्षि मार्कण्डेय ने जो कथा सुनायी है उसमें महर्षि भृगु से पुलोमा का विवाह, उनके कुछ समय के पश्चात् उनकी अनुपस्थिति में समान नाम वाले एक राक्षस द्वारा पुलोमा के बलात् हरण किये जाने का प्रयत्न तथा उसी समय भय से उसके गर्भ का गिरना, गर्भ से बाहर आये उस नव जात शिशु च्यवन के दर्शन मात्र से ही माँ का अपहरण करने वाले उस राक्षस का भस्मावशेष होना आदि घटनाएँ वर्णित हैं।

यहाँ यह कथा अति संक्षेप में कही गयी है। महर्षि च्यवन के जन्म की कथा का विस्तृत रूप महाभारत के आदिपर्व के पञ्चम और षष्ठ अध्यायों में मिलता है। वहाँ राक्षस द्वारा पुलोमा को अपहरण किये जाने का कारण, भृगु का अग्नि को शाप आदि का विवरण विस्तार से दिया है।

महर्षि च्यवन के जन्म की कथा से आलोच्य नाटक की कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः इसके विवेचन में जाने की आवश्यकता नहीं है। नाटक के नायक से सम्बद्ध होने के कारण यहाँ इसका निर्देश मात्र कर दिया है।

ब्रह्मपुराण[2]

ब्रह्मपुराण में भानुतीर्थ के वर्णन के प्रसंग में एक राजा शर्याति और उसके पुरोहित मधुच्छन्दा विश्वामित्र की कथा का वर्णन आया है। यह भिन्न प्रकार की कथा है। इसका आलोच्य नाटक की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः इसका विवेचन नहीं किया गया।

---

१ विष्णुधर्मोत्तर पुराण अ० १९९ । १५

२ गुरुमण्डल ग्रन्थमाला प्रकाशन कलकत्ता (मनसुखराय मोर) १९५४ अ० १३८

इसमें केवल शर्याति नाम का ही सादृश्य है और कुछ नहीं।

पद्मपुराण[1]

महर्षि च्यवन और सुकन्या की कथा पद्मपुराण में विस्तार से एक सौ अठारह श्लोकों में कही गयी है। महाराज राम के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर दिग्विजय के निमित्त मंत्री सुमति के साथ शत्रुघ्न निकले हैं। एक स्थल पर अत्यन्त मनोहर और सुशान्त आश्रम को देखकर उसका इतिहास जानने के लिए प्रश्न करने पर सुमति ने तत्सम्बन्धिनी समस्त कथा सुनायी है। यहां जो कथा सुनायी गयी है वह महर्षि च्यवन के जन्म से लेकर महाराज शर्याति के उस यज्ञ तक है जिसमें अश्विनीकुमारों को सोमपायी बनाया गया है।

यहां महर्षि च्यवन के जन्म की जो कथा दी हुई है उसमें तथा महाभारत (आदि पर्व अ० ५ ६) और विष्णुधर्मोत्तर पुराण (अ० १८-) में वर्णित कथा में कुछ अन्तर है। इन दोनों ग्रन्थों की कथा में पुलोमा के जन्म, शैशव और विवाह आदि का भी विवरण है। वहां राक्षसकृत पुलोमा के अपहरण का भी एक विशेष हेतु दिया है जिसका सम्बन्ध पुलोमा के शैशव की एक घटना से है। यहां उसका कोई उल्लेख नहीं है। जिस राक्षस ने यहां भृगुपत्नी का अपहरण किया है वह तो मखविनाशक है। च्यवन की उत्पत्ति राक्षस का विनाश और अग्नि को भृगु के शाप आदि की घटनाएँ समान हैं।

ये ही च्यवन युवा होने पर अपने कुछ शिष्यों के साथ रेवा नदी के किनारे पर आश्रम बनाकर अति कठोर तप करते हैं। उन्हें अपने शरीर की भी सुध-बुध नहीं रहती। उनकी अखण्ड समाधि की अवस्था में चींटियां उनके शरीर पर वाम्बी बना देती हैं और पक्षी घोंसले बना लेते हैं। ऐसे ही समय में मनुपुत्र शर्याति वहां अपने दलबल के साथ पहुंचता है।

आलोच्य नाटक की कथा के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाली यहां की कथा का भाग, कथा की मुख्य घटनाओं में समानता रखते हुए भी घटनाक्रम के विवरण में कहीं-कहीं भिन्न है। दूसरी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१ सुकन्या के द्वारा ऋषि की दृष्टि नष्ट कर दिये जाने पर जो परिणाम हुए हैं वे भिन्न प्रकार के हैं। जैसे (१) भूचाल आना (२) उल्कापात होना, (३) समस्त दिशाओं का धूम्र से आच्छादित होना (४) सूर्य का परिवेष्टित होना (५) राजा के घोड़ों का नष्ट होना (६) हस्तियों का मरना (७) रत्नादि धन का नष्ट होना और आपस में कलह उत्पन्न होना।

अंतिम परिणाम का छान्दग्य और किसी का ग्रन्थ उल्लेख नहीं है। जैमिनीय ब्राह्मण की कथा में भी पारस्परिक कलह का उल्लेख है।

२ महर्षि च्यवन को शर्याति द्वारा सुकन्या दे दिये जाने पर उसका अपने वृद्ध एवं अन्ध पति के साथ जो व्यवहार है उसका चित्रण यहां कुछ विस्तार से है—

[1] पाताल खण्ड, अ० १४ के श्लोक २६ से अ० १६ के श्लोक २८ तक।

सा मानवी च धर्मात्मा पतिं नेत्रेण हीनं जरयाभिपीडितम् ।
सिषेव च हरिमेषमीशम् नित्यं साध्वी कुमारेश्वरी यथा ॥
धरणी मघवे तन्वी मघवन्तमर्चीषिणा ।
राजपुत्री सुकन्याणी पत्युमुखोदरानना ॥[1]

अश्विनी कुमार उसका पूजा में हो गई सुकन्या द्वारा उनका सौन्दर्य के लिए कहा है । सुकन्या की परीक्षा के लिए अश्विनीकुमार । उसकी प्रार्थना से च्यवन ऋषि का यौवन प्रदान किया गया है ।

३ सुकन्या ने च्यवन ऋषि की अनुमति से जो वर मांगा है उसमें पति का यौवन नहीं वरन् उनके लिए दृष्टि मांगी है—

पत्यभिप्रायमाज्ञाय तामुवाच सुपाम्मता ।
दत्त मे चक्षुषी पत्युर्यदि तुष्टौ युवां सुरौ ॥[2]

परन्तु अश्विनीकुमारों ने सुकन्या की दूसरी परीक्षा में पूछा तब बताया है कि यदि उसके पति च्यवन भी उन्हीं रूप में साथ का भाग लिया तो वह अश्विनी बता दे तो वे उसके पति को दृष्टि दे कर कहें—

स्वत्पतिमपि बयानां भाग यज्ञे वपास्यसी ।
सायायोरधुना कुमाराणो स्पुरमरणाय ॥
च्यवनोऽप्योमिति प्राह भागदाने वरीजगो ॥[3]

सुकन्या ने तो च्यवन पति की दृष्टि ही मांगा थी किन्तु उन्होंने दृष्टि के साथ-साथ च्यवन महर्षि को स्वरूपवान् यौवन भी प्रदान किया ।

४ महर्षि च्यवन दृष्टि और यौवन मिलने के बाद अश्विनीकुमारों को भी सोमपान का अधिकार दिलाने के लिए किसी यज्ञ का आयोजन नहीं करते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि राजपुत्री के साथ अपने नवयौवन के विलास में वे अश्विनीकुमारों की उस बात को भूल से जाते है । सुकन्या के साथ च्यवन के विहार का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है और अन्त में कहा गया है कि वे सौ वर्ष तक ऐसा करते रहे —

एवं तया क्रीडमान सर्वत्र धरणीतले ।
नाबुध्यत गतानब्दान शतमप्यापरिमितान ॥[4]

इतना समय बीतने पर भी अश्विनीकुमारों को दिये गये वचन का मुनि को ध्यान नहीं आया । राजा शर्याति को ही यज्ञ करने की इच्छा हुई और च्यवन ऋषि को बुलाने के लिए उन्होंने निमन्त्रण भेजा । वे सुकन्या के साथ वहाँ पहुँचे—

कदाचिदथ शर्यातिर्यष्टुमच्छत देवता ।
तदा च्यवनमानेतुं प्रेषयामास सेवकान ॥

---

१ पद्मपुराण पाताल खण्ड अ० १५ श्लो० २-४
२ पद्मपुराण पाताल खण्ड अ० १५ श्लोक ११
३ पद्मपुराण पाताल खण्ड अ० १५ श्लोक १३-१४
४ पदमपुराण (पा० ख०) अ० १६, श्लोक १

तराहूतो द्विजवरस्तदा गच्छन महातपा ।
सुकन्यया धर्मपत्न्या स्वाचारपरिनिष्ठया ॥

५ यहां भी कथा में एक बात खटकती है वह यह कि इतनी बड़ी घटना घटित हो जाने और उसके पश्चात इतना दीर्घ समय बीत जाने पर भी राजा शर्याति को यह विदित क्यों नहीं हो सका कि उनके जामाता को पुनः दृष्टि और यौवन प्राप्त हो चुका है। यह तो एक ऐसा संवाद था जो समस्त देश में विद्युत के समान तुरन्त फैल जाना चाहिए था। पुराण कथाकारों का इस अनुपपत्ति की ओर क्यों ध्यान नहीं गया यह आश्चर्य की बात है।

६ इस कथा की अंतिम और मुख्य घटना राजा शर्याति के इसी यज्ञ में महर्षि च्यवन द्वारा इन्द्र के प्रबल विरोध करने पर भी अश्विनीकुमारों को सोमपान का अधिकारी बनाना है। यहां च्यवन ऋषि को मारने के लिए इन्द्र के वज्र उठाने पर उसके हाथ के स्तम्भन मात्र का वर्णन है। इसी से वह महर्षि के प्रभाव से परिचित होकर उनके आगे झुक जाता है उसे अधिक भयभीत करने के लिए किसी 'कृत्या' को उत्पन्न करने की यहां आवश्यकता नहीं पड़ी है।

देवीभागवत पुराण[1]

देवीभागवत पुराण में च्यवन और सुकन्या की यह कथा बड़े विस्तार से वर्णित है। सप्तम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय से लेकर सप्तम अध्याय पर्यन्त तीन सौ बत्तीस श्लोकों में इसका विस्तार है। यहां का कथाकार शीघ्रता में नहीं है। उसके श्रोता भी निश्चिन्त होकर सुनने के लिए बैठे हैं। कथा की प्रत्येक घटना का विवरण यहां दिया हुआ है।

यहां की कथा की कुछ विशेष बातें निम्नलिखित हैं—

१ जब सुकन्या वल्मीक में लीन महर्षि च्यवन के चमकते हुए दो नेत्रों को देखकर—यह क्या है? इस प्रकार के कौतुक के कारण तीक्ष्ण कांटा लेकर उनकी ओर बढ़ती है तो च्यवन उसे मना करते हैं किन्तु वह नहीं सुनती।[2] नियति की विडम्बना—कंटक आंखों में चुभते ही मुनि के नेत्रों से रक्त की धारा बह निकलती है। साथ ही पीड़ा भरी कराह भी सुन पड़ती है। वस्तुस्थिति का भान होने पर उसे बड़ा पश्चात्ताप भी होता है।

---

१ देवीभागवत पुराण स्कन्ध ७ अ० २-७
२ तां वीक्ष्य सुन्दरीं तत्र क्षामकण्ठस्तपोनिधिः ।
तामभाषत कल्याणीं किमर्थमिह भामिनि ॥
दूरं गच्छ विशालाक्षि तापसोऽहं वरानने ।
मा भिन्द्धि त्वं च वल्मीकं कण्टकेन कृशोदरि ॥
इति सम्भाष्यमाणापि सा चास्य न शृणोति वै ।
किमु ज्योतिर्मिदमिति कृत्वा निर्विशंकस्य लोचने ॥

—दे० भा० स्कन्ध ७ अ० २ ५२-५४

च्यवन चोदिता भित्या जगाम नृपकन्यका ।
क्रीडन्ती नश्यमाना सा किं कृत मे भवति ॥

२ राजा के सामने च्यवन ऋषि जब संतान के लिए सुकन्या की याचना करता है तो राजा चिन्तातुर हो जाता है और कन्या के भविष्य पर विचार करते हुए इस निश्चय पर पहुँचता है कि इसका जो भी परिणाम होगा वह न होगा। किन्तु सुकन्या कन्या का वृद्ध और अन्ध ऋषि का न होगा। अहल्या और गौतम का प्रसंग और उसके परिणाम का विचार भी उस समय की कथा में आ गया है—

यौवन दुर्जय कामो विशेषेण सुरूपया ।
आत्मतुल्य पति प्राप्य किम् यद विलोकनम् ॥
गौतम तापस प्राप्य रूप यौवनसयुता ।
अहल्या वासवेना तु वनिता धर्मचारिणी ॥
शप्ता च पतिना पश्चाज्ज्ञात्वा धर्म विपर्ययम् ।
तस्माद भवतु मे दुःख न ददामि सुरूपकाम् ॥

—देवीभागवत पु० ७ ३ २-२६

परन्तु सुकन्या महर्षि की पत्नी बनकर उनकी सेवा करने के लिए अपना प्रस्ताव प्रस्तुत कर देती है। उसके स्थिर निश्चय के आगे राजा को अपना विचार बदलना पड़ता है और उधर मुनि सुकन्या के साथ राजा की आज्ञा से लिए जाने वाले किसी भी अन्य उपहार को स्वीकार नहीं करते हैं—

प्रतिगृह्य मुनि कन्या प्रसन्नो भार्गवोऽभवत् ।
पारिबर्ह न जग्राह दीयमान नृपेण ह ॥

—म० भा० ७ ३ ५२

आगे की कथा जहाँ-तहाँ सामान्य अन्तर के साथ वैसी ही है जैसी कि पद्म पुराण में है। अन्तर वर्णन का है। यहाँ के वर्णन लम्बे अधिक हैं। सुकन्या अपने तप और शील के प्रभाव से अश्विनीकुमारों को प्रसन्न करके असम्भव को भी सम्भव बनाकर दिखा देती है।

विवेचन

उपयुक्त वदिक एव वदिकोत्तर साहित्य म च्यवन और सुकन्या की कथा के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि यह कथा बहुत प्राचीन युग से चली आ रही है। वदिक साहित्य म सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद संहिता है। इसम च्यवन के विविध उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि जिन मन्त्रों म च्यवन का उल्लेख हुआ है उन सब मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषि च्यवन की कथा स परिचित थ। ऋग्वेद संहिता के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों म भार्गव च्यवन का भी नाम है। बहुत सम्भव है य भार्गव च्यवन ही आलोच्य कथा के नायक रहे हो। यदि ऐसा न भी हो तो भी यह तो निश्चित है कि उस युग के जनसमाज म च्यवन के पुनर्यौवन प्राप्ति की कथा प्रसिद्ध थी।

ऋग्वेद संहिता के पश्चात यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण[1] एवं सामवेद के जमिनीय ब्राह्मण[2] में च्यवन और सुकन्या की कथा का पूरा विवरण मिलता है। अंतर केवल इतना ही है, कि यहां सुकन्या के पिता का नाम शर्यात पाया जाता है। ऋग्वेद संहिता में भी एक शर्यात का उल्लेख है।[3] किन्तु यह कहना कठिन है कि यह शर्यात और उपर्युक्त ब्राह्मणों की कथा का शर्यात, दोनों एक ही हैं या भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं परन्तु उक्त ब्राह्मणों का शर्याति मानव शर्यात है, अर्थात मनु का पुत्र या नातीय। सम्भव है ऋग्वेद संहिता का उक्त शर्यात भी मानव ही रहा हो।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण[4] में यह कथा तो नहीं है किन्तु इसका संकेत अवश्य मिलता है। वैसे, सायणाचार्य ने सम्बद्ध स्थल के अपने भाष्य में कथा के इस रूप को भी स्पष्ट कर दिया है। इसके पश्चात निरुक्त और नीति मंजरी के विवरणों से भी कथा की प्राचीनता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

उत्तरवैदिक युग के साहित्य, महाभारत तथा बहुत से पुराणों में कथा की सुव्यवस्थित एवं अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। अतएव इस परम्परा की पृष्ठभूमि में वैदिक साहित्य को ही स्वीकार करना होगा। पूर्व वैदिक या वैदिक युग की आख्यान परम्परा को अधिकांश में पुराणों ने सुरक्षित रखा है। यह बात और है कि समय के साथ उसके मूल रूप में परिवर्तन हो गया हो।

च्यवन और सुकन्या की कथा अति प्राचीन है। इन तीनों नाटकों के लेखकों ने अपने अपने नाटक की कथावस्तु का आधार देवीभागवत और पद्म पुराण में वर्णित कथा को बनाया है। देवीभागवत और पद्म पुराण की कथा में थोड़ा ही अंतर है। पद्म पुराण की अपेक्षा देवीभागवत की कथा का विस्तार अधिक है। इन पुराणों में वर्णित कथाओं को नाटककारों ने उसी रूप में नहीं ग्रहण किया है नाटकीय परिस्थिति के अनुसार उसके रूप को अनुकूल रूप देकर, युग के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है।

सगर-विजय

सगर विजय नाटक हिन्दी के यशस्वी कवि एवं नाटककार श्री उदयशंकर भट्ट की रचना है। भारतीय पुराण साहित्य के सूर्यवंशी राजाओं में सम्राट सगर का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। इस सगर विजय नाटक की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

---

१ शतपथ ब्राह्मण ४ १ ५ ६
२ जमिनीय ब्राह्मण १२० १२१
३ ऋग्वेद १ ११२ १७
४ एतरेय ब्राह्मण ८ २१

बस, नाटक सगर विजय इतनी ही कथा के साथ समाप्त हो जाता है। पौराणिक साहित्य में सगर, जिन कार्यों के लिए विशेष प्रसिद्ध है उनका विवरण कथा के आगे के भाग में मिलता है। सम्राट सगर के अश्वमेध की कथा के साथ ही इस पृथ्वी पर गंगा के अवतरण की कथा भी जुड़ी हुई है। यद्यपि, इसमें सगर का साक्षात सम्बन्ध नहीं है तथापि उसके उत्तराधिकारियों के तप और अविरत अध्यवसाय की कथा भी सगर की कथा के सूत्र में ही जुड़ गयी है। यह भारत के अतीत की निश्चित ही एक अति महत्त्वपूर्ण घटना रही होगी जिसका विवरण केवल पौराणिक साहित्य में ही उपलब्ध होता है।

आधार

सगर विजय नाटक सम्राट सगर की कथा के जिस अंश पर आधारित है वह लघु होते हुए भी अति महत्त्वपूर्ण है। पुराणों के विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि सगर के जन्म से पूर्व का समय कुछ ऐसा था कि जिसमें सूर्यवंशी राजाओं का प्रताप मूर्य कुछ मन्द पड़ गया था। हैहय राजाओं के अतिरिक्त कुछ और भी राजा थे जिन्होंने या तो हैहयों के साथ मिलकर या स्वतन्त्र रूप से सूर्यवंशी राजाओं का विरोध किया था। इन राजाओं का उल्लेख सगर की दिग्विजय के प्रसंग में, इस नाटक में भी है और कई पुराणों में भी मिलता है

सगर विजय का कथावस्तु सगर की कथा के जिस भाग पर आधारित है उसका उल्लेख एवं विवरण विष्णुपुराण[1], हरिवंश पुराण[2] भागवत[3] ब्रह्मपुराण[4] ब्रह्माण्ड पुराण[5], पद्म पुराण[6] एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण[7] में मिलता है। विष्णु पुराण में यह कथानक सूर्य वंश के प्रसिद्ध राजा मान्धाता की सन्तति और वंश के वर्णन प्रसंग में आया है। कथानक का रूप अति संक्षिप्त है। वह इस प्रकार है—

विष्णु पुराण

हरिश्चन्द्र से रोहिताश्व रोहिताश्व से हरित, हरित से चञ्चु चञ्चु से विजय, विजय से रुरुक रुरुक से वृक, वृक से बाहु[8] नाम का पुत्र हुआ। यह हैहय और तालजंघ आदि क्षत्रियों से परास्त अपनी गर्भवती पटरानी महिषी के साथ वन में चला गया। रानी की सपत्नी ने उसके गर्भ को रोकने के लिए उसे विष दे दिया। उस विष के प्रभाव से गर्भ

---

१ विष्णुपुराण अंश ४ अ० ३
२ हरिवंशपुराण अ० १४ १५
३ भागवत, स्कन्ध ९ ८ २६
४ ब्रह्मपुराण अ० ८ ३३ ५१
५ ब्रह्माण्डपुराण म भा उपो० पा० अ० ४७ ७४ ८८
६ पद्मपुराण (जन) पर्व ५ श्लोक ७४ ९५ पृ० ७२ ज्ञानपीठ वाराणसी
७ विष्णुधर्मोत्तर पुराण अ १७ ७१७
८ बाहु से पूर्व के राजाओं का उल्लेख, क्रम को किसी प्रसिद्ध राजा के साथ जोड़ने के लिए ही किया गया है।

मान यश तक समाप्त हो गया। राजा बाहु वृद्धावस्था के कारण और्व ऋषि के आश्रम के समीप मर गया। उसकी पत्नी ने चिता बनाकर और उस पर पति के शव को रखकर सती होने का निश्चय किया। भूत, भविष्यत और वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता और्व ने अपने आश्रम से निकलकर उससे कहा—

'इस व्यर्थ के दुराग्रह को छोड़ दो। तुम्हारे उदर में सम्पूर्ण भूमण्डल का स्वामी अति बली, पराक्रमी, यज्ञकर्ता और चक्रवर्ती पुत्र है। तुम दुःसाहस मत करो।'

ऐसा कहे जाने पर उसने सती होने का विचार त्याग दिया। महर्षि उसे अपने साथ ही अपने आश्रम पर ले गये। वहाँ कुछ ही समय पश्चात् विष के साथ एक अति तेजस्वी बालक को रानी ने जन्म दिया। महर्षि और्व ने उसके जातकर्म आदि संस्कार कर उसका नाम गर (विष) के साथ उत्पन्न होने के कारण सगर रखा गया। उपनयन संस्कार होने पर उन्होंने उसे वेद, शास्त्र एवं भार्गव नामक आग्नेय अस्त्र की शिक्षा दी।

कुछ समझदार होने पर शिशु ने जननी से पूछा— माँ हम लोग तपोवन में क्यों रहते हैं और मेरे पिता कहाँ हैं? इसी प्रकार के और भी प्रश्न पूछने पर माता ने उसे सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। तब पिता के राज्य का अपहरण करने वाले हैहय और तालजंघ आदि के मारने की उसने प्रतिज्ञा की और थोड़े काल में उन्हें नष्ट कर दिया। शक, यवन, काम्बोज, पारद और पह्लव भी हताश होकर कुलगुरु वसिष्ठ की शरण में गये। वसिष्ठ ने उन्हें जीवन्मृत बनाकर सगर से कहा—

'वत्स! इन जीते ही मरे हुओं का अनुसरण करने से कोई लाभ नहीं है। तुम्हारी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए मैंने ही इन्हें स्वधर्म और द्विजातियों के संसर्ग से वंचित कर दिया है।'

सगर ने गुरु की बात का अनुमोदन करते हुए उनके वेश बदलवा दिये। यवनों के सिर मुंडवा दिये, शकों को अर्धमुण्डित कर दिया, पारदों के लम्बे-लम्बे केश रखवा दिये, पह्लवों के मूँछ-दाढ़ी रखवा दी और इनको तथा इनके समान अन्यान्य क्षत्रियों को भी स्वाध्याय और यज्ञ आदि से बहिष्कृत कर दिया। अपने धर्म को छोड़ देने के कारण ब्राह्मणों ने भी इनका परित्याग कर दिया अतः ये म्लेच्छ हो गये। इसके पश्चात् सगर अपनी राजधानी में आकर सप्त द्वीपवती पृथ्वी का शासन करने लगा।[1]

अंतर

विष्णु पुराण का यह आख्यान संक्षिप्त और सरल है। सगर विजय में नाटककार ने स्वच्छन्द रूप से कल्पना लोक में विहार किया है। अयोध्या के राजा बाहु और उन पर आक्रमण करने वाले हैहय राजा दुर्दम का जो चित्र इस नाटक में चित्रित किया गया है उसमें मूल आधार की अपेक्षा कल्पना का योग अधिक है। जिन पुराणों में इस आख्यान का वर्णन है उनमें से किसी ने भी इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि अयोध्या पर अधिकार प्राप्त करने के उपरान्त भी हैहय राजा ने वन में भागे हुए राजा बाहु और उसकी

१ मूल कथानक का यह हिन्दी रूपान्तर गीताप्रेस के विष्णुपुराण के आधार पर किया गया है।

रानी को बन्दी बनाने या मार डालने का प्रयत्न किया हो या उसके मन्त्रि बाहु से मिल गये हो।

बाहु की दूसरी रानी यादवी द्वारा अपनी गर्भवती सपत्नी को, गर्भ के स्तम्भन के उद्देश्य से विष देने का तो उल्लेख है, किन्तु बाहु के मर जाने पर भी, उसके पुत्र सगर को ही सर्वथा नष्ट करने के उसके किसी प्रयत्न का निर्देश मूल आख्यान में नहीं है। सौतिया डाह के उग्र रूप को चित्रित करने के लिए ही नाटककार ने इसका विस्तार किया है।

राजा बाहु के मरने के उपरान्त पुराण के आख्यान के अनुसार सगर का जन्म, लालन पालन तथा शिक्षा-दीक्षा सब-कुछ महर्षि और्व के आश्रम में ही होती है। पूर्ण रूप में शिक्षित तथा वयस्क होकर वह वहाँ से निकलकर अपने दायित्व का निर्वाह करता है परन्तु सगर विजय नाटक में, नाटककार ने सगर का जन्म तो और्व के आश्रम में ही दिखाया है किन्तु इसके पश्चात कुछ वर्षों तक शिशु सगर का पालन वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती ने किया है। उसकी राजकुमारोचित शिक्षा दीक्षा कहाँ हुई इसका कोई उल्लेख नहीं है। अयोध्या की प्रजा दुर्दम के क्रूर शासन के विरुद्ध विद्रोह करती है और इस विद्रोह का नेतृत्व स्वयं महर्षि वसिष्ठ करते हैं। इसका भी मूल आख्यान में उल्लेख नहीं है। इस प्रकार नाटककार ने इसमें मूल घटनाओं का परिवर्तन तथा युग की भावना के अनुरूप नयी नयी उद्भावनाओं का सृजन यत्र-तत्र बहुत किया है।

हरिवंश पुराण

हरिवंश पुराण में सगर के आख्यान का यह भाग, कुछ बातों को छोड़कर प्रायः विष्णु पुराण के आख्यान से मिलता है।[1] इसकी कुछ विशेष बातें ये हैं—

१—यहाँ कहा गया है कि अयोध्या का राजा बाहु धर्मयुग में अति धार्मिक नहीं था, इसी लिए हैहय आदि राजाओं के आक्रमण में उसकी पराजय हुई—

> शकयवन-काम्बोज पारद पह्लव सह।
> हैहयास्तालजंघाश्च निरस्यन्ति स्म तं नृपम्।
> नात्यर्थं धार्मिकस्तात स हि धर्मयुगेऽभवत्॥[2]

आगे इस पराजय का एक कारण यह भी बताया गया है कि राजा बाहु व्यसनी था। व्यसन में लिप्त रहने के कारण ही सम्भवतः वह राज्य के संचालन पर ठीक प्रकार से ध्यान नहीं दे सका—

> बाहोर्व्यसनिनस्तात हृतं राज्यमभूत् किल।
> हैहयैस्तालजंघैश्च शकैः सार्धं विशाम्पते॥[3]

इसके साथ ही यवन, पारद, काम्बोज पह्लव और शक—इन पाँच गणों ने भी हैहय राजाओं का साथ दिया है—

---

१ हरिवंश पुराण अ० १३ १४ पृ० ५ गीताप्रेस गोरखपुर।
२ वही अ० १३ श्लोक २० ३१ पृ० ५०
३ हरिवंश पुराण अ० १४ ३

यवनाः पारदाश्चैव काम्बोजाः पह्लवाः शकाः ।
एते ह्यपि गणाः पञ्च हैहयार्थे पराक्रमन् ॥[1]

२—इस आख्यान में राजा बाहु की रानी सगर की माता का नाम यादवी दिया है। सम्भवतः यह यदुवंश की कन्या रही होगी—

पत्नी तु यादवी तस्य सगर्भा पृष्ठतोऽन्वगात् ।[2]

भागवत पुराण

भागवत पुराण[3] में सगर के आख्यान का यह रूप प्राप्त होता है। यहाँ यह आख्यान केवल छः श्लोकों में है। यहाँ के इस लघु आख्यान में कोई विशेष बात नहीं है। केवल इतना है कि महर्षि और्व की इस घोषणा के पश्चात् कि राजा सगर चक्रवर्ती है उसकी सौतों ने उसे भोजन के साथ विष दे दिया किन्तु बालक मरा नहीं।

ब्रह्म पुराण

ब्रह्म पुराण[4] में सगर के आख्यान का यह रूप हरिवंश के आख्यान के रूप के समान ही है। इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि सगर द्वारा पराजित किये गये राजाओं की नामावलि में यहाँ कुछ नाम और जुड़ गये हैं—

शका यवनकाम्बोजाः पारदाश्च द्विजोत्तमाः ।
कोल्लिसर्पा माहिषका दर्व्याश्चोलाः सकेरलाः ॥[5]

यह अविशेष है मुख्य कथा के साथ इसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

ब्रह्माण्ड पुराण

ब्रह्माण्ड पुराण में भगवान् परशुराम के चरित का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है।[6] इसी प्रसंग में सर्व विजयी अति शक्तिशाली राजा कार्तवीर्य के साथ उनके युद्ध एवं उसके संहार का भी विशद वर्णन है। कार्तवीर्य के वंशजों ने ही अयोध्या के राजा बाहु को परास्त किया था। यह पराजय भी पौराणिक युग के इतिहास की एक अति महत्त्वपूर्ण घटना बन गयी है। क्योंकि इस घटना के पश्चात् ही राजनीतिक जगत में सगर के उत्थान के साथ एक नये युग का आरम्भ होता है और आगामी युग की भूमिका के रूप में इस घटना को भी पुराणों में महत्त्व मिल गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में सगर के चरित्र का भी बड़ा विस्तार है।[7] इसी क्रम में उसके जन्म की भी कथा है।

---

१ हरिवंशपुराण अ० १४. ४
२ वही अ० १४. ६
३ भागवत पुराण स्कन्ध ९ अ० ८ श्लोक २-६
४ ब्रह्म पुराण अ० ८, श्लो० ३-५१
५ ब्रह्म पुराण अ० ८ श्लोक ५०
६ ब्रह्माण्ड पुराण उ० पा० ३ अ० २१-४७
७ ब्रह्माण्ड पुराण उ० पा० ३, अ० ४८-५६

यहा बताया गया है, कि सम्राट् कार्तवीर्य का पचम पुत्र जयध्वज था। उसका पुत्र तालजघ था। इस तालजघ के सौ पुत्र थे, वे सभी सामान्य रूप से तालजघ ही कहे जाते थे। उनमे सबसे बडा वीतिहोत्र था। भगवान परशुराम ने कार्तवीर्य को मारने के बाद उसकी सन्तति को भी या तो मार डाला था या वह हिमालय की ओर भाग गयी थी। वीतिहोत्र ने किसी प्रकार अपने पिता तालजघ की रक्षा की। क्षत्रिय हत्या से विरत होकर एव समस्त पृथ्वी काश्यप को देकर परशुराम के तप करने के लिए हिमालय पर चले जाने पर तालजघ ने पुन अपने ध्वस्त राज्य का उद्धार किया। क्षीणशक्ति बाहु तालजघ के आक्रमण का प्रतिरोध नही कर सका। वह अपनी गर्भवती रानी के साथ वन मे भाग गया और बाद को वही मर गया।

राजा के मरने के उपरान्त चक्रवर्ती के लक्षणो से समन्वित सगर का जन्म और पालन पोषण तथा शिक्षा दीक्षा महर्षि और्व के आश्रम मे ही सम्पन्न होती है। इसके पश्चात ब्रह्माण्ड पुराण मे सगर के दिग्विजय का बडे विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमे हैहयवशीय तालजघ एव उसके सहायक राजाओ के सहार का विशद विवरण है।[1] सगर विजय नाटक मे, सगर की दिग्विजय के प्रसग मे सगर द्वारा परास्त जिन राजाओ के नामो का उल्लेख हुआ है, यहा विस्तार से प्रत्येक राजा की पराजय और उसके साथ सगर के व्यवहार का वर्णन प्राप्त होता है।

पद्म पुराण (जैन)

आचार्य रविषेण सूरि के जैन पद्म पुराण मे भी अयोध्या के एक चक्रवर्ती राजा सगर की कथा का वर्णन है।[2] परन्तु यहा की कथा को साम्प्रदायिक स्वरूप प्रदान करने के लिए परिवर्तित कर दिया गया है। प्राय ऐसा होता आया है कि एक ही मूल कथा भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के आचार्यो के हाथो मे पडकर तत्तत् सम्प्रदाय के अनुरूप रूप प्राप्त कर लेती है। वैदिक युग अथवा उसके उत्तर युग के अनेक आख्यान पश्चात् युग मे लिखे गये जैन और बौद्ध साहित्य मे एक भिन्न ही रूप से दखने मे आते है। सगर के आख्यान के साथ भी यही बात जैन पद्म पुराण मे देखने को मिलती है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण का आख्यान भी विस्तृत नही है।[3] इसका रूप मे सामान्य-सा अन्तर है। सगर के पिता बाहु को यहा बहुत व्यसनी बताया गया है। वह मदिरा, स्त्री, मृगया एव द्यूत के व्यसनो मे आसक्त था। इन व्यसनो मे आसक्ति के कारण ही शत्रुओ ने आक्रमण किया और छल से उसके राज्य का अपहरण कर लिया।[4]

---

१ ब्रह्माण्ड पुराण उ पा अ ४८ १-४६
२ जैन पद्म पुराण पर्व ५ श्लो ७८ ६१ पृ० ७२ नाथूराम सस्करण
विष्णु धर्मोत्तर पुराण प्रथम खण्ड अ १३ श्लो० ७ १३ बम्बई स
४ विष्णु धर्मोत्तर पुराण, प्र० ख०, अ० १७ ८ ६

यहाँ के आख्यान की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजा की गर्भिणी रानी ने वन को जाते हुए राजा का अनुसरण किया। उसकी सपत्नी ने उसे पूर्व ही विष दे दिया था। वन में जाकर रानी ने सगर को जन्म दिया। पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् वन में राजा की मृत्यु हो गयी। धर्मप्रिय रानी उसके साथ ही सती हो गयी। किन्तु सगर के समस्त संस्कार महर्षि च्यवन ने कराये और उसे शस्त्र विद्या में अति निपुण बना दिया। युवावस्था प्राप्त होने पर च्यवन की कृपा से अजेय एवं पदस्थ सगर ने हैहय और तालजंघों का विनाश कर दिया। इसके पश्चात् अयोध्या में जाकर उसने निष्कंटक राज्य किया।[1]

अन्तर

अन्य पुराणों में जहाँ कहीं भी सगर के इस आख्यान भाग का वर्णन आया है सर्वत्र ही सगर का जन्म राजा बाहु के मरने के उपरान्त बताया है। महर्षि और्व द्वारा पति के साथ सती हो रही रानी को, गर्भवती होने के कारण वर्जित करने का उल्लेख भी प्रायः सभी आख्यानों में प्राप्त होता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का ही एक ऐसा आख्यान है जिसमें सगर का जन्म पिता के जीवन काल में बताया है तथा जन्मोपरान्त राजा की मृत्यु के साथ रानी का सती होना भी। इसके अतिरिक्त इस आख्यान में रानी को पति के साथ मरने से रोकने वाले एवं सगर को शिक्षा देने वाले महर्षि और्व का कोई उल्लेख नहीं है। और्व के स्थान पर यहाँ च्यवन का नाम है। यहाँ सगर पम्न तलवार बाँधे करना ही हैहय और तालजंघों का संहार करना है। यह भी इसी आख्यान की विशेषता है। इस प्रकार से विष्णुधर्मोत्तर पुराण का आख्यान अन्य आख्यानों एवं नाटक की कथा से सर्वाधिक अंश में भिन्न है।

रामायण एवं महाभारत

वाल्मीकीय रामायण में राजा सगर की कथा विस्तार से कही गयी है।[2] किन्तु इसमें सगर की कथा का वह भाग नहीं आता जिस पर उमाशंकर भट्ट का यह सगर विजय नाटक आधारित है। रामायण में सगर की कथा जहाँ से आरम्भ होती है नाटक की कथा वस्तु की आधारभूत कथा उससे पूर्व ही समाप्त हो जाती है। इस सगर विजय नाटक की कथा सगर के जन्म से पूर्व उसके पिता बाहु की हैहयवंशीय राजा दुर्दम द्वारा पराजय से आरम्भ होती है जबकि वह अपनी गर्भवती रानी विशालाक्षी के साथ अयोध्या छोड़कर वन की ओर भाग जाता है और कुमार सगर के दिग्विजय करके लौटने पर समाप्त हो जाती है। रामायण की कथा का आरम्भ सगर के सम्राट बनने के कुछ समय के पश्चात्—

अयोध्याधिपतिर्वीर पूर्वमासीत नराधिप।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकाम स चाप्रज॥[3]

---

१ विष्णुधर्मोत्तर पुराण प्र ख अ १७ १ १७
२ वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग ३८ ४१
३ रामायण बालकाण्ड सर्ग ८ श्लोक २

इन शब्दों में होता है। राजसिंहासन पर बैठने के कुछ वर्षों के पश्चात ही, सम्भवतः अपनी आयु को कुछ ढलते देखकर सगर को संतति का अभाव खला होगा और उस अभाव को दूर करने के लिए विद्वान पुरोहितों के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किया होगा क्योंकि आख्यान के आगे के विवरण में संतान प्राप्ति के प्रयत्नों का ही चित्रण है। संतान प्राप्ति के अनन्तर अश्वमेध यज्ञ और उसके पश्चात भूमि पर गंगा लाने के प्रयत्न की एक विस्तृत कथा है। सगर विजय की कथावस्तु सगर के और उसके पिता के जिस वृत्त से सम्बद्ध है, रामायण में उसे सर्वथा छोड़ दिया गया है।

महाभारत में सगर की जो कथा आती है[1] उसकी भी यही स्थिति है। यहाँ की कथा भी सगर के राजा बनने के उपरान्त आरम्भ होती है कथा के पूर्व भाग का चित्रण नहीं है। केवल शान्तिपर्व में एक स्थल पर, सगर का बाहु के पुत्र के रूप में उल्लेखमात्र हुआ है।[2]

विवेचन

भट्टजी की सिद्ध लेखनी से प्रसूत यह एक परिमार्जित एवं सुंदर रचना है। यह उस युग की रचना है जब भारत में राष्ट्रीय जागरण का आंदोलन अपने यौवन पर था। फलतः प्रस्तुत नाटक युग की भावना से पूर्णतया प्रभावित है। देशवासियों में राष्ट्रीय भावना को जागृत तथा उद्दीप्त करने की क्षमता इसमें भरपूर है।

जैसा कि स्पष्ट है इस सगर विजय नाटक में भट्टजी ने सगर की सम्पूर्ण कथा को न लेकर उसके प्रारम्भिक भाग को ही लिया है। इसमें राजतिलक के पूर्व तक की कथा को ही आधार बनाया गया है। पुराण साहित्य में सगर के सम्राट बनने के पश्चात की कथा का जितना अधिक विस्तार है उतना पूर्व की कथा का नहीं है। जहाँ कहीं यह पूर्व भाग की कथा मिलती है वहाँ इसका रूप संक्षिप्त ही है। सम्भवतः इसीलिए नाटककार को अपने नाटक की कथावस्तु का आधार सगर की कथा को बनाते हुए अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग अधिक करना पड़ा है। सम्पूर्ण नाटक में छोटी सी कथा के प्रसार के लिए यह आवश्यक भी था।

जो कुछ भी हो भट्टजी ने युग की भावना का रंग देते हुए इस छोटे से आख्यान का खूब पल्लवन किया है। बाहु, सगर, वसिष्ठ, अरुन्धती और्व—इन पात्रों को छोड़कर शेष के या तो नाम बदले हुए हैं या सर्वथा काल्पनिक हैं। नाटक की भाषा शैली तो परिमार्जित है ही इसके संवाद विशेष रूप से प्रभावोत्पादक हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कथा का साधारण रूप प्रस्तुत नाटक में खूब निखरकर आया है।

---

१ महाभारत वनपर्व अ० १०६।१७
२ महाभारत शान्तिपर्व अ० ५७ श्लोक ८

शक्तिपूजा[1]

डी० मुखर्जी गुप्त लिखित यह नाटक महिषासुर की सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा को लेकर चला है। सम्पूर्ण कथा तीन अंकों में विभाजित है। संक्षेप में इसकी कथा निम्नलिखित है—

दैत्याधिपति रम्भासुर का वध करने के उपरान्त जब इन्द्र को ज्ञात होता है कि रम्भासुर अपनी पत्नी महिषी के गर्भ में अपना वंश छोड़ गया है तो वह अति चिन्तित होता है। यही त्रिपुर रम्भासुर का मन्त्री तथा साथी। रम्भासुर की पत्नी है जो त्रिपुर की प्रणयिनी भी है। यह भेद महिषी को अभी हाल में ज्ञात हुआ है। महिषासुर की उत्पत्ति पर दैत्यपुरी में उल्लास छा जाता है। बड़े होने पर उसे देवताओं के विरुद्ध सिखा दी जाती है परिणामस्वरूप त्रिलोकी पर वश करने के कुछ दिन बाद महिषासुर ब्रह्मा की आराधना करने चला जाता है। इन्द्र तथा कामिनियाँ विविध प्रकार अप्सराओं द्वारा उसकी तपस्या भंग करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु असफल रहते हैं। उधर महिषासुर ब्रह्मा से अपना वांछित वरदान अमरता और पूजा प्राप्त कर लेता है। किन्तु ब्रह्मा उस वरदान के साथ यह भी कह देते हैं कि कुमारी से मृत्यु न जाने कब होगी अन्यथा तुम अमर हो।

महिषासुर वर प्राप्ति के उपरान्त लौटकर त्रिपुर को देवताओं से युद्ध करने के लिए भेजता है। त्रिपुर इन्द्र से लड़ता है किन्तु उसे बार-बार अपनी प्रेमिका दासी का स्मरण हो आता है। मानवी यह जानकर सन्देशवाहक के द्वारा अपना सिर भेजती है जिससे वह सब कुछ भूलकर मस्त होकर लड़ सके। महिषासुर स्वयं महायज्ञ पहुँचता है क्योंकि उसे ज्ञात होता है कि कात्यायन के आश्रम में उस नारी का जन्म हो चुका है जिससे उसकी मृत्यु होगी। यह नारी देवताओं के अंश द्वारा निर्मित थी। महिषासुर मायाधर होने के कारण युद्धक्षेत्र में नाना प्रकार के रूप धारण करके युद्ध करता है। दुर्गा ने देवताओं को पीछे कर पहले त्रिपुर से तदनन्तर महिषासुर से विकट युद्ध करती है। जब महिषासुर की पराजय किसी प्रकार नहीं होती तो बृहस्पति और कात्यायन देवताओं को उपाय बताते हैं तदनुसार महिषासुर की माता रणक्षेत्र में पहुँचकर महिषासुर को युद्ध से विरत करते हुए दुर्गादेवी में माता के अंश का संकेत करती है। महिषासुर दया की अभिलाषा करता है और स्वयं अपनी मृत्यु माँगता है। त्रिशूलधारिणी देवी अपना त्रिशूल महिषासुर के वक्ष से लगा देती है।

आधार तथा अन्तर

शक्तिपूजा नाटक की कथा बस इतनी ही है। पुराण प्रसिद्ध आख्यान महिषासुर की

---

१ प्रकाशक आत्माराम एण्ड संस दिल्ली ६ प्रथम संस्करण १९५२

कथा इस नाटक का आधार है किन्तु पुराणों में विभिन्न स्थलों पर इसका विभिन्न रूप मिलता है जो निम्नलिखित है—

मार्कण्डेय पुराण

मार्कण्डेय पुराण[1] में कथा उस स्थल से प्रारम्भ होती है जब महिषासुर के उपद्रवों से समस्त स्वर्ग में त्राहि त्राहि मची हुई थी। देवताओं को जीतकर महिषासुर स्वयं इन्द्र बन बैठा था। देवताओं ने अपनी विपत्ति का वर्णन विष्णु के सम्मुख जाकर किया तो विष्णु अति क्रुद्ध हुए। उनके साथ ही शम्भु तथा सूर्य चन्द्र इत्यादि अन्य देवगण भी क्रोध से लाल हो गये। तब उन सबके तेज से एक नारी का जन्म हुआ। इसी देवी के द्वारा महिषासुर का अन्त हुआ।

महिषासुर का देवताओं से युद्ध चिक्षुर सेनापति द्वारा सहायता देवी के द्वारा महिषासुर का वध इत्यादि प्रसंग मार्कण्डेय पुराण में हैं किन्तु अन्य घटनाएँ यथा महिषासुर के द्वारा ब्रह्मा की आराधना तथा वरयाचना इत्यादि का कोई उल्लेख नहीं है।

इन्द्र की रम्भा के लिए यहाँ बृहस्पति तथा कश्यप भी परस्पर परामर्श करते नहीं दीख पड़ते। देवी-जन्म के उपरान्त यहाँ युद्ध वर्णन ही प्रमुख है।

वामन पुराण

वामन पुराण[2] में महिषासुर की उत्पत्ति का विवरण है। इस कथा का रूप वहाँ इस प्रकार है—

महिषासुर रम्भासुर का पुत्र था। रम्भासुर और करम्भासुर दोनों भाई थे। अपुत्र होने की स्थिति में दोनों ने भयंकर तप किया। करम्भ जल में तप कर रहा था और रम्भासुर पंचाग्नि तप रहा था। इन्द्र ने ग्राह बनकर करम्भ का पैर खींच लिया। करम्भ की मृत्यु के उपरान्त नाक खिन्न हो रम्भ ने अपनी गर्दन काटनी चाही किन्तु अग्नि देवता के रोकने से वह रुक गया। इसने अग्नि से भी अधिक प्रचण्ड तेजवान पुत्र प्राप्ति का वर मांगा जिसको अग्नि ने देना स्वीकार कर लिया। किन्तु इस पुत्र की उत्पत्ति माता महिषी के पति के साथ चिता में जलने पर हुई—

ततो चितामध्यादुत्तस्थौ पुरुषो रौद्र दर्शन ॥[3]

नाटक में महिषासुर की माता महिषी पति के साथ जलने की इच्छा प्रकट करती है, किन्तु मन्त्री द्वारा रोक ली जाती है। कुछ समय उपरान्त वह महिषासुर को जन्म देती है। महिषासुर के देवी के साथ भयंकर युद्ध का विवरण भी वामन पुराण में प्राप्त है।

नाटक की शेष घटनाएँ वामन पुराण में नहीं मिलती।

---

१ मार्कण्डेय पुराण अध्याय ८३ प १ ३

२ वामन पुराण अध्याय २

३ वामन पुराण अध्याय १७, श्लोक ६६

देवीभागवत पुराण

देवीभागवत पुराण[1] में महिषासुर की कथा अति विस्तार में वर्णित है। महिषासुर की उत्पत्ति यहाँ भी महिषी के चिता में प्रवेश करने के उपरान्त अग्नि से होती है—

वार्यमाणाऽपि यक्षैः सा प्रविवेश हुताशनम्।
ज्वालमालाकुलं साध्वी पतिमादाय वल्लभम्॥
महिषस्तु चितामध्यात्समुत्तस्थौ महाबलः।
रम्भोऽप्यन्यद्वपुः कृत्वा निःसृतः पुत्रवत्सलः॥[2]

महिषासुर के वध की कथा का रूप भी यहाँ नाटक की कथा से भिन्न है। यहाँ महिषासुर का वध देवी के त्रिशूल से न होकर चक्र (रथाङ्गेन) के द्वारा होता है—

इत्युक्त्वा दारुणं चक्रं मुमोच जगदम्बिका। चिच्छेद रथाङ्गेन दानवस्य तदा रणे।[3]

नाटक की कथा के समान देवताओं के गुरु बृहस्पति यहाँ इन्द्र के परामर्शदाता हैं।

वाराह पुराण

वाराह पुराण[4] में महिषासुर की उत्पत्ति का विवरण नाटक तथा अन्य पुराणों से एकदम भिन्न है।

एक दिन माहिष्मती दैत्यपुत्री अपनी सखियों के साथ मन्दराचल की घाटी में विचरण कर रही थी। वहाँ एक महा तेजस्वी मुनि तपस्या कर रहे थे। महिषी रूप बदलने की कला में पारंगत थी। अतः उसने रूप परिवर्तित कर मुनि को डराया और इस हेतु उसने महिषी का रूप धारण कर लिया। मुनि ने अपने योगबल से सब कुछ जान लिया और कन्या को शाप दिया कि तुमने मुझे जिस रूप से डराने का प्रयत्न किया है तुम वही हो जाओगी। महिषी बनने के भय से माहिष्मती मुनि के चरणों पर गिर पड़ी और तब करुणार्द्र हो मुनि ने अपने शाप का रूप परिवर्तित कर दिया कहा—

अनेनैव स्वरूपेण पुत्रमेकं प्रसूय वै।
शापान्तो भविता भद्रे मद्वाक्यं न मृषा भवेत्॥[5]

इस प्रकार शापमुक्त होकर माहिष्मती नर्मदा के तट पर पहुँची जहाँ सिन्धु द्वीप नाम के एक महातपस्वी तपस्या कर रहे थे। वहीं एक अन्य सुन्दरी कन्या इन्दुमती नाम की थी। मुनि जल में उसे विवस्त्र देखकर स्वयं को वश में न रख सके। इन्हीं के द्वारा महिषासुर की उत्पत्ति हुई।

देवी के साथ महिषासुर का युद्ध भी यहाँ एक विचित्र ढंग से होता है —

---

१ देवीभागवत पुराण (पण्डित पुस्तकालय काशी) सन् १९५६ पंचम स्क० अ० २ १८
२ देवीभागवत पुराण पंचम स्कन्ध अ० २ श्लोक ४६ ४७
३ देवीभागवत पुराण पंचम स्कन्ध अ० २ श्लोक ६४
४ वाराह पुराण अध्याय ९५ श्लोक १७ ७२
५ वाराह पुराण अध्याय ९५ श्लोक १६

महिषासुर देवी के पास विवाह का सन्देश भेजता है किन्तु देवी स्वीकार नही करती और अपनी सेना को लेकर महिषासुर के साथ दश सहस्र वर्ष पर्यन्त युद्ध करती रहती है और अन्तत देवी के त्रिशूल से ही महिषासुर की मृत्यु होती है—

पदभ्यामाक्रम्य शूलेन निहतो दत्य नायक ।
शिरश्चिच्छेद खडगेन तत्र चान्त स्थित पुमान ।।[1]

नाटक की शेष घटनाएँ यहा भी वर्णित नही हैं।

पदमपुराण

पद्मपुराण[2] म महिषासुर की जो कथा आई है, उसका स्वरूप बहुत कुछ वाराहपुराण के ही सदृश है—

नारद द्वारा देवी के अतुलित सौन्दय का वणन सुनकर, महिषासुर उसकी प्राप्ति के लिए लालायित हो उठा। अपने आठो मन्त्रियो से उसने इस सम्बन्ध मे मन्त्रणा की। प्रघस नाम वाले मन्त्री ने कहा कि 'उस देवी का निर्माण देवताओ के काय के लिए किया गया है। वह परमशक्ति, तजस्विनी, लोकधारिणी तथा महासती है अतएव तुम्ह उसकी प्राप्ति की कामना भूलकर भी नही करनी चाहिए' किन्तु विघस नाम के मन्त्री का मत था कि देवी के पास दूत का भजकर स्वय देवताओ पर आक्रमण करना उचित है जिससे देवी प्रभावित होकर महिषासुर को ही (विजयी होकर इन्द्र बन जाने पर) वरे।

दूत विद्युत्प्रभ न देवी के पास जाकर महिषासुर की उत्पत्ति का विस्तृत विवरण देते हुए बताया उसका जन्म सिन्धु द्वीप महातपस्वी के शुक्र से हुआ है। माहिष्मती उसकी माता है।' यहा का विवरण ठीक वाराहपुराण के सदृश है। जिस कन्या को विवस्त्र देखकर मुनि आकृष्ट हुए थ केवल उसका नाम यहा विद्युन्मती है वाराहपुराण सदृश इन्दुमती नही। अत दूत ने देवी से इतन महान प्रभावशाली एव पराक्रमी दानवराज से विवाह कर लेने की प्राथना की किन्तु देवी यह सुनकर कुछ नही बोली केवल हँस दी। तब उसकी जया नाम की प्रतिहारी ने दूत से कहा यह असम्भव है।'

उधर नारद न देवी स महिषासुर क द्वारा देवा पर आक्रमण की चर्चा करके स्वय युद्ध करने का आग्रह किया तब वह देवी घोर रूप धारण कर महिषासुर के साथ विकराल युद्ध करन लगी।[3]

स्कन्द पुराण (ब्रह्मखण्ड)[4]

महिषासुर की उत्पत्ति का स्कन्द पुराण म भिन्न रूप है—

१ वाराह पुराण अध्याय ९५ श्लोक ५५ ५६
२ पद्म पुराण (गुरुमण्डल कलकत्ता) स २०१ १९५७ (सृष्टिखण्ड) अध्याय ३५
३ पदम पुराण, (गुरुमण्डल कलकत्ता) स० २ १३ सन् १९५७ (सृष्टि खण्ड) अ० ३५ श्लोक १५५ १५६
४ स्कन्द पुराण (गु० म० प्र) (ब्रह्म खण्ड) स० २०१८ सन १९६१ अ० ६

एक बार जब दिति के समस्त पुत्र सुरासुर युद्ध में मारे गये तो दिति ने अपनी पुत्री से कहा कि, तुम एक ऐसा पुत्र के लिए तपस्या करो जो देवताओं को नष्ट कर सके।' दिति की पुत्री ने भयंकर तप से प्रसन्न होकर सुपार्श्व मुनि ने वर दिया कि 'मैं तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हूँ किन्तु क्योंकि तुमने महिष की आकृति धारण करके तप किया है इस लिए तुम्हें महिष की आकृति का ही एक असुर कहलाने वाला पुत्र प्राप्त होगा।

यही पुत्र महिषासुर कहलाया। असुरों के सामन्त होकर तब महिषासुर से प्रार्थना की कि विष्णु ने हमारी जिस धरती से हम वंचित कर दिया है उसको पुनः प्राप्ति का तुम उपाय करो। महिषासुर ने तब देवताओं के साथ भी भयंकर युद्ध किया जिसमें अगम्य गुरु मारे गये।

महिषासुर के विकट पराक्रम से दुःखी हो देवता ब्रह्मा और विष्णु के पास गये और कहा कि महिषासुर ने हम सबको धरती पर से हटाकर स्वर्ग पर अधिकार कर लिया है। यह सुनकर ब्रह्मा विष्णु चन्द्र, सूर्य सब देवता क्रोध से भर गये और तब उनके तेज से एक नारी की उत्पत्ति हुई जो दुर्गा कहलायी। देवताओं ने अपने अपने अंश से उद्भूत उस नारी को अनेक आभूषण तथा वस्त्र दिये।

देवी सब आभूषणों तथा वस्त्रों से सुसज्जित होकर महिषासुर से युद्ध करने पहुँची। देवताओं ने भी देवी का अनुगमन किया। इस प्रकार देवताओं के नायकत्व में असुरों तथा महिषासुर के साथ भयंकर युद्ध हुआ और तब देवी द्वारा बड़े प्रयत्नों के उपरान्त महिषासुर का वध हुआ।

स्कन्द पुराण (माहेश्वर खण्ड)

स्कन्द पुराण के माहेश्वर खण्ड[1] में महिषासुर के वध का वर्णन इस प्रकार है—

समस्त देवताओं ने जब देवी से जाकर महिषासुर के अत्याचारों का वर्णन किया तो देवी ने महिषासुर का युक्तिपूर्वक मारने का निश्चय किया। देवताओं के जाने पर उसने मोहिनी रूप धारण कर लिया और एक सुरम्य वन में बैठकर तपस्या करने लगी। इस वन की रक्षा चार बटुक कर रहे थे। महिषासुर के सैनिक कभी वन में मृगया हेतु आ पहुंचे और बटुकों से सुरक्षित वन को देखने के लिए अति उत्सुक हो उठे किन्तु बटुकों ने प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया अतएव महिषासुर के सैनिक पक्षियों का रूप धारण कर भीतर प्रवेश कर गये।

तप करती हुई उस सुन्दर बाला को देखकर वे अत्यन्त विस्मित हुए और महिषासुर के समीप पहुंचकर उन्होंने उस बाला के अनुपम सौंदर्य का वर्णन किया। इस पर महिषासुर वृद्ध रूप धारण कर वहीं पहुंचा और उस बाला की तपस्या का कारण उसकी सखियों से पूछा। उन्होंने जब यह बताया कि इसकी तपस्या का उद्देश्य सुयोग्य वर प्राप्ति है तो महिषासुर ने स्वयं को ही समर्पित कर दिया।

देवी ने कहा कि "मैं बलवान् पति चाहती हूँ। तुम अपना शौर्य प्रदर्शित करो।" देवी

---

१ स्कन्दपुराण (वङ्गमण्डल, कलकत्ता) माहेश्वर खण्ड, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध, अध्याय १० ११ पृष्ठ ५६७

े दैदीप्यमान स्वरूप को देखकर स्वय भी महिषासुर ने अपना बडा विकट स्वरूप दिखलाया तो देवी को समस्त देवताओ ने अपने अपने अस्त्र तथा आभूषणो से युक्त कर दिया और देवी ने दुर्गा का भीषण रूप धारण कर लिया, जिसे देखकर महिषासुर भयभीत होकर भाग गया।

अब देवी ने एक अन्य युक्ति निकाली। उसने देवताओ के गुरु को वानर रूप प्रदान कर महिषासुर के पास सदेश ले जाने के लिए कहा। सन्देश मे देवी ने महिषासुर को अपने दुष्कृत्यो से विरत होने के लिए कहलाया जिसे सुनकर महिषासुर अति कुपित हुआ और अपनी सेना सहित चढ आया। देवी ने भी अपने प्रत्येक अग से अपने गणो को उत्पन्न किया, जिन्होने महिषासुर के सब सैनिको को मार डाला और अतत देवी के द्वारा महिषासुर का वध किया गया।

स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड)

प्रभास खण्ड[1] मे कथा का आरम्भ देवी की उत्पत्ति से होता है। यहा कथा का रूप भी अन्य पुराणो की अपेक्षा थोडा भिन्न है—

ब्रह्मा ने एक अप्रतिम सौदर्य से युक्त कन्या का निर्माण किया। उस कन्या ने घोर तप प्रारम्भ किया। नारद ने जब उस कन्या को देखा तो विस्मय विमुग्ध रह गये।

उन्होने महिषासुर के पास जाकर कन्या के अतुलित सौदर्य का बखान किया। महिषासुर स्वय कामातुर हो प्रभासस्थित उस कन्या के पास पहुचा और अपनी भार्या बनने की प्रार्थना की।[2] देवी यह सुनकर हँसी और उसकी श्वास से तब शस्त्रो को हाथो मे थामे हुए भयानक स्त्रियाँ उत्पन्न हो गयी। उनके द्वारा उस दुरात्मा महिषासुर की सेना मारी गयी। तब देवी ने महिषासुर के सीगो को पकडकर अपने त्रिशूल से उसका वध कर दिया।

इस प्रकार इन विभिन्न कथाओ मे महिषासुर तथा देवी की जन्मोत्पत्ति तथा महिषासुर का वध ही प्रमुख है। इन्ही कथाओ के आधार पर अपनी कल्पना का आवरण चढाकर लेखक ने इस नाटक को रचा है। नाटक की कथा मे दानवी, कात्यायन इत्यादि पात्रो का समावेश, लेखक ने अपनी कल्पना से किया है। दानवी तथा असुर सेनापति चिक्षुर का प्रणय इन्द्र की कुटिलता देवताओ का बन्दी होना इत्यादि सभी घटनाएँ कल्पित हैं। इन सब कथाओ मे मुख्य तथ्य जो द्रष्टव्य है वह यह है कि महिषासुर की तपस्या के सम्बन्ध मे वहा कोई सकेत नही मिलता। हा महिषासुर का शौर्य अनुपमेय है, इसमे सब एक मत हैं।

विवेचन

उपर्युक्त सभी ग्रन्थो मे महिषासुर का सर्वत्र एक पराक्रमी, किन्तु कामी अत्याचारी एव अविवेकी असुर के रूप मे ही चित्रित किया गया है। नाटककार ने इसके विपरीत अपनी कृति मे महिषासुर के चरित्र पर एक नूतन दृष्टि से विचार किया है।

वस्तुत इस नाटक की कथा मूल कथा से इसी दृष्टि से भिन्न है कि असुरो के

---

१ स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड) अध्याय ८२

२ स्कन्द पुराण (प्रभास खण्ड) अध्याय ८२, श्लोक १५

प्रति अब तक चली आती हुई धारणा को बदलने में छिन्न करने का प्रयास किया है और वह इसमें सफल हुआ है। अपनी जाति के गौरव एवं स्वाभिमान की रक्षा करने वाला व्यक्ति हीन माना भी नहीं जा सकता। लेखक का स्वयं तथ्य इस लिया में द्रष्टव्य है—

'बंगाल में दुर्गा पूजा बहुत प्रसिद्ध है। मैंने जब जब यह पूजा देखी तब-तब यही भावना मेरे मस्तिष्क को उद्वेलित करती रही कि यह महिषासुर कितना शक्तिशाली होगा जिसने देवी से टक्कर ली।—मैंने उसके जीवन का अध्ययन किया। महिषासुर के सम्बन्ध में अनेक लेख व अनेक रचनाएँ पढ़ीं। इनमें महिषासुर को एक उद्दंड असुर के रूप में ही चित्रित किया गया है किन्तु मैंने अपने महिषासुर को दूसरे रूप में देखा। उपर्युक्त ग्रन्थों के महिषासुर से शक्तिपूजा का महिषासुर अपना अलग महत्त्व रखता है। अवश्य यह एक पौराणिक कथा है। हो सकता है आप यह कहें—अपनी कल्पना से काम लेने का क्या अधिकार है ? तो मैं इतना ही कहूँगा कि कथा को विकृत न करते हुए किसी के चरित्र में कोई खूबी हो तो उसे नई स्याही से अंकित करने की स्वतन्त्रता तो लेखक को होनी ही चाहिए। असुरों के प्रति घृणा की भावना बहु प्रचारित है। किन्तु मैंने घृणा के स्थान पर सम्मान और श्रद्धा को ही आसन दिया है। मैंने अपने महिषासुर को एक महान शक्तिशाली रूप में चित्रित किया है। देवताओं की सब शक्ति से भी वह टक्कर लेता है। उसकी वीरता देखकर भगवती दुर्गा भी दंग रह जाती हैं।'[1]

इस प्रकार का कथानक पौराणिक होते हुए भी प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से आधुनिक युग के बहुत समीप है। पुरानी असंगत प्रतीत होने वाली मान्यताओं को तोड़ कर चलना ही आधुनिक युग का वैशिष्ट्य है। लेखक ने भाव प्रतिपादन तथा शैली प्रतिपादन दोनों में नूतनता बरती है। अतएव कल्पना का प्रचुर अंश भी नाटक में विद्यमान है। नाटककार ने अपनी कल्पना से न केवल नाटक को एक रोचक एवं मनोहारी रूप ही प्रदान किया है अपितु पुराण प्रसिद्ध बहुत से असंगत प्रसंगों का रूप परिवर्तित करके रचना को अति तर्कसंगत एव स्वाभाविक बना दिया है।

संक्षेप में, परम्परा से चले आते हुए एक पौराणिक आख्यान को लेखक ने एक नूतन एवं बुद्धिसंगत रूप दिया है। विविध परिवर्तन तथा परिवर्धन के साथ नाटकीय विधा में प्रस्तुत इस पौराणिक कथा के सौंदर्य में इसके मूल रूप से निश्चित ही पर्याप्त वृद्धि हुई है

नाटक अति रोचक एवं परिष्कृत है।

देवहूति

श्रीराजाराम शास्त्री का 'देवहूति'[2] एक पौराणिक कथा पर आधारित लघु नाटक है। शास्त्रीजी ने इसे मुख्यतः रेडियो के लिए लिखा है। इसमें अंक तो छः हैं किन्तु

१ नाटक का प्राक्कथन पृष्ठ क।

२ प्रकाशक सत्सहयोगी प्रकाशन जवाहरनगर दिल्ली १९५५

य दृश्य-स्थानीय से हैं। और इनका पृथक् दृश्यों में विभाजन नहीं किया गया है। इस नाटक की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

देवर्षि नारद के कहने से मनु अपनी पुत्री देवहूति का विवाह कदम ऋषि से करना चाहते हैं। ऋषि की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए वे अपना दूत आश्रम में भेजते हैं। इधर देवहूति ऋषि से अपने सम्बन्ध की बात जानकर अपना राजसी वेश त्यागकर आश्रम का-सा जीवन बिताने लगती है। देवहूति के इस प्रकार के जीवन से उसकी दोनों सखियाँ कुसुमप्रिया और चचला बहुत दुखी होती हैं और उसके निश्चय को बदलने का प्रयत्न करती हैं। उधर निर्वाण मार्ग में स्त्री बाधक है ऐसा कहकर कदम सम्बन्ध को अस्वीकार कर देते हैं। इससे देवहूति को प्रबल आघात लगता है। वह कदम के आश्रम में रहकर तप करने भर की स्वीकृति चाहती है। मनु का दूत पुनः आश्रम में जाता है। उसे अनुमति मिल जाती है। देवहूति के पिता महाराज मनु और माता शतरूपा दोनों उसे ऋषि के आश्रम में छोड़ आते हैं।

देवहूति के सौंदर्य और व्यवहार से मुनि का मन विचलित हो जाता है। वे उसे अपनी पत्नी बना लेते हैं और गृहस्थ जीवन बिताने लगते हैं। नौ कन्याओं के पिता बनने के उपरान्त उन्हें पुनः वैराग्य उत्पन्न होता है और वे सबको छोड़कर तप करने के लिए चल देते हैं। कई दिन तक प्रयत्न करने पर भी उनके मन को जब शांति नहीं मिलती तो पुनः देवहूति के पास लौट आते हैं और अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।

आधार

देवहूति और महर्षि कदम की कथा श्रीमद्भागवतपुराण[1] में आयी है, परन्तु नाटककार ने इस मूल कथा में पर्याप्त अंतर कर दिया है। यहाँ कथावस्तु का जो रूप प्रस्तुत किया गया है वह निम्नलिखित है—

भागवत पुराण में देवहूति और कदम का प्रसंग दो स्थलों पर आया है—प्रथम तो द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में भगवान के लीलावतारों की कथा के प्रसंग में द्वितीय ब्रह्मा द्वारा विविध प्रकार की सृष्टि रचना के प्रसंग में तृतीय स्कन्ध के अध्याय इक्कीस से चौबीस तक।

प्रथम स्थल में तो केवल इतना उल्लेख हुआ है कि कदम के घर में देवहूति के गर्भ से नौ कन्याओं के साथ भगवान् ने कपिल के रूप में जन्म लिया। ब्रह्मा की सृष्टि रचना के क्रम में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने दूसरा शरीर धारण करके सृष्टि की रचना में मनोयोग दिया क्योंकि वे देख चुके थे कि शक्तिशाली ऋषियों द्वारा भी सृष्टि का प्रसार विशेष नहीं हुआ। विचार करते-करते उनके शरीर के दो-भाग हुए। उन दोनों भागों से स्त्री और पुरुष का एक मिथुन उत्पन्न हुआ। उनमें जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी वह उनकी महारानी शतरूपा हुई। तब से मिथुन धर्म से प्रजा की वृद्धि होने लगी। स्वायम्भुव मनु ने शतरूपा से पाँच संतानें

---

[1] भागवत पुराण स्कन्ध ३ अ० २१-२४

उत्पन्न की। उनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र और आकूति, देवहूति और प्रसूति तीन कन्याएँ थीं। मनु ने बड़ी कन्या रुचि को दी, मध्यमा कर्दम को और प्रसूति दक्ष को। इनकी संतति से समस्त जगत भर गया।

इस प्रकार से यह थोड़ा सा विवरण आवश्यक होने से देवहूति के जन्म के सम्बन्ध में दिया गया है। देवहूति के पिता सम्राट् स्वायम्भुव मनु और उसकी माता शतरूपा प्रथम युगल माने गये हैं। इन्हीं से आगे मैथुनी सृष्टि का क्रम चला है। इनसे पूर्व प्रजापति ब्रह्मा ने जो भी रचना की, वह अमैथुनी ही थी। इसलिए सृष्टि के क्रम में प्रथम मनु स्वायम्भुव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वयम्भू-ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण ही इनका नाम स्वायम्भुव पड़ा। इनकी तीनों कन्याओं एवं दोनों पुत्रों का भी सृष्टि के विकास क्रम में प्रमुख स्थान माना गया है। इसीलिए भागवत में 'यैन आपूरितं जगत्' ऐसा कहा गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वायम्भुव मनु की मध्यमा पुत्री का विवाह कर्दम ऋषि से हुआ। भागवत में महर्षि कर्दम को प्रजापति कर्दम कहा गया है।[1]

देवहूति ब्रह्माजी के आदेश से सन्तति उत्पन्न करने के लिए सरस्वती नदी के किनारे पर विन्दुसर तीर्थ में अनुरूप पत्नी प्राप्त करने के लिए बहुत वर्षों तक भगवान् विष्णु की आराधना की।[2] प्रजापति कर्दम की पत्नी प्राप्ति के लिए शेष तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने कहा—

जिसके लिए तुमने आत्मसंयमादि से मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदय के उस भाव को जानकर मैंने पहले से ही उसकी व्यवस्था कर दी है। प्रसिद्ध यशस्वी सम्राट स्वायम्भुव मनु ब्रह्मावर्त में रहकर सात समुद्रों वाली समस्त पृथ्वी का शासन करते हैं। वे परम धर्मज्ञ महाराज महारानी शतरूपा के साथ तुमसे मिलने के लिए परसों आएँगे। वे एक *रूप-यौवन शील और गुणों से सम्पन्न पति की खोज करती हुई कन्या को तुम्हें देंगे। तुम्हीं* उसके लिए अनुरूप हो। बहुत वर्षों से तुम्हारा चित्त जैसी भार्या के लिए समाहित रहा है, अब शीघ्र ही वह राजकन्या तुम्हारी वैसी ही पत्नी होकर यथेष्ट सेवा करेगी। तुम्हारे अंश से उसके गर्भ से पहले नौ कन्याएँ होंगी और अन्त में मैं भी तुम्हारी पत्नी देवहूति के गर्भ में कपिल रूप में अवतीर्ण होकर सांख्यशास्त्र की रचना करूँगा।[3]

विन्दुसर तीर्थ में, जहाँ प्रजापति कर्दम तप कर रहे थे, भगवान के चले जाने पर वे निर्दिष्ट समय की प्रतीक्षा करते हुए विन्दुसरोवर पर ही रहे। उधर मनु अपनी महारानी और पुत्री के साथ स्वर्णजटित रथ पर सवार हो, पृथ्वी पर विचरते हुए उसी दिन कर्दम मुनि के आश्रम पर पहुँचे। उन्होंने देखा कि मुनि कर्दम अग्निहोत्र से निवृत्त होकर बैठे हैं। आतिथ्य-सम्भाषण के उपरान्त महाराज मनु ने कहा कि 'यह मेरी कन्या देवहूति प्रियव्रत और उत्तानपाद की बहन है और अवस्था, शील, गुण आदि में अपने योग्य पति को प्राप्त करना चाहती है। जबसे इसने नारदजी के मुख से आपके शील, विद्या, रूप, आयु और

---

१ भागवत पुराण ३।२१।३
२ भागवत पुराण ३।२१।६
३ भागवतपुराण ३।२१।२१-३२

गुणा का वर्णन सुना है, तभी से यह आपको अपना पति बनाने का निश्चय कर चुकी है।[1] मैंने सुना है कि आप विवाह के लिए उद्यत हैं। मैं यह कन्या आपको देता हूँ, आप स्वीकार करें।"[2] इसके पश्चात कर्दम ऋषि ने यह कहकर कि 'ठीक है, मैं विवाह करना चाहता हूँ और आपकी पुत्री भी अदत्ता है, इसलिए हम दोनों का ब्राह्म विधि से विवाह होना चाहिए।'[3] देवहूति को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार किया। इसके पश्चात उनका नौ कन्याएँ हुई और अंत में सांख्यशास्त्र के कर्ता कपिल मुनि का जन्म हुआ। महर्षि कर्दम ने ब्रह्मा के आदेश से अपनी सभी कन्याओं का विवाह करके[4] अंत में संन्यास ग्रहण किया। कपिल ने बड़े होकर अपने तत्त्वज्ञान के उपदेश से माता देवहूति को सांसारिक बंधनों से मुक्त करके परमपद की अधिकारिणी बना दिया।

भागवत पुराण में देवहूति और कर्दम की यह कथा बड़े विस्तार में वर्णित है। यहाँ उसका संक्षिप्त रूप, तुलनात्मक दृष्टि से विवेचना करने के उद्देश्य से दिया गया है। नाटककार ने भागवत की मूलकथा में जो परिवर्तन किए हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

सर्वप्रथम एवं सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर तो यही है, कि नाटककार ने नाटक के नायक महर्षि कर्दम के रूप को ही यहाँ भिन्न रूप में चित्रित किया है। प्रारम्भ में नाटककार ने उन्हें ब्रह्मलीन तपस्वी, ब्रह्मचारी एवं सर्वथा विषयविरक्त सिद्ध के रूप में चित्रित किया है। वे, सम्राट मनु के दूत को, जो कि देवहूति के साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर उनके पास भेजा जाता है यह कहकर लौटा देते हैं कि स्त्री साधना मार्ग में विघ्न है, अतः वे विवाह करना नहीं चाहते। परंतु मूलकथा में अनुरूप पत्नी की प्राप्ति के लिए ही तप करते दिखाये गये हैं। यहाँ वाञ्छित पत्नी प्राप्त करके सृष्टि का विस्तार करना ही उनकी साधना का उद्देश्य बताया गया है। सुदीर्घ तपस्या के उपरांत जब देवहूति उनको प्राप्त होती है, तो उसे वे सहर्ष पत्नी के रूप में स्वीकार करते हैं। विवाहोपरांत भागवत में उनके जिस गार्हस्थ्य का चित्रण है वह बड़े ही ऐश्वर्य एवं विभूति-सम्पन्न जीवन की झलक दिखाता है। सैकड़ों वर्षों तक वे अपने परम समृद्ध गृहस्थ जीवन का सुखोपभोग करते हैं। अंत में संन्यास भी लेते हैं किन्तु समग्र दायित्वों से मुक्त होकर।

इसके विपरीत नाटककार के महर्षि कर्दम नौ कन्याओं को जन्म देने के उपरान्त उनकी माता देवहूति समेत रोते बिलखते छोड़कर, तप करने के लिए चल जाते हैं परन्तु तपोवन में उनको जब मानसिक शान्ति नहीं मिलती तो पुनः अपनी पत्नी के पास ही लौटकर आते हैं और अपनी सन्तान के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हैं। नाटक के कर्दम वीतराग तो एक सीमा तक है, किन्तु उनमें कर्त्तव्यनिष्ठा एवं अपेक्षित दूरदर्शिता नहीं है। किन्तु भागवत के कर्दम, प्रजापति कर्दम हैं। प्रजा के लिए ही वे विवाह करते हैं

---

१ भागवत पुराण ३ २२ १
२ वही ३ २२ १४
३ वही ३ २२ १५
४ वही ३ २४ २२-२४ कला मरीचि को अनसूया अत्रि को श्रद्धा अंगिरा को हविर्भू पुलस्त्य को गति पुलह को क्रिया क्रतु को ख्याति भृगु को अरुन्धती वसिष्ठ को और शान्ति अथर्वा को विवाह में प्रदान की।

और अपनी प्रजा, सन्तान तथा प्रजोत्पत्ति का साधन, पत्नी के साथ अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करते हैं, अत जो रूप उनका यहाँ चित्रित हुआ है वह बड़ा ही उदात्त है। नाटक म उन्हे सिद्ध रूप मे चित्रित तो किया गया है, किन्तु वे पूर्ण रूप से इन्द्रियविजयी नहीं हैं। देवहूति के अनुपम सौन्दर्य को देखते ही वे अपने साधन पथ म विचलित हो जाते हैं। जिस नारी को वे अपनी साधना म विघ्न मानते थे वही उनकी आराध्य बन जाती है परन्तु भागवत के प्रजापति कर्दम की साधना देवहूति के साथ विवाह के उपरान्त चलती रहती है। देवहूति ने माता पिता के चले जाने पर, पति के सकेतो को समझकर पार्वतीजी के समान पति की प्रेमपूर्वक सेवा की। उसने कामवासना दम्भ, द्वेष लोभ पाप और मद का त्याग कर बड़ी लगन के साथ सेवा मे रहकर पवित्रता, गौरव सयम, शुश्रूषा प्रेम और मधुर भाषणादि गुणो से अपने तेजस्वी पति को सन्तुष्ट कर लिया—

पितर्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिंगित कोविदा।
नित्य पर्यचरत् प्रीत्या भवानीव भव प्रभुम् ॥[1]

इस प्रकार यहा उनका जो रूप है, उसम सिद्धत्व और प्रजापतित्व दोनो से युक्त होकर समत्व योग उच्यते[2] का वे यथार्थ उदाहरण प्रतीत होते हैं। नाटककार ने देवहूति और कर्दम के पुत्र महर्षि कपिल के सम्बन्ध म कोई सकेत नही दिया है जबकि भागवत की कथा का यह एक प्रधान अग है।

नाटक म देवहूति को मनु की पुत्री कहा गया है, किन्तु यह स्पष्टत नहीं बताया गया है कि किस मनु की पुत्री है। पुराणो म मन्वन्तरो का वर्णन प्राय मिलता है। यह उनका एक मुख्य अग है।[3] इन मन्वन्तरो के विविध मनुओ का वर्णन भी अनेक पुराणो म मिलता है। कही-कही ये वर्णन बड़े ही रोचक एव ज्ञानोपयोगी सामग्री से सम्पन्न हैं।

भागवत पुराण के अतिरिक्त, अन्य पुराणो म भी यत्र-तत्र स्वायम्भुव मनु शतरूपा एव उनकी सन्तति के सम्बन्ध म उल्लेख मिलते है। इन उल्लेखो का प्रस्तुत नाटक की कथा के साथ सम्बन्ध प्राय अत्यल्प है फिर भी इन प्रसगो पर विचार कर लेना कथा के स्रोत रूप को समझने म सहायक होगा।

कूर्म पुराण

कूर्म पुराण मे सृष्टि के विकास के क्रम म ही स्वायम्भुव मनु की एव उनकी पत्नी शतरूपा की उत्पत्ति का प्रकार बताया गया है। इन दोनो की सन्तति के सम्बन्ध म यहाँ प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्रो एव प्रसूति और आकूति दो कन्याओ का उल्लेख है। प्रसूति का विवाह दक्ष के साथ और आकूति का प्रजापति रुचि के साथ हुआ। इन चार

---

१ भागवत ३।२३।१
२ श्रीमद्भगवद् गीता अ २ ४८
३ सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्। कूर्म १।१।१२ वाराह २।४ मत्स्य ५३।६५ वायु ४।१ १ भविष्य १।२।४५

सन्ताना के अतिरिक्त यहा इस युगन की किसी अय पुत्री या पुत्र का उल्लेख नही है ।[1] यहा मथुनी सृष्टि के प्रसग म सत्त्वादि गुणा क उद्रेक और अभिभव का जिस रूप म निर्देश किया है वह साम्ख्यशास्त्रीय सरणि का अनुसारी है ।

देवीभागवत पुराण

देवीभागवत पुराण म मन्वन्तरा की चर्चा के प्रसग म स्वायम्भुव मनु और उनकी सन्तति का उल्लेख हुआ है ।[2] यहाँ स्वायम्भुव मनु को ब्रह्मा का आद्यपुत्र कहा गया है ।[3] इनकी पत्नी का नाम एव अय अध्याय म (८१-१६) शतरूपा ही बताया गया है । यहाँ इन दोनो से दो पुत्र और तीन पुत्रिया का उल्लेख है । पुत्रा के नाम प्रियव्रत और उत्तानपाद ही हैं । कन्याएँ क्रमश आकूति, देवहूति और प्रसूति बतायी गयी हैं । आकूति का रुचि के साथ, देवहूति का कदम के साथ और प्रसूति का दक्ष के साथ विवाह हुआ है । यहा पर देवहूति और कदम से उत्पन्न साम्ख्याचार्य कपिल का विशेष रूप स उल्लेख किया गया है ।[4] देवीभागवत का यह विवरण अति सक्षिप्त है । फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि स्वायम्भुव मनु और शतरूपा की पुत्री देवहूति का विवाह कदम स हुआ था और साख्य शास्त्र के प्रणेता कपिल इन्ही के पुत्र थे और इन्ही कपिल के उपदेश स माता देवहूति को तत्त्व ज्ञान प्राप्त हुआ ।[5] देवहूति और कदम की अय पुराण-स्रोता से प्रसिद्ध नौ कन्याओं का यहाँ कोई उल्लेख नही किया गया है ।

ब्रह्मपुराण

स्वायम्भुव मनु और उनकी सन्तति विषयक ब्रह्मपुराण का विवरण कुछ भिन्न प्रकार का है । मनु और शतरूपा का पुत्र वीर हुआ और वीर के काम्या से प्रियव्रत और उत्तानपाद उत्पन्न हुए । यह वीर की पत्नी काम्या प्रजापति कदम की पुत्री बतायी गयी है । अय पुराणो (भागवत ३ १३ ८६ ५६, कूम ८, १-१२ एव देवीभागवत ८ ३, १ १८) म प्रियव्रत और उत्तानपाद स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा के ही पुत्र कहे गय हैं, परन्तु यहा वे पौत्र बताये गए हैं । अयत्र कदम प्रजापति स्वायम्भुव मनु

१ कूम पुराण वेंकटेश्वर प्रेस स० अ० ८ १ १२
२ देवीभागवत पुराण पण्डित पुस्तकालय काशी १६५६ ८ ३ ११४
३ मन स्वायम्भुवस्त्वाद्य पद्मपुत्र प्रतापवान् ।
शतरूपापति श्रीमान सव मन्वतराधिप ॥ ८ अ १ १६
४ देवहूत्या च कपिलाख्यो च कस्मात ।
साख्याचाय सवनाने विख्यात कपिलो विभ ॥ ८ ३ १३ १४
५ कपिलोऽपि महायोगी भगवान् स्वाश्रमे स्थित ।
देवहूत्य पर ज्ञान सर्वाविद्यानिवतकम ॥
सविशेष ध्यानयोगमध्यात्मज्ञाननिश्चयम् ।
कापिल शास्त्रमाख्यात सर्वाज्ञान विनाशनम् ॥ ८ ३ १७ १८
भागवत ३ २५ १ ४४ म भी देवहूति को अपने पुत्र कपिल से ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति बतायी गयी है ।

के जामाता मान गये हैं जबकि यहाँ पुत्र के श्वसुर।[1] देवहूति का यहाँ मनु की सन्तान के रूप में या अन्यथा कोई उल्लेख नहीं है।

ब्रह्माण्ड पुराण

ब्रह्माण्ड पुराण में स्वायम्भुव मनु, शतरूपा और इन दोनों की सन्तति का उल्लेख है। यह ब्रह्मपुराण से कुछ अंशों में भिन्न प्रकार का है।[2] स्वायम्भुव मनु और शतरूपा दोनों ही ब्रह्मा के तप प्रधान विधानकृत शरीर से उत्पन्न हुए हैं किन्तु स्वायम्भुव मनु को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए शतरूपा को सुदीर्घकाल पर्यन्त तपस्या करनी पड़ी है।[3] स्वायम्भुव मनु का यहाँ विराट ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण वैराज मनु भी कहा गया है।[4] शतरूपा से उनके दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद तथा दो कन्याएँ आकूति और प्रसूति उत्पन्न हुईं। आकूति का विवाह प्रजापति रुचि से तथा प्रसूति का दक्ष से हुआ। दोनों कन्याओं की सृष्टि का विपुल विस्तार हुआ। स्वायम्भुव मनु की तृतीय पुत्री देवहूति का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है।

मत्स्य पुराण[5]

मत्स्य पुराण में स्वायम्भुव मनु की पत्नी का नाम शतरूपा नहीं अनन्ती है।[6] इसी से मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्रों की उत्पत्ति बतायी गयी है। इस प्रसंग में मनु की किसी भी कन्या का उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है।

अन्य पुराणों में जिस शतरूपा को स्वायम्भुव मनु की पत्नी प्रतिपादित किया गया है उसे यहाँ प्रथम तो ब्रह्मा की पुत्री ही बताया गया है। और उसके इस शतरूपा नाम के अतिरिक्त सरस्वती, गायत्री और ब्रह्माणी नाम भी बताए गये हैं। अपनी परम सुन्दरी पुत्री को देखकर प्रजापति के मन में काम का अंकुर जाग्रत होता है।[7]

ब्रह्मा के चतुर्मुख होने का कारण भी उनके इस नैतिक पतन को बताया गया है। इतना ही नहीं, अब तक का समस्त अर्जित तप भी इसी कारण नष्ट हो जाता है—

---

१ ब्रह्मपुराण, प्रकाशक मनसुखराय मोर, कलकत्ता, सं० १९५८, प्रथम भाग, अध्याय १, ४९-५८ तथा अध्याय द्वितीय।

२ ब्रह्माण्ड पुराण, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९ ६ १४-२८ पुन० २ ४२

यहा सा देवी नियत तप्त्वा तप परमदुश्चरम्।

भर्तार शान्तयशस पुरुष प्रत्यपद्यत।

स वै स्वायम्भुव पूर्व पुरुषो मनुरुच्यते ॥ १ ६ ४ ३६

४ विराजमसृजद् ब्रह्मा सोऽभवत् पुरुषो विराट्।

सम्राट् स शतरूपस्तु वैराजस्तु मनुः स्मृत।

स वैराज प्रजासर्गं ससर्ज पुरुषो मनु।—ब्रह्माण्ड पुराण १ ६ ३६ ४

५ श्री पंचानन तर्करत्न सम्पादित बंगवासी प्रेस कलकत्ता, शकाब्द १८१२

६ स्वायम्भुवो मनुर्धीमान् तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।

पत्नीमवाप रूपाढ्यामनन्तीं नाम नामत ॥ मत्स्यपुराण ४ ३३

७ मत्स्य पुराण ३ ३१-३४

सष्टयथ यत कृत तेन तप परमदारुणम ।
तत सव नाशमगमत स्वसुतोपगमनेच्छया ॥[1]

मार्कण्डेय पुराण

मार्कण्डेय पुराण म स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा की उत्पत्ति एव उनकी सन्तति का जो वणन किया गया है, वह ब्रह्माण्ड पुराण के समान ही है। इसक विवरण म कोई भिन्नता नही है।[2]

लिंग पुराण[3]

मार्कण्डेय पुराण क समान लिंग पुराण का विवरण भी इस सम्ब ध म ब्रह्माण्ड म मिलता जुलता है। यह कहना कठिन है कि इनम प्राचीन कौन सा है।

वाराह पुराण[4]

वाराह पुराण म स्वायम्भुव मनु एव उनके दो पुत्रो का उल्लख है। यहाँ उनकी पत्नी क नाम और किसी कन्या का उल्लेख नही है।

वायु पुराण[5]

वायु पुराण का समस्त विवरण ब्रह्माण्ड पुराण के विवरण के समान ही है। कोई विशष अन्तर नही ह।[6] यहाँ भी मनु की कन्याओ म दवहूति का नाम नही है।

विष्णु पुराण[7]

यहाँ का विवरण ब्रह्माण्ड तथा वायु पुराण आदि क समान ही है।[8]

हरिवंश पुराण[9]

यहाँ स्वायम्भुव मनु का सन्तति का नामत निर्देश नही किया गया है।[10]

---

१ मत्स्य पुराण ४
२ मार्कण्डय पुराण श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सस्करण ४७ ६ १६
३ गुरु मण्डल ग्रन्थमाला प्रकाशन मनसुखराय मोर ५ क्लाइव रोड कलकत्ता १
४ श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सस्करण २ ५५ ५६
५ श्रीवेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सस्करण।
६ वायु पुराण अ० १०, श्लो० ७ १७।
७ गीताप्रेस गोरखपुर प्रथम सस्करण स २०१४ वि०
८ विष्णु पुराण १ अ० ७ १ १९
९ गीताप्रेस गोरखपुर।
१० हरिवंश पुराण अ० १ ५० ५३

विवेचन

प्रस्तुत नाटक 'देवहूति' की भाषा प्रांजल है, संवाद उपयुक्त हैं किन्तु वातावरण को सुसज्जित करने की दृष्टि से ये अधिक सफल नहीं बन पाये हैं। हाँ, चारित्रिक मनोद्वन्द्वों को स्पष्ट करने में ये पूर्णरूपेण सक्षम हैं।

कल्पना के अतिशय प्रयोग ने नाटक की कथावस्तु को मूल कथा से कुछ पृथक् सा ही कर दिया है। तथापि पाठक के लिए रोचक सामग्री इसमें पर्याप्त है।

महाभारतधारा

चतुर्थ अध्याय

१ जनमेजय का नागयज्ञ

महाभारत भारतीय संस्कृति का एक अति विशाल आकर ग्रन्थ है। यह इतिहास है, काव्य है, स्मृति है, आचार शास्त्र है, धर्मशास्त्र है और जो कुछ भी 'शास्त्र' शब्द की परिधि में आ सकता है वह सब कुछ इसमें समाविष्ट है। महाभारत में आचार, धर्म और शासन के गहन विषयों को स्पष्ट रूप में समझाने के लिए लोक में प्रचलित आख्यानों का आश्रय लिया गया है। इन आख्यानों में कुछ तो इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्होंने अपनी गरिमा से प्रभूत मात्रा में समाज और साहित्य को प्रभावित किया है। नलोपाख्यान, सावित्र्युपाख्यान, शाकुन्तलोपाख्यान, ययातिपुत्रोपाख्यान आदि महाभारत के महत्त्वपूर्ण आख्यान हैं। इनका आश्रय लेकर हिन्दी में अनेक नाटकों की रचना की गयी है। एक ही कथा के आधार पर विभिन्न युगों में अनेक नाटककारों ने बहुत से नाटकों का निर्माण किया है। इस प्रकार के नाटकों की रचना में काल का व्यवधान होने पर भी वस्तु की समानता को दृष्टि में रखते हुए इनके मूल स्रोत का विवेचन पुराणधारा के समान एक ही धारा में और एक ही स्थान पर किया जाएगा।

महाभारत के उपाख्यानों के आधार पर रचित विविध नाटकों के अतिरिक्त इसकी प्रधान कथा, कौरव-पाण्डव-कथा के विविध अंगों का आश्रय लेकर भी हिन्दी में अनेक नाटकों की रचना हुई है। नाटकीय विधान, चरित्र चित्रण, भाषा आदि की दृष्टि से इन नाटकों में बहुत कम नाटक ऐसे होंगे जिन्हें परिष्कृत नाटकों की प्रथम श्रेणी में स्थापित किया जा सके। स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद का जनमेजय का नागयज्ञ महाभारत की प्रधान कथा के अन्तिम भाग के एक अंश पर आधारित हिन्दी का एक उत्कृष्ट मौलिक नाटक है। यद्यपि प्रसाद से पूर्व भी महाभारत की प्रधान कथा अथवा उसके किसी उपाख्यान का आधार

बनाकर हिन्दी में नाटकों की रचना होती रही है तथापि हिन्दी के नाटककारों में प्रसादजी का एक विशिष्ट स्थान है और इस धारा में नाटकों में उनके जनमेजय का नागयज्ञ का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए आगे के पृष्ठों में इस नाटक के मूल स्रोतों का विस्तार से विचार किया जाएगा। इसके पश्चात् अग्रिम अध्याय में इस धारा के अन्य नाटकों के मूल-स्रोतों का विचार होगा।

जनमेजय का नागयज्ञ

जनमेजय का नागयज्ञ नाटक हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ एवं मूर्धन्य नाटककार श्रीजयशंकर प्रसाद की रचना है।[1] इसकी गणना उनके उत्कृष्ट नाटकों में की जाती है। इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—

सरमा (कुकुर वंश की यादवी) तथा मनसा (जरत्कारु की स्त्री तथा वासुकि की बहन) दोनों के वार्तालाप से नाटक का प्रारम्भ होता है। सरमा यादवी कृष्ण की (यादव वंश की) प्रशंसा करती है जबकि मनसा नागराज की प्रशंसा पर तुली रहती है। यादवों की बर्बरता के प्रमाणस्वरूप मनसा अपनी शक्ति से उस दृश्य को प्रस्तुत करती है जब श्रीकृष्ण के उपदेश से अर्जुन ने खाण्डव वन का दहन किया था और नाग जाति को जला कर भस्म कर दिया था। मनसा बतलाती है इसी प्रतिशोध के फलस्वरूप नागों ने आभीरों से मिलकर यादवियों का अपहरण किया और नागराज तक्षक ने शृंगी ऋषि से मिलकर परीक्षित का संहार किया। मनसा ने यह भी बताया कि नागजाति के कल्याण के लिए ही उसने अपना यौवन वृद्ध तपस्वी जरत्कारु को समर्पित कर दिया है। यह सब कुछ सुनकर सरमा नागों से अपना सम्बन्ध जोड़े जाने पर पश्चात्ताप करती है और मनसा के वाग्बाणों से व्यथित हो अपने पुत्र माणवक के साथ वहाँ से चली जाती है। वासुकि लौटकर आने पर अपनी बहन मनसा की इस प्रकार के व्यवहार के लिए भर्त्सना करता है और कहता है कि नागजाति के आर्यजाति से मेल करने के अवसर पर उस सरमा को क्रुद्ध कदापि नहीं करना चाहिए था।

इसके उपरान्त गुरु वेद के आश्रम में उत्तंक के दर्शन होते हैं। गुरुपत्नी दामिनी *शिष्य उत्तंक को आकर्षित करना चाहती है किन्तु उत्तंक वश में नहीं आता। दक्षिणा के* लिए वह गुरुपत्नी की इच्छानुसार जनमेजय की रानी वपुष्टमा से मणिकुण्डल लेने के लिए आता है वहीं जनमेजय के ऐन्द्रमहाभिषेक के सम्बन्ध में विदित होता है जिसका परिणाम युद्ध में विजयप्राप्ति होना है। तुर राजा जनमेजय का अभिषेक करवाता है क्योंकि कुल पुरोहित काश्यप इस अभिषेक के विरुद्ध हैं। काश्यप को प्रसन्न करने के हेतु तुर काश्यप को

---

1 प्रकाशक भारती भण्डार लीडर प्रेस इलाहाबाद प्र संस्करण सं २०१३

ही दक्षिणा दिलवाता है। सरमा राजदरबार में ही उसी समय न्याय की याचना के लिए पहुचती है क्योंकि जनमेजय के भाइयों ने उसके पुत्र को अकारण पीटा है। जनमेजय उसे दस्युमहिला कहकर न्याय करने से इन्कार कर देता है। सरमा क्रुद्ध होकर तथा काश्यप को बुरा भला कहकर, सभाभवन से चली जाती है, क्योंकि काश्यप ने भी उसका न्याय न किये जाने का समर्थन किया है। उधर सरमा का पुत्र माणवक माँ के इस प्रकार अपमान सहन करने पर बहुत धिक्कारता है और अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए चल पड़ता है।

आगामी दृश्य में तक्षक उत्तंक को दबाकर मणिकुण्डल के कारण उसे मारना चाहता है किन्तु सरमा उसी समय अकस्मात प्रविष्ट होकर उत्तंक की रक्षा करती है। तक्षक के द्वारा सरमा पर भी आक्रमण किये जाने पर, वासुकि उसकी रक्षा करता है। अगली घटना में जनमेजय भ्रमवश जरत्कारु को अपने बाण का लक्ष्य बनाता है। जरत्कारु यह कहकर कि मेरा पुत्र आस्तीक समस्त ज्वालाओं को शान्त करेगा, अपने प्राण छोड़ देता है।

उधर वेद की पत्नी दामिनी उत्तंक से प्रतिशोध लेने के लिए आश्रम से चल पड़ती है और तक्षक के पास पहुचती है। वहाँ तक्षक के दुराचारी पुत्र से वह तिरस्कृत की जाती है और वहाँ से भागकर माणवक (सरमा के पुत्र) द्वारा ही पति वेद के पास लायी जाती है जो उसे पुनः अपना लेता है।

इधर उत्तंक, जनमेजय के समीप जाकर तक्षक के अपराधों और क्रूरताओं का वर्णन करता है, फलस्वरूप नागयज्ञ प्रारम्भ होता है और नागजाति को हर स्थिति तथा हर स्थल में कष्ट पहुचाया जाता है। सरमा, कलिका नाम से वपुष्टमा की दासी बन जाती है। इस दृश्य में महर्षि व्यास के भी दर्शन होते हैं। तदनन्तर काश्यप तक्षक से जा मिलता है और जनमेजय के यज्ञ का घोड़ा तथा उसकी महारानी दोनों को पकड़ लेने की सम्मति देता है। सरमा जो वपुष्टमा की दासी है उसकी रक्षा करती है। मनसा अपने कुकृत्यों के कारण कि उसने नागों को क्यों उत्तेजित किया अपने पुत्र आस्तीक को, जो आर्यों से मेल कर लेने के पक्ष में है क्यों भला बुरा कहा इत्यादि विचारकर इस स्थल पर बड़ा पश्चात्ताप करती है।

अन्तिम दृश्य में बन्दी तक्षक मणिमाला (तक्षक की पुत्री), जनमेजय, शौनक उत्तंक सोमश्रवा और वरुणभागव, जनमेजय का सेनापति सभी दीख पड़ते हैं। आस्तीक अपने पिता की मृत्यु के प्रायश्चित्तस्वरूप जनमेजय से यही कहता है कि नागों के साथ मेल कर लो, उन्हें नष्ट न करो। जनमेजय यह वचन दे देता है। अन्त में जनमेजय का विवाह तक्षककुमारी मणिमाला से हो जाता है और इस प्रकार दो बड़ी जातियों का मेल हो जाता है।

आधार

इस नाटक की कथा के सूत्र महाभारत[1] एवं हरिवंश पुराण[2] में मिलते हैं। इनके

---

१ महाभारत—(आदिपर्व) अ० ३ ८१ १८८ (आस्तीक पर्व) अ० १३ ५८ (शान्ति पर्व) अ० १५० १५२

२ हरिवंशपुराण—(भविष्यपर्व), अ० १६ पृ० ७४६ ७६५ (गीताप्रेस गोरखपुर)

आर्य नाग संघर्ष का आरम्भ

मनसा और सरमा

प्रसादजी ने इस नाटक में प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में आर्य और नागों के चिर संघर्ष से सम्बद्ध मनसा और सरमा की बातचीत में आगे घटनाओं की ओर संकेत किया है। मनसा, नागसरदार वासुकि की बहन एव यायावरवंश के प्रधान महर्षि जरत्कारु की पत्नी है। इसने नागों के कल्याण का ही उद्देश्य बनाकर वृद्ध जरत्कारु से परिणय किया है। आर्यों के प्रति इसके हृदय में प्रबल विद्वेष है। जिस उपाय से भी हो, यह आर्यों के ऊपर नागों की विजय चाहती है और इसके लिए सतत प्रयत्नशील है। सरमा यादवों की कुकुर शाखा से सम्बद्ध है। इसने स्वेच्छा से यादवों के पारम्परिक संघर्ष के समय—जब नागों और आभीरों का सम्मिलित आक्रमण हुआ था तथा यादव कन्याओं का अपहरण किया गया था—नाग सरदार वासुकि का पति रूप में वरण किया। इस वरण में आर्यों और अनार्यों की बढ़ती हुई कटुता को दूर करना भी उसका एक उद्देश्य रहा है। वह श्रीकृष्ण की सम्बन्धी के रूप में अति प्रशंसा करती है परन्तु मनसा उन्हीं को नागों का शत्रु मानती है। वह अपनी बात की पुष्टि के लिए श्रीकृष्ण के कहने से अर्जुन द्वारा दग्ध खाण्डव वन का उदाहरण प्रस्तुत करती है। आर्यों ने प्रथम तो सरस्वती के तट पर कुरुक्षेत्र के मैदानों में समृद्ध नागों को खाण्डव वन की ओर जाने के लिए विवश किया। पुनः वहाँ भी उसमें आग लगाकर उन्हें जीवित ही भस्म करने का प्रयत्न किया। कुछ प्रमुख नाग तक्षक, वासुकि, अश्वसेन आदि उत्तर के दुर्गम पर्वत प्रदेशों से भागकर गान्धार प्रदेश में बस गये परन्तु आर्यों के प्रति विद्वेष की धधकती हुई आग अपने हृदय में साथ लेते गये और उस अवसर की तलाश में रहने लगे जब आर्यों द्वारा अपने साथ की गई क्रूरताओं का प्रतिशोध ले सकें। परिणामस्वरूप नागों के राजा तक्षक ने अवसर मिलते ही शृंगी ऋषि से मिलकर अर्जुन के पौत्र एवं सम्राट जनमेजय के पिता महाराज परीक्षित की हत्या की। मनसा और सरमा, दोनों की बातचीत से यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि अतीत युग में नागों का इतिहास बड़ा ही उज्ज्वल रहा है। उनका विशाल एवं वैभवसम्पन्न साम्राज्य था। उनका प्रचण्ड प्रताप दूर दूर तक व्याप्त था।

प्रसादजी ने प्रथम दृश्य में परीक्षितपुत्र जनमेजय के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने से पूर्व की विकट संघर्षमय परिस्थिति की ओर संकेत किया है। इस नाटक में आगे चलकर जिस घटना चक्र का प्रदर्शन हुआ है एक प्रकार से सूक्ष्म रूप में हमें उसका आभास यहाँ मिल जाता है। सम्राट परीक्षित की हत्या कोई सामान्य घटना न थी। यह आर्य साम्राज्य के विरुद्ध नागों के संगठित षडयन्त्र का परिणाम थी जिसमें उन्होंने कुछ ब्राह्मणों को भी अपने साथ मिला लिया था। यदि स्वतन्त्र रूप में नागों का ही विद्रोह होता तो सम्भवत पाण्डववंशी आर्य सम्राट के लिए उन्हें कुचल देना कठिन कार्य न होता।

नाटक में प्रसादजी ने यायावर महर्षि जरत्कारु की पत्नी एवं नाग सरदार वासुकि

की बहन का नाम मनसा दिया है। परन्तु महाभारत एवं हरिवंश की कथा में वासुकि की बहन, जिसका विवाह जरत्कारु के साथ होता है, उसका नाम भी जरत्कारु ही दिया है।[1] 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में इस बात का संकेत तो मिलता है कि मनसा का एक कल्पित नाम जरत्कारु भी उसके सम्बन्धियों ने किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए रख दिया था।[2] किन्तु नाटक में सर्वत्र ही उसे मनसा नाम से ही अभिहित किया गया है। यद्यपि महाभारत में जरत्कारु ऋषि की ओर से विवाह की शर्तों में एक शर्त यह है कि कन्या का नाम भी जरत्कारु ही होना चाहिए।[3] तथापि प्रसादजी ने अपने नाटक में, ऋषि की पत्नी को सनाम्नी नहीं रखा है।

मनसा को प्रसादजी ने यादवों की कुकुर शाखा से सम्बद्ध माना है। पुराणों में इस शाखा के सम्बन्ध में कई स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। कुकुर, यादवों की ही सात्वत शाखा का एक प्रमुख व्यक्ति हुआ है। इस शाखा के प्रसिद्ध वीर पुरुष, अन्धक का ज्येष्ठ पुत्र कुकुर था। इस कुकुर की ही सन्तति परम्परा में आहुक राजा हुआ है जिसके देवक और उग्रसेन दो पुत्र तथा सात कन्याएँ हुईं। इन सब कन्याओं का विवाह वसुदेव के साथ हुआ। इन कन्याओं में एक श्रीकृष्ण की जननी देवकी भी हैं।[4] कुकुरवंश का होने के कारण ही उग्रसेन को कुकुराधिप भी कहा गया है।[5] मत्स्य पुराण में कंक की पुत्री से उत्पन्न चार पुत्रों में से एक का नाम कुकुर बताया गया है और इसे वृष्णि का पिता कहा गया है,[6] किन्तु भागवत में कुकुर को वह्नि का पिता माना गया है।[7] वायु पुराण में सत्वक और काशिराज की पुत्री से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र का नाम कुकुर नहीं, ककुद है।[8] परन्तु ये दोनों नाम कुकुर और ककुद एक ही व्यक्ति के जान पड़ते हैं क्योंकि ककुद के अन्य तीन भाइयों के नाम जो वायु पुराण में आये हैं वे अन्य पुराणों में मिलते-जुलते हैं। यहाँ सत्वक की अपेक्षा अन्धक पाठ अधिक युक्तियुक्त है। अन्य पुराणों में भी कुकुर को अन्धक का ज्येष्ठ पुत्र माना गया है।

महाभारत के सभापर्व में दो स्थानों पर कुकुरों का उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर

---

१ महाभारत आदिपर्व ४७ ८

२ नाटक अंक १ दृश्य १ पृ १०

३ महाभारत—

सनाम्नी या भविता मे दित्सिता चैव बन्धुभिः ।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ॥ म० भा० आदि० १३ २६

सनाम्नी यद्यहं कन्यामपलप्स्ये कदाचन ।
भविष्यति च या काचिद् भैक्ष्यवत् स्वयमुद्यता ॥ म० भा० आदिपर्व ४७

वासुकिस्त्वब्रवीद् वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ॥ म० भा० आदि० ४८ १

४ विष्णु ४ १४ १२ १६

५ महाभारत सभापर्व ५८

६ मत्स्य गुरुमण्डल प्र० कलकत्ता ४४ ६१ ७६

७ भागवतपुराण गीताप्रेस गोरखपुर स्क० ९ अध्याय २४ श्लो० १९ २३

८ वायु पुराण,उत्तरार्द्ध ३४ श्लोक ११५

कुकुर और अन्धक दो शाखाएँ पृथक कही गयी हैं।[1] एक अन्य स्थल पर उग्रसेन को ही आहुक माना गया है और कुकुराधिप कहा गया है।[2]

पुराणों में यादववंश के वर्णन में सरमा का उल्लेख नहीं मिलता।[3] परन्तु वैदिक ग्रन्थों एवं महाभारत में इसे शुनी कहा गया है। सम्भव है शुनी से ही प्रसादजी ने इसे यादवों की कुकुरशाखा से सम्बद्ध करके कुकुरी बना लिया हो।

इसके अतिरिक्त यह सरमा ऋग्वेद में इन्द्र की दूती के रूप में भी प्रसिद्ध है। वहाँ इसकी सहायता से ही इन्द्र पणियों के गुप्त रहस्य को जानने में समर्थ होता है।[4] महाभारत के पौष्यपर्व में भी सरमा का उल्लेख देवशुनी विशेषण के साथ मिलता है—

जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं सम्भ्रान्तो विषण्णश्चासीत्।[5]

यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद की इन्द्रदूती सरमा, महाभारत की सरमा (विशेषण रहित) और देवशुनी सरमा (विशेषण युक्त) तथा नाटक में चित्रित कुकुरी सरमा (कुकुरवंशीय) एक ही है अथवा भिन्न भिन्न। इसकी विशिष्ट विवेचना वस्तुतः इतिहास का विषय है। यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में जाना अनुपयुक्त होगा।

खाण्डव वन का दाह और कुछ अवशिष्ट नागों का पलायन

नाटक के प्रथम दृश्य में मनसा द्वारा खाण्डव वन के भयंकर दाह का उल्लेख किया गया है। महाभारत में खाण्डव वन के जलाने की कथा बड़े विस्तार से आदिपर्व (खाण्डव दाहपर्व) में कही गयी है।[6] इस वर्णन के अनुसार वस्तुतः यह दाह बड़ा निर्दय एवं भयंकर था। दाह की यह क्रिया अविरत गति से पन्द्रह दिनों तक चलती रही—

तद्वनं पावको धीमान् दिनानि दश पंच च।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात्॥[7]

इस महाभयंकर दाह से बचकर निकलना अश्वसेन (तक्षकपुत्र) मय और चार शार्ङ्गकों को छोड़कर किसी के लिए भी सम्भव नहीं हो सका। नागराज तक्षक दाह से पूर्व ही निकलकर कुरुक्षेत्र की ओर चला गया था—

---

१ महाभारत सभापर्व अ० ३८
२ वही—सभापर्व अ० ३८
३ भागवतपुराण ५ २४ ३ —यहाँ इन्द्र की दूती के रूप में सरमा का उल्लेख है।
४ ऋग्वेद १ १०८
५ महाभारत आदिपर्व (पौष्य) अ० ३ गद्यखण्ड १
६ वही आदि खाण्डवदाह पर्व अ० २२१ से २२७ तक
७ वही आदि अ० २२७ श्लोक ४६

तक्षकस्तु न तत्रासीत नागराजो महाबल ।
दह्यमाने वने तस्मिन कुरुक्षेत्र गतो हि स ॥[1]

इस खाडवदाह म सबसे अधिक संहार नागा का हुआ क्योंकि कुरुक्षेत्र के प्रदेश स हटने क लिए बाध्य किये जान पर उन्होंने खाण्डवन म ही आश्रय लिया था। एक प्रकार से नागा को समूल नष्ट करने के लिए ही सम्भवत यह महान प्रयत्न किया गया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि केवल तक्षक ही नही, कुछ और भी प्रधान नाग उसके साथ ही वहा स निकल भागन म समथ हो गए थे। वे कुरुक्षेत्र म रुके नही पवतीय मार्गो स पश्चिमोत्तर की ओर बढत गये और गान्धार प्रदेश म जाकर, वतमान तक्षशिला क पास पुन आबाद हो गय। इस प्रकार महाशक्तिशाली अजुन के प्रभाव से उस समय तो नागशक्ति क्षीण सी हो गयी। परन्तु उसके पश्चात उन्होंने पुन अपने सगठन को दृढ किया और परिणामस्वरूप तक्षक ने परीक्षित की हत्या कर दी। यही से नागा का आर्यों के साथ पुन सघष आरम्भ होता है। प्रसादजी के इस 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक की कथा का आरम्भ भी इन दोना जातियो के पारस्परिक तनाव विद्वेष, विद्रोह पडयन्त्र एव दमन स होता है। नागा की राजनीतिक शक्ति यद्यपि उस समय क्षीणप्राय प्रतीत होती है, किन्तु व किसी भी उपाय से अपनी पूव प्रतिष्ठा को पुन प्राप्त करन के लिए प्रयत्नशील दिखते हैं। मनसा उन्हे गौरव पूण स्थान प्राप्त कराने के लिए उत्तेजित करता है।

आचार्य वेद, पत्नी दामिनी और शिष्य उत्तक

प्रथम अक म द्वितीय दृश्य म विशेष घटनाएँ नही है। आचाय वेद के गुरुकुल का दृश्य है। आचाय अपन पीछे अग्निशाला की परिचया एव घर की देखभाल का काय अपन प्रधान शिष्य उत्तक पर छाडकर कई महीना स गुरुकुल से बाहर गय हैं। आचाय की पत्नी दामिनी उत्तक को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है किन्तु उत्तक की दृढता क कारण वह सफल नही हो पाती। आचाय के लौटन पर पता चलता है कि जनमेजय का अभिषेक होने वाला है। शिक्षा समाप्त हो जाने के कारण आचाय उत्तक को घर जाने का आदश देते है। गुरुदक्षिणा के लिए उत्तक के आग्रह पर, आचाय पत्नी रानी के मणिकुण्डल लाने के लिए कहती है।

आचाय वद आचाय आयाधौम्य के प्रमुख तीन शिष्या म स एक है। अन्य दो क नाम आरुणि और उपमन्यु हैं।[2] आचाय वद के भी तीन शिष्य थे, एसा महाभारत म उल्लेख

1 महाभारत आदिपर्व खाण्डवदाहपव अ २२६ श्लोक ४
2 कश्चिद् ऋषि धौम्यो नामायोद तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवु—उपमन्यु आरुणि वेदश्चेति—महाभारत, आदि पव ३ ३१

है[1] किन्तु इनका प्रधान शिष्य उत्तंक ही था। नाटक में आचार्य के अपने घर से कुछ मास के लिए बाहर जाने एवं उनके पीछे उनकी पत्नी का उत्तंक की ओर आकृष्ट होने का जो चित्रण है, उसका आधार महाभारत का पौष्यपर्व है, यद्यपि यहाँ इसका रूप कुछ भिन्न है—

"अथ कस्मिंश्चित काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजय पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्य वरयित्वोपाध्यायं चक्रतुः। स कदाचित याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तंकनामानं शिष्यं नियोजयामास। भो, यत् किंचिदस्मद्गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीयमानं भवता क्रियमाणमिति' स एवं प्रति संदिश्योत्तंकं वेदः प्रवासं जगाम। अथोत्तंकः शुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानो गुरुकुले वसति स्म। स तत्र वसमान उपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः उपाध्यायानी ते ऋतुमती, उपाध्यायश्चोपितोऽस्या यथायमृतुवन्ध्यो न भवति तथा क्रियतामेपा विषीदतीति। स एवमुक्तस्त्रिय प्रत्युवाच न मया स्त्रीणा वचनादिदमकार्य करणीयम्। न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टोऽकार्यमपि त्वया कार्यमिति।[2]

प्रसादजी ने प्रथमांक के द्वितीय दृश्य में आचार्य वेद की पत्नी का उनके शिष्य उत्तंक के प्रति जो आसक्ति का चित्रण किया है उसका मुख्य आधार महाभारत का यह स्थल ही है, किन्तु उन्होंने इसका रूप कुछ अधिक स्फुट करके प्रस्तुत किया है।

इस दृश्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात, तक्षशिला विजय के पश्चात जनमेजय के अभिषेक की सूचना है। साथ ही यह भी कि कुलपुरोहित काश्यप इसके विरुद्ध हैं।[3]

जनमेजय के तक्षशिला विजय के लिए अभियान और उसमें विजय का उल्लेख भी महाभारत[4] में है। परन्तु काश्यप पुरोहित द्वारा जनमेजय के अभिषेक के विरोध का निर्देश यहाँ नहीं है।

इस दृश्य की तीसरी महत्त्वपूर्ण बात है उत्तंक की गुरुदक्षिणा। आचार्य वेद उत्तंक से सद्व्यवहार के कारण ही प्रसन्न हैं। वे उससे कुछ नहीं चाहते। किन्तु गुरुदक्षिणा के लिए उसके आग्रह करने पर उससे वह कहते हैं कि वह अपनी गुरुपत्नी से ही पूछ ले। आचार्य की पत्नी गुरुदक्षिणा के रूप में रानी के मणिकुण्डल लाकर देने के लिए आदेश देती है। यद्यपि आचार्य की पत्नी के इस आदेश से क्षुब्ध होते हैं किन्तु वे प्रतिवाद नहीं करते। उत्तंक द्वारा मणिकुण्डल प्राप्त करके गुरुपत्नी को देने का विवरण इसी अंक के तृतीय एवं चतुर्थ दृश्यों में दिया गया है। इनके आधार का विवेचन आगे की जाएगी।

जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक

इस नाटक के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य में सरमा पुत्र दण्डायमान की घटनाएँ हम

1. महाभारत आदि ३ ८१
2. महाभारत आदि० ३ ८२ ८३
3. जनमेजय का नागयज्ञ अंक १ दृश्य २ पृष्ठ २२
4. महाभारत आदि० अ० ३ श्लोक २

दूसरे से कुछ मदिरा भी है। इनकी प्रधान घटनाएँ एवं उनके स्थान निम्नलिखित हैं—

तक्षशिला विजय के पश्चात् जनमेजय का अभिषेक (ऐन्द्रमहाभिषेक) महर्षि तुर कावषेय द्वारा सम्पन्न कराया जाता है किन्तु वह इस काम की दक्षिणा स्वयं न लेकर पुनः पुरोहित काश्यप को ही दिलाते हैं।

जनमेजय की तक्षशिला विजय का उल्लेख महाभारत में मिलता है—
"स तदा आलन सन्दिय तक्षशिला प्रत्यभिप्रनम्य त च दन वन स्थापयामास।"[1] और

पुरा तक्षशिलास्थ निवृत्तमपराजितम्।
सम्यग् विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान् मन्त्रिभिर्वृतम्॥[2]

इन दोनों उद्धरणों से जनमेजय के तक्षशिला विजय की घटना की पुष्टि हो जाती है। इस विजय के पश्चात् तुर कावषेय द्वारा उसके अभिषेक का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है—

'एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषेयो जनमेजयं पारिक्षितम् अभिषिषेच तस्माद् उ जनमेजयः पारिक्षितः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे।'[3]

महाभारत में तुर कावषेय का उल्लेख न होने पर भी ऐतरेय ब्राह्मण के इस प्रकरण से यह सिद्ध है, कि जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक इन्होंने ही कराया था। प्रसादजी ने यहाँ तुर का उल्लेख एक ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर किया है।

काश्यप पुरोहित

इसी तृतीय दृश्य में प्रसादजी ने एक लोभी काश्यप पुरोहित का चरित्र चित्रण किया है। महाभारत में मुख्य रूप से दो स्थलों पर दो काश्यपों का उल्लेख हुआ है। पुरोहित काश्यप के रूप में जिस व्यक्ति का उल्लेख है वह आदिपर्व के एक दाक्षिणात्य पाठ में है—

ततः पाण्डुः क्रियाः सर्वाः पाण्डवानामकारयत।
गर्भाधानादिकृत्यानि चौलोपनयनानि च॥
काश्यपः कृतवान् सर्वमुपाकर्म च भारत।
चौलोपनयनादूर्ध्वमृषभाक्षा यशस्विनः।
वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः॥[4]

काश्यप पुरोहित का द्वितीय उल्लेख महाराज पाण्डु के अंतिम संस्कार के सम्बन्ध

---

१ महाभारत शान्ति पर्व अ० ३ खण्ड २
२ वही शान्ति पर्व अ ३ श्लोक १७२
३ ऐतरेय ८ २१
४ [illegible]

म हुआ है—

> प्रश्वमेधाग्निमाहृत्य यथान्याय समन्ततः ।
> काश्यप कारयामास पाण्डो प्रेतस्य तां क्रियाम ॥[1]

इसके अतिरिक्त शृंगी ऋषि के शाप से सप्तम दिन तक्षक द्वारा डसे जानेवाले महाराज परीक्षित को जीवित करने के उद्देश्य से राजा के पास ग्रानेवाले एक विद्वान काश्यप का भी उल्लेख है—

> प्राप्ते च दिवसे तस्मिन सप्तमे द्विजसत्तम ।
> काश्यपोऽभ्यागमद विद्वांस्त राजानं चिकित्सितुम ॥

यह समाचार सुनकर कि सातवें दिन तक्षक राजा परीक्षित को डसेगा, काश्यप चिकित्सा करने के लिए चल पड़ता है। उसे मार्ग में ही तक्षक मिल जाता है। दोनों की बातचीत होती है। तक्षक उसकी परीक्षा लेता है। वह अपने विष से एक हरे वृक्ष को दग्ध कर देता है। काश्यप अपनी चिकित्सा से उस वृक्ष को पुनः हरा कर देता है। चिकित्सक काश्यप के इस प्रभाव को देखकर तक्षक के मन में अपनी सफलता के प्रति आशंका जाग्रत हो जाती है अतः वह नहीं चाहता कि काश्यप परीक्षित के पास तक पहुँचे। बातचीत से उसे पता चल जाता है कि काश्यप परीक्षित के पास बहुत-सा धन प्राप्त करने के उद्देश्य से ही जा रहा है। राजा के प्रति उसके मन में सौहार्द तथा कल्याण की भावना नहीं है। तक्षक उसकी लोभवृत्ति से लाभ उठाकर उसे बहुत सा धन दे देता है। काश्यप तक्षक से प्राप्त धन से सन्तुष्ट होकर मार्ग से ही लौट जाता है।[2]

इस नाटक में प्रसादजी ने जिस काश्यप पुरोहित का चित्रण किया है वह भी अति लोभी है। आचार्य तुर कावषेय द्वारा जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक सम्पन्न हो जाने पर वह राजा और तुर को बुरा कहता है किन्तु पूर्ण दक्षिणा प्राप्त कर लेने पर सन्तुष्ट हो जाता है। जनमेजय का नागयज्ञ नाटक में प्रसादजी ने ऊपर निर्दिष्ट महाभारत के दोनों काश्यपों को एक कर दिया है।

उत्तंक की गुरुदक्षिणा

इस दृश्य की दूसरी घटना आचार्य वेद के शिष्य नवस्नातक उत्तंक का गुरुदक्षिणा के लिए जनमेजय की रानी वपुष्टमा से उसके मणिकुण्डलों की याचना करना है। रानी देती है किन्तु ब्रह्मचारी को सावधानी के साथ उन्हें ले जाने का आदेश भी देती है कि कहीं मार्ग में तक्षक उनका हरण न कर ले। वस्तुतः ये मणिकुण्डल परास्त नागराज से ही जनमेजय ने प्राप्त किये थे और पश्चात उन्हें उसने अपनी रानी को उपहार के रूप में दिया था। तक्षक

---

१ महाभारत आदिपर्व अ० १२४, श्लोक ३१ दाक्षिणात्य पाठ
२ महाभारत आदिपर्व अध्याय ४३ श्लोक १३-२१

की अपनी मूल्यवान वस्तु के हाथ से निकल जाने का दुःख था और वह उन्हें पुनः प्राप्त कर लेने के प्रयत्न में था। इसीलिए यहाँ रानी वपुष्टमा ने उत्तंक को सावधान किया है। यहाँ काश्यप पुरोहित ने मणिकुण्डल-दान का विरोध किया है। उसके इस विरोध का नाटकीय घटनाक्रम की दृष्टि से स्वतन्त्र महत्त्व है।

आचार्य के आश्रम में गुरुपत्नी को सन्तुष्ट करने के लिए उत्तंक द्वारा कुण्डल प्राप्त करने एवं उन्हें गुरुपत्नी को देने की कथा का विस्तृत विवरण महाभारत के पौष्य पर्व में दिया हुआ है।[1] किन्तु नाटक की कथा का आधार महाभारत होते हुए भी, इसमें कुछ भिन्नता है। ऊपर निर्दिष्ट कथानुसार नाटक में कुण्डल प्राप्त करने के लिए उत्तंक राजा जनमेजय के पास जाता है। परन्तु महाभारत में वह राजा पौष्य के पास जाता है। आचार्य वेद की पत्नी भी उसे इस कार्य के लिए पौष्य के पास ही भेजती है—

'सवमुक्तस्तामुपाध्यायानी तमुत्तंक प्रत्युवाच 'गच्छ पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे। ते आनयस्व चतुर्थे अहनि पुण्यकं भविता ताभ्याम् आबद्धाभ्यां शोभमाना ब्राह्मणान् परिवेष्टुमिच्छामि। तत् सम्पादयस्व एवं कुर्वतः श्रेयो भविता।'[2]

महाभारत में राजा पौष्य का उल्लेख आदिपर्व के तृतीय अध्याय में है।[3] यहाँ वर्णित राजा पौष्य ने उत्तंक के गुरु आचार्य वेद को अपना पुरोहित बनाया है।[4] महाभारत में पौष्य और जनमेजय दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है, विशेषण-विशेष्य भाव नहीं है। अतः यहाँ के वर्णन से स्पष्ट है दोनों पृथक् हैं। सम्भवतः कथानायक के साथ उत्तंक का सम्बन्ध जोड़ने के लिए ही प्रसादजी ने पौष्य के स्थान पर जनमेजय की कल्पना की है। आगे चलकर नाटक में, जनमेजय को नागयज्ञ करने में मूल प्रेरणा उत्तंक से ही मिलती है। वही तक्षक के प्रति जनमेजय के हृदय में प्रतिशोध की अग्नि सुलगाता है।

महाभारत में राजा पौष्य की रानी भी कुण्डल ले जाते हुए उत्तंक को सावधान करती है कि नागराज तक्षक इन कुण्डलों को पाने के लिए अति प्रयत्नशील है, अतः सावधान होकर इन्हें ले जाना चाहिए—

'सा प्रीता तेन तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ॥ कुण्डले अवमुच्यास्मै प्रायच्छदाह तक्षको नागराजः सुभृशं प्रार्थयत्यप्रमत्तो नेतुमर्हसीति।'[5]

नाटक में, जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ है जनमेजय की रानी वपुष्टमा भी उत्तंक को तक्षक की ओर से सावधान रहने के लिए कहती है।

---

१ महाभारत आदि० ३ खण्ड ६३ से ९७ तक

२ महा० आदि० ३ ६६ ६७

३ वही आदि० ३ ८२ ११७

४ अथ कस्मिंश्चित् काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपाध्यायं चक्रतुः।

—महाभारत आदि० ३ ८२

५ महाभारत आदि० ३ १११

जनमेजय से न्याय के लिए सरमा की प्रार्थना

प्रथमांक के तृतीय दृश्य में एक प्रसंग सरमा का राजा जनमेजय के दरबार में जाकर न्याय के लिए प्रार्थना करना भी है। सरमा, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है यादवों की ही एक कुकुर शाखा में उत्पन्न हुई महिला है। किन्तु उसने अपना विवाह स्वेच्छा से नागवंश के प्रसिद्ध सरदार वासुकि से किया है। इस प्रकार जन्म सम्बन्ध से सरमा यादवी आर्यकन्या है किन्तु परिणय-सम्बन्ध से वह नाग है। उसका एक पुत्र है जिसका नाम नाटक में माणवक है। महाभारत में इस नाम का उल्लेख नहीं है वहाँ उसे सारमेय कहकर निर्दिष्ट किया गया है।[२] सरमा के इस पुत्र को जनमेजय के भाइयों ने पीटा है। इसका न्याय कराने के लिए ही वह राजा के दरबार में जाती है और राजा के भाइयों के विरुद्ध अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है किन्तु नागपरिणीता होने के कारण, राजा उसके अभियोग पर ध्यान नहीं देता। इतना ही नहीं उसे अपमानित एवं लाञ्छित भी किया जाता है। उसी को अपराधी घोषित करके दुत्कार दिया जाता है। उसका इतना ही दोष है कि आर्य ललना होकर नागजाति के पुरुष से विवाह क्यों किया। नाटक का यह प्रसंग महत्त्वपूर्ण है। अतः इसका कुछ अंश नीचे उद्धृत है—

जनमेजय—तुम्हारा नाम क्या है ? तुम क्या यहाँ आयी हो ?

सरमा—मैं यादवी हूँ। मैंने अपनी इच्छा से नाग परिणय किया था, पर उनकी कुटिलता न सह सकी। कारण यह कि वे दिन रात आर्यों से अपना प्रतिशोध लेने की चिन्ता में रहते थे। यह मुझसे सहन न हो सका, इसीलिए मैं उनका राज्य छोड़कर चली आयी।

वपुष्टमा—छि ! आर्य ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया है ! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।

सरमा—सम्राज्ञी ! मैं तो एक मनुष्य जाति देखती हूँ—न दस्यु और न आर्य ! न्याय की सर्वत्र पूजा चाहती हूँ—चाहे वह राजमन्दिर में हो या दरिद्र कुटीर में। सम्राट न्याय कीजिए।

जनमेजय—दस्यु महिला के लिए कोई आर्य न्यायाधिकरण में नहीं बुलाया जायगा। तुमने व्यर्थ इतना प्रयास किया।

सरमा—सम्राट मनुष्यता की मर्यादा भी क्या सबके लिए भिन्न भिन्न है ? क्या आर्यों के लिए अपराध भी कम हो जायगा ?

जनमेजय—चुप रहो। पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है।

सरमा—किन्तु पतिता पर अपराध करने का आर्यों को अधिकार है ? राजाधिराज, अधिकार का मद पान न कीजिए न्याय कीजिए।

---

२ महाभारत आदि० ३।१

जनमेजय—असभ्यों में मनुष्यता कहाँ ! उनके साथ तो वैसा ही व्यवहार होना चाहिए। जाओ सरमा ! तुमको लज्जित होना चाहिए।

सरमा—इतनी घृणा ! ऐश्वर्य का इतना घमण्ड ! प्रभुत्व और अधिकार का इतना अपव्यय ! मनुष्यता इसे नहीं सहन करेगी। सम्राट सावधान !

काश्यप—जा, जा, चली जा—बक-बक करती है।

सरमा—काश्यप, मैं जाती हूँ। किन्तु स्मरण रखना दुःखिता, अनाथा रमणी का अपमान, पीड़िता की मर्मव्यथा कृत्या होकर राजकुल पर अपनी कराल छाया डालेगी। उस समय तुम्हारे जैसे लोलुप पुरोहित उससे राजकुल की रक्षा न कर सकेंगे।[1]

ऊपर के कथोपकथन में प्रसादजी ने उस युग की भावना का मार्मिक चित्र अंकित किया है। आर्यत्व का इतना गर्व ! और आर्येतरों के प्रति इतनी घृणा ! न्यायकर्त्ता एवं प्रजारक्षक के राजसिंहासन पर बैठकर भी दम्भ के वशीभूत होकर जनमेजय ने न्याय की भिक्षुक नारी का दुत्कारा उसे अपमानित एवं लाञ्छित किया। सरमा का अभिशाप व्यर्थ नहीं गया। जनमेजय को नाग जाति की महिला से उत्पन्न, श्रुतश्रवा के पुत्र सोमश्रवा को अपना पुरोहित बनाना पड़ा और नागों के ही पुत्र आस्तीक के आगे झुकना पड़ा।

जनमेजय के पास न्याय के लिए सरमा की पुकार और न मिलने पर राजा के प्रति उसके अभिशाप का विवरण महाभारत में भी है।[2] किन्तु नाटक से यहाँ विवरण में कुछ भिन्नता है। यहाँ जिस समय सरमा न्याय के लिए राजा के पास पहुँचती है उस समय राजा कुरुक्षेत्र में अपने भाइयों सहित दीर्घसत्र यज्ञ में दीक्षित है—

तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा पुत्र-दुःखार्ता तत् सत्रमुपागच्छत् यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृभिः दीर्घसत्रमुपास्ते।'[3]

किन्तु राजा जनमेजय और उसके भाई कोई भी, सरमा को कुछ उत्तर नहीं देता है। वह क्रुद्ध होकर राजा को शाप देती है, यह मेरा पुत्र अनपराधी था तो भी इसे पीटा गया है, अतः तुम्हारे ऊपर अदृष्ट संकट उपस्थित होगा—

न किंचिदुक्तवन्तस्ते सा तानुवाच यस्मादयमभिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति।[4]

प्रसादजी ने महाभारत के विवरण के आधार पर ही नाटक में यह प्रसंग प्रस्तुत किया है। परन्तु इसके रूप को उन्होंने कुछ भिन्न बना दिया है। महाभारत के विवरण में जनमेजय की रानी वपुष्टमा और पुरोहित काश्यप का भी कहीं उल्लेख नहीं है। नाटक में ये दोनों उस समय उपस्थित रहते हैं।

चतुर्थ दृश्य में सरमा का पुत्र उल्लिखित अपमान से दुःखी होकर प्रतिशोध लेने के लिए, गुप्त रूप से अपमानकर्ता की हत्या करना चाहता है किन्तु माता उसे रोक देती है—

---

१ जनमेजय का नागयज्ञ अंक १ दृश्य ३ पृ० ३१-३२
२ महाभारत आदिपर्व ३.१६
३ वही आदिपर्व ३.७
४ वही आदिपर्व ३.६

हत्या [1] तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता था, पर यह कलंक मैं नहीं सह सकती थी। तू उनके सम्मुख वहीं मर जाता या उन्हें मार डालता, यह मुझे स्वीकार था। परन्तु उसके लिए तू अभी बिलकुल बच्चा है।

सरमा इतने उच्च चरित्र की नारी है कि हत्या, छल-कपट, विश्वासघात आदि की वह कल्पना भी नहीं कर सकती उसका आचरण तो दूर की वस्तु है। परन्तु इसके साथ ही वह स्वाभिमान रहित नहीं है। वह अपमान का बदला चाहती है किन्तु यह इस रूप में, कि सहायता के लिए नागों को आगे हाथ पसारना पड़े और न हस्तिनापुर के शासक के आगे दीन बनना पड़े। आगे चलकर नाटक में यह अपने उन्मत्त हृदय से क्षमा ही करना चाहती है कि जनमेजय का मस्तक उसके आगे झुक जाता है बुराई का बदला अच्छाई से—संकट में वपुष्टमा के प्राणों की रक्षा करके।

इस दृश्य में प्रथम में वर्तमान युग की स्थिति का वास्तविक चित्र अंकित होता है। माणवक सरमा से कहता है—

'नहीं माँ बड़ी भूख लग रही है। पेट की ज्वाला ही वडवाग्नि है जो कभी नहीं बुझती। उसे सब लोग नहीं अनुभव कर सकते। जो उत्तम पदार्थों को पैर से ठुकरा देते हैं जिन्हें अरुचि की डकार सदा आती रहती है, वे इस क्या जानेंगे! माँ, इसी के लिए लोग कर्म हो जाते हैं जिन्हें लोग अपराध कहते हैं।[2]

एक ओर भूख की विकट ज्वाला है उसे शान्त करने के लिए जी तोड़ परिश्रम करने के उपरान्त भी इतना नहीं मिल पाता कि पर्याप्त हो। दूसरी ओर उत्तमोत्तम पदार्थों का इतना आधिक्य है कि अरुचि के कारण भाग की वास्तविक इच्छा ही जागृत नहीं हो पाती। यह सामाजिक विषमता महाभारतकाल में भी थी प्रसादजी के युग में भी थी और आज भी देखी जा सकती है।

तक्षक का षडयन्त्र

प्रथमांक के पंचम दृश्य में नागों का राजा तक्षक, अपने अपहृत प्रदेश और वैभव को, शोभन अशोभन किसी भी उपाय से पुनः प्राप्त कर लेना चाहता है। वह कहता है—

मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ। और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस धरती में धधक उठती है। प्रतिहिंसे तू बलि चाहती है तो ले मैं दूँगा। छल प्रवंचना कपट अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी। रक्तरंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन शव गन्ध पूरित धूम से भरकर तेरी

---

१ जनमेजय का नागयज्ञ—अंक १ दृश्य ४ पृ० ३३

२ जनमेजय का नागयज्ञ—अंक १ दृश्य ४ पृ० ३२ ३३

धूपदाना बनेगा ।[1]

अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए तक्षक, राजकुल में असंतुष्ट राजपुरोहित काश्यप को अपनी ओर मिलाना चाहता है। काश्यप उसकी सहायता करने के लिए स्वयं उपस्थित होता है। उसे यह भी दुःख है, कि मणिकुण्डल किसी अन्य ब्राह्मण को क्या मिले, यदि उनको दान देना ही था, तो वे उसे ही मिलने चाहिए थे। तक्षक भी यही चाहता है कि उत्तंक से छीन झपटकर वह उन्हें लोभी काश्यप को देकर बदले में उससे राजकुल का समस्त रहस्य जान ले। संयोग से, उत्तंक भी वन में अपने गंतव्य स्थान की ओर जाता हुआ वहीं आ निकलता है और थककर वहां सो जाता है। तक्षक चोरी से कुण्डल लेने का प्रयत्न करता है, पर उत्तंक जाग जाता है। तक्षक उस पर प्रहार करने को उद्यत होता है कि कहीं से सरमा आकर उसका हाथ पकड़ लेती है। पुनः वह सरमा पर हाथ उठाना ही चाहता है कि वासुकि आकर रोक देता है। उत्तंक मुक्त होकर कुण्डल लिये चला जाता है।

राजकुल से प्रतिशोध लेने के लिए राजपुरोहित काश्यप को अपनी ओर मिलाने के लिए तक्षक के प्रयत्न का महाभारत में कहीं उल्लेख नहीं है। वहाँ केवल एक ही बार परीक्षित को डसने के लिए जाते हुए तक्षक ने, मार्ग में मिले एक चिकित्सक काश्यप को प्रभूत धन देकर लौटाया है इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त, किसी अन्य अभिसंधि में भी काश्यप का हाथ यदि रहा हो तो उसका स्पष्टतः कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। संभवतः, काश्यप पुरोहितों के स्थान पर नये पुरोहितों की नियुक्ति से इस प्रकार की कल्पना को बल मिला है।

दूसरी घटना, राजा पौष्य के यहां से कुण्डल लेकर जाते हुए उत्तंक से मार्ग में, तक्षक कपट रूप धारण करके, कुण्डलों का हरण कर लेता है। प्रथम तो वह नग्न क्षपणक का रूप बनाकर उत्तंक का अनुसरण करता है और मार्ग में एक जलाशय के किनारे पर कुण्डल रख कर ज्यों ही स्नानादि करने के लिए उत्तंक पानी में उतरता है कि इतने में ही वह क्षपणक बड़ी शीघ्रता से वहां आता है और कुण्डल लेकर चम्पत हो जाता है। उत्तंक जलाशय से बाहर निकलकर उसका पीछा करके उसे पकड़ लेता है किन्तु वह क्षपणक रूप को छोड़कर अपने तक्षक रूप को पुनः धारण करके पृथ्वी के एक बहुत बड़े विवर में घुस जाता है।[2]

अब उत्तंक पौष्य की रानी की चेतावनी का स्मरण करते ही तक्षक का अनुसरण करता है। आरम्भ में उसे कुछ कठिनाई होती है किन्तु इन्द्र की सहायता से वह तक्षक के पीछे-पीछे नागलोक पहुँचने में समर्थ हो जाता है। वहाँ एक अज्ञात पुरुष की सहायता से वह कुण्डल पुनः प्राप्त कर लेता है तथा उसी के कहने से एक घोड़े पर चढ़कर कुछ ही समय की

---

१ जनमेजय का नागयज्ञ—अंक १ दृश्य ५ पृ० ३५

२ उत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च। अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे। एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत्। तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात्। तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह। गृहीतमात्रः स तद्रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश।

—महाभारत आदिपर्व ३ १२६

नियत अवधि में अपनी गुरुपत्नी को कुण्डल समर्पित कर देता है।[1]

महाभारत में उत्तंक द्वारा कुण्डल लाने की कथा का विवरण विस्तार से दिया गया है। किन्तु प्रसादजी ने महाभारत के विवरण का उसी रूप में अनुसरण नहीं किया है। उन्होंने इसकी भित्ति पर कथा का जो रूप प्रस्तुत किया है, उसमें तक्षक और उत्तंक के अतिरिक्त राजपुरोहित काश्यप, वासुकि और सरमा यादवी को भी सम्मिलित कर लिया है। नाटक की कथा में नागराज तक्षक उत्तंक से कुण्डल अपहृत करने में सफल नहीं हो पाता है। सरमा और वासुकि की उपस्थिति उसकी वाञ्छित कार्य सिद्धि में बाधक बन जाती है। उत्तंक कुण्डल लेकर उसके क्षेत्र की सीमा से निर्बाध बाहर निकलने में समर्थ हो जाता है। परन्तु महाभारत की कथा में कुण्डल एक बार तक्षक द्वारा अपहृत कर लिए जाने पर उन्हें पुनः प्राप्त करने में उत्तंक को बड़ा संघर्ष करना पड़ता है। उसकी सफलता में सबसे बड़ा सहायक बनता है आचार्य वेद का मित्र देवराज इन्द्र।[2]

दामिनी का कुविचार

प्रथमांक के षष्ठ दृश्य को दो अंशों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम अंश में आचार्य वेद के कुछ ब्रह्मचारियों का वार्तालाप है। यह स्वतन्त्र एवं मुक्त वातावरण में है और यह अगम्भीर है। इसको जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उससे ऐसा ही प्रतीत होता है कि भार डालने वाली घटनाओं से बोझिल मस्तिष्क को मनोरंजन से कुछ विश्राम दिया जाय, जिससे कि वह आगे घटित होने वाली गम्भीर घटनाओं के लिए प्रस्तुत हो सके।

इस दृश्य के द्वितीय अंश में उत्तंक अपनी गुरुपत्नी दामिनी को मणिकुण्डल भेंट करता है। परन्तु दामिनी का हृदय पूर्व से ही शुद्ध नहीं है। वह उत्तंक के आने से पूर्व सोचती है—

उत्तंक नहीं आया। मेरी कामना के लक्ष्य उत्तंक! पुण्यक के बहाने मैंने तुझे बुलाया है। एक बार और परीक्षा करूँगी।[3] उत्तंक द्वारा मणिकुण्डलों का उपहार दिए जाने पर वह उन्हें अपने हाथों से ही कानों में पहना देने के लिए कहती है। पूर्वपरीक्षा के समान उत्तंक इस परीक्षा में भी सफल होता है। वह क्षमायाचना पूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट करता है 'तुम गुरुपत्नी हो मेरी माता के तुल्य हो!' उसका कर्त्तव्य और विवेक जागृत हो जाते हैं।

प्रसादजी ने आचार्य वेद की पत्नी दामिनी का उत्तंक के प्रति आकर्षण प्रथम दृश्य में

१ महाभारत आदिपर्व ३ १३०-१५८

२ वही आदिपर्व—
स हि भगवानिन्द्रो मम सखा त्वदनुक्रोशादिममनुग्रहं
कृतवान् तस्मात् कुण्डले गृहीत्वा पुनरागतोऽसि ॥ आदि० ३ १६६

१ जनमेजय का नागयज्ञ १ ६, पृ ४२

भी चित्रित किया है। उसका कुछ आधार जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है महाभारत में मिल जाता है।[1] परन्तु कुण्डल आनयन के समस्त प्रसंग को ध्यानपूर्वक पढ़ जाने के पश्चात् महाभारत की सम्बद्ध पंक्तियों से कहीं ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि पुण्यक के बहाने से अपने पास बुलाने का प्रयत्न किया गया हो। महाभारत में कुण्डल आनयन के प्रसंग में, आरम्भ और अन्त दो ही स्थलों पर गुरुपत्नी का उल्लेख है। आरम्भ में उत्तंक गुरु से गुरुदक्षिणा मांगने के लिए आग्रह करता है। पर गुरु कहते हैं—

वत्स उत्तंक, तुम मुझसे बार बार कहते हो कि मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ? तो जाओ घर के भीतर अपनी गुरुपत्नी से पूछ लो कि मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ।' गुरु के आदेश के अनुसार उत्तंक गुरुपत्नी के पास जाता है और उसे आदेश मिलता है—

राजा पौष्य के यहाँ उसकी क्षत्राणी ने जो कुण्डल पहन रखे हैं उन्हें मांगने के लिए तुम जाओ। उन कुण्डलों को ले आओ। आज से चौथे दिन पुण्यक व्रत होने वाला है। उस दिन मैं उन्हें पहनकर ब्राह्मणों को भोजन परोसना चाहती हूँ। तुम यह मनोरथ पूर्ण करो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।[2]

अन्त के स्थल में गुरुपत्नी उत्तंक की प्रतीक्षा कर रही है। देरी के कारण उसे शाप देने के लिए विचार करती है कि इसी बीच उत्तंक आकर उसे कुण्डल दे देता है। वह कहती है 'तुम ठीक समय पर आ गये। अच्छा हुआ बिना अपराध के तुम्हें मैंने शाप नहीं दिया। तुम्हारा कल्याण उपस्थित है। तुम सिद्धि प्राप्त करो।'[3] महाभारत के इस स्थल पर कहीं भी ऐसा भासित नहीं होता है कि आचार्य वेद की पत्नी का आकर्षण उत्तंक की ओर है। पुण्यक का उल्लेख आरम्भ के अंश में अवश्य है, परन्तु उससे यह ध्वनित नहीं होता है कि इसके बहाने से उत्तंक को अपने पास बुलाने का प्रयत्न किया गया हो।[4] यहाँ तो यही कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि के लिए आचार्य वेद की पत्नी के चरित्र चित्रण में महाभारत की अपेक्षा अपनी कल्पना का सहारा अधिक लिया है। नाम के साथ उसके स्वरूप का चित्रण भी अधिकांश में कल्पित है।

जरत्कारु की हत्या

प्रथम अंक के सप्तम एवं अन्तिम दृश्य में मृगया खेलते हुए राजा जनमेजय के बाण

---

१ महाभारत—आदि० ३ ८५ ८७

२ गच्छ पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे। ते आनयस्व। चतुर्थे अहनि पुण्यकं भविता ताभ्यामाबद्धाभ्यां शोभमाना ब्राह्मणान् परिवेष्टुमिच्छामि। तत् सम्पादयस्व। एवं हि कुर्वतः श्रेयो भविता।

—महाभारत आदि० ३ ९६

३ उत्तंक देशकालेऽभ्यागतः। स्वागतं ते वत्स। त्वमनागसि मया न शप्तः श्रेयस्तवोपस्थितं सिद्धिमाप्नुहि।

—महाभारत आदि० ३ १५६

४ जनमेजय का नागयज्ञ—१ ६ पृष्ठ ४२

से हिरण के भ्रम से जरत्कारु ऋषि की हत्या दिखायी गयी है। महाभारत में, स्पष्ट रूप से कहीं पर भी जरत्कारु की हत्या का उल्लेख नहीं है, परन्तु इस बात का तो स्पष्ट कथन है कि परीक्षित के पुत्र राजा जनमेजय से अनजाने में एक ब्रह्महत्या हो गयी थी—

आसीद राजा महावीर्य पारीक्षिज्जनमेजय ।
अबुद्धिपूर्वमागच्छद ब्रह्महत्या महीपति ॥[1]

इसी प्रसंग में राजा जनमेजय को ब्राह्मण की मृत्यु का कारण भी कहा गया है—

ब्रह्ममृत्युरशुद्धात्मा पापमेवानुचिन्तयन ।[2]

ब्रह्महत्या के कारण ही राजा जनमेजय को पुरोहित सहित सब ब्राह्मणों ने त्याग दिया था। इस दुःख के कारण दिन रात जलता हुआ वह वन में चला गया था। उसकी प्रजा ने भी उसको त्याग दिया था। दुःख से दग्ध होते हुए उसने बड़ा तप किया और समस्त पृथ्वी पर विचरण करते हुए उसने स्थान-स्थान पर ब्राह्मणों से प्राप्त ब्रह्महत्या को दूर करने का उपाय पूछा—

ब्राह्मण सर्व एवैतं तत्यजु सपुरोहिता ।
स जगाम वन राजा दह्यमानो दिवानिशम ॥
प्रजाभि परित्यक्तश्चकार कुशल महत ।
अतिवेल तपस्तेपे दह्यमान स मन्युना ॥
ब्रह्महत्यापनोदार्थमपृच्छद ब्राह्मणान बहून ।
पर्यटन पृथ्वीं कृत्स्ना देशे देशे नराधिप ॥[3]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि पारीक्षित जनमेजय से कोई ब्रह्महत्या हो गयी थी। इसी ब्रह्महत्या के कारण महर्षि इन्द्रोत शौनक ने उनके पास जाने पर जनमेजय का अति कठोर शब्दों में तिरस्कार किया है—

तेरे शरीर से रक्त की-सी गंध आ रही है। तेरा दर्शन शव के सदृश है तेरा रूप ऊपर से मंगलमय प्रतीत होता है, किन्तु है अकल्याणमय। वास्तव में तेरा मरण तो हो चुका है अब तो तू यूँ ही जीवित की भाँति घूम रहा है—

रुधिरस्येव ते गन्ध शवस्येव च दर्शनम ।
अशिव शिवसकाशो मृतो जीवन्निवाटसि ।[4]

इन सब बातों से जनमेजय की ब्रह्महत्या तो सिद्ध हो जाती है, किन्तु इस प्रसंग में यह कहीं पर स्पष्ट नहीं किया गया कि जनमेजय द्वारा किस ब्राह्मण की हत्या हुई। जिसकी हत्या हुई उसका नाम यहाँ नहीं दिया गया है। प्रसादजी ने जनमेजय द्वारा महर्षि जरत्कारु की हत्या का चित्रण किया है। किसी ज्ञात प्रमाण के अभाव में यह कहना कठिन है कि इसके लिए प्रसादजी का आधार क्या रहा होगा।

---

१ महाभारत शान्ति १५० ३।
२ वही शान्ति १५० १२
३ वही शान्ति० १५० ४६
४ वही शान्ति ३ १ २०

आस्तीक, मणिमाला और शीला

इस नाटक के द्वितीय अक के प्रथम दृश्य का आरम्भ आस्तीक और मणिमाला की बातचीत से होता है। आस्तीक यायावर महर्षि जरत्कारु एव नागराज वासुकि की बहन मनसा का पुत्र है और मणिमाला, नागो के अधिपति तक्षक की पुत्री है। इसका हृदय अति कोमल एव व्यवहार अति शिष्टतापूर्ण है। आस्तीक महर्षि च्यवन के गुरुकुल म शिक्षा प्राप्त कर रहा है। वह अपनी माता मनसा के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से खिन्न है। मणिमाला उसे सात्वना देती है। इसी समय सम्राट जनमेजय आ जाता है। मणिमाला अपना और आस्तीक का उसे परिचय देती है। सम्राट सोमश्रवा को जो कि नागकुल की माता और ब्राह्मऋषि श्रुतश्रवा का पुत्र है अपना पुरोहित बनाने के लिए प्रयत्नशील है। सोमश्रवा के पिता ऋषि श्रुतश्रवा से अनुमति प्राप्त करने के लिए उनके आश्रम की ओर जा रहा है। यहाँ मणिमाला के साथ एव ब्राह्मण कुमारी शीला की बातचीत से यह पता चल जाता है कि सोमश्रवा का जनमेजय का पुरोहित बनना भी निश्चित हो चुका है और शीला का भावी पुरोहित के साथ विवाह भी।

यहा इस दृश्य म मणिमाला और शीला दोनो पात्र काल्पनिक है। महाभारत अथवा हरिवश म इनका कही उल्लेख नही है। आस्तीक वस्तुत एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। महाभारत म जनमेजय के नागयज्ञ का जो वर्णन है उसम आस्तीक की भूमिका एक प्रमुख स्थान रखती है। महाभारत के आदिपर्व के अध्याय तेरह से लेकर अठावन तक के छियालिस अध्यायो के खण्ड को आस्तीकपर्व नाम दिया गया है। इसमे नागो से सम्बन्ध रखने वाली प्राय सभी कथाओ का वर्णन है। प्रसिद्ध यायावर महर्षि जरत्कारु उनका ब्रह्मचर्य, तपस्या उनके विवाह न करने से, सन्तति विच्छेद के भय से अपने पितरो की दुरवस्था देखकर, कुछ शर्तों के साथ विवाह करने का निश्चय आस्तीक का जन्म आदि सब प्रकार की कथाओ का विशद वर्णन यहाँ मिलता है।

नाटक म आस्तीक को महर्षि च्यवन का शिष्य बताया गया है। महाभारत म भी ऐसा ही उल्लेख है—

> ववृधे स तु तत्रैव नागराजनिवेशने।
> वेदाश्चाधिजगे साङ्गान् भार्गवाच्च्यवनात्मुने ॥[1]

इस दृश्य म सोमश्रवा के जनमेजय का पुरोहित बनने के सम्बन्ध म जो उल्लेख किया गया है उसका आधार भी महाभारत ही है। अपर राजा जनमेजय के दरबार से न्याय न मिलने पर राजा के प्रति सरमा यादवी के शाप का उल्लेख हुआ है। इस शाप के पश्चात राजा को उसके प्रतिकार की चिन्ता होती है। सब प्रकार के अनिष्टो के निवारण म समर्थ विद्वान पुरोहित के अन्वेषण के लिए वह निकल पडता है।[2] पिता राजा को आश्वासन दिलाता है कि उसका पुत्र समस्त सम्भावित अनिष्टो का निराकरण करने म समर्थ है। परन्तु साथ ही

१ महाभारत आदि ४८ १८

२ महाभारत आदि ३ १३ २०

यह भी कहा गया है कि मेरे पुत्र का यह नियम है कि यदि कोई ब्राह्मण इसके पास आकर किसी वस्तु की याचना करेगा तो यह उसकी अभीष्ट वस्तु अवश्य देगा। यदि तुम उसका पूरा इसके संग व्यवहार का निर्वाह कर सको तो इसे ले जाओ—

'समर्थोऽयं भवतां सर्वाः पापकृत्याः शमयितुम्। अस्य त्वेकमुपांशुव्रतं यदेनं कश्चिद् ब्राह्मणः कञ्चिदर्थमभियाचेत् तं तस्मै दद्यादयम्। यद्येतदुत्सहध्वं ततो नयध्वमेनमिति।'[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि काश्यप पुरोहितों ने लोभ के वशीभूत होकर राजवंश के साथ विश्वासघात किया। नागों से मिलकर उसे नष्ट करने का षड्यन्त्र किया। अतः पुरोहितों की नयी व्यवस्था करने के लिए राजा को बाध्य होना पड़ा। नागकन्या की माता और आर्य पिता से उत्पन्न परम तपस्वी एवं विद्वान् सोमश्रवा को राजपुरोहित बनाने में भी सम्भवतः कोई राजनीतिक उद्देश्य रहा हो।

दामिनी का प्रतिशोध

आचार्य वेद की पत्नी दामिनी उत्तंक के सामने अपनी मनोरथ सिद्धि में असफल होकर अब उससे प्रतिशोध लेने के लिए नागराज तक्षक की शरण लेती है। यादवी सरमा का पुत्र माणवक उसे सावधान करता है कि प्रतिशोध लेने की भावना मनुष्य को अशान्त बना देती है—

दामिनी—हाँ-हाँ स्मरण आया—प्रतिशोध! मुझे प्रतिशोध लेना है!

माणवक—किससे? क्या उसे लेकर तुम रख सकोगी? वह जहाँ रहेगा जलाया करेगा, डरा मारा करेगा और तड़पाया करेगा। उसे तुम सँभाल नहीं सकोगी। और जिसे तुम धारण नहीं कर सकती, उसे तुम लेकर क्या करोगी? छोड़ो, उसके पीछे न पड़ो देवि, इसी में तुम्हारा कल्याण होगा। एक मैं ही इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। चारों ओर मारा मारा फिर रहा हूँ।[2]

परन्तु दामिनी प्रतिशोध के भयंकर मार्ग से पीछे नहीं हटती है। वह तक्षक के पास जाकर उसे विश्वास दिलाती है कि यदि वह उत्तंक को उसके अधीन कर दे तो वह उसे मणिकुण्डल देने के लिए तैयार है और साथ ही उसे सावधान भी करती है कि यदि उसने इस कार्य में शीघ्रता न की, तो वह स्वयं उत्तंक द्वारा रचे कुचक्र की बलि बन जायगा। वह कहती है—

वह तुमसे बदला लेने के लिए जनमेजय के यहाँ गया है। बहुत शीघ्र तुम उसके कुचक्र में पड़ोगे।[3]

द्वितीय अंक के इस द्वितीय दृश्य में दामिनी को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है

---

१ महाभारत आदि० ३।१७-१८
२ जनमेजय का नागयज्ञ २।२ पृ० ५३
३ वही २।२ पृ० ५४

वह रूप महाभारत या अन्यत्र नहीं मिलता। सम्भवतः नारी भावना को चित्रित करने के लिए प्रसादजी ने उसे यहाँ प्रस्तुत किया है। शत्रु का शत्रु अपना मित्र होता है। उत्तंक तक्षक को अपना शत्रु मानता है, इसीलिए उत्तंक को नीचा दिखाने के लिए दामिनी तक्षक की सहायता चाहती है। तक्षक और उत्तंक के विरोध का आधार महाभारत है। द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में इसी बात को प्रमुखता दी गयी है।

नागयज्ञ की प्रेरणा

द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में, आचार्य वेद का शिष्य उत्तंक स्नातक बनने के उपरान्त सम्राट जनमेजय के पास जाकर शासन के विरुद्ध राज्य में चल रहे एक भीषण कुचक्र के दमन के लिए उसे उत्साहित करता है। गुरुपत्नी के लिए मणिकुण्डल ले जाते समय नाग में तक्षक से उत्तंक को अपमानित होना पड़ा था। अवसर मिलने पर अब वह उसी का प्रतिकार करना चाहता है। अनजान में हुई जरत्कारु की हत्या के कारण भी जनमेजय को ब्राह्मण वर्ग के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ रहा है। सारी स्थिति पर विजय प्राप्त करने शासन के विरुद्ध उपाय सुझाता है ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होने के लिए अश्वमेध और के लिए उत्तंक कुचक्र को कुचलने के लिए नाग दमन। दोनों का यह संभाषण बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

जनमेजय—आपकी यह बात तो मुझे जँच गयी है और मैं ऐसा ही करूँगा भी किन्तु यह कुचक्र भीषण रूप धारण करता जा रहा है।

उत्तंक—मैं सब सुन चुका हूँ और जानता हूँ कि कुछ दुर्बुद्धियों ने यादवी सरमा तक्षक तथा आपके पुरोहित काश्यप के साथ मिलकर एक षड्यन्त्र रचा है किन्तु आपको इससे भयभीत नहीं होना चाहिए।

जनमेजय—भगवन यह तो ठीक है पर मुझसे अनजान में जो ब्रह्महत्या हो गयी, उससे मैं और भी खिन्न हूँ। काश्यप मुझ पर अभियोग लगाते हैं कि मैंने जान-बूझकर हत्या की, ब्राह्मणवर्ग और आरण्यक मण्डल भी इससे कुछ असन्तुष्ट हो गया है। पौर जनपद आदि सब लोगों में यह आतंक फैलाया जा रहा है कि राजा यौवन मद से स्वच्छाचारी हो गया है। वह किसी की नहीं सुनता। इधर जब मैं आपसे तक्षक द्वारा अपने पिता के निधन का गुप्त रहस्य सुनता हूँ तो क्रोध से मेरी धमनियाँ बिजली की तरह तड़पने लगती हैं परन्तु मैं क्या करूँ? परिषद् भी अन्य मनस्क है और कर्मचारी भी इस आतंक से डरे हुए हैं।

उत्तंक—लकड़हारे से तो आप सुन ही चुके कि इसी काश्यप ने तक्षक से मिलकर राजनिधन कराया है और यही लोलुप काश्यप फिर ऐसी कुमन्त्रणाओं में लिप्त हो तो क्या आश्चर्य!

जनमेजय—होगा तो फिर मैं क्या करूँ?

उत्तंक—सम्राट को किंकर्तव्यविमूढ़ होना शोभा नहीं देता। मनोबल संकलित कीजिए।

दृढ़प्रतिज्ञ हृदय के शासन से सब विघ्न स्वयं दूर हो जायेंगे। अपने हाथों में दण्ड ग्रहण कीजिए। दुराचारी भाई क्यों भी न हो, दण्ड से मुक्त न रहे। सम्राट्, अपने पिता का प्रतिशोध लीजिए, जिससे इस ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा भी पूरी हो। इन दुष्ट नागों का दमन कीजिए।

जनमेजय—किन्तु मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। क्या वह कर्म करने में स्वतन्त्र है?

उत्तंक—अपने कलंक के लिए रोने से क्या वह छूट जायगा? उसके अन्त में पुरुषार्थ करना होगा। सम्राट मनुष्य जब तक यह रहस्य नहीं जानता तभी तक वह नियति का दास बना रहता है। यदि ब्रह्महत्या पाप है तो अश्वमेध उसका प्रायश्चित्त भी तो है। अपने तीनों वीर सहोदरों को तीन दिशाओं में विजयाभियान के लिए भेजिए और आप स्वयं इन नागों का दमन करने के लिए तक्षशिला की ओर प्रस्थान कीजिए। अश्वमेध के व्रती होइए। सम्राट् जब तक मेरी क्रोधाग्नि में दुष्ट नाग जल कर भस्म न होंगे तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी। बल मद से मत्त चाहे कोई शक्ति हो ब्राह्मण की अवज्ञा करके उसका फल अवश्य भोगेगी। बतलाइए आप नियति द्वारा आरोपित कलंक का प्रतिकार अपने सुकर्मों से नियामक बनकर करना चाहते हैं या नहीं? और मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी करना चाहते हैं या नहीं?

जनमेजय—आर्य उत्तंक, पौरव जनमेजय प्रतिज्ञा करता है कि अश्वमेध पीछे होगा पहले नागयज्ञ होगा।

उत्तंक—सन्तुष्ट हुआ। सम्राट मेरा आशीर्वाद है कि जीवन की समस्त बाधाओं को हटा कर आपका शान्तिमय राज्य बने। अब शीघ्रता कीजिए। मैं जाता हूँ।[1]

ऊपर उद्धृत जनमेजय और उत्तंक के इस सम्भाषण में उन बातों की चर्चा की गई है जो कि इस नाटक के लिए मूलभूत हैं और जिनका आधार मुख्यतः महाभारत है। ये बातें हैं—

१ आर्य शासन के विरुद्ध नाग प्रभृति आर्येतर लोगों का विद्रोह।

२ सम्राट जनमेजय से हुई ब्रह्महत्या और उसका प्रभाव।

३ ब्राह्मण वर्ग का विरोध।

४ परीक्षित की हत्या का रहस्य।

५ अश्वमेध और नागदमन का प्रस्ताव।

६ अश्वमेध से पूर्व नागयज्ञ करने की जनमेजय की प्रतिज्ञा।

१—आर्य और आर्येतर जातियों का संघर्ष वैदिक युग से ही चलता रहा है। वैदिक संहिताएँ ब्राह्मण आरण्यक सूत्र रामायण महाभारत अष्टाध्यायी, महाभाष्य और अष्टादश पुराण इस संघर्ष की साक्षी प्रस्तुत करते हैं। देवासुर संग्राम तो भारतीय साहित्य एवं लोक जीवन की सुपरिचित कहानी है। जनमेजय के साथ नागों के प्रबल विरोध की घटना भी महाभारत की महत्त्वपूर्ण वस्तु है।[2]

---

१ जनमेजय का नागयज्ञ—२ ३ प ४५ ४७

२ महाभारत शान्ति० अ० ५० ५८

२—सम्राट जनमेजय से हुई ब्रह्महत्या का उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व में हुआ है।[1] यहाँ इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि पुरोहितों सहित सब ब्राह्मणों ने तथा प्रजा ने भी राजा का त्याग किया था—

ब्राह्मणा सर्व एवैते तत्यजुः सपुरोहिताः।
स जगाम वनं राजा दह्यमानो दिवानिशम्।
प्रजाभिः स परित्यक्तश्चकार कुशलं महत्॥[2]

शान्तिपर्व के इन सम्बद्ध अध्यायों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ब्रह्महत्या के कारण जनमेजय को अत्यधिक सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ा।

३—शान्तिपर्व से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्महत्या होने से पूर्व भी जनमेजय और ब्राह्मणों का विरोध चलता रहा है। इन्द्रोत शौनक राजा से स्पष्ट रूप में यह प्रतिज्ञा कराते हैं कि वह भविष्य में कभी भी ब्राह्मणों से द्रोह नहीं करेगा—

यथा ते मत्कृते क्षेमं लभन्ते ते तथा कुरु।
प्रतिजानीहि चाद्रोहं ब्राह्मणानां नराधिप॥[3]

और राजा जनमेजय यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं आपके दोनों चरण छूकर शपथपूर्वक कहता हूँ कि मन, वाणी और क्रिया द्वारा कभी ब्राह्मणों से द्रोह नहीं करूँगा—

नैव वाचा न मनसा पुनर्जातु न कर्मणा।
द्रोग्धास्मि ब्राह्मणान् विप्र चरणावपि ते स्पृशे॥[4]

ब्राह्मणों के प्रति राजा जनमेजय के क्रोध का उल्लेख अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने भी किया है—

कोपाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः।[5]

अश्वमेध यज्ञ में विघ्न पड़ने पर तो जनमेजय के क्रोध का प्रमाण हरिवंश में भी मिल जाता है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जरत्कारु मुनि की हत्या से पूर्व भी, जनमेजय के स्वभाव की उग्रता के कारण ब्राह्मणवर्ग के साथ उसका विरोध रहा होगा, जिसका कुछ संकेत शान्तिपर्व में भी उपलब्ध है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

६—नाटक में जनमेजय को अपने पिता परीक्षित की हत्या का रहस्य सर्वप्रथम उत्तंक से ही विदित होता है। उत्तंक से सुनने के पश्चात राजा अपने मन्त्रियों से भी इस सम्बन्ध में पूछता है और वे यथावृत्त समस्त विवरण उसे सुनाते हैं।[6] उत्तंक एवं जनमेजय की बातचीत का वर्णन पौष्यपर्व में है।[7] शिक्षा समाप्त करने पर गुरुदक्षिणा देने के उपरान्त उत्तंक सीधा हस्तिनापुर में जनमेजय के पास जाता है और राजा को उसके पिता की हत्या

१ महाभारत शान्तिपर्व अ० १५२
२ वही शान्तिपर्व १५१ ४८
३ वही शान्तिपर्व १५१ २१
४ वही शान्तिपर्व १५१ २२
५ अर्थशास्त्र तृतीय प्रकरण
६ महाभारत आदि० अ० ४९ ५
७ वही आदि० अ० ३ १७० १८६

का समाचार सुनाकर प्रतिशोध के लिए उसे तैयार करना है—

स उपाध्यायेनानुज्ञातो भगवानुत्तङ्कः क्रुद्धः तक्षकं प्रतिचिकीर्षमाणो हस्तिनापुरं प्रतस्थे ।

स हस्तिनापुरं प्राप्तो नचिराद् विप्रसत्तमः ।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥[1]

वहाँ जाकर उसने राजा से कहा कि तुम और कामों में ही लगे हो जो करणीय है उसे नहीं कर रहे हो—

अन्यस्मिन् करणीये तु कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥[2]

राजा ने पूछा कि बताइए, आज मेरे करने योग्य कौनसा कार्य उपस्थित है जिसके कारण आप यहाँ पधारे हैं—

ब्रूहि मे किं करणीयमद्य येनासि कार्येण समागतस्त्वम् ।

इसके पश्चात् उत्तङ्क ने तक्षक द्वारा जनमेजय के पिता की हत्या का समस्त वृत्तान्त संक्षेप में सुनाया है और राजा से अनुरोध किया है कि वह सर्पयज्ञ का अनुष्ठान करके उसकी प्रज्वलित अग्नि में उस तक्षक पापी को शीघ्र ही जला दे—

होतुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने ।
सर्पसत्रे महाराज त्वरितं तद् विधीयताम् ॥[3]

और कहा कि ऐसा करके आप अपने पिता की मृत्यु का बदला चुका सकेंगे और मेरा भी कार्य पूरा हो जाएगा। महाराज, तक्षक बड़ा दुरात्मा है। मैं गुरुजी के लिए एक कार्य करने जा रहा था जिसमें उस दुष्ट ने बड़ा विघ्न डाला—

एवं पितुश्चापचितिं कृतवांस्त्वं भविष्यसि ।
मम प्रियं च सुमहत् कृतं राजन् भविष्यति ॥
कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना ।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥[4]

इस प्रकार से उत्तङ्क राजा जनमेजय को पितृहत्या का प्रतिशोध लेने के लिए सर्पयज्ञ आरम्भ करने को उद्यत कर लेता है। महाभारत का यही भाग द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य की कथा का आधार है। यहाँ पर राजा की ब्रह्महत्या एवं उसे दूर करने के साधनभूत अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख नहीं है।

दामिनी का अपमान

द्वितीय अंक के चतुर्थ दृश्य में आचार्य वेद की पत्नी दामिनी उत्तङ्क से प्रतिशोध लेने

१,२ महाभारत आदि० ३ १७०, १८२
३ महाभारत आदि० ३ १८३
४ वही आदि० ३ १८४ तथा १८५

के लिए सहायता के उद्देश्य से तक्षक के घर में जाती है और वहां उसका पुत्र अश्वसेन उसे धर्षित करना ही चाहता है कि उसकी बहन मणिमाला के वहां आ जाने से उसकी रक्षा हो जाती है।

महाभारत में खाण्डववन के दाह के प्रसंग में नागराज तक्षक के पुत्र अश्वसेन का भी उल्लेख है। यह इन्द्र की सहायता से बड़ी कठिनाई से खाण्डव वन की उस प्रदीप्त अग्नि से निकल सकने में समर्थ हो सका था—

अश्वसेनोऽभवत्तत्र तक्षकस्य सुतो बली।
स यत्नमकरोत् तीव्रं मोक्षाय जातवेदसः॥
तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम्।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत॥[1]

अश्वसेन के अतिरिक्त इस दृश्य की शेष घटना कल्पित है।

जनमेजय के विरुद्ध षडयन्त्र

द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में तक्षक, काश्यप, सरमा, वेद कुछ नाग तथा कुछ ब्राह्मण एक साथ बैठे मन्त्रणा कर रहे हैं। तक्षक ब्राह्मणों को आश्वासन देता है कि पौरवों का नाश होने पर वह परिषद की शासनसत्ता ब्राह्मणों के हाथों में सौंप देगा। राजा जनमेजय का राजपुरोहित काश्यप तक्षक के साथ मिल चुका है किन्तु अन्य ब्राह्मण तक्षक पर अभी विश्वास नहीं करते हैं यद्यपि जनमेजय के शासन से वे भी असन्तुष्ट प्रतीत होते हैं, परन्तु यादवी सरमा तक्षक और काश्यप का विरोध करती है। वह कहती है—

'एक दस्युदल को उसका स्थानापन्न बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है। धर्म का ढोंग करके एक निर्दोष आर्य सम्राट को अपने चंगुल में फँसाकर उसके पतित होने की व्यवस्था करना, जिससे वह राजच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है? सो भी यहीं तक नहीं, उसके कुल-भर को आपद से इस प्रकार वंचित कर देने की कुमन्त्रणा कहां तक अच्छी होगी।'[2]

सरमा आगे कहती है—

'मैं यादवी हूं अपमान का बदला षडयन्त्र करके नहीं लूंगी। यदि मेरे पुत्र की बाहुओं में बल होगा, तो वह स्वयं प्रतिशोध ले लेगा।'[3]

सरमा यादवी वासुकि नाग की पत्नी होकर भी आर्यों के विरुद्ध नागों के षडयन्त्र में सम्मिलित नहीं होती है। यहां उसका चरित्र बड़ा उदात्त चित्रित किया गया है। इस कुमन्त्रणा के बीच में ही वासुकि की बहन और जरत्कारु मुनि की पत्नी मनसा सूचना

---

१ महाभारत आदि० २२६ ५ और ६
२ जनमेजय का नागयज्ञ २ १ पृ० ६२
३ वही २ १ पृ ६३

देती है कि जनमेजय की सेना ने पुनः तक्षशिला पर भयंकर आक्रमण किया है। इस बार जो नाग बन्दी होते हैं उन्हें अग्निकुंड में जला दिया जाता है। नाग जाति के विरुद्ध आर्यों की प्रतिहिंसा जाग उठी है। यहां यह भी पता चलता है कि नागों ने जनमेजय के पिता परीक्षित को आग से जलाकर ही मारा था अतः वह नागों को आग में भस्म करके अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध ले रहा है।

जनमेजय के तक्षशिला के अभियान का पौष्यपर्व में उल्लेख है—

स तथा भ्रातृन संदिश्य तक्षशिला प्रत्यभिप्रतस्थे तं च देशं वशे स्थापयामास।[1]

दूसरा उल्लेख इसी अध्याय में—

पुरा तक्षशिलास्थ निवर्त्तमपराजितम्।
सम्यग विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम्॥[2]

तक्षशिला विजय करके लौटने से सम्बन्धित है। ऊपर निर्दिष्ट यह अभियान सम्भवतः दूसरा है जिसमें नागों को जीवित अवस्था में ही पकड़-पकड़कर अग्नि में डाल दिया जाता था।

द्वितीय अंक के छठे दृश्य में कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है। सोमश्रवा, शीला, मणिमाला और महर्षि च्यवन—इनका कुछ समापण है। इससे सूचना मिलती है कि तक्षशिला में वीभत्स हत्याकाण्ड चल रहा है। राजा जनमेजय के पुरोहित बन जाने पर च्यवन सोमश्रवा को कर्तव्य पालन के प्रति सचेत करते हैं—

बस ऐसा काम करना जिसमें दुरात्मा काश्यप ने ब्राह्मणों की जो विडम्बना की है वह सब धुल जाय और सत्र पर ब्राह्मणों की सच्ची महत्ता प्रकट हो जाय। त्याग का महत्त्व जो हम ब्राह्मणों का गौरव है सदैव स्मरण रहे। धर्म कभी धन के लिए आचरित न हो वह श्रेय के लिए हो प्रकृति के कल्याण के लिए हो और धर्म के लिए हो। यही धर्म हम तपोधनों का परम धन है।[3]

इस दृश्य के सोमश्रवा और महर्षि च्यवन दोनों का महाभारत में उल्लेख हुआ है। जनमेजय द्वारा पुरोहित पद के लिए सोमश्रवा के वरण का महाभारत में जो उल्लेख है उसे ऊपर बताया जा चुका है।

सर्पयज्ञ का आरम्भ

द्वितीय अंक के सप्तम दृश्य से ज्ञात होता है कि राजा जनमेजय के सैनिक पराजित एवं बन्दी नागों को अग्नि में जीवित जलाने का वीभत्स कार्य निर्बाध रूप से कर रहे हैं। प्रतिशोध की भावना का इतना उग्र रूप! इतनी नागहत्या!!

इस अंक के अष्टम दृश्य में भी कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है। आचार्य वेद की पत्नी दामिनी लौट आती है। आचार्य उसे क्षमा करके पुनः आश्रय देते हैं।

१ महाभारत आदि० ३ २०
२ वही आदि ३ १९२
३ जनमेजय का नागयज्ञ २ ६ पृ० ६८

वेदव्यास और जनमेजय

तृतीय अंक के प्रथम दृश्य का आरम्भ राजा जनमेजय के दरबार में महर्षि व्यास के आगमन से होता है। महर्षि जनमेजय की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं। जनमेजय का मुख्य प्रश्न यह है कि उनके एवं भीष्मजी के रहते हुए समस्त वीरों का संहार करनेवाला महाभारत युद्ध हुआ ही क्यों? उन्होंने रोका क्यों नहीं? महर्षि उत्तर देते हैं—

"आयुष्मन् तुम्हारे पितामहों ने मुझसे पूछकर कोई काम नहीं किया था और न बिना पूछे मैं उनसे कुछ कहने ही गया था क्योंकि वह नियति थी। दम्भ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीडाकन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्वमद से मत्त मनुष्यों की कर्म शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य करती है और ऐसी ही क्रांति के समय विराट का वर्गीकरण होता है। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, सर्वभूतहित की कामना पर ही लक्ष्य होता है।

'× ×पौरव, स्मरण रखो, पाप का फल दुःख नहीं, किन्तु एक दूसरा पाप है। जिन कारणों से भारत युद्ध हुआ था, वे कारण या पाप बहुत दिनों से संचित हो रहे थे। वह व्यक्तिगत दुष्कर्म नहीं था।'[1]

जनमेजय महर्षि से अपना भविष्य भी जानना चाहता है। किन्तु वे वत्स यह कुतूहल अच्छा नहीं। जो हो रहा है उसे होने दो। अतएव आत्मा को अहंनिरपेक्ष करने का उद्योग करो। कहकर उसे शान्त करना चाहते हैं किन्तु उसके आग्रह करने पर वे कहते हैं—

'जनमेजय तुम्हारा भविष्य भी बहुत रहस्यपूर्ण है। तुम्हारा जीवन श्रीकृष्ण के किये हुए एक आरम्भ की इति करने के लिए है।× ×नियति केवल नियति जनमेजय और कुछ नहीं। ब्राह्मणों की उत्तेजना से तुमने अश्वमेध करने का जो दृढ संकल्प किया है उसमें कुछ विघ्न होगा और धर्म के नाम पर आज तक जो बहुत सी हिंसा होती आयी है, वह बहुत दिनों तक के लिए रुक जाने को है।'

जनमेजय कुछ आशंकित सा होता है—'यदि कोई ऐसी बात हो तो प्रभु मैं यज्ञ न करूँ?' किन्तु महर्षि उसे रोकते नहीं। वे कहते हैं—'वत्स, तुमको यज्ञ करना ही पड़ेगा। तुम्हारे सिर पर ब्रह्महत्या और इतनी नागहत्या का अपराध है। इसी यज्ञ की आशा से ब्राह्मण समाज ने अभी तक तुम्हें पतित नहीं ठहराया है। धर्म का शासन तुम्हें मानना ही पड़ेगा। तुम्हारी आत्मा इतनी स्वच्छन्द नहीं कि तुम प्रचलित परम्परा का उल्लंघन कर सको। अभी तुम्हारे स्वच्छन्द होने में विलम्ब है। तुम्हें तो यह नियमपूर्ण यज्ञ करना ही पड़ेगा, फल चाहे जो हो।[2]

मानव नियति के हाथों का एक खिलौनामात्र है। वह सोचता कुछ है और होता कुछ और है। महाभारत का युद्ध नियति के विधान का ही एक परिणाम था। जनमेजय

---

१ जनमेजय का नागयज्ञ ३ १ पृ० ७३-७४

२ वही ३ १ पृ० ७५

के जीवन की घटनाएँ भी पूर्व निर्धारित नियति के किसी संकल्प के अनुरूप घटित-सी हो रही हैं। ऊपर के उद्धृत अंश में महर्षि व्यास ने इसी बात का स्पष्टीकरण किया है। यह अंश तृतीय अंक में घटने वाली घटनाओं की भूमिका प्रस्तुत करता है, यह महत्त्वपूर्ण है इसीलिए यहाँ उद्धृत किया गया है।

तृतीय अंक के प्रथम दृश्य के महर्षि व्यास और जनमेजय के इस कथोपकथन का आधार मुख्य रूप से हरिवंश है।[1] वैसे महाभारत में भी जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ में अपने शिष्यमण्डल सहित महर्षि व्यास के आगमन, महाभारत की कथा सुनने के लिए जनमेजय की जिज्ञासा एवं महर्षि के आदेश से वैशम्पायन द्वारा कथा के प्रवचन आदि का वर्णन है।[2]

हरिवंश में नागयज्ञ के पश्चात जनमेजय द्वारा अश्वमेध यज्ञ का निश्चय कर लेने पर महर्षि व्यास का आगमन होता है—

तस्मिन सत्रे समाप्तेऽथ राजा पारीक्षितस्तदा ।
यष्टुं स वाजिमेधेन सम्भारानुपचक्रमे ।।
ऋत्विक पुरोहिताचार्यानाहूयेदमुवाच ह ।
यक्ष्येऽहं वाजिमेधेन हय उत्सृज्यतामिति ।
ततोऽस्य विज्ञाय चिकीर्षित तदा,
कृष्णो महात्मा सहसाऽऽजगाम ।
पारीक्षित द्रष्टुमदीनसत्त्व
द्वैपायन सर्वपरावरज्ञ ।।[3]

महाभारत में जनमेजय की सभा में महर्षि व्यास के आगमन का उल्लेख इस प्रकार है—

जनमेजयस्य राजर्षे स महात्मा सदस्तदा ।
विवेश सहित शिष्यैर्वेद वेदाङ्गपारगः ।।[4]

महर्षि के आगमन और स्वागत के पश्चात हरिवंश पुराण में राजा जनमेजय महाराज युधिष्ठिर द्वारा किये गये राजसूय यज्ञ को ही कुरुओं के विनाश का कारण मानते हुए व्यास जी से कहते हैं कि आप तो अतीत अनागत को जानते थे। आप जैसे नेता के रहते हुए यह अनर्थ कैसे सम्भव हुआ—

भवानपि च सर्वेषां पूर्वेषां न पितामह ।
अतीतनागतज्ञश्च नाथश्चादिकरश्च ह ।।
ते कथं भवता नेत्रा बुद्धिमन्तश्च्युता नयात ।
अनाथा ह्यपराध्यन्ते कुनेतारश्च मानवा ।।[5]

व्यासजी ने उत्तर दिया तुम्हारे पितामह काल की प्रेरणा से विपरीत अवस्था को प्राप्त हो गये थे। वे मुझसे भविष्य नहीं पूछते थे और मैं बिना पूछे किसी को कुछ बताता नहीं हूँ।

---

१ भविष्यपर्व अध्याय १२
२ शान्तिपर्व अ० ६० ६१
३ हरिवंश भविष्यपर्व २ २-७
४ महाभारत शान्ति पर्व ६० ७
५ हरिवंश भविष्यपर्व २ २२ २५

भविष्य को पलट देने की शक्ति मैं किसी में नहीं देखता हूँ क्योंकि काल ने जिस गति का विधान किया है उसका परिहार असम्भव है—

कालेन विपरीतास्ते तव पूर्वपितामहा ।
न मां भविष्यं पृच्छन्ति न चापृष्टो ब्रवीम्यहम् ॥
सामर्थ्यं न च पश्यामि भविष्यस्य निवर्तने ।
परिहर्तुं न शक्या हि कालेन विहिता गतिः ॥[1]

इस प्रकार इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि प्रसादजी ने हरिवंश को आधार बनाकर ही इस नाटक के तृतीय अंक के आरम्भ के दृश्य की रचना की है। यहां राजा जनमेजय के अपने भविष्य के सम्बन्ध में नाटक में पूछे गये प्रश्न और उत्तर का भी विवरण दिया हुआ है—

त्वया त्विदमहं पृष्टो वक्ष्याम्यागतु भावि यत् ।
अतश्च बलवान् कालः श्रुत्वापि न करिष्यसि ॥
न संरम्भात् न चारम्भात् न च स्थास्यसि पौरुषे ।
लेखा हि धातृलिखिता त्वया दुरतिक्रमा ॥
अश्वमेधः क्रतुश्रेष्ठः क्षत्रियाणां परिश्रुतः ।
तेन भावेन ते यज्ञं वासवो धर्षयिष्यति ॥[2]

नाटक में जनमेजय और महर्षि व्यास के संभाषण में जिस नियति के विधान की चर्चा पुनः पुनः हुई है उसका विशद वर्णन हमें यहां मिल जाता है। नाटक में महर्षि से इतना ही कहलाया गया है कि ब्राह्मणों की उत्तेजना से तुमने अश्वमेध करने का जो दृढ़ संकल्प किया है उसमें कुछ विघ्न होगा और धर्म के नाम पर आज तक जो बहुत सी हिंसा होती आयी है वह बहुत दिनों तक के लिए रुक जाने को है। यहां विघ्न के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं है, परन्तु हरिवंश में 'तं यज्ञं वासवो धर्षयिष्यति' कहकर उसे स्पष्ट कर दिया गया है। जनमेजय द्वारा किये गए अश्वमेध के पश्चात कोई क्षत्रिय इसे नहीं करेगा अर्थात भविष्य में अश्वमेध यज्ञ समाप्त हो जायेंगे और इस प्रकार उनमें होने वाली हिंसा का अन्त हो जायगा। इस बात का भी निर्देश यहां है—

त्वया वृत्ते क्रतौ चैव वाजिमेधे परंतप ।
क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति ॥[3]

इस प्रकार जनमेजय की जिज्ञासा का समाधान करके महर्षि व्यास विदा लेकर जनमेजय की परिषद से चले जाते हैं—

संस्थानं सोऽभ्यनुज्ञाय कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
पुनर्द्रक्ष्याम इत्युक्त्वा जगाम भगवानृषिः ॥[4]

परन्तु नाटक में भगवान व्यास जनमेजय के पास नहीं जाते हैं अपितु वही उनके पास आता

१ हरिवंश पुराण भविष्यपर्व २ २६ एवं २७
२ वही भविष्यपर्व २ २६ २८
३ वही भविष्यपर्व २ ३५
४ वही भविष्यपर्व ५ २

है। इसीलिए बात समाप्त होने पर जनमेजय के चले जाने पर वे यहीं आश्रम में ध्यानस्थ हो जाते हैं और इसके पश्चात् उनके दर्शनों के लिए आये हुए सोमश्रवा, शीला, आस्तीक और मणिमाला—सब महर्षि को ध्यानस्थ देखकर कुछ दूर हटकर उस वनस्थली का जो वर्णन करते हैं उससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्थल उनका आश्रम है। वे कहते हैं—

शीला—आर्यपुत्र अभी तो भगवान् ध्यानस्थ हैं।

सोमश्रवा—तब तक आओ, हम लोग इस मन्त्रमुग्ध शान्त धाम को देखें। क्या कहीं रमणीयता के साथ ऐसी शान्ति कहीं और भी देखने में आयी है?

आस्तीक—यायावर के समस्त आश्रमों से इसमें कुछ विशेषता है। भावना की शान्ति और कल्पना के प्रत्यक्ष की यह सुषमस्थली हृदय में कुछ अनिर्वचनीय आनन्द, कुछ विलक्षण उल्लास उत्पन्न कर देती है। द्वेष यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते थककर मार्ग में ही कहीं सो गया है। करुणा आतिथ्य के लिए वनलक्ष्मी की भाँति आगतों का स्वागत कर रही है। सो इस कानन के पत्तों पर सरलतापूर्ण जीवन का सच्चा चित्र चमत्कृत हो जाता है।

मणिमाला—भई मुझे तो इस दृश्य जगत् में क्षणभर स्थिर होने के लिए अपनी समस्त वृत्तियों के साथ युद्ध करना पड़ रहा है। वह करुणा की कल्पना जो मुझे उदासीन बनाये रखती थी यहाँ आने पर शान्ति में परिवर्तित हो गयी है। मानव जीवन को जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह सब जैसे मिल गया हो।[1]

ऊपर सोमश्रवा, आस्तीक और मणिमाला की अनुभूतियों के चित्रण से स्पष्ट है कि यह स्थल एक आश्रम ही सम्भव हो सकता है। महर्षि का जनमेजय के जाने पर ध्यानस्थ होना भी आश्रम में ही युक्त है। यहाँ पर जो लोग व्यासजी के दर्शनों के लिए आये हैं उनमें और सबका परिचय तो पहले आ चुका है, आस्तीक नया है। वह प्रथम बार दिखायी दिया है। आस्तीक यायावर महर्षि जरत्कारु एवं नागकन्या वासुकि की बहन मनसा का पुत्र है। इसका नाटक में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इसके द्वारा नाटककार ने नागों एवं आर्यों में मेल कराने का कार्य सम्पन्न कराया है। महर्षि व्यास भी यहाँ उससे ऐसा ही कार्य करने के लिए कहते हैं। आस्तीक के साथ सोमश्रवा को—

वत्स सोमश्रवा तुम राजा के पुरोहित हुए यह अच्छा ही हुआ। पर देखो धर्म का शासन बिगड़ने न पाये। और इसके बाद तक्षक की पुत्री मणिमाला से—

"नागराजकुमारी अदृष्ट शक्ति ने तुम्हारे लिए भी एक बड़ा भारी कर्तव्य रख छोड़ा है जो इस आर्य और अनार्य ही नहीं, किन्तु समस्त मानव जाति के इतिहास में एक *नया युग उत्पन्न करेगा। विश्वात्मा तुम्हें उसमें सफलता दे।* ऐसा कहलाकर प्रसादजी ने भविष्य की घटनाओं की एक पृष्ठभूमि-सा प्रस्तुत की है।

महर्षि व्यासजी से आस्तीक सोमश्रवा प्रभृति व्यक्तियों के मिलन की घटना का महाभारत या हरिवंश में कहीं उल्लेख नहीं है यह सब कल्पित है।

---

१ जनमेजय का नागयज्ञ ३ १ पृ ७५ ७६

अश्वमेध यज्ञ में कुलपति शौनक का आचार्यत्व

तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में, दो नयी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। प्रथम तो यह, कि यास्की सरमा, किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए जनमेजय की रानी वपुष्टमा के अन्तःपुर में वेश परिवर्तित करके परिचारिका बन जाती है। दूसरी सूचना यह है कि राजा जनमेजय की ब्रह्महत्या को दूर करने के लिए अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया जा रहा है, जिसमें कुलपति शौनक आचार्य बनेंगे। प्रथम का नाटकीय महत्त्व होते हुए भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है क्योंकि उसका आधार लेखक की कल्पना मात्र है। दूसरी, जिसमें जनमेजय के अश्वमेध में शौनक के आचार्य बनने का उल्लेख है अति महत्त्वपूर्ण एवं ठोस प्रमाणों से पुष्ट चिरविश्रुत सत्य है, जिसका उल्लेख महाभारत के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलता है।[1]

जब जनमेजय से अनजाने में ब्रह्महत्या हो गयी तो सब ब्राह्मणों ने उसका बहिष्कार कर दिया। दुःखी होकर वह इन्द्रोत शौनक के पास गया और उनके चरणों में गिरा। ऋषि शौनक ने पहले तो राजा का बड़ा तिरस्कार किया—

> दह्यमानः पापकृत्या जगाम जनमेजयः ।
> चरिष्यमाण इन्द्रोतं शौनकं संशितव्रतम् ॥
> समासाद्योपजग्राह पादयोः परिपीडयन् ।
> ऋषिर्दृष्ट्वा नृपं तत्र जगर्हे सुभृशं तदा ॥[2]

परन्तु जब जनमेजय ने ऋषि को विश्वास दिलाया कि मैं पाप के कारण दुःखी हूँ आप मुझ पर कृपा करें, आगे कभी धर्म की उपेक्षा नहीं करूँगा—

> अनुतप्ये च पापेन न च धर्मं विलोपये ।
> बुभूषुं भजमानं च प्रीतिमान् भव शौनक ॥
> नैव वाचा न मनसा पुनर्जातु न कर्मणा ।
> द्रोग्धास्मि ब्राह्मणानां विप्र चरणावपि ते स्पृशे ॥[3]

इसके पश्चात् राजा ने ऋषि शौनक को जब यह विश्वास दिलाया कि वह कभी भी ब्राह्मणों के साथ द्रोह नहीं करेगा, तब उन्होंने उसके अश्वमेधयज्ञ का होता बनना स्वीकार किया और यज्ञ कराया—

> एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम् ।
> याजयामास विधिवद् वाजिमेधेन शौनकः ॥[4]

अश्वमेधयज्ञ के पूर्णरूप से सम्पन्न हो जाने पर राजा के सम्पूर्ण पाप दूर हो गये। उसने अग्नि के समान देदीप्यमान रूप प्राप्त किया और नभोमण्डल में चन्द्रमा के समान उसने अपने

---

१ महाभारत शान्तिपर्व १५० १५१ १५२

२ वही शान्तिपर्व १५० ७ ८

३ वही शान्तिपर्व १५१ १५ और २२

४ वही शान्तिपर्व १५१ ३८

राज्य मे प्रवेश किया—

> तत स राजा व्यपनीतकल्मष
> श्रियोवृत्त प्रज्वलिताग्निरूपवान।
> विवेश राज्य स्वममित्रकर्षण
> यथादिव पूर्णवपुर्निशाकर ॥[1]

इस प्रकार शान्तिपर्व के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि ऋषि इन्द्रोत शौनक ने जनमजय का अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराया था। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि शान्तिपर्व म ऋषि इन्द्रोत शौनक द्वारा कराये गय इस यज्ञ म किसी प्रकार के विघ्न का उल्लेख नही हुआ है।

आस्तीक का माता द्वारा त्याग

ततीय अक के ततीय दृश्य म समाचार मिलता है कि तक्षशिला की ओर जनमेजय के अश्वमेध का अश्व आने वाला है। मनसा सब नागो को प्रतिशोध के लिए तयार करती है कि उसका पुत्र आस्तीक विग्रह को अनावश्यक समझता है किन्तु माता उसके शान्तिविचार स सहमत नही होती है और विरोधी विचारधारा को अपनाने के कारण उसका त्याग कर देती है। परन्तु आस्तीक नागो और आर्यो मे शान्ति करान के अपने विचार पर दृढ रहता है।

उधर मनसा की उत्तेजना से अश्व का प्रतिरोध करत हुए बहुत से नाग हताहत होत हैं। शवो का देखकर और आहतो के क्रन्दन को सुनकर मनसा का हृदय द्रवित हो उठता है। वह पश्चात्ताप करती है कि उसी के उकसान से इतनी प्राणहानि हुई है।

इस दृश्य म जहाँ तक जनमजय के अश्वमेध यज्ञ और उसके अश्व का सम्बन्ध है उसका आधार तो महाभारत है किन्तु शेष बातें कल्पित हैं। महाभारत म आस्तीक की माता पुत्र का परित्याग नही करती है। वह तो उस जनमेजय के यज्ञ म दग्ध हो रहे सर्पों की रक्षा करने के लिए आदेश देती है—

> तत आहूय पुत्र स्व जरत्कारुभु जगमा।
> वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत ॥
> अह तव पितु पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्तत ।
> काल स चाय सम्प्राप्त तत कुरुष्व यथातथम ॥[2]

इसके पश्चात वासुकि प्रभति नागो की रक्षा का आश्वासन देकर आस्तीक जनमजय के नाग यज्ञ की ओर जाता है। यहाँ प्रसादजी ने महाभारत की घटनाओं के रूप म कुछ परिवर्तन कर दिया है।

---

१ महाभारत शान्तिपर्व १५२ ३८ और ३९
२ महाभारत आदि० ५४ १२

काश्यप का षड्यन्त्र और हत्या

तृतीय अंक के चतुर्थ और पंचम दृश्यों में जनमेजय का पदच्युत पुरोहित काश्यप, नागराज तक्षक से मिलकर राजा से प्रतिशोध लेने के लिए एक षड्यन्त्र रचता है। राजा जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ कराने के लिए उसका वरण न करके शौनक का किया है। इसलिए यज्ञ में मिलने वाली भूरि दक्षिणा से भी वह वंचित कर दिया गया है। इसी कारण वह क्रुद्ध है और चाहता है कि राजा के यज्ञ में ऐसा विघ्न उपस्थित कर दिया जाय, जिससे वह यज्ञ सम्पन्न हो ही न सके। वह यज्ञीय अश्व एवं सम्राज्ञी वपुष्टमा के अपहरण की योजना बनाता है। अश्वपूजन के समय रात्रि का यज्ञशाला से सम्राज्ञी का नागों द्वारा अचेत करके अपहरण कर लिया जाता है। परन्तु कुछ समय पश्चात् सरमा की सावधानी से उसकी रक्षा हो जाती है। अश्व के अपहरण के प्रयत्न में तक्षक, आर्य सैनिकों द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। एक नाग द्वारा काश्यप की हत्या कर दी जाती है। रानी वपुष्टमा, सरमा आदि के साथ महर्षि व्यास के आश्रम में पहुंचा दी जाती है।

राजा जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ में विघ्न पड़ने की भविष्यवाणी तो महर्षि व्यास पहले ही कर चुके हैं। हरिवंश में जनमेजय के यज्ञ में विघ्न का उल्लेख है किन्तु वहां का विघ्न कुछ भिन्न प्रकार का है। वहाँ न तो रानी का अपहरण होता है और न अश्व का। वहां शास्त्रीय विधि के अनुसार आलंभन किए हुए अश्व के पास रानी बैठी। उस सर्वांग सुन्दरी को पाने के लिए इन्द्र का मन लालायित हो गया। वह अश्व में प्रविष्ट होकर वपुष्टमा से मिलने में समर्थ हो गया। इन्द्र द्वारा किये इस अनर्थ का ज्ञान जब राजा को हुआ तो उसने इन्द्र को शाप दिया—

> यद्यस्ति मे यज्ञफलं तपो वा रक्षतः प्रजाः।
> फलेनानेन सर्वेण ब्रवीमि श्रूयतामिदम् ॥
> अद्य प्रभृति देवेन्द्रमजितेन्द्रियमस्थिरम्।
> क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यन्तीति शौनक ॥[1]

नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि के लिए, मूल घटनाचक्र को नाटक में कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। मुख्य आधार इसका हरिवंश ही है।

षष्ठ और सप्तम दृश्यों में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है।

नागयज्ञ की पूर्णाहुति

तृतीय अंक का अष्टम एवं अंतिम दृश्य अति महत्वपूर्ण है। राजा जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ में विघ्न हो जाने से उसे बड़ा क्षोभ और क्रोध होता है। वह पुरोहितों पर भी

1 हरिवंश भविष्यपर्व अ० ५, १६-१७

अत्यधिक स्पष्ट होता है। पहले वह उन सबको ही अग्निकुण्ड में जलाने का आदेश देता है, किन्तु पुरोहित सोमश्रवा से सावधान किए जाने पर वह सबको देशनिकाला दे देता है। इसके उपरान्त वह आचार्य उत्तंक की सहायता से नागों को अग्निकुण्ड में जलाने का कार्य आरम्भ करता है। बहुत से नागों की आहुतियाँ दे दी जाती हैं। अन्त में पूर्णाहुति के लिए तक्षक और वासुकि को लाया जाता है। इसी समय भगवान व्यास के साथ आस्तीक सरमा आदि आ जाते हैं। महर्षि व्यास के आदेश से आहुति रोक दी जाती है। आस्तीक आगे बढ़ कर अपने पिता की हत्या की क्षतिपूर्ति चाहता है। जनमेजय के वचन देने पर वह कहता है—मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिए। सम्राट शान्ति की घोषणा करके वन्दी नागराज को छोड़ दीजिए। यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल होगा। और तक्षक छोड़ दिया जाता है। उसकी पुत्री मणिमाला का विवाह जनमेजय के साथ कर दिया जाता है। महर्षि व्यास द्वारा पवित्रता की साक्षी देने पर सम्राज्ञी वपुष्टमा को भी राजा पुनः स्वीकार कर लेता है। सारी स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने पर राजा ब्राह्मणों से क्षमा याचना करता है। दो प्रबल जातियों के मेल के साथ नाटक की समाप्ति होती है।

महाभारत में राजा जनमेजय के नागयज्ञ का वर्णन अति विस्तार से किया गया है।[1] जैसा कि नाटक में भी वर्णित है यहाँ आचार्य वेद के शिष्य नवस्नातक उत्तंक ने राजा को इस कार्य के लिए उकसाया है। वह अपने मन्त्रियों से परामर्श करता है। उनका अनुमोदन प्राप्त होने पर राजा इस कार्य के करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है—

एवमुक्त्वा ततः श्रीमान् मन्त्रिभिश्चानुमोदितः।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः॥[2]

तत्पश्चात् वह विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाकर उनकी सम्मति जानने के लिए कहता है कि जिस दुरात्मा तक्षक ने मेरे पिता की हत्या की उसे मैं बन्धुओं सहित दहकती अग्नि में डालना चाहता हूँ आप लोग इस विषय में अपनी सम्मति दीजिए—

यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान्।
प्रतिकुर्यां तथा तस्य तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे॥
अपि तत् कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम्।
तक्षकं सम्प्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम्॥[3]

सब ब्राह्मण राजा के विचारों का अनुमोदन करते हुए[4] नागयज्ञ के लिए उसे दीक्षा देते हैं परन्तु उसी समय उस यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने वाले एक कारण की सूचना सूत देता है—

यस्मिन् देशे च काले च मण्डपेयं प्रवर्तिता।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः॥

---

१ महाभारत आदिपर्व अ० ५१।५६
२ वही आदिपर्व अ० ५१।१
३ वही आदि० अ० ५१।४
४ महाभारत आदि० अ० ५१।१६

यह ब्राह्मण और कोई नहीं आस्तीक ही है, जो जनमेजय के नागयज्ञ को रुकवाने में समर्थ होता है। महाभारत में सर्वत्र प्रमादजी के नागयज्ञ को सर्पसत्र के नाम से अभिहित किया गया है।[1] प्रमादजी भी महाभारत के इस सर्पसत्र नाम से अभिज्ञ थे, किन्तु फिर भी उन्होंने नागयज्ञ नाम एक विशेष प्रयोजन से रखा है। सर्प शब्द से स्पष्ट उस युग की प्रसिद्ध नागजाति की प्रतीति नहीं हो पाती है। यह नागजाति कोई सर्पों का भेद नहीं था, यह तो आर्यों के समान ही अनार्य वर्ग की एक बलशाली जाति थी।

जिन नागों का इस यज्ञ में भस्म किया गया उनकी संख्या वैसे तो बहुत बड़ी है[2] किन्तु मुख्य रूप से यहाँ अन्तिम आहुतियों के लिए वासुकि और तक्षक का उल्लेख किया गया है। यहाँ के इस सर्पसत्र के आरम्भिक वर्णन से स्पष्ट है कि राजा जनमेजय का मुख्य क्रोध पात्र तो तक्षक ही रहा है। इस यज्ञ के प्रवक्ता आचार्य उत्तंक का कोपभाजन भी वही रहा है—

उत्तंकस्य प्रियं कर्तुमात्मनश्च महत् प्रियम्।
भवतां चैव सर्वेषां गच्छाम्यपचितिं पितुः॥
तक्षकं सम्प्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम्॥[3]

परन्तु गेहूँओं के साथ घुन भी पिसते हैं सेनापति को मारने का अवसर आते आते सैकड़ों सहस्रों सैनिक युद्ध में काम आ जाते हैं। यहाँ पर भी सर्पसत्र आरम्भ होने पर ज्यों ज्यों ऋत्विज लोग आहुतियाँ डालते त्यों-त्यों घोर सर्प आ आकर गिरते जाते—

जुहुवुस्त्वत्विजश्चैव तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ।
अहय प्रापतंस्तत्र घोरा प्राणिभयावहा॥[4]

इधर तक्षक ने जब सुना कि जनमेजय ने सर्पयज्ञ आरम्भ किया है तो वह डरकर इन्द्र के घर में छिप गया—

तक्षकस्तु स नागेन्द्र पुरन्दरनिवेशनम्।
गत श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम्॥[5]

१ महाभारत आदि० अ० ५१ १६—
   १ सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे च परिपठ्यते। १ ५१ ६
   २ राजानं दीपयामासु सर्पसत्राप्तये तदा।
   इदं चासीत् तत्र पुत्र सर्पसत्रं भविष्यति॥ १ ५१ १३
   ३ ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रविधानतः॥ १ ५२ १
   ४ सर्पसत्रं तदा राजा पाण्डवेयस्य धीमतः। १ ५ १
   ५ वै सन्त्या वयश्च सर्पसत्र सुदारुणा। १ ५३ २
   ६ सर्पसत्रविधानज्ञकिनया वै च मुनेश्च। १ ५३ ३
   ७ जुहुवुस्त्वत्विजश्चैव तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ। १ ५२ ११
   ८ भय नागेन्द्र तस्माद् वा सर्पसत्रात् कदाचन। १ ५३ १६
   ९ स सर्पा सर्पसत्रेऽस्मिन् पतिता हव्यवाहने। १ ५७ १
२ महाभारत आदि० १ ५७ १ १९ में प्रधान प्रधान नागों के नाम गिनाये गये हैं। उनकी संख्या बहुत है। महाभारत आदि० ५ ५४ ५१ ५
४ वही आदि० ५ ११
५ वही आदि० ५३ १८

तक्षक इंद्र का मित्र है। इसीलिए अपनी रक्षा के लिए वह यहाँ उसके पास गया है। अर्जुन द्वारा खाण्डव वन के दहन के समय भी तक्षक की रक्षा के लिए इंद्र वहां स्वयं उपस्थित हुआ था और यथाशक्ति अग्नि को वृष्टि द्वारा शांत करने का प्रयत्न किया था।[1] यहाँ पर भी, इंद्र ने भयग्रस्त मित्र को पूरी तरह से आश्वस्त कर दिया—

तमिंद्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक।
भयं नागेन्द्र तस्माद् वै सर्पसत्रात् कदाचन॥[2]

तक्षक को इंद्र के यहाँ शरण मिल जाने पर वासुकि को विशेष भय लगने लगा—

अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः।
अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत॥[3]

वासुकि ने अपनी बहन से कहा और उसने अपने पुत्र आस्तीक से मामा का दुःख दूर करने के लिए कहा। आस्तीक भयग्रस्त वासुकि को आश्वासन देकर जनमेजय के सर्पसत्र में उपस्थित होता है। वह वहाँ यज्ञ, राजा और ऋत्विजों की भूरि भूरि प्रशंसा करता है। राजा उसे वर देने को उद्यत होता है कि इतने में होता बोल उठता है कि अभी तक तक्षक तो उपस्थित हुआ ही नहीं। जनमेजय की प्रेरणा से होता ने इंद्र सहित तक्षक का आवाहन किया। इंद्र अपने विमान पर आरूढ़ होकर आकाश मार्ग से चल पड़ा। तक्षक भी उनके साथ ही वस्त्रों में छिपा बैठा था। जनमेजय ने होता से कहा कि यदि तक्षक इंद्र के घर में छिपा बैठा है तो इंद्र के साथ ही उसे अग्नि में गिरा दो—

इंद्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः।
तमिंद्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ॥[4]

बस फिर क्या था ज्यों ही होता ने तदर्थ मंत्रों का उच्चारण किया कि इंद्र भयभीत होकर तक्षक को छोड़कर अपने घर चला गया। ऋत्विज तक्षक को अग्नि में डालने के लिए मंत्र का उच्चारण करनेवाले ही थे कि आस्तीक ने इसी अवसर को उचित जानकर राजा से कहा कि यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं, तो मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि आपका यह यज्ञ यहीं समाप्त हो जाय, अब इसमें सर्प न गिरने पायें—

वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः॥[5]

राजा जनमेजय ने आस्तीक से अति अनुनय किया कि वह कोई अन्य वर माँग ले, इस यज्ञ को पूर्ण हो जाने दे परंतु आस्तीक अपनी बात पर स्थिर रहा—

सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन् वृणोम्यहम्।
सत्रं ते विरमत्वेतत् स्वस्ति मातृकुलस्य नः॥[6]

---

१ महाभारत आदि० अ० २२५
२ वही आदि० ५३ १६
३ वही आदि० ५३ १६
४ वही आदि० ५६ ११
५ वही आदि० ५६ २१
६ वही आदि० ५६ २३ २४ २७

जब ग्रास्तीक ग्रन्य कोइ वर लेन के लिए राजी नहीं हुआ तो यन म ब्राह्मणा न भी राजा से कहा कि प्रतिश्रुत वर ब्राह्मणो को मिलना ही चाहिए—

ततो वदविदस्तात सदस्या सव एव तम ।
राजानमूचु सहिता लभता ब्राह्मणो वरम ॥[1]

इस प्रकार ऋत्विजो की अनुशसा पर जनमजय ने ग्रास्तीक की प्राथना स्वीकार की ग्रौर वहाँ पर सपसत्र की समाप्ति की घोपणा कर दी ।

यह है महाभारत मे वर्णित सपसत्र की एक सक्षिप्त भाकी । नाटक एव महाभारत दोनो म ही नागयज्ञ या सपसत्र की समाप्ति ग्रास्तीक क प्रयत्न म होती है । महाभारत म ग्रास्तीक की स्तुति से प्रसन्न होकर जनमजय स्वय ग्रास्तीक को वर माँगने के लिए कहता है । नाटक म ग्रास्तीक ग्रपने पिता की हत्या की क्षतिपूर्ति के लिए राजा स कहता है । राजा के प्रतिश्रुत होने पर नागयज्ञ की समाप्ति ही माँगता है—

'मुझ दो जातियो म शान्ति चाहिए । सम्राट शान्ति की घोपणा करक बन्दी नाग राज को छोड दीजिए । यही मरे लिए यथेष्ट प्रतिफल होगा ।'[2]

इस प्रकार ग्रन्तिम फल के रूप में दोनो म समानता है । ग्रन्तिम फल स पूव की ग्रवान्तर घटनाग्रो मे जहाँ भिन्नता है या नाटक म नये कल्पित रूप म प्रस्तुत की गयी हैं उनका नाटकीय महत्त्व है । इसक ग्रतिरिक्त एक बात यह भी है कि इस नाटक म ग्रन्तिम भाग की रचना म प्रसादजी न हरिवश के भविष्यपव के ग्रारम्भिक ग्रध्यायो के वणना एव महाभारत के ग्रादिपव के सपसत्र क वणन क सहित शान्तिपव क सम्बद्ध वणना का एक साथ मिला लिया है । महाभारत क ग्रादिपव म कवल सपसत्र का ही वणन है । शान्तिपव म जनमेजय की ब्रह्महत्या एव उसक दूर करन क उपाय के रूप म इन्द्रोत शौनक द्वारा कराय गए ग्रश्वमध यन का ही वणन है । इसम किसी प्रकार क विघ्न का उल्लख नही है । हरिवश के भविष्यपव म ग्रश्वमध यज्ञ का वणन है । इसम इन्द्र द्वारा विघ्न उपस्थित किया गया है । इसीलिए क्रुद्ध जनमजय न यहाँ उस शाप दिया है कि ग्रागे कभी कोई क्षत्रिय ग्रश्वमध यन नही करेगा ।

नाटक म नागयज्ञ ग्रौर ग्रश्वमध यन दोनो कुछ-कुछ मिल म गय हैं । फिर भी नाटकीय प्रधान घटनाग्रो का ग्राधार हरिवश ग्रौर महाभारत म वर्णित सम्बद्ध प्रसग हैं जिनका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है ।

विवेचन

ऊपर प्रसादजी क जनमेजय का नागयज्ञ की कथावस्तु क मूल ग्राधार का विवचन किया गया है । इस नाटक का केन्द्र पात्र सम्राट जनमजय है जो कि राजा परीक्षित का पुत्र है । यह परीक्षितपुत्र पारीक्षित जनमेजय बडा प्रतापी राजा हुआ है । वह ब्राह्मण ग्रन्थो ग्रौर श्रौत सूत्रो म स्म (पारीक्षित जनमजय का) ग्रश्वमध यन के करन वाल क रूप म

---

१ महाभारत ग्रादि० ५६ २३ २४ २७
२ जनमजय का नागयज्ञ ३ ८ पृ ४६

स्मरण किया गया है।[1] परन्तु शतपथ और ऐतरेय में इस राजा जनमेजय की राजधानी आसन्दीवान नगर बताया गया है।[2] इससे सन्देह उपस्थित होता है कि महाभारत का नायक अर्जुन प्रपौत्र, अभिमन्यु पौत्र एवं परीक्षित्पुत्र जनमेजय ब्राह्मणों में उल्लिखित जनमेजय से कहीं भिन्न तो नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में पारीक्षित जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ को सम्पन्न करने वाले पुरोहित का नाम इन्द्रोत दैवाप शौनक है।[3] परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में तुर कावषेय है।[4] और दोनों ही ब्राह्मणों के सम्बद्ध स्थलों में जनमेजय की उपाधि पारीक्षित है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी एक पारीक्षित जनमेजय का उल्लेख है।[5] और राजा को ब्रह्महत्या लगने पर उसे पवित्र करने के लिए अश्वमेध यज्ञ कराने वाले पुरोहित का नाम इन्द्रोत शौनक' है। शतपथ ब्राह्मण के इन्द्रोत दैवाप शौनक से इतना ही अन्तर है कि यहाँ नाम में दैवाप नहीं है केवल इन्द्रोत शौनक है। यहीं तीन स्थलों में इन्द्रोत शौनक है[6] तीन में केवल शौनक है[7] एक में केवल 'ऋषि' कहकर उनका उल्लेख हुआ है[8] और एक में मुनि कहकर।[9] राजा के नाम का उल्लेख दो प्रकार से हुआ है। यहाँ एक बार तो पारीक्षिज्जनमेजय और चार बार केवल जनमेजय कहकर।[10]

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण एवं शान्तिपर्व में पारीक्षित जनमेजय के अश्वमेध के याजक पुरोहितों के नाम में पूर्णरूपेण एकरूपता नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा के नाम के सम्बन्ध में एकरूपता होते हुए भी पुरोहित का नाम तुर कावषेय सर्वथा भिन्न है। हरिवंश के भविष्यपर्व में पारीक्षित जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ का जो वर्णन है उसके सम्पन्न कराने वाले पुरोहितों में भी सम्भवतः प्रधान का नाम शौनक है।[11] यहाँ गोत्र के नाम से ही उल्लेख है व्यक्तिगत नाम से नहीं है।

इन उल्लेखों से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि किसी पारीक्षित जनमेजय राजा को, शुनक गोत्र के किसी शौनक ऋषि ने, अश्वमेध यज्ञ कराया था। यह शौनक

---

१ शतपथ ब्रा० १३। ५। ४। १३ ऐतरेय ब्रा० ७। ४। ८। ११। २१ शांखायन श्रौतसूत्र १६। ८। २७

२ शतपथ ब्रा० १३ ५ ४ २ ऐतरेय ब्रा० ८ २१

३ वही—१३ ५ ४ १ एतेन हेन्द्रोतो दैवाप शौनक जनमेजय पारीक्षितमयाजयाञ्चकार

४ ऐतरेय ब्राह्मण—४ २७ ७ ३४

५ महाभारत—शान्तिपर्व अ० १५० १५२

६ वही शान्तिपर्व १५० २ = १५२ ३८

७ वही शान्तिपर्व १५१ ४ ६ १५

८ वही शान्तिपर्व १५०, ६

९ वही शान्तिपर्व १५१ १

१० आसीत् राजा महावीर्यः परीक्षिज्जनमेजयः। अबुद्धि पूर्वमागच्छद् ब्रह्महत्यां महीपतिः ॥ महाभारत (शान्तिपर्व), १५० ३ केवल जनमेजय १५० २ ७ १५१ १ १५२ ४ ८ ३८ शान्तिपर्व (महाभारत)

११ अद्यप्रभृति देवेन्द्रमजितेन्द्रियमस्थिरम्।
क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यन्तीति शौनक ॥
—हरिवंशपुराण भविष्यपर्व ५,१७

चाहे 'इन्द्रोत दैवाप' रहा हो, 'इन्द्रोत' रहा हो या कोई और, वह शौनक था, इसमें सब एकमत हैं। इसलिए सम्भव है कि तीनों ग्रन्थों में उल्लिखित, ये तीनों नाम किसी एक ही व्यक्ति के हों अर्थात् यज्ञ कराने वाले पुरोहित का पूरा नाम 'इन्द्रोत दैवाप शौनक' ही हो जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में है। शान्तिपर्व की कथा में 'दैवाप' छोड़ दिया गया हो और हरिवंश में केवल गोत्र नाम से ही उसका उल्लेख किया हो। परन्तु यह सम्भावना तभी ठीक हो सकती है जब पारीक्षित जनमेजय के एकत्व का निश्चय हो जाय।

महाभारत एवं पुराणों की राजवंशावलियाँ देखने से विदित होता है कि अनेक वंशों में जनमेजय नाम के अनेक राजा हुए हैं।

महाभारत में जनमेजय

महाभारत में भी जनमेजयों का विविध स्थलों पर उल्लेख हुआ है। इन सब में सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं जिसकी महाभारत में सर्वाधिक चर्चा हुई है वह है महारथी अर्जुन का प्रपौत्र वीर अभिमन्यु का पौत्र एवं परीक्षित का पुत्र जनमेजय। परीक्षित का पुत्र होने से इसे पारीक्षित जनमेजय भी कहा गया है।[1] इसकी माता का नाम भद्रवती था। इसके श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन तीन भाई थे।[2] इसकी पत्नी काशिराज की पुत्री वपुष्टमा थी।[3] शतानीक और शङ्कुकर्ण इसके दो पुत्र थे।[4]

इस जनमेजय के अतिरिक्त, पुरुवंश में ही कुछ और जनमेजयों का भी उल्लेख मिलता है। पुरुवंश के प्रवर्तक, ययातिपुत्र, सम्राट् पुरु के भी एक जनमेजय नाम के पुत्र का उल्लेख है जिसने तीन अश्वमेध यज्ञ एवं एक विश्वजित यज्ञ किया था।[5] तृतीय जनमेजय राजा कुरु का पौत्र और उसके पुत्र परीक्षित का पुत्र[6] यह कुरु पुरुवंश का विख्यात राजा हुआ है। इसके नाम से ही पुरुवंश कुरुवंश कहलाया और इसके वंशज कौरव। कुरुक्षेत्र को भी इसी के नाम से प्रसिद्धि मिली है।[7] ये सभी पौरव वंश के हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और जनमेजयों का उल्लेख महाभारत में हुआ है। उनमें एक जनमेजय तो नीप वंश का राजा था।[8] दूसरा क्रोधवश नामक गण के राजाओं में भी एक जनमेजय नाम का राजा हुआ है,[9] तीसरा, शान्तिपर्व के एक उपाख्यान के प्रसंग में, एक राजा जनमेजय का उल्लेख है। इसे यहाँ पारीक्षित जनमेजय भी कहा गया है।[10] यह कथा पाण्डव राजा युधिष्ठिर के एक प्रश्न

---

१ महाभारत आदि० अ० ९५ १७
२ वही आदि० अ० ९
३,४ वही आदि० ९५
५ महाभारत आदिपर्व —पुरोस्तु भार्या कौसल्या नाम। तस्याम् अस्य जज्ञे जनमेजयो नाम। यस् त्रीन् अश्वमेधान् आजहार विश्वजिता चेष्ट्वा वनं विवेश।
६ महाभारत आदि०, ९४ ५१
७ वही आदि० ९४ ४९ ५
८ वही उद्योगपर्व १७४ १३
९ वही, आदि० ६७ ५९ ६२
१० महाभारत शान्तिपर्व १५० २ ३

के उत्तर में भीष्मजी ने सुनायी है।

पुराणों में जनमेजय

पुराणों में अनेक जनमेजयों का उल्लेख है। यहाँ सबके विस्तार में न जाकर, केवल चन्द्र (पौरव) वंश के जनमेजयों का ही विचार करना उपयुक्त होगा, तत्पश्चात विवेच्य नाटक का नायक जनमेजय इनमें से कौन सा है यह निश्चित किया जायगा।

जनमेजय प्रथम

पुरुवंश में दो परीक्षित और तीन जनमेजयों का उल्लेख हुआ है। इनमें प्रथम जनमेजय, ययातिपुत्र सम्राट पुरु का पुत्र था।[1] इस जनमेजय का उल्लेख अनेक पुराणों एवं महाभारत में मिलता है।[2]

जनमेजय द्वितीय

पुरुवंश के प्रसिद्ध राजा कुरु के पुत्र परीक्षित का पुत्र है। यह बड़ा ही प्रतापी है। गर्ग नाम के किसी ऋषि के पुत्र को मार देने के कारण इसे ब्रह्महत्या लग जाती है और परम्परा से चला आता हुआ ययाति को दिया हुआ इन्द्र का वह रथ भी गर्ग के शाप से नष्ट हो जाता है।[3] पौरजानपदों द्वारा इसका बहिष्कार कर दिया जाता है। अन्त में यह शौनक की शरण में जाता है और वे इसे अश्वमेध कराकर पवित्र करते हैं।[4]

---

१ पुरोः पुत्रो महावीर्यो राजाऽऽसीज्जनमेजयः। हरिवंश० ३१ ५

२ विष्णु ४ १९ १ वायु उत्त० अ० ३७ ११९ मत्स्य ४९ १

३ ब्रह्माण्ड पुराण उपो० ३ अ० ६८ १७ १९ में कहा गया है कि ययाति से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे एक अद्भुत रथ प्रदान किया था—

रथं तस्मै ददौ शक्रः प्रीतः परमभास्वरम्।
असङ्गं काञ्चनं दिव्यं दिव्यैः परमवाजिभिः॥
युक्तं मनोजवैः शुभ्रैर्येन भार्यां समुद्वहन्।
स तेन रथमुख्येन जिगाय सततं महीम्॥
ययातिर्युधि दुर्धर्षो देवदानवमानवैः।

४ ब्रह्मपुराण १२ १ १५ में यह इस प्रकार है—

कुरोः पुत्रस्य राजेन्द्र राज्ञः पारिक्षितस्य ह।
जगाम स रथो नाशं शापाद् गर्गस्य धीमतः॥
गर्गस्य हि सुतं बालं स राजा जनमेजयः।
कालेन हिंसयामास ब्रह्महत्यामवाप सः॥
स लोहगन्धो राजर्षिः परिधावन्नितस्ततः।
पौरजानपदैस्त्यक्तो न लेभे शर्म कर्हिचित्॥
ततः स दुःखसन्तप्तो नालभत् संविदं क्वचित्।
विप्रेन्द्रं शौनकं राजा शरणं प्रत्यपद्यत॥
याजयामास स ज्ञानी शौनको जनमेजयम्।
अश्वमेधेन राजानं पावनाय द्विजोत्तमाः॥

ब्रह्माण्ड पुराण

इस पुराण में राजा कुरु के पौत्र जनमेजय का जो उल्लेख है, उसमें उसे पारीक्षित कहा गया है—

कुरोः पौत्रस्य राजस्तु राज्ञः पारीक्षितस्य ह।[1]

यहाँ भी राजा जनमेजय द्वारा गर्ग के पुत्र की हिंसा और उससे लगी ब्रह्महत्या, गर्ग द्वारा राजा को शाप, ययाति से लेकर कुल में चले आ रहे दिव्य रथ का नाश, पौरजानपदों से राजा का परित्याग, उसका इन्द्रोत शौनक की शरण में जाना और अश्वमेध यज्ञ से उसका पावनीकरण आदि उन सब बातों का ही उल्लेख है जो ब्रह्मपुराण में हैं। यहाँ के वर्णन में एक विशेषता यह है कि यहाँ याजक ऋषि के 'शौनक' इस गोत्र नाम के साथ उसका व्यक्ति नाम 'इन्द्रोत' भी दिया हुआ है—

इन्द्रोतो नाम विख्यातो योऽसौ मुनिरुदारधी ।
याजयामास चेन्द्रोतः शौनको जनमेजयम् ।
अश्वमेधेन राजानं पावनाय द्विजोत्तमा ॥[2]

मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण में राजा कुरु के चार पुत्रों का उल्लेख है जिनमें परीक्षित भी है—

कुरोस्तु दयिता पुत्राः सुधन्वा जह्नुरेव च ।
परीक्षितश्च महातेजाः प्रजनश्चारिमर्दनः ॥[3]

आगे पुराण में कुरु के सुधन्वा और जह्नु की सन्तति का वर्णन हुआ है किन्तु परीक्षित और प्रजन की सन्तति का नहीं। अतः अन्य पुराणों में वर्णित परीक्षित के पुत्र जनमेजय के सम्बन्ध की अन्य बातों का भी यहाँ कोई उल्लेख नहीं है।

विष्णुपुराण

विष्णु पुराण में कुरु के पुत्र परीक्षित एवं उसके पुत्र जनमेजय का उल्लेख हुआ है।

सुधनुजह्नु परीक्षित्प्रमुखा कुरोः पुत्रा बभूवुः ।[4]

इसके पश्चात् अग्रिम अध्याय में—

परीक्षितो जनमेजय-श्रुतसेनाग्रसेन भीमसेनाश्चत्वारः पुत्राः ।[5]

इसके अतिरिक्त जनमेजय के सम्बन्ध की अन्य बातों का उल्लेख यहाँ नहीं है।

१ ब्रह्माण्ड पुराण ३ ६८ २१
२ ब्रह्मपुराण ३ ६८ २५ २६
३ मत्स्य पुराण ५० २३
४ विष्णु पुराण ४ १९ ७८
५ विष्णु पुराण ४, २० १

वायुपुराण

वायु पुराण में भी, कुरु के पौत्र एवं परीक्षित के पुत्र के रूप में जनमेजय का उल्लेख मात्र हुआ है—

कुरोस्तु दयिता पुत्रा सुधन्वा जह्नुरेव च ।
परीक्षितो महाराज पुत्रश्चारिमर्दन ॥[1]

कुछ अंश छोड़कर आगे—

परीक्षितस्य दायादो बभूव जनमेजय ।[2]

इसके सम्बन्ध में और विशेष विवरण यहाँ नहीं मिलता है ।

लिंगपुराण

लिंग पुराण में जनमेजय द्वितीय का जो उल्लेख मिलता है वह ब्रह्म एवं ब्रह्माण्ड से मिलता जुलता है । अन्तर केवल इस बात में है कि यहाँ ब्रह्महत्या लगने के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ से राजा को पूत करने वाले ऋषि पुरोहित का नाम इन्द्रोत नहीं, इन्द्रति है । गोत्र का नाम शौनक यहाँ भी है—

जगाम शौनकमृषिं शरण्यं व्यथितस्तदा ।
इन्द्रतिर्नाम विख्यातो योऽसौ मुनिवरात्मधी ॥
याजयामास चेन्द्रतिस्तं नृप जनमेजयम् ।
अश्वमेधेन राजानं पावनार्थं द्विजोत्तमा ॥
स लोहगन्धान्निर्मुक्त एनसा च महायशा ।[3]

इन्द्रोत का इन्द्रति बन जाने का प्रमुख कारण तो यह हो सकता है कि पुराण युगों तक सूतों एवं कथावाचकों के कण्ठ की ही वस्तु रहे हैं, वे लिखित रूप में तो बहुत बाद को आये हैं और मुद्रित रूप तो आधुनिक युग की देन है । दूसरा कारण प्रान्तीय पाठभेद भी हो सकता है ।

एक बात और ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, लिंग प्रभृति कई पुराणों में कुरुपौत्र राजा जनमेजय को ब्रह्महत्या लगने के पश्चात् लोहगन्धी कहा गया है, जिसका अर्थ है जिसके शरीर से रक्त की दुर्गन्ध आती हो। ब्रह्महत्या का पाप और लोहगन्ध दोनों की निवृत्ति अश्वमेध से ही बतायी गयी है । महाभारत के शान्तिपर्व के विवरण में भी जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है रक्त की गन्ध का उल्लेख है । वहाँ शौनक कहते हैं—

रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम् ।
अशिवः शिवसंकाशो मृतो जीवन्निवाटसि ॥[4]

---

१ वायु पुराण उत्त० अ० ३७ २१२ १३
२ वायु पुराण उत्त० अ० ३७ २२४
३ लिंग पुराण ६६ ७१ ७७
४ महाभारत शान्तिपर्व १५ ११

जनमेजय द्वितीय का जो वर्णन पुराणों में है उसकी तुलना यदि हम शान्तिपर्व के वर्णन से करें, तो देखेंगे कि प्रायः सभी मुख्य बातों में सादृश्य है।

जनमेजय तृतीय

जनमेजय तृतीय का उल्लेख भी कई पुराणों में आया है। विष्णु पुराण में पाण्डुपुत्र अर्जुन के पौत्र एवं अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का वर्तमान काल के शासक के रूप में चित्रित किया गया है।[1] इससे पूर्व के राजाओं का उल्लेख भूतकाल में एवं परीक्षित के पुत्र जनमेजय का भी भावी राजा के रूप में ही निर्देश है।[2] इस जनमेजय का भी यहाँ उल्लेख मात्र ही है। इसके सम्बन्ध का विशेष विवरण यहाँ अप्राप्य है। ब्रह्मपुराण में भी निर्देश मात्र है—

पाण्डोर्धनञ्जयः पुत्रः सौभद्रस्तस्य चात्मजः ।
अभिमन्योः परीक्षित्तु पिता पारीक्षितस्य ह ॥[3]

यहाँ परीक्षित के पुत्र जनमेजय का उल्लेख जनमेजय नाम से नहीं अपितु पारीक्षित रूप से हुआ है। परन्तु नाम का भी स्पष्टीकरण पारीक्षित की सन्तति के निर्देश में हो गया है—

पारीक्षितस्य काश्यायां द्वौ पुत्रौ सम्बभूवतुः ।
चन्द्रापीडस्तु नृपतिः सूर्यापीडश्च मोक्षवित् ।
चन्द्रापीडस्य पुत्राणां शतमुत्तमधन्विनाम् ।
जानमेजयमित्येवं क्षात्रं भुवि विश्रुतम् ॥[4]

जनमेजय के पश्चात् वंश की सन्तति जानमेजय इस नाम से ही विख्यात हुई, इससे परीक्षित के पुत्र का नाम और महत्त्व लक्षित होता है।

मत्स्य पुराण में अभिमन्यु पौत्र जनमेजय का जो वर्णन है वह कुछ भिन्नता लिए हुए है। इसकी तीन बातें मुख्य हैं—

१ महर्षि वैशम्पायन ने राजा को शाप दिया है।
२ इसने अश्वमेध यज्ञों का सम्पादन किया है।
३ ब्राह्मणों के साथ विवाद अधिक बढ़ जाने के कारण इसे अपने पुत्र शतानीक को राज्य देकर वन जाना पड़ा है।[5]

---

१ योऽयं साम्प्रतमवनीपतिः … पालयति ।

—विष्णुपुराण ४ २० ५१

२ अतः परं भविष्यानहं भूपालान् कीर्तयिष्यामि । योऽयं साम्प्रतम् अवनीपतिः परीक्षित् तस्यापि जनमेजय श्रुतसेन उग्रसेन भीमसेनाश्चत्वारः पुत्रा भविष्यन्ति ।

—४ २१ १ २

३ ब्रह्मपुराण १३ ११३

४ वही १३ १२४ २५

५ अभिमन्योः परीक्षित्तु पुत्रः परपुरञ्जयः ।
जनमेजयः परीक्षितः पुत्रः परमधार्मिकः ॥
ब्रह्माणं कल्पयामास स वै वाजसनेयकम् ।
॥ वैशम्पायनेनैव शप्तः किल महर्षिणा ॥

× ×

(शेष पादटिप्पणी अगले पृ० पर)

यद्यपि वैशम्पायन के शाप का कारण यह बताया गया है कि राजा ने वाजसनेय मुनि को अपना पुरोहित बनाया है। ब्राह्मणों के साथ राजा के विरोध विवाद और अभिशाप की बात का उल्लेख इस जनमेजय के साथ किसी अन्य पुराणों में नहीं मिलता है। इसके समान इसके पुत्र शतानीक ने भी अश्वमेध यज्ञ किया है।[1]

भागवत पुराण में, तक्षक के डसने से परीक्षित की मृत्यु हो जाने पर पिता की मृत्यु का प्रतिकार लेने के लिए, उसके पुत्र जनमेजय द्वारा नागों को भस्म करने के लिए सर्पसत्र किये जाने का उल्लेख है। यहाँ भी महाभारत के कथारम्भ के समान यज्ञ में गिराये जाने के भय से तक्षक के इन्द्र की शरण में जाने एवं राजा के आदेश से इन्द्र सहित तक्षक को अग्नि में डालने के लिए मन्त्रों से आह्वान किये जाने पर विवश होकर तक्षक सहित इन्द्र के आने पर आचार्य बृहस्पति के अनुरोध से राजा जनमेजय सर्पसत्र बन्द कर देता है और इस प्रकार से इन्द्र और तक्षक की रक्षा हो जाती है।[2] महाभारत के आख्यान में महर्षि जरत्कारु के पुत्र आस्तीक के बीच में पड़ने से जनमेजय का सर्पसत्र रुकता है। भागवत पुराण के कथा रूप में आस्तीक का कार्य बृहस्पति ने किया है। यही दोनों की कथा में मुख्य अन्तर है। वहाँ महाभारत में कथा का विस्तार बहुत अधिक है जबकि भागवत में यह कुल बारह श्लोकों में ही पूरी कर दी गयी है।

देवी भागवत

भागवत पुराण के समान देवी भागवत पुराण में भी जनमेजय के नागयज्ञ की कथा मिलती है।[3] भागवत पुराण की अपेक्षा देवी भागवत में कथा का विस्तार अधिक है। लगभग चार बड़े बड़े अध्यायों में यहाँ यह कथा कही गयी है। कुछ बातों को छोड़कर महाभारत के आदिपर्व की कथा के साथ इसका साम्य अधिक है। यहाँ की कथा की कुछ विशेषताएँ ये हैं—

१ यहाँ की कथा में महाभारत के काश्यप को कश्यप कहा गया है और इसे मन्त्रवित विद्वान् तथा मुनिसत्तम बताया गया है।[4] महाभारत के समान, यहाँ का कश्यप चिकित्सक नहीं अपितु एक तान्त्रिक मन्त्रवित है। वह वृद्ध ब्राह्मण वेष में परीक्षित की ओर जाते हुए तक्षक से कहता है—

परिक्षित सुत सो वै पौरवो जनमेजय।
निरश्वमेधमाहृत्य महावाजसनेयक
प्रवर्तयित्वा त सर्वमाय वाजसनेयकम्।
विवादे ब्राह्मणैः सार्धमभिशप्तो वनं ययौ॥ मत्स्य ५० ५७ ६४

× × ×

१ अश्वमेधेन तत शतानीकस्य वीर्यवान्।
जज्ञेऽधि सोमकृष्णाख्य साम्प्रत यो महायशा॥ मत्स्य ५० ६६

२ भागवतपुराण १२ ६ १६ २८

३ देवी भागवत २ ८ ११

४ वही कश्यपो मन्त्रविद् विद्वान् धनार्थी मुनिसत्तम। २ ६ ५१

मन्त्रोऽस्ति मम विप्रेन्द्र विषनाशकरः किल ।
जीवयिष्याम्यहं तं च जीवितव्येऽधुना किल ॥[1]

दूसरी बात यह कि कश्यप की परीक्षा के लिए, तक्षक ने अपने विष से न्यग्रोध के जिस वृक्ष को जलाया है वह भस्म मात्र रह गया है। यहाँ उसी भस्म को एकत्र करके कश्यप ने मन्त्रोच्चारण पूर्वक जलसिंचन करके पुनः वृक्ष को पूर्व रूप में परिवर्तित कर दिया है—

दृष्ट्वा भस्मीकृतं वृक्षं पन्नगेन विषाग्निना ।
सञ्ज भस्म समाहृत्य कश्यपो वाक्यमब्रवीत् ॥
पश्य मन्त्रबलं मेऽद्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तम ।
जीवयाम्यद्य वृक्षं च पश्यतस्ते महाविषा ॥
इत्युक्त्वा जलमादाय कश्यपो मन्त्रवित्तमः ।
सिषेच भस्मराशिं स मन्त्रितेनैव वारिणा ॥
तद्वारि सेचनाज्जातो न्यग्रोधः पूर्ववच्छुभः ।[2]

कश्यप की शक्ति को देखकर, तक्षक प्रभूत धन देकर उसे पटा लेता है और उसको घर लौटा देता है।

२ महाभारत के समान यहाँ की कथा में नरकहारे का उल्लेख नहीं है।

३ यहाँ जनमेजय का नागयज्ञ गंगा के किनारे किया गया है महाभारत के समान तक्षशिला में नहीं—

आहूय मन्त्रिणः सर्वान् राजा वचनमब्रवीत् ।
कुर्वन्तु यज्ञसंभारं यथार्हं मन्त्रिसत्तमाः
गंगातीरे शुभां भूमिं मापयित्वा द्विजोत्तमः ॥
कुर्वन्तु मंडपं स्वस्थाः शतस्तंभं मनोहरम् ।
वेदी यज्ञस्य कर्तव्या ममाद्य सचिवाः खलु ॥
तद्वत्वे विधेयो वै सर्पसत्रं सुविस्तरः ।
तापकस्तु पशुस्तत्र होतोत्तमको मुनिः ॥[3]

४ यहाँ के इस कथानक की एक अन्य विशेषता यह है कि तक्षक के इन्द्र की शरण में जाने पर भी जब रक्षा सम्भव न हो सकी तो उसने आस्तीक का स्मरण किया है। उसके ध्यान पर ही वह बच सका है—

उत्तकोह्यपदुद्विग्नः सेन्द्रः कृत्या निमन्त्रणम् ।
स्मृतस्तदा तक्षकेण यायावरकुलोद्भवः ॥
आस्तीको नाम धर्मात्मा जरत्कारुसुतो मुनिः ।[4]

चन्द्रवंश (पुरु शाखा-पौरववंश) के उपरिनिर्दिष्ट इन जनमेजयों के अतिरिक्त ययाति

---

१ देवी भागवत २ १० ५
२ वही २ १ ११ १५
३ वही २ ११ ४१ ४२
४ वही २।११।५७-५८

महर्षि वैशम्पायन के शाप का कारण यह बताया गया है कि राजा ने वाजसनेय मुनि को अपना पुरोहित बनाया है। ब्राह्मणों के साथ राजा के विरोध, विवाद और अभिशाप की बात का उल्लेख इस जनमेजय के साथ किसी अन्य पुराण में नहीं मिलता है। इसके समान इसके पुत्र शतानीक ने भी अश्वमेध यज्ञ किया है।[1]

भागवत पुराण में तक्षक के डसने से परीक्षित की मृत्यु हो जाने पर पिता की मृत्यु का प्रतिकार लेने के लिए उसके पुत्र जनमेजय द्वारा नागों को भस्म करने के लिए सर्पसत्र किये जाने का उल्लेख है। यहां भी महाभारत के कथारूप के समान यज्ञ में गिराये जाने के भय से तक्षक के इन्द्र की शरण में जाने एवं राजा के आदेश से इन्द्र सहित तक्षक को अग्नि में डालने के लिए मन्त्रों से आह्वान किये जाने पर, विवश होकर तक्षक सहित इन्द्र के आने पर आचार्य बृहस्पति के अनुरोध से राजा जनमेजय सर्पसत्र बन्द कर देता है और इस प्रकार से इन्द्र और तक्षक की रक्षा हो जाती है।[2] महाभारत के आख्यान में महर्षि जरत्कारु के पुत्र आस्तीक के बीच में पड़ने से जनमेजय का सर्पसत्र रुकता है। भागवत पुराण में यह कार्य बृहस्पति ने किया है। यही दोनों की कथा में मुख्य अन्तर है। वैसे महाभारत में कथा का विस्तार बहुत अधिक है जबकि भागवत में यह कुल बारह श्लोकों में ही पूर्ण कर दी गयी है।

देवी भागवत

भागवत पुराण के समान देवी भागवत पुराण में भी जनमेजय के नागयज्ञ की कथा मिलती है।[3] भागवत पुराण की अपेक्षा देवी भागवत में कथा का विस्तार अधिक है। लगभग चार बड़े बड़े अध्यायों में यहाँ यह कथा कही गयी है। कुछ बातों को छोड़कर महाभारत के आदिपर्व की कथा के साथ इसका सादृश्य अधिक है। यहाँ की कथा की कुछ विशेषताएँ ये हैं—

१ यहाँ की कथा में महाभारत के काश्यप को कश्यप कहा गया है और इसे मन्त्रवित विद्वान तथा मुनिसत्तम बताया गया है।[4] महाभारत के समान यहाँ का कश्यप चिकित्सक नहीं अपितु एक तान्त्रिक मन्त्रविद है। वह वृद्ध ब्राह्मण वेष में परीक्षित की ओर जाते हुए तक्षक से कहता है—

परीक्षितः सुतः सोऽथ पौरवो जनमेजयः।
द्विरश्वमेधमाहृत्य महावाजसनेयकम्
प्रवर्तयित्वा तं सर्वमृषिं वाजसनेयकम्।
विवादे ब्राह्मणैः सार्धमभिशप्तो वनं ययौ॥ मत्स्य ५० ६३-६४

× × ×

१ अश्वमेधेन तेन शतानीकस्य वीर्यवान्।
जग्राह सात्वतं चास्य मात्स्यं यो महायशाः॥ मत्स्य० ५० ६६
२ भागवतपुराण १२ ६ १६ २८
३ देवी भागवत २ ८ ११
४ यहो कश्यपः मन्त्रविद् विद्वान् धनार्थी मुनिसत्तम। २ ६ ५१

मन्त्रोऽस्ति मम विप्रेन्द्र विषनाशकरः किल ।
जीवयिष्याम्यहं तं च जीवितव्येऽधुना किल ॥[1]

दूसरी बात यह कि कश्यप की परीक्षा के लिए तक्षक ने अपने विष से न्यग्रोध के जिस वृक्ष को जलाया है वह भस्म मात्र रह गया है। वहाँ उसी भस्म को एकत्र करके कश्यप ने मन्त्रोच्चारण पूर्वक जलसिंचन करके पुनः वृक्ष को पूर्व रूप में परिवर्तित कर दिया है—

दष्ट्वा भस्मीकृतं वृक्षं पन्नगेन विषाग्निना ।
सर्व भस्म समाहृत्य कश्यपो वाक्यमब्रवीत ॥
पश्य मन्त्रबलं मेऽद्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तम ।
जीवयाम्यद्य वृक्षा यं पश्यतस्ते महाविषा ॥
इत्युक्त्वा जलमादाय कश्यपो मन्त्रवित्तम ।
सिषेच भस्मराशिं तं मन्त्रितेनैव वारिणा ॥
तद्वारि सेचनाज्जातो न्यग्रोधः पूर्ववच्छुभः ।[2]

कश्यप की शक्ति को देखकर तक्षक प्रभूत धन देकर उसे पटा लेता है और उसको घर लौटा देता है।

२ महाभारत के समान यहाँ की कथा में लकड़हारे का उल्लेख नहीं है।

३ यहाँ जनमेजय का नागयज्ञ गंगा के किनारे किया गया है, महाभारत के समान तक्षशिला में नहीं—

आहूय मन्त्रिणः सर्वान् राजा वचनमब्रवीत ।
कुर्वन्तु यज्ञसंभारं यथार्हं मन्त्रिसत्तमाः
गंगातीरे शुभां भूमिं मापयित्वा द्विजोत्तम ॥
कुर्वन्तु मंडपं स्वस्थाः शतस्तंभं मनोहरम् ।
वेदी यज्ञस्य कर्तव्या ममाद्य सचिवाः खलु ॥
तदंगत्वे विधेयो वै सर्पसत्रः सुविस्तरः ।
तत्रकस्तु पशुस्तत्र होतोत्तङ्को मुनिः ॥[3]

४ यहाँ के इस कथानक की एक अन्य विशेषता यह है कि तक्षक ने इन्द्र की शरण में जाने पर भी जब रक्षा सम्भव न हो सकी तो उसने आस्तीक का स्मरण किया है। उसके आने पर ही वह बच सका है—

वसतोऽह्यद्युद्विग्न नेद्र कृत्वा निमन्त्रणम् ।
स्मृतस्तदा तक्षकेण यायावरकुलोद्भव ॥
आस्तीको नाम धर्मात्मा जरत्कारुसुतो मुनिः ।[4]

चन्द्रवंश (पुरु शाखा पौरववंश) के उपरिनिर्दिष्ट दस जनमेजयों के अतिरिक्त ययाति

---

१ देवी भागवत २ १० ५
२ वही २ १ ११ १४
३ वही २ ११ ४६ ५२
४ वही २ । ११ । ५७-५८

महर्षि वशम्पायन के शाप का कारण यह बताया गया है कि राजा ने वाजसनेय मुनि को अपना पुरोहित बनाया है। ब्राह्मणों के साथ राजा के विरोध विवाद और अभिशाप की बात का उल्लेख इस जनमेजय के साथ, किसी अन्य पुराणों में नहीं मिलता है। इसके समान इसके पुत्र शतानीक ने भी अश्वमेध यज्ञ किया है।[1]

भागवत पुराण में तक्षक के डसने से परीक्षित की मृत्यु हो जाने पर, पिता की मृत्यु का प्रतिकार लेने के लिए उसके पुत्र जनमेजय द्वारा नागों को भस्म करने के लिए सर्पसत्र किये जाने का उल्लेख है। यहाँ भी महाभारत के कथारूप के समान यज्ञ में गिराये जाने के भय से तक्षक के इन्द्र की शरण में जाने एवं राजा के आग्नेय से इन्द्र सहित तक्षक को अग्नि में डालने के लिए मन्त्रों से आह्वान किये जाने पर, विवश होकर तक्षक सहित इन्द्र के आने पर आचार्य बृहस्पति के अनुरोध से राजा जनमेजय सर्पसत्र बन्द कर देता है और इस प्रकार से इन्द्र और तक्षक की रक्षा हो जाती है।[2] महाभारत के आख्यान में महर्षि जरत्कारु के पुत्र आस्तीक के बीच में पड़ने से जनमेजय का सर्पसत्र रुकता है। भागवत पुराण के कथा रूप में आस्तीक का कार्य बृहस्पति ने किया है। यही दोनों की कथा में मुख्य अन्तर है। बस महाभारत में कथा का विस्तार बहुत अधिक है जबकि भागवत में यह कुल बारह श्लोकों में ही पूर्ण कर दी गयी है।

देवी भागवत

भागवत पुराण के समान देवी भागवत पुराण में भी जनमेजय के नागयज्ञ की कथा मिलती है।[3] भागवत पुराण की अपेक्षा देवी भागवत में कथा का विस्तार अधिक है। लगभग चार बड़े बड़े अध्यायों में यहाँ यह कथा कही गयी है। कुछ बातों को छोड़कर महाभारत के आदिपर्व की कथा के साथ इसका सादृश्य अधिक है। यहाँ की कथा की कुछ विशेषताएँ ये हैं—

१ यहाँ की कथा में महाभारत के काश्यप को कश्यप कहा गया है और इसे मन्त्रवित विद्वान तथा मुनिसत्तम बताया गया है।[4] महाभारत के समान यहाँ का कश्यप चिकित्सक नहीं अपितु एक तान्त्रिक मन्त्रवित है। वह वृद्ध ब्राह्मण वेष में परीक्षित की ओर जाते हुए तक्षक से कहता है—

परीक्षितः सुतः सा वै पौरवो जनमेजय।
शिरस्त्वमेधमाहृत्य महावाजसनेयक
प्रवर्तयित्वा स सर्वमपि वाजसनेयकम्।
विवादे ब्राह्मणैः सार्धमभिशप्तो वनं ययौ॥ मत्स्य ५ ५७ ६४

× × ×

१ अश्वमेधेन तत्र शतानीकस्य वीर्यवान्।
जनमेजय माभरदूरस्य भास्वरा या महायशा॥ मत्स्य० ५ ६६

२ भागवतपुराण १२ ६ १६ २८

३ देवी भागवत २ ८ ११

४ तत्र कश्यपो मन्त्रविद् विद्वान् ब्राह्मणो मुनिसत्तम। २ ९ ५१

मन्त्रोऽस्ति मम विप्रेन्द्र विषनाशकर किल ।
जीवयिष्याम्यह त च जीवितव्येऽधुना किल ॥[1]

दूसरी बात यह कि कश्यप की परीक्षा के लिए, तक्षक ने अपने विष से न्यग्रोध के जिस वृक्ष को जलाया है वह भस्म मात्र रह गया है। यहां उसी भस्म को एकत्र करके कश्यप ने मन्त्रोच्चारण पूर्वक जलसिंचन करके पुन वृक्ष को पूर्व रूप में परिवर्तित कर दिया है—

दष्टवा भस्मीकृत वृक्ष पन्नगेन विषाग्निना ।
सर्व भस्म समाहृत्य कश्यपो वाक्यमब्रवीत ॥
पश्य मन्त्रबल मेऽद्य न्यग्रोध पन्नगोत्तम ।
जीवयाम्यद्य वृक्ष च पश्यत ते महाविषा ॥
इत्युक्त्वा जलमादाय कश्यपो मन्त्रवित्तम ।
सिषेच भस्मराशि त मन्त्रितेनैव वारिणा ॥
तद्वारि सेचनाज्जातो न्यग्रोध पूर्ववच्छुभ ।[2]

कश्यप की शक्ति को देखकर तक्षक प्रभूत धन देकर उसे पटा लेता है और उसको घर लौटा देता है।

२ महाभारत के समान, यहाँ की कथा में नरसंहार का उल्लेख नहीं है।

३ यहां जनमेजय का नागयज्ञ गंगा के किनारे किया गया है महाभारत के समान तक्षशिला में नहीं—

आहूय मन्त्रिण सर्वान राजा वचनमब्रवीत ।
कुर्वन्तु यज्ञसभार यथाह मन्त्रिसत्तमा
गंगातीरे शुभा भूमि मापयित्वा द्विजोत्तम ॥
कुर्वन्तु मंडप स्वस्था शतस्तभ मनोहरम ।
वेदी यज्ञस्य कर्तव्या समाद्य सविधा खलु ॥
सर्पसत्रे विधेयो मे सर्पसत्र सुविस्तर ।
तक्षकस्तु पशुस्तत्र होतोत्तङ्को मुनि ॥[3]

४ यहां के इस कथानक की एक अन्य विशेषता यह है कि तक्षक के इन्द्र की शरण में जाने पर भी जब रक्षा सम्भव न हो सकी तो उसने आस्तीक का स्मरण किया है। उसके आने पर ही वह बच सका है—

उत्तङ्कोह्वयदुर्दविप्र सेन्द्र कृत्वा निमन्त्रणम ।
स्मृतस्तदा तक्षकेण यायावरकुलोद्भव ॥
आस्तीको नाम धर्मात्मा जरत्कारुसुतो मुनि ।[4]

चन्द्रवंश (पुरु शाखा-पौरववंश) के उपरिनिर्दिष्ट इन जनमेजयों के अतिरिक्त ययाति

---

१ देवी भागवत २ १० ५
२ वही २ १ ११ १४
३ वही २ ११ ४६ ५२
४ वही २।११।५७-५८

के चतुर्थ पुत्र अनु की शाखा में छठी पीढ़ी में पुरंजय का पुत्र था, एक जनमेजय नाम का राजा हुआ है। इसका विष्णु, वायु तथा मत्स्य पुराण में उल्लेख है।[1] विष्णुपुराण में अनु से सभानल, सभानल से कालानल, कालानल से सृंजय, सृंजय से पुरंजय और पुरंजय से जनमेजय—इस क्रम से नाम हैं। वायु पुराण में भी विष्णुपुराण का ही क्रम है। मत्स्यपुराण के तीन नामों में अन्तर है। यहाँ अनु का सभानर, सभानर का कोलाहल, कोलाहल का संजय, संजय का पुरंजय और पुरंजय का जनमेजय। इस जनमेजय के नाम के आगे, अतीत की किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं किया गया है।

ब्रह्मपुराण और हरिवंश इसी जनमेजय को पुरु शाखा में कक्षेयु से छठी पीढ़ी में रखते हैं।[2] किन्तु कक्षेयु को छोड़कर शेष नाम समान हैं। अन्य पुराणों के नाम के समान इस जनमेजय के पुत्र का नाम यहाँ भी महानल है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाद के कारण अनु के स्थान पर कक्षेयु नाम जुड़ गया है। वस्तुतः यह कहना कठिन है कि विष्णु, वायु और मत्स्य पुराणों का विवरण विश्वसनीय है अथवा हरिवंश और ब्रह्मपुराण का। वस्तुस्थिति कुछ भी हो, इस विवाद के निर्णय के लिए विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस जनमेजय के साथ पारीक्षित उपपद नहीं जुड़ा है। हमारे विवेचन का विषय, वस्तुतः पारीक्षित जनमेजय ही है।

नाटक का नायक जनमेजय

इससे पूर्व महाभारत, पुराण एवं वैदिक ग्रन्थों में वर्णित विविध जनमेजयों की चर्चा की गयी है। यह सब इसलिए किया गया है कि सबके स्वरूपों को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत नाटक में कथानायक को पहचाना जा सके। हमारे नाटक का नायक राजा जनमेजय पारीक्षित अर्थात् परीक्षित का पुत्र होते हुए भी, वह महाभारत के युद्ध के महारथी अर्जुन के पुत्र वीर अभिमन्यु का पौत्र ही नहीं रह गया है जिसने महाभारत में सर्पसत्र का अनुष्ठान किया है अपितु उसमें एक अन्य जनमेजय का भी चरित्र मिलकर एकीभूत हो गया है। संयोग से यह दूसरा जनमेजय भी परीक्षित का ही पुत्र होने से 'पारीक्षित जनमेजय' नाम से ही महाभारत में, पुराणों में तथा कुछ ब्राह्मणग्रन्थों में अभिहित हुआ है।

ऊपर के पृष्ठों में महाभारत के शान्तिपर्व के एक उपाख्यान में वर्णित एक परीक्षित पुत्र जनमेजय का उल्लेख किया गया है।[3] यहीं का यह आख्यान मन में यह सन्देह अवश्य जगाता है कि महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर पितामह भीष्म भूतकाल की क्रियाओं का प्रयोग करते हुए किस जनमेजय की कथा सुना रहे हैं।[4] सम्पूर्ण महाभारत का प्रधान रूप

---

१ विष्णु पुराण ४। १८। १ ८ वायुपुराण उत्त ३७ १४८ ८१ मत्स्य पुराण ४८। १२ १३

२ ब्रह्मपुराण १३ १६ १७ हरिवंश पुराण १ २

प्राचीन राजा महावीर्य परीक्षिज्जनमेजय।
अबुद्धिपूर्वमागच्छद् ब्रह्महत्या महीपतिं ॥ शान्तिपर्व १८ ३

४ युधिष्ठिर उवाच—अबुद्धिपूर्वं यत् पापं कुर्याद् भरतसत्तम।
मुच्यते स कथं तस्मात् सर्वं तन्मे वद॥

भीष्म उवाच—अत्र ते वर्णयिष्यामि पुराणमृषिसंस्तुतम्।
इन्द्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम्। शान्तिपर्व १५०, १ ३

से जिसके साथ सम्बन्ध बताया जाता है वह जनमेजय तो अभिमन्यु का पौत्र और परीक्षित का पुत्र है, जिसने अपने पिता परीक्षित की नागराज द्वारा की गई हत्या का बदला लेने के लिए समस्त नागों को ही पृथ्वी पर से नष्ट करने के हेतु इतिहास प्रसिद्ध सर्पसत्र का समारम्भ किया था। जिस समय भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर को शान्तिपर्व में वर्णित यह आख्यान सुनाया है, उस समय तो इस जनमेजय के पिता परीक्षित का जन्म भी नहीं हुआ था फिर यहां उसका वर्णन, वह भी भूतकाल की क्रियाओं के साथ किस प्रकार सम्भव है?

यदि यह वर्णन, पुराणों के अनेक वर्णनों के समान भविष्यत् काल में होता, तब सम्भवतः शंका को इतना अवकाश न मिलता। परन्तु मन में उठी शंका का समाधान शान्तिपर्व के इस आख्यान से नहीं होता है। यहां जनमेजय के सम्बन्ध में, जिन बातों की चर्चा हुई है उनका आदिपर्व में जहां जनमेजय के सर्पसत्र का विस्तार से वर्णन है, कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इसलिए यह सन्देह स्वाभाविक है कि यहां यह चर्चा किस जनमेजय की की गयी है।

प्रसादजी ने इस नाटक के आरम्भ के प्राक्कथन में इस नाटक की कथा के मुख्य आधारों का संकेत दिया है। वे लिखते हैं—

कलियुग के प्रारम्भ में पाण्डवों के बाद परीक्षित के पुत्र जनमेजय एक स्मरणीय शासक हो गये हैं। भारत के शान्तिपर्व अध्याय १५० में लिखा हुआ मिलता है, कि सम्राट जनमेजय से अकस्मात् एक ब्रह्महत्या हो गयी जिस पर उन्हें प्रायश्चित्त स्वरूप अश्वमेधयज्ञ करना पड़ा।[1] शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है, कि इन्द्रोत दैवाप शौनक उस अश्वमेध में आचार्य थे और जनमेजय का अश्वमेध यज्ञ इन्हीं ने कराया था। महाभारत में भी इन्हीं आचार्य का उल्लेख है। आदि पर्व के पौष्यपर्व अध्याय ३ से विदित होता है, कि जब जनमेजय पर कृत्या और विपत्ति आयी तब उन्होंने नागकन्या से उत्पन्न सोमश्रवा को बड़ी प्रार्थना से अपना पुरोहित बनाया और आमरण नागविद्रोह तथा भीतरी षड्यन्त्रों से बचने के लिए उन्हें अत्यन्त प्रयत्नशील होना पड़ा। महाभारत युद्ध के बाद उनमें से परीक्षित ने शृंगी ऋषि का अपमान किया और तक्षक ने काश्यप आदि से मिलकर आर्य सम्राट परीक्षित की हत्या की।[2] उन्हीं के पुत्र जनमेजय के राज्य प्रारम्भ-काल में आर्य जाति के

१ ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुवंश के प्रथम परीक्षित के पुत्र द्वितीय जनमेजय से सम्बद्ध ब्रह्मपुराण १२ १० १५ ब्रह्माण्ड ३ ६८ २ २६ मत्स्य ५० २ २१ विष्णु० ४ १६ ७८ वायु० उत्त ३७ २१२ १८ लिंगपुराण ६६ ७१ ७३ आदि पुराण प्रसादजी के दृष्टिपथ में नहीं आए थे क्या तो इतिहास की अन्तर्मन सूझबूझ रखने वाले प्रसादजी को भूल उन्हें यहाँ स्पष्ट न करती ऐसा सम्भव नहीं था। इसलिए शान्तिपर्व के आधार पर ही उन्होंने जनमेजयकृत ब्रह्महत्या के सम्बन्ध में अनिश्चय बना रहने दिया है। इस सम्बन्ध में पुराणों के विवरण को देखे बिना निश्चित निर्णय कर सकना सम्भव नहीं है।

२ प्रसादजी ने यहां शृंगी ऋषि का उल्लेख किया है। वस्तुतः शृंगी के पिता शमीक ऋषि का परीक्षित द्वारा अपमान हुआ था—

परीक्षिन्नाम राजाभूद् ब्रह्मन् कौरववंशजः
स कदाचिन् मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने॥

× × ×

(शेष पादटिप्पणी अगले पृ० पर)

मक उत्तंक ने बाह्य और आभ्यन्तर कुप्रथाओं का दमन करने के लिए जनमेजय को उत्तेजित किया। बस इन्हीं घटनाओं के आधार पर इस नाटक की रचना हुई है।"[1]

प्रसादजी के इस वक्तव्य से यह बात स्पष्ट है कि इस नाटक की कथा का नायक पाण्डव अर्जुन का प्रपौत्र, परीक्षित पुत्र जनमेजय है। और इसमें यह भी स्पष्ट है कि कुछ अन्य आधारों के साथ शान्तिपर्व, आदिपर्व, शतपथ ब्राह्मण तथा हरिवंश नाटक की कथा के मुख्य आधार रहे हैं। यहाँ पर प्रसादजी ने यह मान लिया है कि शान्तिपर्व के अध्याय १५० ५२ में जनमेजय की जो कथा है वह अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय से ही सम्बन्ध रखती है। यहाँ की इस कथा की कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित हैं

१ राजा जनमेजय द्वारा ब्रह्महत्या।

२ प्रजाजनों द्वारा राजा का परित्याग।

३ राजा का पश्चात्ताप और फिर ऋषि इन्द्रोत शौनक की शरण जाना और

४ शौनक द्वारा अश्वमेध यज्ञ से राजा की शुद्धि प्राप्ति।

महाभारत का अवधानपूर्वक अध्ययन करने पर देखा जा सकता है कि इन बातों में से किसी का भी अभिमन्यु-पौत्र पारीक्षित जनमेजय के साथ सम्बन्ध नहीं है। इस कथानक (शान्तिपर्व) में निर्दिष्ट ब्रह्महत्या का अभिमन्यु पौत्र जनमेजय के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए प्रसादजी को नाटक में, जनमेजय द्वारा आस्तीक के पिता जरत्कारु ऋषि की हत्या करानी पड़ी है। उस हत्या से मुक्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ का भी इन्द्रोत शौनक द्वारा आयोजन कराना पड़ा है। महाभारत में कहीं पर भी इस जनमेजय के किसी अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख नहीं है। इसके जीवन की सबसे प्रमुख घटना सम्भवतः महाभारत में वर्णित सर्पसत्र ही रही है। इसी सर्पसत्र की समाप्ति पर महर्षि वेदव्यास के आगमन पर जनमेजय के आग्रह और व्यास

परिजानन् पिपासार्थ श्रमकान्त मुनि वन।
मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित् त दृष्टवानसि।
स मनिस्त तु नावाच किंचित् मौनव्रत स्थित ॥
तस्य स्कन्ध मत भप क्रुद्धो राजा समासजत।
समभिन्य धनुष्कोट्या स चन समा त ॥
न किं त नरशार्दूल क्षमाशीलो महामुनि।
स्वधर्मनिरत भप समाक्षिप्तोऽप्यधर्षयत ॥
तरुणस्तस्य पुत्रो मृन् तिग्मतेजा महातपा।
शृंगी नाम महाक्रोधो दुष्प्रसा महाव्रत ॥
—महाभारत आदि ४ १ २५
शमीको नाम राजेन्द्र वतत विषये तव।
ऋषि परमधर्मात्मा दान्त शान्तो महातपा।
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्प प्राणवियोजित ॥
अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्ध मौनान्वितस्य च।
क्षान्तवास्तव तत्कम पुत्रस्तस्य न च क्षम ॥
महाभारत आदि ४२ १७ १९

१ जनमेजय का नागयज्ञ प्राक्कथन प ३ ५

जी के आदेश से वैशम्पायन द्वारा समस्त महाभारत का प्रवचन किया गया है। यह सब तक्षशिला में हुआ है। वहाँ से लौटने के पश्चात् महाभारत में तो नहीं हरिवंश में इस जनमेजय के भी एक अश्वमेध का उल्लेख है जिसकी समाप्ति निर्विघ्न सम्भव नहीं हो सकी है। इससे ब्राह्मण विद्रोह का भी संकेत मिलता है।

परन्तु शान्तिपर्व में वर्णित, जनमेजय के अश्वमेध यज्ञ में, किसी विघ्न का उल्लेख नहीं है। वहाँ विधिवत् उसकी सम्पन्नता बताई गई है।[1] अतः स्पष्ट है कि यह प्रसंग इस जनमेजय का नहीं किसी और का ही है।

ऊपर दिखाए गए पुराणों में वर्णित जनमेजयों के चित्रण की, महाभारत के जनमेजयों से तुलना यह स्पष्ट करती है कि पुरुवंश में मुख्य रूप से तीन जनमेजयों का उल्लेख हुआ है। इनमें दो जनमेजय ऐसे हैं जिनके पिताओं के नाम समान अर्थात् परीक्षित हैं। इनमें प्रथम जनमेजय, ययातिपुत्र सम्राट पुरु का पुत्र है। दूसरा, सम्राट कुरु के पुत्र परीक्षित का पुत्र है और तीसरा अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का पुत्र है। कुरु के पौत्र जनमेजय का भी, परीक्षित का पुत्र होने से पारीक्षित जनमेजय के रूप में पुराणों में एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है। शांतिपर्व के अध्याय १५०-५२ के आख्यान में जिस जनमेजय की चर्चा है वह अभिमन्यु का पौत्र नहीं जैसा कि प्रसादजी ने माना है अपितु कौरववंश के प्रवर्तक कुरु के पुत्र परीक्षित का पुत्र जनमेजय है।[2] शतपथ ब्राह्मण में पारीक्षित जनमेजय के जिस अश्वमेध का उल्लेख है जिसे इन्द्रोत दैवाप शौनक ने सम्पन्न कराया है वह इसी कुरु पौत्र जनमेजय से सम्बद्ध है। पुराणों में इससे सम्बद्ध जो वर्णन मिलते हैं उनमें इस जनमेजय की लगी ब्रह्महत्या का भी स्पष्टीकरण किया गया है। इसको दूर करने के लिए शौनक द्वारा सम्पन्न कराए गए अश्वमेध यज्ञ का भी यत्र-तत्र उल्लेख है। किसी भ्रान्ति के कारण सम्भवतः प्रसादजी ने इस द्वितीय जनमेजय को तृतीय समझकर उसके साथ एक कर दिया है। इसीलिए उन्हें नाटक में इस तृतीय जनमेजय से किसी ब्रह्महत्या का सम्बन्ध न होते हुए भी एक ऋषि की हत्या करानी पड़ी है क्योंकि ब्रह्महत्या का सम्बन्ध तृतीय जनमेजय से स्थापित किए बिना, शुद्धि के उद्देश्य से किए अश्वमेध यज्ञ और उसके साथ इन्द्रोत शौनक का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाता। और शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित पारीक्षित जनमेजय के अश्वमेध और उसके याजक इन्द्रोत दैवाप शौनक में किस प्रकार एकत्व स्थापित किया जाता। यदि प्रसादजी द्वितीय जनमेजय अर्थात् कुरु के पुत्र परीक्षित के पुत्र जनमेजय से सम्बद्ध शांतिपर्व की कथा को तृतीय जनमेजय अर्थात् अभिमन्यु पुत्र परीक्षित के पुत्र के साथ न जोड़ते तो वे उन कल्पनाओं से बच जाते जो उन्हें करनी पड़ी हैं और जिनका आधार भ्रम एवं सन्देह से शून्य नहीं है।

ऊपर निर्दिष्ट विवेचन के अनुसार अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय तृतीय के साथ सर्प-सत्र का सम्बन्ध मुख्य रूप से रहा है। पुरु वंश अथवा किसी भी वंश के किसी अन्य जनमेजय के साथ सर्पसत्र का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। तृतीय जनमेजय के जीवन की सम्भवतः

---

१ हरिवंश पुराण भविष्यपर्व ५ १७ १६

२ महाभारत शांतिपर्व १५२ ३८

यह एक प्रमुख घटना कही जा सकती है। महाभारत के आस्तीक पर्व में यह सर्पसत्र की घटना जिस रूप में चित्रित हुई है, उसमें भी प्राय साम्राज्य के विरोधी एक वर्ग का ही संकेत मिलता है। मानव जाति के ही दो वर्गों का स्पष्ट रूप में संकेत देने के लिए प्रसादजी ने नाटक का नाम 'जनमेजय का सर्पसत्र' न रखकर 'जनमेजय का नागयज्ञ' रखा है यद्यपि महाभारत और भागवत में इस यज्ञ को सर्पसत्र नाम ही दिया गया है।[1]

प्राचीन समय में नाग जाति के लोग भी बड़े शक्तिशाली रहे हैं। इनकी प्रबल शक्ति का दमन करने के लिए ही, श्रीकृष्णजी के परामर्श से अर्जुन ने खाण्डववन को ही भस्म कर देने का प्रयत्न किया था।[2] परन्तु फिर भी नाग निःशेष नहीं हो सके। वे वहाँ से बचकर पश्चिमोत्तर के पर्वतीय भाग से गान्धार में जाकर बस गए। अपने नेता तक्षक की दूरदर्शिता एवं सूझबूझ से वहाँ भी उन्होंने अपनी शक्ति बना ली और हस्तिनापुर के राजाओं से लोहा लेने लगे। नागों के सम्बन्ध में डा० राजबलि पाण्डेय लिखते हैं—

महाभारत युद्ध उसमें भयानक संहार हुआ और न विशेष रूप से उत्तर भारत के *राज्यों को दुर्बल बना दिया। पश्चिमोत्तर में नागवंश ने तक्षशिला को अपने अधिकार में कर* उधर के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उनके राजा तक्षक ने हस्तिनापुर के राजा द्वितीय परीक्षित को मार डाला। परीक्षित के पुत्र तृतीय जनमेजय के समय कुछ काल के लिए कौरवों की शक्ति पुनः जीवित हो उठी। अपने पिता के वध से क्रुद्ध होकर जनमेजय ने नागों पर आक्रमण कर, उनका घोर विनाश किया जिसकी कथा नाग-यज्ञ के रूप में दी हुई है। किन्तु भारत के परवर्ती इतिहास में नागों की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।[3]

नाग मानवजाति का ही एक शक्तिशाली वर्ग था। इन्होंने दीर्घकाल तक शासन किया है। इनके सम्बन्ध राजाओं और ऋषियों के साथ होते रहे हैं। महाभारत के आदि पर्व में बताया गया है कि महर्षि श्रुतश्रवा का विवाह एक नागकन्या से हुआ था जिससे उनका पुत्र सोमश्रवा हुआ। इस सोमश्रवा को जनमेजय तृतीय ने अपना पुरोहित बनाया है। यायावर ऋषि जरत्कारु का विवाह भी इसी नाम की एक नागकन्या वासुकि की बहन से हुआ था। इससे उत्पन्न उनका पुत्र आस्तीक हुआ। इसी आस्तीक ने जनमेजय द्वारा किये जा रहे नाग विनाश को रुकवाया है। नागों के राजा तक्षक की पुत्री ज्वलना का विवाह राजा ऋचेयु के साथ हुआ है। नागों का राजाओं के रूप में भी चित्रण मिलता है।[4]

उपर्युक्त समस्त विवरण से स्पष्ट है कि इस नाटक में प्रसादजी की दृष्टि सर्वत्र ऐतिहासिक रही है। इतिहास के आधार पर ही जनमेजय तृतीय के नागयज्ञ से सम्बद्ध अवान्तर घटनाओं तथा प्रसंगों की बुद्धिसंगत व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की है। फिर भी यह बात हमें न भूलना चाहिए कि इतिहास की कथा पर जब कल्पना के रंग चढ़ा दिए जाते हैं तो वह साहित्यिक कृति बन जाती है। जनमेजय का नागयज्ञ अतीत के इतिहास की भूमि पर, एक परिष्कृत साहित्यिक रचना है।

---

१ महाभारत आदिपर्व ५१ ५८
भागवत १२ ६ १६ २८
२ महाभारत खाण्डवदाह पर्व
३ पुराणविषयानुक्रमणी प्रस्तावना प्रथम भाग वाराणसी १६५७ ई० २७ २८
४ महा० आदि० १३ १६ आदि० १ १८ हरि० २ १ ब्रह्माण्ड ३ ४८ २१ २५

पचम अध्याय

१ नल दमयन्ती-कथा	(क) दमयन्ती स्वयवर, (ख) नल दमयन्ती नाटक, (ग) अनघ नल चरित्र, (घ) द्यूत का भूत अथवा नल चरित्र, (ङ) दमयन्ती स्वयवर (च) नल दमयन्ती, (छ) नल दमयन्ती।
२ सावित्री-सत्यवान-कथा	(क) सती प्रताप (ख) शील सावित्री (ग) सावित्री (दवराज), (घ) सावित्री (बाके बिहारीलाल), (ङ) सावित्री सत्यवान (गगाप्रसाद), (च) सावित्री सत्यवान (वेनीप्रसाद श्रीमाली)।
३ देवयानी-शर्मिष्ठा कथा	(क) देवयानी (जमुनाप्रसाद मेहरा), (ख) दवी दवयानी, (ग) देवयानी, (घ) शर्मिष्ठा।
४ राजतिलक अर्थात किराताजुनयुद्ध	
५ विद्रोहिणी अम्बा	
६ भीष्म चरित	(क) भीष्म, (ख) भीष्मव्रत, (ग) गगा का बेटा
७ सुभद्रा-परिणय	
८ चक्रव्यूह	

नल दमयन्ती-कथा

नल दमयन्ती की कथा को आधार बनाकर हिन्दी में अनेक नाटकों की रचना हुई है। इस सम्बन्ध में हिन्दी में सात नाटक प्राप्त हुए हैं। उनके नाम हैं—

१ दमयन्ती स्वयंवर नाटक—परमानन्द, उपनाम छेदीलाल
२ नल दमयन्ती नाटक—महावीरसिंह वर्मा
३ अनघ नल चरित्र—सुन्दराचार्य शास्त्री
४ द्यूत या भूत अथवा नल दमयन्ती नाटक—ब्रह्मदत्त शास्त्री
५ दमयन्ती स्वयंवर—बालकृष्ण भट्ट
६ नल दमयन्ती—दुर्गाप्रसाद गुप्त
७ नल दमयन्ती—लक्ष्मण स्वरूप

दमयन्ती स्वयंवर नाटक[1]

प्रकाशन के कालक्रम की दृष्टि से परमानन्द लिखित दमयन्ती स्वयंवर नाटक नल कथा पर आधारित सबसे पहला हिन्दी नाटक है। पात्र प्रसार का यह एक लघु नाटक है। वस्तुतः महाकवि श्रीहर्ष के महाकाव्य नैषधीय चरित्र के स्वयंवर प्रकरण का यह एक रूपक मात्र है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण स्वयं लेखक ने नाटक की भूमिका में भी कर दिया है—

'इस नाटक के पढनेवालों को महाकवि श्रीहर्ष की कवित्व चातुरी की बानगी, जैसी उक्त कवि ने महाकाव्य नैषध में प्रगट की है, सहज में मालूम हो जाती है—संस्कृत की कविता की कारीगरी की टटोल केवल भाषा मात्र जानने वालों को सुलभ हो जाना, इस अलभ्य लाभ कौन न मानेगा।'

इसके अतिरिक्त नाटक के मुखपृष्ठ पर भी—'महाकवि श्रीहर्ष विरचित नैषध काव्य में जिस तरह पर उक्त कवि ने कवित्वचातुरी प्रकट की है उसकी बानगी नाटक के आकार में दरसाई हुई अथवा श्रीमती दमयन्ती का पातिव्रत्य और राजा नल की उदारता आदि गुणों का परिचय ये पंक्तियाँ अंकित हैं। स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य श्रीहर्ष के कौशल को नाटकीय रूप देकर केवल हिन्दी जानने वालों को रसास्वादन कराना है। यह नाटक सामान्य श्रेणी का है।

कथानक

नाटक के आरम्भ में राजा नल को दमयन्ती का एक चित्र मिल गया है। इस

---

१ प्रकाशक—तुलसीराम स्वामी सरस्वती यन्त्रणालय प्रयाग प्रथम संस्करण १८६५ ई

देखकर उसकी सब सुध-बुध जाती रहती है। मन बहलाने के लिए वह वन में जाता है। हंस को देखकर दमयन्ती के पास उसे दूत बनाकर भेजता है। नल का सन्देश पाकर दमयन्ती का अनुराग राजा नल में बढ़ जाता है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम इत्यादि देवगण उसे दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजते हैं, जिससे स्वयंवर में दमयन्ती उनको ही वरे। इसके उपरान्त स्वयंवर में चारों देव नल रूप में उपस्थित होते हैं, किन्तु सरस्वती की प्रेरणा से दमयन्ती नल को पहचान लेती है और उसे ही अपना पति चुनती है।

आधार

यहाँ लेखक ने अपने नाटक की कथावस्तु का आधार महाभारत के नलोपाख्यान को नहीं, अपितु महाकवि श्रीहर्ष के नैषधीयचरित को बनाया है। इसमें नाटक के आरम्भ के उस अंश को छोड़कर जिसमें राजा नल दमयन्ती के चित्र को ही देखकर उसके सौन्दर्य पर आसक्त एवं अधीर हो जाता है शेष सभी घटनाएँ नैषधीय चरित के अनुसार हैं।

नल-दमयन्ती नाटक[1]

प्रकाशनक्रम में दूसरा नाटक महावीरसिंह का नलदमयन्ती नाटक आता है।

कथानक

नाटक का आरम्भ उस स्थल से होता है जब महाराज नल दमयन्ती स्वयंवर के लगभग दस वर्ष के पश्चात् एक दिन अपने छोटे भाई पुष्कर के साथ द्यूत में राजपाट सहित अपना सर्वस्व हार जाते हैं। विजेता पुष्कर की ओर से उन्हें राज्य की सीमा से बाहर चले जाने का आदेश दिया जाता है। रानी दमयन्ती बड़ी कुशलता से पुत्र और पुत्री को अपने पिता के घर कुण्डिनपुर भेज देती है। महाराज के आग्रह करने पर भी स्वयं पिता के घर जाने के लिए उद्यत नहीं होती है। नल और दमयन्ती केवल सामान्य वस्त्र पहने राज्य की सीमा से बाहर हो जाते हैं। इसके पश्चात् की कथा राजा और रानी के असामान्य कष्टों की कथा है।

आधार

इस नाटक की कथा का आधार महाभारत का नलोपाख्यान है।

अन्तर

अन्तर बहुत नगण्य है—जैसे यहाँ अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण को निर्धारित तिथि

---

१ प्रकाशक—इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद प्रथम संस्करण १६०१

से तीन दिन पूर्व दमयन्ती के पुनः स्वयंवर की सूचना मिलती है। महाभारत[1] में यह अवधि एक दिन की है।

२ दूसरा अन्तर यह है कि इस नाटक में राजा भीम की एकमात्र सन्तान दमयन्ती ही है। इसीलिए भीम जामाता के कुण्डिनपुर आ जाने पर अपना समस्त राज्य उसे ही देकर स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण कर लेते हैं। कुछ काल पर्यन्त नल श्वसुर के राज्य का उपभोग करता है। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाकर एक दिन वेश बदलकर वह निषध देश में जाता है और अपने छोटे भाई पुष्कर के साथ पुनः जुआ खेलता है। पुष्कर के पराजित हो जाने पर भी वह उसे कोई कठोर दण्ड नहीं देता। यही नहीं अपितु उस अपकारी पर वह दया करके उसे अपना मन्त्री बना देता है परन्तु महाभारत की कथा में महर्षि दमन के आशीर्वाद से राजा भीम के दमयन्ती के अतिरिक्त दम दान्त और दमन तीन पुत्रों के होने का भी उल्लेख है।[2] इसलिए वहाँ नल को राज्य देने का प्रश्न ही नहीं है। हाँ श्वसुर के घर में नल एक मास तक बड़े सम्मान के साथ रहता है। विदा के समय उसे बहुत बड़ी सेना के संरक्षण में निषध को भेजा जाता है। द्वितीय, द्यूत में पराजित पुष्कर को नल प्राणदान देकर उसके प्राप्य भाग के साथ उसे उसके नगर में भेज देता है। मूल कथा में पराजित पुष्कर को नल अपना मन्त्री नहीं बनाता है।

अनर्घ नल चरित्र[3]

तीसरा नाटक श्रीसुदर्शनाचार्य शास्त्री का अनर्घ नल चरित्र है। यह दस अंकों का एक महानाटक है। लेखक ने स्वेच्छा से मूलकथा में कहीं कहीं परिवर्तन कर दिया है। नाटक के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने प्रारम्भ में एक भूमिका लिख दी है। इसमें उसने स्पष्ट कर दिया है कि मूलकथा में उसने जो परिवर्तन किए हैं वे क्यों किए हैं। भूमिका का कुछ अंश यहाँ उद्धृत है—

नाटक में नाटकीय नियमों की कठिनता तथा रसपुष्टि के प्राधान्य के कारण ही शास्त्रकारों ने कवि को अधिकार दिया है कि कवि अनुचित कथा को छोड़ भी सकता है और उचित हो तो अप्रधान कथा की स्वयं भी कल्पना कर सकता है किन्तु नाटक की कथा प्रधान

---

१ आस्यास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम्। तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः।
तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति। यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम्॥
—महाभारत वनपर्व ७० २४ २५

२ तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ। कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान् महायशाः॥ ८॥
दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम्। उपपन्नान् गुणैः सर्वैर्भीमान् भीमपराक्रमान्॥ ९॥
—वनपर्व ५३ ८ ९

३ प्रकाशक—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस कल्याण बम्बई सं० १९६२ वि०

तया प्रसिद्ध अवश्य होनी चाहिए। नायक राजर्षि होना चाहिए तथा नायिका भी राज सजातीय होनी चाहिए। यह सब नल-कथा में है। हंस का संदेश नल और कर्कोटक की कथा, दमयन्ती-कामुक भील की मृत्यु सार्थवाह के डेरे का नाश—ये कथाएँ नाटक में दिखानी कठिन हैं इससे इन कथाओं को मैंने नहीं लिखा। दमयन्ती का चन्देरी में प्रवेश अश्वपरीक्षा, अयोध्या से कुण्डिनपुर का चलना तथा मार्ग में ऋतुपर्ण से नल का सख्याशास्त्र सीखना, कलिनल संवाद इत्यादि कई कथाएँ अधिक चमत्कारिणी नहीं हैं और स्थान का अवकाश होने से इन कथाओं को भी मैंने छोड़ दिया है क्योंकि नाटक के दस अंक हैं और वे प्रधान प्रदर्शनीय कथाओं में ही समाप्त हो गए।

द्वितीयांक में नारदजी का आना मैंने कल्पना से चमत्कार के लिए लिखा है तथा इन्द्र के पास के फन्दा का आना, दौत्य के लिए नल के प्रलोभनार्थ कल्पना किया है। तृतीयांक में इन्द्रादि देवों की ओर से जो अप्सरा दमयन्ती के निकट आई हैं यह कथा दमयन्ती के पातिव्रत्य दृढ़ता के जताने को कल्पना की है। पंचम में दमयन्ती स्वयंवर का गर्भांक दिखाया है। यद्यपि प्रधानांक में स्वयंवर का दिखाना शास्त्र में निषिद्ध है तथापि गर्भांक में निषिद्ध प्रतीत नहीं होता———यद्यपि कुण्डिनपुर से निषध में जाकर नल ने पुष्कर से राज्य जीता है तथापि भाग अंक बढ़ाने की मर्यादा न होने से और उस कथा में अधिक चमत्कार न होने से कुण्डिनपुर में ही पुष्कर से द्यूत में राज्य जीतने की कथा लिखी है और नल के माहात्म्य जताने को अन्त में इन्द्र का आना भी लिखा है।

इस नाटक में यद्यपि समग्र पद्य भाषा का ही होना चाहिए था तथापि मैंने बहुतकर संस्कृत पद्य लिखे हैं क्योंकि एक तो नयी रीति दरसाने को आज तक भाषा और संस्कृत का मिश्रित नाटक कोई न होगा और इस नाटक के पढ़ने में भाषावालों की भी रुचि होगी क्योंकि समग्र गद्य भाषा में है और संस्कृतवालों की भी रुचि होगी क्योंकि पद्य अधिकतर संस्कृत में हैं।'

—भूमिका, पृ० १८-२०

आधार

नाटक की कथावस्तु का आधार महाभारत का नलोपाख्यान ही है। इस नाटक में महाभारत की समस्त कथा को आद्यन्त देने का प्रयत्न किया गया है अतः इसका विस्तार अधिक हो गया है। महाकवि श्रीहर्ष के नैषधीयचरित से भी लेखक प्रभावित हुआ है। जहाँ-तहाँ उसकी छाया स्पष्ट प्रतीत होती है।

विवेचन

लेखक ने कथा के जिन अंशों को रंगमंच पर नहीं दिखाया है उनकी सूचना कथा के सूत्र को बनाए रखने के लिए अन्य पात्रों के कथोपकथन से दे दी है।

यह नाटक अति विस्तृत है। इसका अभिनय भी बड़ा कठिन रहेगा, क्योंकि बिना काँट छाँट किए तीन या चार घण्टे के समय की अवधि में इसका अभिनय समाप्त करना कठिन है। इसमें पद्यों की भाषा संस्कृत होने से भी इसके अभिनय में कठिनाई उपस्थित हो

सकती है। निःसन्देह संस्कृत के नाटकों में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का सम्मिश्रण रहता था, किन्तु जिस युग में वे नाटक लिखे गए हैं उसमें शिष्ट जनता दोनों भाषाओं को समझती थी। इसीलिए शास्त्रीय ग्रन्थों में मिश्रित भाषा का विधान किया गया है। आज के युग में यह स्थिति नहीं है। हिंदीविद आज का शिष्ट समाज संस्कृत को भी समझने की क्षमता रखता हो, यह आवश्यक नहीं और भारत के सुदूर दक्षिण एवं पूर्व के संस्कृतविज्ञ हिंदी भी अच्छी प्रकार समझते हों इसमें भी सन्देह है। नाटक के क्षेत्र में एक नई पद्धति के चलाने के उद्देश्य से लेखक ने इस नाटक के पद्यों की भाषा संस्कृत रखी है।

लेखक संस्कृत का विद्वान है अतः नाटक की भाषा परिमार्जित है। अभिनेयता की अपेक्षा इसमें पठनीयता अधिक है।

द्यूत का भूत[1]

ब्रह्मदत्त शास्त्री का 'द्यूत का भूत' अथवा 'नल दमयन्ती नाटक' एक सुपरिष्कृत भाषा और शैली का तीन अंकों का नाटक है। इसके कथोपकथन भी रोचक हैं।

आधार

इस नाटक की कथा के आधार महाभारत का नलोपाख्यान और महाकवि हर्ष का नैषधीय चरित है। दमयन्ती स्वयंवर पर्यन्त की समस्त कथा नैषधीय चरित के आधार पर है एवं शेष कथा का आधार नलोपाख्यान है। यह नाटक पढ़ने में भी रोचक है।

दमयन्ती स्वयंवर[2]

पण्डित बालकृष्ण भट्ट का दमयन्ती स्वयंवर परिमार्जित भाषा एवं शैली का एक सुन्दर नाटक है। यह नाटक लिखा तो बहुत पहले गया था किन्तु ग्रन्थ रूप में इसका प्रकाशन हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने १९९९ वि० में कराया। यह नौ अंकों का बड़ा नाटक है। इस नाटक के लेखक श्री भट्टजी महाकवि श्रीहर्ष के नैषधीय चरित से अत्यधिक प्रभावित हैं। इस नाटक के नाम को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें स्वयंवर तक की ही कथा होगी। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इसकी कथा परमानन्द लिखित दमयन्ती स्वयंवर नाटक के समान है। नल चरित की समस्त कथा इसमें आ गयी है।

---

१ प्रकाशक—गयाप्रसाद एण्ड सन्स आगरा प्रथम सं० १९८४ वि० (१९२७ ई०)

२ प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्रथम सं० १९९९ वि० (१९४२ ई०)

आधार

दमयन्ती के स्वयंवर प्रसंग की कथा के लिए तो लेखक का आधार नैषधीय चरित रहा है और इसके अनन्तर शेष के लिए महाभारत का नलोपाख्यान है, क्योंकि नैषधीय चरित स्वयंवर के उपरान्त दम्पती के वैवाहिक जीवन की झलक दिखाकर समाप्त हो जाता है। स्वयंवर के नाटक भाग पर भाषा और भावों की दृष्टि से नैषधीय चरित का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। अनेक स्थलों पर तो ऐसा लगता है कि नैषधीय चरित के संस्कृत श्लोकों का हिन्दी में अनुवाद करके उन्हें नाटकीय रूप दे दिया है। उदाहरण के लिए, जिस समय नल हंस को पकड़ लेता है उस समय हंस राजा से कहता है—

"यह वसुधा अब बसने योग्य नहीं है जिसके तुम ऐसे अन्यायी राजा हो। हे नृप, तुम्हें धिक्कार है जिसका मन तृष्णा से ऐसा चंचल हो रहा है कि तुम इस पक्षी के सोने के पंख पर लुभा उठे। इतने स्वर्ण से तुम्हारी कितनी सम्पत्ति बढ़ जाएगी? राजा, यह हंस तुम्हें पुण्यश्लोक समझ तुम्हारे विश्वास पर था, इससे इसके वध में केवल जीवहिंसा ही का पाप नहीं है वरन विश्वासघात का पातक भी है। क्या तुम्हें कहीं उद्भट योद्धा नहीं मिलते जिनके साथ तुम अपनी वीरता का प्रकाश करो? मुनियों की सी वृत्ति धारण किए हुए फूल सेवार और कमलों की नाल से अपना जीवन निर्वाह करनेवाले इन पक्षियों पर भी तुम अपना अधिकार प्रकट करते हो? मां इसकी बुढ़िया है और हाल की प्रसूता हंसिनी जो परम साध्वी और पतिव्रता है उन दोनों का पालन पोषण इसी के अधीन है। हे निर्दयी विधाता, ऐसे पर भी प्रहार करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती?"[1]

नैषधीय चरित में सम्बद्ध प्रसंगों के पद्यों से इस गद्य भाग की तुलना करके देखने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा—

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।[2]

और— धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवार्णवस्येव तुषारसीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥[3]

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥[4]

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ।
धिगीदृशं ते नृपते कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥[5]

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥[6]

---

१ दमयन्ती स्वयंवर बालकृष्ण भट्ट पृ० ७८
२ नैषधीय चरित १ १२८
३ वही १ १३०
४ वही १ १३१
५ वही १ १३२
६ वही १ १३३

मदेक पुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिवरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेव जमस्तमदय नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो ॥[1]

'राजा—पक्षिराज, तुम सुख से प्रयाण करो। मैंने तुम्हारा रूप देख लिया, जिसलिए मैंने तुम्हें पकड़ा था।[2]

इत्यमम् विलपतममुच्छी नदयालुतयावनिपाल ।
रूपमदर्शि धतोऽसि यदय गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥[3]

इन्द्र—राजन तुम्हारी कुशल हो। तुम्हारे रूप और आकृति से बोध होता है कि जगत उजागर वीरसेनात्मज पुण्यश्लोक राजा नल तुम्ही हो। तुम्हें पाय हम लोग अपना मनोरथ सिद्ध हुआ समझते हैं। यह नैषधीयचरित के—

सवत कुशलवानसि कच्चित्तव स नैषध इति प्रतिभा न ।
स्वासनाधसुहृदस्त्वयि रेखा वीरसेन नपतरिव विद्म ॥—५, ७४

इस श्लोक का भावानुवाद मात्र है। केवल दो तीन शब्दों का ही अन्तर है।

'नल—क्या संसार में ऐसे भी पदार्थ हैं जो देवताओं को भी दुर्लभ हों और मैं इनके लिए सम्पादन कर सकूँ। मैं क्योंकर जानूँ कि इन सबों को कौन सी बात की चाह है, उसे बिना मांगे ही पूरी कर दूँ क्योंकि ऐसे दानी को धिक्कार है जो मांगने वाले के बाहरी आकार और मुद्रा से जान गया है कि वह अर्थी है फिर भी यही प्रतीक्षा कर रहा है कि मुँह खोलकर मांगे उसे हम दें।'

इस नाटक की इन पंक्तियों की तुलना निम्नांकित नैषधीयचरित की पंक्तियों से की जा सकती है—

दुर्लभ दिगधिप किममीभि
स्तादृश कथमहो मदधीनम ।—५, ८०
मीयता कथमभीप्सितमेषा दीयता कथमयाचितमेव ।
त धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसर सहते य ॥—५, ८३

विवेचन

यह सम्भव है कि भट्टजी ने नैषधीय चरित को सामने रखकर नाटक के समापण न लिखे हों। किन्तु यह बात निर्विवाद है कि नैषधीय चरित का अनेक बार पारायण करने से भट्टजी के मस्तिष्क और वाणी में वह आत्मसात हो गया है कि जाने अनजाने नाटक के संवाद नैषधीय चरित की छाया में बनकर रह गए हैं।

भट्टजी के इस नाटक के सम्बन्ध में दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि एक उच्चकोटि के साहित्यकार होते हुए भी उन्होंने इसके संवाद और स्वगत अति विस्तृत कर दिए हैं जो दर्शकों के लिए उबाने देने वाले बन गए हैं। इसलिए इस नाटक में अभिनयता की

1 नैषधीयचरित १ १३६
2 बालकृष्ण भट्ट नलदमयन्ती स्वयंवर प्र हिन्दी सा० सम्मेलन प्रकाशन सं० १९६६
3 नैषधीय चरित १ १४३

अपेक्षा पाठ्यरूपता अधिक है। संस्कृत न जाननेवाला व्यक्ति इसे पढ़कर इसकी सुपरिष्कृत भाषा और चमत्कृत संवादों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

नल दमयन्ती[1]

दुर्गाप्रसाद गुप्त का लिखा तीन अंकों का यह एक थियेट्रिकल शैली का नाटक है परन्तु इसकी भाषा सामान्यतया कुछ सुधरी हुई है। इसकी कथा का आधार महाभारत की कथा है। इसमें मूल कथा की सभी घटनाएँ स्वयंवर से लेकर राजा नल के पुनः जुआ खेलकर पुष्कर से अपना राज्य प्राप्त कर लेने तक की, मंच पर दिखाई गई है। कलि और द्वापर को भी मानवीय रूप में रंगमंच पर दिखाया गया है। ये दोनों पुष्कर को प्रलोभन देकर नल के विरुद्ध उकसाते हैं। इन्हीं के सम्मिलित प्रयत्न से नल को विविध कष्टों का सामना करना पड़ता है।

इस नाटक का एकमात्र उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करना है, अतः रोचकता लाने के लिए महाभारत की मूलकथा में कहीं कहीं कुछ परिवर्तन भी किए गए हैं।

नल-दमयन्ती[2]

डा० लक्ष्मणस्वरूपजी का लिखा यह तीन अंकों का सर्वथा मौलिक नाटक है। हिन्दी में इस कथानक पर इस प्रकार का यह स्तुत्य प्रयत्न है।

आधार

कथानक का मुख्य आधार तो महाभारत का प्रसिद्ध नलोपाख्यान ही है, किन्तु उसे आधुनिक एवं बुद्धियुक्त वैज्ञानिक रूप देने के लिए लेखक ने भूमिका में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

महाभारत में वर्णित नल दमयन्ती की कथा में कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जो आजकल के शिक्षित समुदाय को खटकती हैं और उनको अप्राकृतिक या अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं जैसे पक्षिराज हंस का नल और दमयन्ती के साथ संस्कृत में वार्तालाप करना। इस नाटक में ऐसी घटनाओं को नहीं रखा गया। महाभारत में दूत का कार्य पक्षी करता है। अपने नाटक में दूत का कार्य मैंने एक व्यापारी द्वारा करवाया है और महाभारत की कथा का अध्यास रहने देने के विचार से उस व्यापारी का नाम हंस रख दिया है।

—लेखक की भूमिका—पृ० ७

---

१ प्रकाशक—उपन्यास बहार आफिस काशी तृतीय संस्करण।

२ प्रकाशक—एम० चाँद एण्ड कम्पनी देहली लाहौर।

कथा का नाटकीकरण करते समय महाभारत की मूल कथा को यथावर्णित रूप में ही न लेकर जहाँ-तहाँ परिवर्तन किये हैं। महाभारत में यह कथा छब्बीस अध्यायों में बड़े विस्तार में वर्णित है। नाटकों में मुख्य कथा के सूत्र को तो यथासम्भव बनाये रखा गया है किंतु अप्रधान प्रसंगों का प्रायः त्याग कर दिया गया है। इसके साथ ही प्रत्येक नाटककार का लक्ष्य एवं प्रस्तुत करने की पद्धति भिन्न भिन्न रही है। समय के प्रवाह के साथ नाटक के मानदण्ड लेखक की विचारधारा एवं दर्शक-पाठकों की रुचि में भी परिवर्तन हुआ है।

इन नाटकों के तिथिक्रम से अध्ययन करने पर परिवर्तन की दिशा को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ ही यह द्रष्टव्य है कि नाटककारों को संस्कृत के महाकवि श्रीहर्ष के नैषधीय चरित महाकाव्य ने भी अत्यधिक रूप में प्रभावित किया है। कुछ नाटककारों ने तो नैषधीय चरित को ही आधार बनाकर उसका नाटकीकृत रूप प्रस्तुत किया है। श्रीहर्ष के नैषधीय चरित की कथा का भी मुख्य आधार यद्यपि महाभारत का नलोपाख्यान ही है तथापि कवि की कल्पना ने उसमें पर्याप्त परिवर्तन किये हैं। नैषधीय चरित में दमयन्ती स्वयंवर के उपरान्त नल और दमयन्ती के सुखमय वैवाहिक जीवन पर्यन्त की ही कथा है। कवि ने प्रधान नायक का पुष्कर के साथ द्यूत एवं उसके परिणामस्वरूप राज्यत्याग तथा उसके पश्चात् विविध प्रकार के कष्टों को नहीं दिखाया है अर्थात् महाभारत के नलोपाख्यान के केवल पूर्वार्ध की कथा को ही नैषधीय चरित में लिया गया है। उत्तरार्ध में नायक के अनुरूप एवं कष्टों का चित्रण होने से उसे सर्वथा त्याग दिया गया है। इसीलिए नैषधीय चरित पर आधारित हिन्दी के नाटकों में भी नल की कथा के पूर्व भाग का ही समावेश हुआ है।

सावित्री-सत्यवानचरित्र

सावित्री एवं सत्यवान् की कथा को आधार बनाकर हिन्दी में बहुत से नाटकों की रचना हुई है। कुछ उपलब्ध नाटक एवं उनके लेखक इस प्रकार हैं—

१ सती प्रताप   भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र
२ नाटक सावित्री   बाबू कन्हैयालाल
३ सावित्री नाटक   लाला दयाराम
४ सावित्री नाटिका   बाबू बाँके बिहारी लाल
५ सावित्री-सत्यवान्   बाबू गंगाप्रसाद अरोड़ा
६ सावित्री-सत्यवान   कृष्णप्रसाद श्रीवास्तव

सती प्रताप[1]

सावित्री के कथानक से [illegible] नाटकों में सबसे पूर्व का भारतेन्दु का सती प्रताप है।

---

1 [illegible] प्रकाशन संवत् १९६२
(भारतेन्दु का [illegible] १९६ [illegible] १ [illegible])

इस कथानक पर इससे पूर्व, यदि अन्य कोई नाटक हिंदी में लिखा भी गया होगा, तो अब प्राप्त नहीं है अतः जब तक कोई अन्य प्राचीनतर नाटक उपलब्ध न हो जाए, सती प्रताप को ही, हिन्दी का प्रथम नाटक स्वीकार करना चाहिए। इस नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है—

कथासार

नाटक का प्रारम्भ एक टीले पर बैठी तीन अप्सराओं के गान से होता है। ये तीनों तीन गीत गाती हैं। तीनों गीतों में पतिव्रता नारियों का स्मरण एवं पातिव्रतधर्म की प्रशंसा की गयी है। अगला दृश्य तपोवन का है। कुमार सत्यवान एक वनाभ्यन्तर में ध्यान मग्न बैठा है। इसी समय सावित्री अपनी तीन सखियों (सुरबाला, लवंगी एवं मधुकरी) के साथ उस ओर आ निकलती है। सखियों के गान से सत्यवान का ध्यान टूट जाता है। सावित्री और सत्यवान एक-दूसरे को देखकर परस्परानुरक्त हो जाते हैं। सखियाँ सत्यवान का परिचय प्राप्त करती हैं। सावित्री राजमहल में आकर अपने मनोवांछित वर, सत्यवान के स्तर पर अपने को रखने के लिए, जोगिया वेश धारण कर लेती है। सावित्री की सखियाँ उसके माता पिता को दोनों के परस्परानुराग की सूचना दे देती हैं किन्तु वे सत्यवान की स्थिति को जानकर उससे सावित्री का विवाह करने के लिए उत्सुक नहीं होते।

उधर वन में सत्यवान के पिता द्युमत्सेन कुछ ऋषियों से बातचीत करते हुए अपने धन-वैभव के नष्ट हो जाने से इसलिए दुःखी हैं कि वे अब दूसरों की सहायता नहीं कर सकते एवं धन के अभाव में बन्धुजनों ने उन्हें त्याग दिया है। गणक लोगों के कथनानुसार पुत्र सत्यवान की अल्पायुष्यता भी उन्हें अति खेद है और इसीलिए वे सत्यवान का विवाह सावित्री से करने के लिए इच्छुक नहीं हैं। इसी बीच नारदजी आते हैं और उन्हें सांत्वना देकर कहते हैं 'आज हम तुमको एक अति शुभ संदेश देने आए हैं। तुम्हारे पुत्र का विवाह-सम्बन्ध हम अभी स्थिर किए आते हैं। सावित्री के पिता को भी समझा आये हैं कि उनकी कन्या सावित्री अपने उज्ज्वल पातिव्रत्य धर्म के प्रभाव से सब आपत्तियों का उल्लंघन करके सुख पूर्वक कालयापन करेगी।' नारदजी के बीच में पड़ने से दोनों का विवाह हो जाता है।

इसके पश्चात एक दिन पिता के अग्निहोत्र के हेतु लकड़ी काटने के लिए सत्यवान वन में जाता है। पीछे-पीछे सावित्री भी उसका अनुसरण करती है। वन में सत्यवान उसे अचेत अवस्था में मिलता है। वह सारी परिस्थिति समझ जाती है। यम के दूत सत्यवान के प्राणों को लेने के लिए आते हैं किन्तु सती के सतीत्व की दाहक परिधि को वे तोड़ नहीं पाते। विवश होकर वे यमराज को परिस्थिति की सूचना देते हैं। यम स्वयं ही घटना स्थल पर उपस्थित होते हैं और सत्यवान के शरीर के पास जाकर उसके प्राणों को खींचने के लिए पास जाना चाहते हैं किन्तु आग्रह करने पर भी सावित्री उसके पास से हटती नहीं है और उसके वहाँ से हटे बिना सत्यवान के शरीर को हाथ लगाने की शक्ति यम में भी नहीं है। सत्यवान के अतिरिक्त और कुछ भी माँगने के लिए वे उससे कहते हैं। सावित्री अपने वृद्ध सास ससुर की आँखों की नष्ट ज्योति माँग लेती है और इसके पश्चात यम के अनुरोध से वहाँ से हट जाती है। यमराज सत्यवान के प्राणवायु को लेकर चल देता है, किन्तु सावित्री

उसका अनुसरण करती जाती है। बहुत दूर चल जाने पर अनुरोध करने पर भी जब सावित्री नहीं लौटती है तो सत्यवान के अतिरिक्त कुछ और माँगने के लिए एक वर यमराज और देते है। सावित्री, इस वार शत्रुओं द्वारा छीना हुआ अपने ससुर का राज्य माँग लेती है परन्तु यम का अनुसरण वह अब भी करती चली जाती है। यम पुनः सत्यवान के अतिरिक्त कुछ और मांगने के लिए तीसरा वर देता है। इस बार सावित्री सत्यवान से सौ पुत्र माँगती है। यम वचनबद्ध होने के कारण और सावित्री की पतिनिष्ठा से प्रसन्न होकर सत्यवान को पुनः जीवित कर देता है। देवर्षि नारद पधार कर, सावित्री की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।

आधार तथा विवेचन

महाभारत के वनपर्व 'सावित्र्युपाख्यान' में सावित्री और सत्यवान की कथा बड़े विस्तार से कही गयी है।[1] भारतेन्दुजी की नाटिका में महाभारत की कथा का सर्वांश में अनुसरण नहीं किया गया है। सन्तान प्राप्ति के लिए अश्वपति की तपस्या, सावित्री के वर दान के रूप में कन्या सावित्री का जन्म, युवती होने पर योग्य वर न मिलने के कारण पिता की चिन्ता और अपने लिए स्वयं ही वर खोजने के लिए पिता का आदेश आदि का विवरण महाभारत में है उनका यहां कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इसी प्रकार सत्यवान के पिता राजा द्युमत्सेन के राज्य एवं दृष्टि विनाश आदि का भी यहाँ कोई विवरण नहीं दिया गया है। इन सब विवरणों के अभाव का एक कारण तो यह प्रतीत होता है कि यह नाटक छोटा है। सम्भवतः किसी विशेष उद्देश्य को दृष्टि में रखकर इसकी रचना की गयी है अतः परम आवश्यक एवं अनिवार्य विवरणों का ही इसमें समावेश किया गया है। दूसरा कारण यह भी सम्भव है कि पूरी पुस्तक की रचना भारतेन्दु जी की लेखनी से नहीं हुई है। इसका आधा भाग ही उनका रचा हुआ है। शेष आधा भाग बाबू राधाकृष्ण दास ने बाद को पूरा किया है।[2] अतः उन घटनाओं एवं विवरणों को जान बूझकर छोड़ दिया गया होगा जो अत्यन्त आवश्यक प्रतीत न हुए हों। जो कुछ हो आज नाटिका जिस रूप में हमारे सामने है उसी को लेकर हम विचार करना है।

सती प्रताप में यम के तीन वरों का ही उल्लेख है। महाभारत की कथा में ये वर चार हैं। प्रथम में सावित्री अपने श्वसुर की आँखों की नष्ट ज्योति माँग लेती है—

च्युतः स्वराज्याद् वनवासमाश्रितो विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे।
स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृपस्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसन्निभः ॥[3]

अर्थात् मेरे श्वसुर अपने राज्य से भ्रष्ट होकर वन में रहते हैं। उनकी आँखें भी नष्ट हो गयी हैं। आपकी कृपा से उनकी आँखें मिल जाएँ और वे आपकी कृपा से बलवान एवं अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी हो जाएँ।

---

१ महाभारत अध्याय २९३ से २९९ तक पृ० १७७१-१७६७ गीताप्रेस गोरखपुर सं०
२ भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग प्रकाशक—रामनारायण लाल इलाहाबाद प्रथम संस्करण १९९२ वि० पृष्ठ ५९४
३ महाभारत वनपर्व अध्याय २९७ श्लोक २९

सती प्रताप म सावित्री प्रथम वर मे अपने बूढे सास-ससुर की दोना आखें मागती हैं—

"महाराज मेरे बूढे सास ससुर की आँखें जाती रही हैं सो कृपा करके दें।"[1]

महाभारत की कथा मे केवल सत्यवान के पिता द्युमत्सेन की ही आखो के नष्ट होने का उल्लेख है माता की आखो का नही।[2] इसके अतिरिक्त सती प्रताप मे यम ने प्रथम वर सत्यवान के प्राण लेकर प्रस्थान से पूर्व ही सावित्री को उसके पास से हटाने के लिए दिया है। महाभारत की कथा म, वरा का क्रम यम के पीछे पीछे जाती हुई सावित्री को लौटाने के लिए वाद का प्रारम्भ होता है।

द्वितीय वर से सावित्री अपने श्वशुर का हृत राज्य मागती है। यह महाभारत की कथा के समान है। ततीय म अपने लिए सत्यवान से सौ पुत्र मागती है—

महाराज मेरे श्वशुर—कुल म वश चलाने वाला कोई नही है इससे मुझे यह वर दीजिए कि सत्यवान से मुझे एक सौ लडके हो।"[3]

परन्तु महाभारत म, ततीय वर से सावित्री अपने पिता के लिए सौ पुत्रो की याचना करती है—

ममानपत्य पृथिवीपति पिता भवेत पितु पुत्रशत तथौरसम।
कुलस्य सन्तानकर च यद भवेत ततीयमेतद वरयामि ते वरम॥[4]

अर्थात मेरे पिता महाराज अश्वपति सन्तानहीन हैं, उन्हे सौ औरसपुत्र प्राप्त हो जो उनके कुल की परम्परा को चलाने वाले हो मैं आपसे यही तीसरा वर मागती हूँ।

सावित्री ने सती प्रताप म जो 'ततीय वर' मागा है, वह महाभारत के क्रम म चतुर्थ है। महाभारत के ततीय वर का उल्लेख सती प्रताप म नही हुआ है।

वरो के इस विवरण के अतिरिक्त सती प्रताप की शेष घटनाओं एव विवरणो का महाभारत की कथा के साथ कही विरोध नही है।

सावित्री और सत्यवान की यह कथा महाभारत के वनपर्व के अतिरिक्त निम्नलिखित स्थलो पर भी उपलब्ध होती है—

देवी भागवत पुराण[5] ब्रह्मवैवर्त पुराण[6] विष्णुधर्मोत्तर पुराण[7], तथा मत्स्य पुराण[8]।

देवीभागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराणो म कथा का विस्तार अधिक है। देवीभागवत म तेरह और ब्रह्मवैवर्त म बारह अध्यायो म कथा कही गयी है। श्लोक संख्या भी इन दोनो की क्रमश नौ सौ बीस तथा नौ सौ पचास है। दोनो के श्लोक भी लगभग समान ही हैं। देवी

---

१ भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग पृष्ठ ६ ८
२ आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रिय पृथिवीपति।
द्युमत्सेन इति ख्यात पश्चादन्धो बभूव ह॥—महाभारत वनपर्व २९४ ७
३ भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग पृष्ठ ६०९
४ महाभारत वनपर्व, अध्याय २९७ श्लोक २८
५ देवीभागवत स्कन्ध ९ अ २६ २८ वाराणसी १९५६ ई० (पण्डित पुस्तकालय) पृ० ६४१ ६७८
६ ब्रह्मवैवर्त प्रथम खण्ड (आनन्दाश्रम) १९३५ अध्याय २३ ३४ पृ० १६६ २०९
७ विष्णुधर्मोत्तर खण्ड २ अ ३६ ४१ पृ० १९८ २ २ (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस) बम्बई स० १९६६
८ मत्स्य पुराण अ २०८ २१४ पृ० ६०८ ६१५ (गुरुमण्डल ग्रन्थमाला), कलकत्ता १९५४)

भागवत में कथा का आरम्भ—

सुरापुराण्याननिद श्रुत कामिगुणोत्तमम् ।
सत सावित्र्युपाख्यान तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥
पुरा केन समुद्भूता सा श्रुता च श्रुते प्रभु ।
केन वा पूजिता लोके प्रथमे कल्प वा परे ॥

पंक्तियों के साथ नारायण से नारद के प्रश्नानुसार किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी नारायण से नारद के प्रश्न के साथ—

सुतस्पुराण्यानमिद श्रुतमोत गुणोत्तमम् ।
यत् सावित्र्युपाख्यान तन्म व्याख्यातुमर्हसि ॥
पुरा येन समुद्भूता सा श्रुता च श्रुतिप्रसू ।
येन वा पूजिता देवी प्रथमे कल्प वा परे ॥

इन पंक्तियों से कथा का आरम्भ किया गया है। दोनों कथाओं के वक्ता और प्रश्नकर्ता ही हैं तथा श्लोक भी समान हैं। कुछ ही शब्दों में साधारण-सा अन्तर है। इस आरम्भ के श्लोकों के बाद के जो श्लोक हैं वे भी प्राय मिलते जुलते हैं। दोनों पुराणों में पुत्र की कामना से राजा अश्वपति भगवती सावित्री को प्रसन्न करने के लिए पुष्कर तीर्थ पर दस लाख गायत्री का जप एवं यज्ञ करता है। प्रसन्न होकर सावित्री राजा को प्रथम कन्या प्राप्त करने का वर इसलिए देती है कि राजा की पत्नी कन्या चाहती है। सन्तति के विषय में नारी की अभिलाषा का एक नारी द्वारा पूर्ण किया जाना स्वाभाविक है—

जानाम्यहं महाराज यत्ते मनसि वांछितम् ।
वांछितं तव पत्न्याश्च सर्वं दास्यामि निश्चितम् ।
साध्वी कन्याभिलाषं च करोति तव कामिनी ।
त्वं प्रार्थयसि पुत्रं च भविष्यति क्रमेण च ॥
इत्युक्त्वा सा तदा देवी ब्रह्मलोकं जगाम ह ।
राजा जगाम स्वगृहं तत्कन्याऽऽदौ बभूव ह ॥

—देवी भागवत ९ २७ ३ ५ ब्र० वै० भाग १ २४ ३ ५

प्रजापति वैवस्वत मनु के पुत्रेष्टि यज्ञ में परिणामविपर्यय इसीलिए होता है कि उनकी पत्नी श्रद्धा कन्या की कामना करती है।[1] परन्तु मत्स्य पुराण के आख्यान में कन्या का वरदान देने में विशिष्ट हेतु का उल्लेख नहीं है—

राजन् भक्तोऽसि मे नित्यं दास्यामि त्वां सुतां सदा ।
तां दत्तां मत्प्रसादेन पुत्रीं प्राप्स्यसि शोभनाम् ॥[2]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में प्रदत्त कन्या द्वारा भविष्य में बहुत से पुत्र प्राप्त कर लेने का आश्वासन दिया गया है—

---

१ भागवत स्कन्ध [illegible] अ० १ श्लो ११४२
२ मत्स्य पुराण अध्याय २ ७ ८

राजन भक्तोऽसि मे नित्य प्राप्स्यसे तनया शुभाम।
मद्दत्ता यत्प्रसादाच्च पुत्रान प्राप्स्यसि शोभनान॥[1]

महाभारत की[2] कथा म तो राजा को कुछ भी बोलन का निषेध ही कर दिया गया है—

पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिम तव।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो व भगवास्ते पितामह॥
प्रसादाच्चव तस्मात्ते स्वयम्भुविहिताद भुवि।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥
उत्तर न च ते किंचिद व्याहतव्य कथचन।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतव ब्रवीमि ते॥

ब्रह्मववत और देवीभागवत पुराणा म सत्यवान क साथ सावित्री के विवाह के एक वप पश्चात भी उसकी वयस बारह वप बतायी गयी है—

कन्या द्वादश वर्षीया वत्से त्व वयसाऽधुना।
ज्ञान ते सवविदुषा योगिना ज्ञानिना परम॥[3]

इन दोना पुराणा म भाग के अध्याया म शुभाशुभ कर्मों क विपाकस्वरूप मत्यु के उपरान्त मनुष्य का मिलने वाले फल स्त्री पुष्पो के मामाजिक कतव्या, एव अन्य आध्यात्मिक तत्त्वो की जो चर्चा हुई है, वह समान है। दोना का पाठ भी प्राय समान है। ऐसा प्रतीत होता है कि दवीभागवत क रचियता (सकलनकर्ता) न ब्रह्मववत पुराण म सावित्र्युपाख्यान के कथाभाग को ज्या-का-त्या उठाकर रख दिया है क्योंकि इन दोना पुराणा म सम्भवत काल क्रम की दृष्टि स ब्रह्मवैवर्त की रचना पहले हुई है।

इसी प्रकार मत्स्य एव विष्णुधर्मोत्तर पुराणा म सावित्री सत्यवान की कथा का जो रूप दिया हुआ है वह एक-दूसर से मिलता-जुलता है। दोना की श्लोक सख्या भी समान है, केवल तीन श्लोका का अन्तर है। मत्स्य पुराण म एक सौ पचहत्तर श्लोक हैं और विष्णु धर्मोत्तर म एक सौ बहत्तर। मत्स्य पुराण की गणना अठारह प्रमुख पुराणा म की गयी है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण की गणना यद्यपि मुख्य अठारह पुराणा म नहीं की गयी है तथापि यह एक महत्त्वपूण पुराण है, इसम सन्देह नहीं। इन दोनों पुराणा म यद्यपि दवीभागवत और ब्रह्मववत पुराणा के समान कथा का अति विस्तार नहा है फिर भी कथा का कोई भी सम्बद्ध अश छूटा नहीं है।

महाभारत म सावित्री की कथा एक विशेष प्रसग म आयी है।[4] जुए म हार जान पर पण के अनुसार अपने भाइया के साथ महाराज युधिष्ठिर को वनवास भोगना पड रहा है। वहाँ वे अपनी हीन दशा पर अति दुखित हो जाते है। ऐसे ही समय पर महर्षि मार्कण्डेय

१ विष्णुधर्मोत्तर पुराण खण्ड २ अ० ३६ ६
२ महाभारत वनपर्व अ० २९३ १९ १८
३ ब्रह्मववत भाग १ अ २६ २ देवी भागवत स्कन्ध ६ अ० २६ २
४ महाभारत वनपव अ० २९३ २९९

उन्हें, उनसे भी अधिक विपन्न महाराज नल और राम की कथा सुनाकर, शोकमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। आश्वस्त होकर महाराज युधिष्ठिर कहते हैं कि 'मुझे अपने लिए, अपने भाइयों के लिए तथा अपने छिने राज्य के लिए उतनी चिंता नहीं है, जितनी इस द्रुपद पुत्री के लिए है। क्या आपने किसी ऐसी सौभाग्यवती पतिव्रता स्त्री को पहले कभी देखा या सुना है जैसी द्रौपदी है ?

महाराज युधिष्ठिर के इस प्रश्न के पश्चात् महर्षि मार्कण्डेय ने पतिव्रताओं में अग्रगण्य सावित्री की पावन कथा पाण्डवों को सुनायी है—

शृणु राजन् कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर ।
सर्वमेतद् यथाप्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया ॥[1]

इसके पश्चात् महाभारत में वर्णित जो कथा सुनायी गयी है वह भारत के हिन्दू मात्र के घर की वस्तु है। यहाँ की यह कथा वनपर्व के सात अध्यायों और तीन सौ दो श्लोकों में कही गयी है। इसका विस्तार मत्स्य एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराणों के कथाल्प से अधिक है और ब्रह्मवैवर्त तथा देवीभागवत पुराणों के रूप से कम। यहाँ की कथा अन्त के इन दोनों पुराणों की कथा की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं प्रवाहयुक्त है। वहाँ उपदेश का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि कथा कुछ अवरुद्ध भी प्रतीत होती है। महाभारत की कथा में मद्रदेश के राजा अश्वपति ने सन्तान के लिए प्रतिदिन एक लाख गायत्री से हवन करके दिन के छठे भाग में परिमित भोजन करते हुए अठारह वर्ष पर्यन्त कठोर तपस्या की। इसके बाद प्रसन्न हुई भगवती सावित्री के वर माँगने के लिए कहने पर राजा ने 'मेरे बहुत से पुत्र हों' प्रार्थना की। सावित्री ने कहा 'तुम्हारी इच्छा को जानकर मैंने पहले ही ब्रह्माजी से पुत्र के लिए कहा था। उनकी कृपा से तुम्हें शीघ्र ही एक तेजस्विनी कन्या प्राप्त होगी। तुम उत्तर में अब और कुछ न कहना।' यहाँ अश्वपति के यहाँ इतनी कठोर तपस्या के उपरान्त पुत्र की कामना करने पर भी ब्रह्मा की इच्छा से कन्या ही प्राप्त होती है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है ब्रह्मवैवर्त और देवीभागवत पुराणों में कन्या की उत्पत्ति का कारण रानी की इच्छा को माना गया है। युवती होने पर सावित्री इतनी तेजस्विनी थी, कि कोई राजकुमार उसके तेज से अभिभूत हो उसका वरण नहीं कर सका—

तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ॥[2]

इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत में स्थान प्राप्त करने से पूर्व यह आख्यान जिस प्रदेश में प्रचलित था वहाँ युवकों द्वारा कन्या के वरण की प्रथा रही होगी।[3] सावित्री के पिता अश्वपति बहुत समय तक इसी प्रतीक्षा में रहे कि कोई राजकुमार स्वयं ही आकर उनकी कन्या का वरण करे। प्रचलित प्रथा के अनुसार जब ऐसा नहीं हुआ तो कन्या के निखरते यौवन ने पिता को चिन्ता में डाल दिया। विवश होकर उन्होंने पुत्री को स्वयं ही

---

१ महाभारत वनपर्व अध्याय २६३।
२ वनपर्व २६ २७
३ उत्तरप्रदेश के उत्तराखण्ड में अब भी यह प्रथा प्रचलित है।

पति खोजन के लिए आदेश दिया ।[1] और उसने सत्यवान को चुना । महाभारत के समय म क्षत्रिय राजाओं म स्वयवर की प्रथा प्रचलित थी । पिता क्षत्रिय युवकों का विशेष समारोह म आमन्त्रित करता था और कन्या उनम स वाञ्छित वर का वरण करती थी । काशीराज एव द्रुपद ने ऐसा ही किया था । इसलिए यह स्पष्ट है कि इस आख्यान का मौलिक सम्बन्ध किसी प्रदेश विशेष से रहा होगा । इसकी प्रसिद्धि और निहित आदर्श म आकृष्ट होकर सग्रहकार ने महाभारत म इस एक विशिष्ट स्थान दिया है । महाभारत म स्थान प्राप्त करन के उपरान्त, महाभारत के साथ इसका सार्वभौम महत्त्व हो गया और कवियों, लेखकों एव कलाकारों को इसने अपनी ओर आकृष्ट किया ।

इस आख्यान म सावित्री और यम का समापण बडे महत्त्व का है । यम सत्यवान के जीव अगुष्ठमात्रपुरुष अर्थात चैतन्ययुक्त सूक्ष्म शरीर को पाशबद्ध करके दक्षिण दिशा की ओर चल पडत हैं । दु खात सावित्री उनका अनुसरण करती है । यम सावित्री से बार बार लौट जान के लिए आग्रह करत है किन्तु वह लौटती नही अपनी सूक्ति समन्वित वाणी से यम को प्रभावित कर लेती है । यम सत्यवान के जीवन के अतिरिक्त कुछ भी माग लेन के लिए चार वर देत हैं । सावित्री प्रथम से श्वसुर की आखें, द्वितीय स श्वसुर का हृत राज्य ततीय से पिता के लिए सौ पुत्र और चतुर्थ स सत्यवान और अपन सयोग से सौ पराक्रमी पुत्र माँग लती है । वचनबद्ध यम उसके सभी वरों को पूर्ण करते के साथ सत्यवान को भी पुन जीवन-दान दे देत है ।

महाभारत के इस आख्यान क पाठक या श्रोता को, यम और सावित्री के कथोपकथन म यम द्वारा वरदान के प्रसग को पढकर या सुनकर, कठोपनिषद के नचिकेता एव यम के सवाद और वरों का स्मरण आ जाता है । सम्भव है, इन दोनो आख्यानो का विकास, समान देश एव समान परम्पराओं म हुआ हो । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल न दोनो आख्यानो की मूल भूमि मध्य पजाब को माना है ।[2]

शील सावित्री[3]

सावित्री के आख्यान पर रचित नाटकों म प्रकाशन के क्रम स द्वितीय नाटक बाबू कन्हैयालाल का शील सावित्री नाटक है । इसकी रचना उन्नीसवी शताब्दी के अतिम भाग म हुई है । इसकी रचना सामाजिक सुधार विज्ञापन स्त्री शिक्षा और उनके चरित्र के विकास

---

१ यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणाम् ।
अयाच्यमानां च वरै नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ॥ —वन०, २९३ ३१

२ भारत सावित्री पृष्ठ २१२ प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली प्र स १९५७

३ प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई स० १९५४ सन् १८९७ ई०

को दृष्टि में रखकर की गयी है। नाटककार ने अपने नाटक की भूमिका में तथा प्रस्तावना में अपनी रचना के उद्देश्य को अधिक स्पष्ट कर दिया है। प्रस्तुत नाटक संक्षेप में इस प्रकार है—

कथानक

नारद की सम्मति के अनुसार मद्र देश का राजा अश्वपति, अठारह वर्ष उपरान्त पुत्री सावित्री को प्राप्त करता है किन्तु उसके लिए योग्य वर प्राप्त करने में रहता है। उधर राजा द्युमत्सेन का नीतिज्ञानी मन्त्री एक नया राज्य स्थापित और राजा द्युमत्सेन को अंधा, राज्य और धन रहित करके राज्य की परिधि से बाहर देता है। सत्यवान की अनुपस्थिति में ही उसके लिए ऐसा करना सम्भव हुआ था सत्यवान बड़ा शक्तिशाली एवं प्रतापी राजकुमार था। सत्यवान वन में माता पिता निवास करता हुआ सावित्री के द्वारा देखा जाकर प्रेम के बन्धन में पड़ जाना नाटक की शेष घटनाएँ सती प्रताप नाटक के ही सदृश हैं। केवल वर सम्बन्धी प्रसंग अन्तर है यहाँ सावित्री चार वर माँगती है। अतिरिक्त वर में अपने पिता के लिए पुत्रों की कामना करती है।

आधार

यह नाटक सामान्यतया अपनी कथावस्तु के लिए महाभारत में वर्णित युपाख्यान का ही अनुगमन करता है परन्तु सन्तान प्राप्ति के लिए मद्र देश के अश्वपति ने जो अठारह वर्ष का तप किया है उसका एवं भगवती सावित्री तथा ब्रह्मा का कहीं उल्लेख नहीं है जिनकी कृपा से राजा को परम शीलवती कन्या प्राप्त है। युवती सावित्री पिता की आज्ञा से जिस समय पति खोजने के लिए निकलती समय नाटककार ने उसे महर्षि गौतम प्रभृति अनेक ऋषियों एवं मुनियों के आश्रमों है। महाभारत की मूल कथा में केवल राजर्षियों के रम्य आश्रमों का सामान्य रूप से है—

> सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता।
> तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ॥[२]

इसी प्रकार के और भी कुछ छोटे छोटे परिवर्तन हैं। परन्तु इनसे मुख्य कथा के प्र कोई प्रतिरोध उपस्थित नहीं हुआ है।

इस नाटक की भाषा परिष्कृत नहीं है।

---

१ नाटक के आरम्भ में लेखक की भूमिका पृ० १

२ महाभारत, वनपर्व, २९३ ३६

सावित्री नाटक[1]

प्रकाशन के क्रम से इस कथा पर आधारित तृतीय नाटक, लाला देवराज का सावित्री नाटक है। लालाजी ने यह नाटक आर्यसमाजी एवं सुधारक की दृष्टि से लिखा है अतः इस कथा पर लिखे गये अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें कुछ भिन्नता दिखायी देती है।

कथानक

इस नाटक के कथानक में अन्य नाटकों से अधिक भिन्नता न होते हुए भी नाटक के पात्र प्रस्तुतीकरण में पर्याप्त अंतर है। यहाँ सावित्री, सत्यवान और यम को एक भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। सत्यवान गुरु वाहन्य के आश्रम में परीक्षा के अवसर पर अपने शौर्य से यम को परास्त कर देता है। इसके पश्चात् यम के हृदय में सत्यवान के लिए वैर भाव बद्धमूल हो जाता है और वह प्रतिज्ञा करता है कि एक वर्ष के भीतर ही वह उसके प्राणों का हरण करेगा। सर्वप्रथम वह सत्यवान के पिता राजा द्युमत्सेन के राज्य का हरण करता है। राजा अपनी पत्नी और पुत्र के साथ वन में आश्रय लेता है। सत्यवान का सावित्री से विवाह होता है। एक दिन अवसर पाकर यम, अपने कुछ साथियों की सहायता से सत्यवान को वन से उठवा ले जाता है और एक पर्वत पर तलवार से उसकी हत्या करने का प्रयत्न करता है। सावित्री अपने बुद्धिकौशल से सत्यवान के प्राणों की रक्षा करती है।

आधार और विवेचन

नाटक की कथा का मूल तो महाभारत का वनपर्व ही है किन्तु नाटककार ने अपनी कल्पना के योग से, कथा के रूप में पर्याप्त अंतर कर दिया है। महाभारत का यमराज यहाँ एक मानव के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसके द्वारा सत्यवान के प्राणहरण के लिए भी हेतु की कल्पना की गयी है। पात्रों के नाम वही हैं किन्तु उनका स्वरूप तोड़मोड़कर बुद्धिसंगत रूप में लाने का प्रयत्न किया गया है। यह सारा प्रयास, युगों से चली आ रही कथा की पौराणिकता को दूर करने के लिए किया गया है किन्तु कथा के सभी खण्डों को एक सूत्र में लाना कुछ कठिन हो गया है। पूर्ण निर्वाह नहीं हो पाया है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि लालाजी ने सम्पूर्ण कथा को एक नयी दृष्टि से देखा है।

सावित्री नाटिका[2]

इस क्रम का चौथा नाटक बाबू बांकेबिहारी लाल की सावित्री नाटिका है। इसकी कथा का मूल स्रोत भी वही महाभारत का 'सावित्र्युपाख्यान' है। मुख्य कथा में यद्यपि

१ प्रकाशक पंजाब इकानामीकल यन्त्रालय जालंधर प्र० सं० १९१० ई०
२ प्रकाशक राजनीति यन्त्रालय, पटना सिटी प्र० सं० १९०८ ई०

कोई विशेष अन्तर नहीं है तथापि कुछ परिवर्तन तो नाटककार ने किए ही हैं। नाटक में परिवर्तन कुछ खटकता है। जब सावित्री यमराज से प्राण प्राप्त करके लौट भी नहीं पाती कि सास श्वसुर की दृष्टि तथा खोया हुआ राज्य लौट आती है तो यम के वरदान के साथ ही द्युमत्सेन को दृष्टि मिल जाती है और राज्य भी। वह अपनी पत्नी के साथ पुत्र-वधू के आश्रम को छोड़कर अपनी राजधानी में चला जाता है। वन में लकड़ी लेने गए हुए सत्यवान के लिए प्रातः से ही गए हुए अपने प्राणत्यागी पुत्र तथा पुत्रवधू के आश्रम में लौटने तक की भी प्रतीक्षा नहीं करता है। जब कुछ रात बीत जाने पर सावित्री और पुनर्जीवित सत्यवान अपने आश्रम में लौटते हैं तो आश्रम को सूना पाकर बड़ा विलाप करते हैं। कुछ समय के पश्चात् द्युमत्सेन का मन्त्री आकर सब समाचार सुनाता है और उन दोनों को अपने साथ राजधानी में ले जाता है।

माँ और अन्धा पिता अपने एकमात्र अवलम्ब आधार या इकलौते पुत्र का कोई भी समाचार जाने बिना अपनी राजधानी में राजगद्दी पर बैठने के लिए चल दिए, यह विस्मय का विषय है। उनका सबसे पहला कर्तव्य तो यह होना चाहिए था कि वे सत्यवान और सावित्री की वन में खोज करवाते। इस घटना ने दोनों के चरित्र को कलंकित कर दिया है। महाभारत की कथा में यह दोष उत्पन्न नहीं है। वहाँ ही राजा द्युमत्सेन को उसकी खोयी हुई दृष्टि पुनः प्राप्त होती है वह अपनी पत्नी के साथ सबसे पहले सत्यवान की खोज में ही चलता है। अपनी पत्नी के साथ सत्यवान को विविध आश्रम, वन, नदी तट और सरोवरों के किनारों पर खोजता फिरता है। यदि कहीं से भी कोई शब्द सुनायी देता तो वह यही समझता है कि सत्यवान और सावित्री आ रहे हैं। उन दोनों के पैरों में बिवाइयाँ पड़ जाती हैं और चरण रक्त से रंजित हो जाते हैं परन्तु फिर भी वे पागलों की तरह पुत्र के लिए इधर उधर रात्रि के अन्धकार में दौड़ते रहते हैं तथा पुत्र और वधू के लिए विलाप करते रहते हैं—

> ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्र दिदृक्षया।
> बाल्यवृत्तानि पुत्रस्य स्मरन्तौ भृशदुःखितौ॥
> पुनरुक्त्वाच करुणां वाचं तौ शोक कर्शितौ।
> हा पुत्र, हा साध्वि वधू क्वासि क्वासीत्यरोदताम्॥[1]

यह है महाभारत की कथा के माता और पिता का चित्र। दोनों में महान अन्तर है। यहाँ वात्सल्य की उमड़ती हुई नदी है। पुत्र का कहीं कुछ अनिष्ट न हो गया हो इस आशंका से उसमें करुणा का सम्मिश्रण कर दिया है जबकि नाटक में पुत्र और पुत्रवधू के मंगल की उपेक्षा करके राजसिंहासन के अधिकार को विशेषता दी गयी है। यह अस्वाभाविक है तथा मूल कथा के साथ न्याय भी नहीं है।

इसके अतिरिक्त कुछ छोटे छोटे परिवर्तन और हैं किन्तु उनसे मूलकथा की भावना एवं प्रवाह में अन्तर उपस्थित नहीं होता है।

---

१ महाभारत वनपर्व २९८.१६

सावित्री सत्यवान[1]

इस क्रम का पंचम नाटक बाबू गंगाप्रसाद अरोड़ा का 'सावित्री सत्यवान' है। लेखक ने नाटक लिखने का उद्देश्य प्रस्तावना में स्पष्ट कर दिया है—

'सूत्रधार—ठीक है आजकल के समय में ऐसे नाटकों की अधिक आवश्यकता है जिससे गर्ल्स स्कूल में ईसाई मेमों से शिक्षा पाने वाली लड़कियाँ विवाहित होने पर पति को मूर्ख और मनुष्य जाति को स्वार्थी समझकर पतिसेवा से विमुख भारत रमणी पतिभक्ति की शक्ति देखकर सावधान हो जाएँ और पश्चिमीय सभ्यता से पृथक् होकर पुनः आर्य महिला बनने की चेष्टा करें।'[2]

कथानक

इस नाटक की कथावस्तु बाबू कन्हैयालाल लिखित शील सावित्री नाटक के सदृश है।

आधार तथा विवेचन

नाटक की कथावस्तु का आधार तो यद्यपि महाभारत का सावित्र्युपाख्यान ही है किन्तु नाटककार ने अनेक स्थलों पर मूल कथा में परिवर्तन किये हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

१ मद्रदेश का राजा अश्वपति सन्तान प्राप्ति के लिए यहाँ देवर्षि नारद की प्रेरणा से तप करने के लिए वन में जाता है। महाभारत की कथा में इस प्रसंग में नारदजी का कोई उल्लेख नहीं है।

२ राजपुत्री सावित्री के युवती हो जाने पर माता पिता की आज्ञा से सबसे पहले पुरोहित उसके लिए योग्य वर खोजने के लिए भेजा जाता है। नाटक में यह आधुनिकता की पुट है। आधुनिक रीति से विशेषतः ग्रामीण समाज में ऐसी ही प्रथा प्रचलित थी कि पहले पुरोहित ही जाकर सम्बन्ध को पक्का कर देते थे। अब भी उत्तरप्रदेश के पूर्वीय जिलों के ग्रामीण हिन्दू परिवारों में यह रीति प्रचलित है। किन्तु महाभारत की मूल कथा में वर की खोज के लिए पुरोहित के भेजने का संकेत नहीं है। वहाँ तो राजपुत्री द्वारा सावित्री के लिए प्रार्थना न करने मात्र का ही उल्लेख है।

३ नाटक की कथा में सत्यवान के पिता मालव देश के राजा द्युमत्सेन को अन्धा करना और उसके राज्य का अपहरण उसके एक पुराने मन्त्री गजमर्दसिंह द्वारा बताया गया है। और यह भी कि सत्यवान उस समय तक अपनी शूरता एवं पराक्रम के लिए ख्याति प्राप्त कर चुका है, परन्तु वह किसी प्रयोजन से अपने ननिहाल में चला जाता है। गजमर्द इसी अवसर को उपयुक्त समझकर अपने पुराने स्वामी राजा पर आक्रमण कर देता है।

---

१ प्रकाशक लक्ष्मी पुस्तकालय बनारस सिटी द्वि० सं० १९८५ वि० १९२८ ई०

२ नाटक गंगाप्रसाद अरोड़ा सावित्री सत्यवान् पृ० ४

अन्धा राजा अपनी रानी और पुत्र के साथ वन में महर्षि गौतम के आश्रम में रहने लगता है।

महाभारत की कथा में सत्यवान के पिता द्युमत्सेन को शाल्व देश का राजा बताया गया है।

> आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
> द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चादन्धो बभूव ह ॥[1]

इस श्लोक में 'पश्चादन्धो बभूव' और बाद का अन्धा हो गया, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्था या किसी रोग से वह अन्धा हो गया था।

द्युमत्सेन के राज्य का अपहरण किसी पड़ोसी शत्रु राजा द्वारा उस समय बताया गया है जब राजा अन्धा था और पुत्र सत्यवान अभी बालक था।

> विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः ।
> सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन् पूर्ववैरिणा ॥[2]

यहाँ पूर्ववैरिणा से स्पष्ट है कि किसी पड़ोसी राजा के साथ द्युमत्सेन का पुराना वैर चला आ रहा था। उसने उपयुक्त अवसर पर राज्य पर अधिकार कर लिया। यहाँ राजा के किसी मन्त्री या उसकी शत्रुता का उल्लेख नहीं है। पुत्र अभी शिशु था अतः विवश होकर ही राजा को पत्नी और पुत्र के साथ वन में आश्रय लेना पड़ा। वहीं सत्यवान का लालन-पालन हुआ।

> सबालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् ।
> महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ।
> तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने ॥[3]

मूल कथा में नाटककार ने जो परिवर्तन किया है उसका कोई हेतु नहीं दिया है। इसका कोई औचित्य भी प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः यदि पिता के राज्यहरण के समय सत्यवान युवा और परम पराक्रमी था तो उसे अपने प्राणों को हथेली पर रखकर भी पिता के साथ हुए व्यवहार का बदला लेना चाहिए था। यही सुपुत्र का धर्म है परन्तु इस प्रकार के सत्यवान द्वारा किये गए किसी प्रयत्न का नाटककार ने संकेत नहीं दिया है।

४ सत्यवान को लाने के लिए यहाँ यमराज पहले अपने दूत भेजते हैं, किन्तु दूत सती के प्रताप से झुलसकर भाग जाते हैं और यम अपना पाश लेकर स्वयं उस स्थल पर उपस्थित होते हैं, जहाँ सत्यवान सावित्री की गोद में अपना सिर रखकर सोया पड़ा है। महाभारत के आख्यान में प्रथम बार यम ही आते हैं अपने किसी दूत को नहीं भेजते। सावित्री यमराज से पूछती भी है 'भगवन् मैंने सुना है कि मनुष्यों को ले जाने के लिए आपके दूत आया करते हैं। प्रभो आप स्वयं यहाँ कैसे चले आये ?

> श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् ।
> नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ॥

—वनपर्व, २९७ १४

---

१ महाभारत वनपर्व २९४ ७

२ वही वनपर्व २९४ ८

इसका यम उत्तर देते हैं "यह सत्यवान धर्मात्मा, रूपवान और गुणों का सागर है। यह मेरे दूतों द्वारा ले जाये जाने योग्य नहीं है। इसीलिए मैं स्वयं आया हूँ—

अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान गुणसागर ।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागत ॥"

—वनपर्व, २९७, १६

५ इस नाटक में यमराज के पीछे-पीछे सावित्री को भी उड़ता हुआ दिखाया गया है। परन्तु महाभारत के आख्यान में इस प्रकार की अलौकिक घटना का उल्लेख नहीं है। वहां तो यम के सत्यवान के प्राणसमन्वित सूक्ष्म शरीर के साथ दक्षिण दिशा की ओर जाने मात्र का निर्देश है।[1]

६ यहां सावित्री यम से चौथा वर अपनी कुक्षि से कुलवर्द्धक, निष्कलंक संतान, नारदजी की प्रेरणा से मांगती है। किन्तु महाभारत के आख्यान में नारदजी का इस प्रसंग में कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

७ इस नाटक में मूल कथा से असम्बद्ध कुछ अतिरंजित घटनाएँ भी हैं, यथा, आकाश में स्वर्ग की ओर जाते हुए यम के पीछे सावित्री का अनुसरण करना। सत्यवान की आत्मा का यमराज के पाश से पकड़ा जाना, यमराज के द्वारा यह कथन कि 'सत्यवान के शरीर से इसका स्पर्श कर देना, वह जीवित हो उठेगा' इत्यादि।

सावित्री सत्यवान[2]

सावित्र्युपाख्यान के कथानक पर आधारित, इस क्रम का षष्ठ नाटक बन्नीप्रसाद श्रीमाली का 'सावित्री सत्यवान' है। इस नाटक की जो प्रति मिली है उस पर संस्करण एवं प्रकाशन सन का उल्लेख नहीं है अतः निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि यह किस समय का लिखा है। किन्तु इसकी शैली और भाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह सन १९२० के आसपास का ही हो सकता है।

कथानक

इसकी प्रधान कथा का आधार महाभारत की कथा ही है किन्तु चमत्कार तथा रोचकता का समावेश करने के लिए लेखक ने कुछ परिवर्द्धन भी यत्र-तत्र किये हैं। वे निम्न-लिखित हैं—

१ संतान के लिए राजा अश्वपति के साथ उनकी रानी धर्मवती की तपस्या, इन्द्र का अप्सराओं को भेजना।

१ महाभारत वनपर्व २९७ १६
२ प्रकाशक ठाकुरप्रसाद गुप्त बुकसेलर, राजा दरवाजा बनारस

२ सत्यवान अद्भुत चित्रकार है। स्वप्न म सावित्री को देखकर उसका चित्र खचित करता है।

३ नारद विष्णु और उनकी माया को, कई दृश्यो म रंगमंच पर दिखाया गया है।

४ जहाँ भी जो कुछ घटित हो रहा है वह विष्णु भगवान की पूर्व निश्चित की हुई रूपरेखा के अनुसार ही है।

यह नाटक अति साधारण कोटि का है। इसकी भाषा भी शिथिल है।

देवयानी शर्मिष्ठा कथा

महाभारत की कथाओं के क्रम म महाराज ययाति की कथा एक महत्त्वपूर्ण कथा है। सम्राट ययाति प्राचीन भारतीय आख्यान साहित्य माला के एक उज्ज्वल मणि हैं। उनका आख्यान रामायण महाभारत तथा पुराणों म वर्णित है।[1] ऋग्वेद म भी आख्यान का सकेत मिलता है। देवयानी और शर्मिष्ठा ययाति की रानियाँ थी अत इनकी कथाएँ भी ययाति की कथा के साथ ही सम्बद्ध हो गयी ह। परन्तु ययाति के परिचय से पूर्व भी इनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रहा है। असुर गुरु शुक्राचार्य की एकमात्र सन्तान उनकी पुत्री देवयानी अपने प्रभाव के लिए सुर असुर दोनो म प्रसिद्ध रही है। सुरगुरु बृहस्पति का पुत्र कच शुक्राचार्य के साथ उनकी पुत्री देवयानी को भी अपनी सेवा से प्रसन्न करने के उपरान्त ही सजीवनी विद्या प्राप्त करने म सफल हो सका था। कच और देवयानी का रागात्मक आकर्षण भी कच की सफलता म कारण बना था। कच और देवयानी के सम्बन्ध के इस कथाभाग का लेकर तीन नाटक लिखे गये हैं। चतुर्थ नाटक शर्मिष्ठा के चरित्र से सम्बन्धित है। उपलब्ध नाटक तथा उनके रचयिताओं की तालिका इस प्रकार है—

१ देवयानी जमुनादास मेहरा
२ देवी देवयानी रामस्वरूप रूप चतुर्वेदी
३ देवयानी कुमारी तारा वाजपेयी
४ शर्मिष्ठा श्रीमती शारदा मिश्र

---

१ वाल्मीकि रामायण सर्ग ५८ ५९
महाभारत आदिपर्व ७५ तथा ७८ ८६
पुराण—विष्णु पुराण अंश ४ अ० १ ब्रह्म पुराण अध्याय १ ब्रह्माण्ड उ० पा अध्याय ६८ १२ १ ३ भागवत पु स्कन्ध ९ अध्याय १८ १९ मत्स्य पु २४ ४२ वायु पुराण अध्याय ९३ हरिवंश अध्याय ३ कूर्म पुराण अध्याय २२ लिंग पुराण अध्याय ६७ पद्मपुराण भूखण्ड अध्याय ६४ ७५

देवयानी[1]

प्रकाशन क्रम मे प्रथम नाटक बाबू जमुनादास मेहरा का देवयानी है जिसकी कथावस्तु संक्षेप म इस प्रकार है—

कथानक

कच देव भसन मे सब सदस्या के परामर्श से सजीविनी विद्या सीखने के लिए भूलोक म शुक्राचाय के पास जाता है। वह आचाय को अपना परिचय देता है तथा सञ्जीविनी विद्या सिखाने के लिए उनकी समस्त शर्तों को स्वीकार करने के लिए उद्यत है। शुक्राचाय के पास कच के आने का उद्देश्य मालूम होते ही असुर उसे अवसर पाकर मार देते हैं। देवयानी की प्राथना पर शुक्राचाय के द्वारा वह पुन जीवित कर दिया जाता है किन्तु असुर उसे द्वितीय बार फिर मार डालते है। आचाय उसे जीवित कर इस बार सजीविनी विद्या सिखा देते हैं किन्तु निर्धारित अवधि पूरी न होने के कारण वह गुरु की सेवा म ही लगा रहता है। तीसरी बार वह पुन मार दिया जाता है, उसकी भस्म को सुरा मे मिलाकर असुर आचाय को ही पिला देते हैं। आचाय के आदेश से उनका उदर फाड, बाहर आने पर तथा गुरु सेवा की अवधि पूर्ण होने पर, कच देवलोक का प्रस्थान करता है। यहा की कथा पुरु की राज्य प्राप्ति तक चलती है।

आधार

प्रस्तुत नाटक का मुख्य आधार महाभारत है।[2]

अन्तर तथा विवेचन

नाटक की कथा म मूल कथा से कोई विशेष अन्तर नहा है। नाटकीय तत्त्व, भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण आदि सभी दृष्टियों से यह एक उत्तम रचना है।

देवी देवयनी[3]

प्रकाशन क्रम से रामस्वरूप रूप चतुर्वेदी लिखित यह दूसरा नाटक है। महाभारत की कथा म लेखक ने कुछ परिवर्तन किये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१ इस नाटक का कच देवलोक की समस्त परिस्थिति को समझते हुए अपने पिता

---

१ प्रकाशक रिखबदास बाहिना आर० डी० बाहिनी एण्ड को न० ४ चारबगान कलकत्ता प्र० स० सन् १९२२

२ महाभारत आदिपर्व अध्याय ७६

३ प्रकाशक उपन्यास बहार आफिस बनारस प्र० स० १९३४ ई०

े सम्मान एवं देश की रक्षा के लिए अपनी इच्छा से शुक्राचार्य का शिष्य बनकर संजीविनी
वद्या सीखने दैत्यपुरी जाता है। वह वहाँ पहुंचकर अपना वास्तविक परिचय नहीं देता है
गुरु से भी आग्रह करता है कि वे इस सम्बन्ध में उससे कुछ न पूछें किन्तु उसका यह भेद
शुक्राचार्य के साथ वृषपर्वा की राजसभा में ही नारदजी के आ जाने से खुल जाता है।

महाभारत तथा पुराणों की कथा में कहीं भी नारद का उल्लेख नहीं है। यहाँ नाटक
कार की यह अपनी कल्पना है। प्रथम तो कच का गुरु के समक्ष अपना ठीक-ठीक परिचय न
देना ही अयुक्त है। भेद की भित्ति बीच में रखकर गुरु से परम ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा
ही अनुचित है और यदि भेद रखना ही इष्ट था तो नारद की अवतारणा करके इतने शीघ्र
खोलने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इससे किसी विशेष नाटकीय प्रयोजन की सिद्धि
नहीं होती।

३. दैत्यों द्वारा दो बार कच के मार दिए जाने पर देवयानी के अनुरोध से शुक्राचार्य
उसे जीवित कर देते हैं। तीसरी बार दैत्य उसे नष्ट कर जलाकर उसकी भस्म सुरा में
मिलाकर, शर्मिष्ठा द्वारा आचार्य को पिलवा देते हैं। कुछ ही समय पश्चात् उनके उदर में
भयंकर पीड़ा होती है। वे समस्त परिस्थिति जान लेते हैं। यहाँ देवयानी पिता से स्वयं को
मृत संजीविनी विद्या सिखा देने का अनुरोध करती है किन्तु आचार्य पुत्री को अपनी विद्या
की अधिकारिणी नहीं समझते। देवयानी की प्रार्थना पर उदरस्थ कच को सिखा देने से उन्हें
भय है कि असुरों का अहित होगा, किन्तु यहाँ देवयानी पिता को आश्वासन देती है कि
संजीविनी विद्या सिखा देने के उपरान्त भी अपने प्रेमपाश में वह कच को यहीं बाँधे रखेगी।

महाभारत की कथा में शुक्राचार्य ने न तो कच के ऊपर किसी प्रकार का कोई सन्देह
व्यक्त किया है और न अपने प्रेम बन्धन में बाँधकर रखे रहने का देवयानी ने ही कोई
आश्वासन दिया है। वहाँ पुत्री देवयानी ने आचार्य से अपने को विद्या सिखा देने का भी
आग्रह नहीं किया है और न उन्होंने उसे अनधिकारिणी ही घोषित किया है। हाँ देवराज
इन्द्र को वे अवश्य अपनी विद्या का रहस्य वहाँ नहीं बताना चाहते। इसलिए कच को विद्या
देने से पूर्व उन्होंने इतना अवश्य कहा है—

संसिद्धरूपोऽसि बृहस्पते सुत
यत् त्वां भक्तं भजते देवयानी।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीविनीं त्वं
न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य॥
न निवर्तेत पुनर्जीवन् कश्चिदन्यो ममोदरात्।
ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद् विद्यामवाप्नुहि॥

—आदिपर्व अ० ७६, ५८-५९

'बृहस्पति के पुत्र कच! अब तुम सिद्ध हो गए क्योंकि तुम देवयानी के भक्त हो और
वह तुम्हें चाहती है। यदि कच के रूप में तुम इन्द्र नहीं हो तो मुझसे मृतसंजीविनी विद्या
ग्रहण करो। केवल एक ब्राह्मण को छोड़कर दूसरा कोई नहीं है जो मेरे उदर से पुनः जीवित
निकल सके इसलिए तुम विद्या ग्रहण करो।'

कच के ऊपर उन्हें विश्वास है। उसे वे अपनी विद्या का सर्वथा अधिकारी समझते

हैं। इसीलिए उसे अपने उदर में ही संजीविनी विद्या का रहस्य सिखा देते हैं।[1]

३ यहां इस नाटक में शुक्राचार्य के शाप के पश्चात अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु का यौवन लेकर ययाति देवलोक जाकर युद्ध करके देवराज इन्द्र को राजसिंहासन से हटाने का प्रयत्न करते हुए दिखाया गया है, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली है अतः उसे पुनः भूमि पर आना पड़ा है।

महाभारत की कथा में सांसारिक भोगों में तृप्ति पाने के उद्देश्य से ही वह पुरु से अपनी जरा के बदले में यौवन लेता है और बाद में भोगों में ही रत हो जाता है किन्तु जब उसे तृप्ति नहीं मिलती तो पुनः अपनी जरा लेकर, उसे उसके यौवन के साथ अपना राज्य देकर, वन में तप के लिए चला जाता है।

४ यहां नाटक में भूमि पर गिरते हुए ययाति को देवयानी अपनी तपस्या का सहारा भी देती है। इस घटना की भी मूल कथा से पुष्टि नहीं होती। किसी अन्य पुराण की कथा में भी देवयानी को तपस्या करते नहीं दिखाया गया है। यह नाटककार की कल्पना मात्र है।

विवेचन

जिस युग में यह नाटक लिखा गया है वह युग महात्मा गांधी के चलाये असहयोग आन्दोलन का युग था। विदेशी दासता से मुक्ति पाने की देश में एक तीव्र लहर चल रही थी। इस नाटक का लेखक भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है। उसने महाभारत की प्रसिद्ध कथा का आधार लेकर अपने युग की भावना के अनुरूप उसे एक नया रूप देने का प्रयत्न किया है तभी तो उसका एक पात्र कहता है—

जन्मे भवन भवन में, ऐसी ही पुत्रियां।
बन जायें देश ही की श्रृंगार युवतियां॥
काटेंगी जन्मभू का संकट वे स्त्रियां।
बन कर जो राजकन्या हों देशवासियां॥

इस नाटक के साथ भूमिका भी है। उसमें भी इसी प्रकार की भावना व्यक्त की गयी है— आज नाटक-साहित्य में पौराणिक नाटकों की भरमार है परन्तु पौराणिक आधार पर वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं का चरित्र चित्रण करते हुए सामाजिक समस्याओं को हल करने वाले नाटकों का सर्वथा अभाव है। देवी देवयानी की रचना कर नाटककार ने नाट्य संसार की इस कमी को पूरा कर हिन्दी साहित्य का भी क्षेत्र बढ़ाया है।

इस नाटक के लेखक का सम्बन्ध 'गुजराती थियेटर कम्पनी बम्बई' से रहा है, अतः नाटक के गठन का स्तर ऊंचा नहीं हो पाया है। भाषा भी परिमार्जित नहीं है। पात्रों के चरित्र चित्रण का स्तर भी परिष्कृत नहीं है। यह एक सामान्य श्रेणी का नाटक है।

देवयानी[1]

इसी कथानक से सम्बंधित तृतीय रचना कुमारी तारा वाजपेयी की देवयानी है। उन्होंने महाभारत की कथा एवं युग की समाविष्ट सभी परिस्थितियों पर विचार करके इस नाटक को एक भिन्न रूप दिया है। आधारभूत आख्यान को उन्होंने एक विशेष दृष्टिकोण से देखा है इसीलिए मूल आख्यान में उन्हें यत्र-तत्र अनेक परिवर्तन करने पड़े हैं। कल्पना का भी पर्याप्त आश्रय लेना पड़ा है।

कथानक

उनके मत में असुरों के गुरु शुक्राचार्य का असुरों के पक्ष में जाने का मुख्य कारण देवों द्वारा उनकी उपेक्षा करके गुरुपद के लिए उनके सहाध्यायी आचार्य बृहस्पति का वरण करना है। यदि ऐसा न हुआ होता तो असुरों के पक्ष में वे कभी न जाते। असुरों ने अवसर से लाभ उठाया। उनका राजा वृषपर्वा उनकी शरण में गया और आचार्य ने शरणागत की रक्षा का वचन दिया। शुक्राचार्य असुरों के सदाचार से प्रभावित नहीं थे, किन्तु वे उन्हें वचन दे चुके थे। इसीलिए उसकी रक्षा के लिए बिना परिणाम की चिन्ता किए हुए वे दृढ़ता से उसका पालन करते रहे। असुरों के अपराधों को भी वे क्षमा करते रहे। शुक्राचार्य की प्रिय पुत्री देवयानी भी समस्या पर पुनर्विचार करने के लिए बार-बार आग्रह करती रही किन्तु वे हिमालय के समान अपने वचन पर अटल बने रहे। देवगुरु बृहस्पति भी देवासुर संग्राम के सम्भावित परिणाम का विचार करते हुए युद्ध के मध्य में ही आचार्य शुक्र के पास जाकर उन्हें देवपक्ष में लाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु वे अपने वचन और निश्चय पर दृढ़ रहते हैं और आचार्य बृहस्पति को असुर पक्ष छोड़ने के अतिरिक्त किसी भी अन्य विषय में सहायता करने का आश्वासन देते हैं। उनके इस आश्वासन के फलस्वरूप ही बृहस्पति के पुत्र कच को सब देवों के परामर्श से मृतसंजीविनी विद्या सीखने के लिए शुक्राचार्य की सेवा में प्रेषित किया जाता है।

आधार, अंतर एवं विवेचन

इस नाटक का आधार भी महाभारत ही है। यह अवश्य है कि अपने विशिष्ट लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्हें स्थान-स्थान पर इस कथा में परिवर्तन भी करने पड़े हैं। वह विशिष्ट लक्ष्य है देवयानी के उदात्त चरित्र का प्रस्तुतीकरण इसीलिए ययाति से विवाह हो जाने के उपरांत लेखिका ने नाटक को समाप्त कर दिया है सम्भवतः आगे की घटनाएँ देवयानी का वह सात्विक स्वरूप बनाए रहने में सहायक न होतीं।

शुक्राचार्य की देवयानी का चरित्र निश्चित ही ताराजी ने एक नये रूप में चित्रित किया है। इस नाटक की देवयानी के समक्ष सदाचार, देवब्राह्मण रक्षा एवं शास्त्रमर्यादा

१ प्रकाशक इण्डियन प्रेस लिमिटेड इलाहाबाद १९४४ ई

महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं। कच के उद्देश्य की सिद्धि के पश्चात उससे अपने विवाह के प्रस्ताव में भी देवयानी का लक्ष्य दो प्रमुख आचार्यों व कुलों को मिलाना है। दोनों के मिलन से आर्य संस्कृति की रक्षा का मार्ग प्रशस्त बन सकता है ऐसा उसका विचार है, पर कच आदर्शवादी तो अवश्य है, किन्तु देवयानी के समान दूरदर्शी नहीं। वह, अपने आदर्श पर स्थापित कुछ सिद्धान्तों के कारण देवयानी के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता है। उसकी इस भूल ने राष्ट्र की रक्षा, एकता और अभ्युदय के स्वर्ण अवसर का प्रत्याख्यान कर दिया। कच के अदूरदर्शितापूर्ण निश्चय से देवयानी को एक आघात लगता है[1] पर वह विवश है।

शर्मिष्ठा और देवयानी के झगड़े में भी देवयानी का व्यवहार शालीनता और शिष्टता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता है। अपमानित होकर भी वह प्रत्यपमान नहीं करती है। वह उदार एवं महान् आचार्य शुक्र की पुत्री है इसीलिए उसकी ओर से कोई अभद्र व्यवहार नहीं किया जाता। शर्मिष्ठा को असुर सम्राट की पुत्री होने का बड़ा गर्व है इसीलिए वह स्वयं को संयम की सीमा में बाँध नहीं पाती है। देवयानी अपने गौरव की रक्षा के लिए शर्मिष्ठा को अपनी दासी बनाने के लिए बाध्य करके भी उसके साथ दासी का-सा व्यवहार नहीं करती। उसे वह अपनी सखी के समान ही समझती है और इसीलिए ययाति के साथ अपना विवाह हो जाने पर शर्मिष्ठा के साथ भी आग्रहपूर्वक राजा का गान्धर्व विवाह करा देती है। नारी का देव-दुर्लभ उदार चरित्र एवं त्याग यहाँ पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

अपने विशिष्ट लक्ष्य के सम्बन्ध में लेखिका का कथन है सम्प्रति देवयानी नाटक एक विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखा गया है। अतः मूल कथा से कुछ भिन्न अवश्य प्रतीत होगा। इसमें आचार्य शुक्र ब्राह्मण होते हुए भी अपनी पैतृक सम्पत्ति—आर्य संस्कृति के प्रति विरक्ति प्रदर्शित करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे एक ऐसे धर्मसंकट में पड़ जाते हैं कि कर्तव्याकर्तव्य का उन्हें भान ही नहीं रहता। वे असुरों को सहायता देने का वचन देते हैं क्योंकि शरणागत की रक्षा करना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। अतः उन्हें बहुत से अवसरों पर अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी कार्य करना पड़ता है। असुरों द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा नहीं भूलते। स्वयं देवगुरु बृहस्पति के प्रार्थना करने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा पर मेरुवत् अचल रहते हैं। अपनी पुत्री देवयानी को प्राणों से अधिक प्यारी मानते हुए भी वे उसके हठ और आग्रह करने पर भी, असुरों का साथ नहीं छोड़ते। ऐसी स्थिति में यह नाटक घात और प्रतिघातों के संघर्ष से विशेष अभिनेय हो जाता है।

इस नाटक में व्यक्ति और तत्त्व का संघर्ष दिखाया गया है। आचार्य शुक्र अपने व्यक्तित्व को महत्त्व देकर समाज को भूल जाते हैं। देवयानी के शब्दों में 'कोई भी व्यक्ति समाज के विरुद्ध कोई प्रतिज्ञा कर ही नहीं सकता।' कोई भी हिन्दू अपनी जाति, अपने धर्म और अपनी संस्कृति के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता जो किसी प्रकार से समाज का घातक हो। शुक्राचार्य की प्रतिज्ञा ऐसी ही थी। देवासुर संग्राम में उन्होंने अनार्यों को सहायता देने का वचन दिया और अपनी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा पर डटे रहे। उन्हें सिद्धान्त ऐसा करना उचित नहीं था। वे तत्त्व को भूलकर व्यक्ति को श्रेष्ठतम समझते रहे। जब मनुष्य

---

1 महाभारत आदिपर्व, अध्याय ७२-८६

तत्त्व की ओर से विरक्त होकर व्यक्तित्व को महत्त्व देने लगता है तभी से 'अपनी अपनी डिगरी अपना अपना राग' वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है और वह छिन्न भिन्न होने लगता है। अन्ततोगत्वा, वह विनाश की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ कर देता है।"[1]

नाटक की लेखिका के उपर्युक्त निवेदन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके नाटक की कथावस्तु का आधार महाभारत की कथा होते हुए भी एक नयी दृष्टि देने के लिए उसमें उन्होंने आवश्यक परिवर्तन किये हैं। आचार्य शुक्र का जो रूप उन्होंने अपने नाटक में चित्रित किया है वह महाभारत की कथा से सर्वथा भिन्न है। यही बात प्रशांत कच और देवयानी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

देवयानी और ययाति के वैवाहिक सम्बन्ध को एक संयोग न मानकर उन्होंने एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया सम्बन्ध माना है, पर इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। वस्तुतः महाभारत की कथा के आधार पर तो इसे संयोग ही कहना चाहिए। शर्मिष्ठा देवयानी के झगड़े में शर्मिष्ठा ने देवयानी को एक सूखे कूप में धकेल दिया और अपने भवन को चली गयी। आखेट करते हुए राजा ययाति संयोग से उसी दिशा में आ गये और प्यास से व्याकुल हो जल का अन्वेषण करते हुए उसी कूप के निकट पहुँचे। उन्होंने हाथ पकड़कर देवयानी को कूप से बाहर निकाला और देवयानी ने अपने रक्षक तेजस्वी राजर्षि ययाति को आत्मसमर्पण कर दिया, इसे संयोग ही कहा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि असुरों के मध्य रहते रहते देवयानी के मन में, उनके प्रति एक वितृष्णा जागृत हो गयी हो और आर्यों के सम्राट परम प्रतापी ययाति को असुर संहार के लिए उपयुक्त व्यक्ति समझ कर उन्हें अपने पति के रूप में चुन लिया हो। यह भी हो सकता है कि कच से तिरस्कृत होकर वह उसे दिखा देना चाहती हो कि उसका पति कच से ही नहीं देवों से भी अधिक शक्तिशाली है। जो भी हो लेखिका ने इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला है।

शर्मिष्ठा[2]

इसी प्रसंग का चौथा नाटक श्रीमती शारदा मिश्र का शर्मिष्ठा है। देवयानी, शर्मिष्ठा और ययाति इनसे सम्बद्ध कथा को आधार बनाकर लिखे गए सभी नाटकों से यह सर्वथा भिन्न है। कथा इस प्रकार है—

कथानक

तुषारय एक असुर योद्धा है जो असुरेन्द्र वृषपर्वा के पास लौट रहा है। शर्मिष्ठा से यह मिलने जाता है। ययाति की सम्मति में कच्ची इच्छा पर मानकर शर्मिष्ठा अपने पिता के

---

१ नाटक की भूमिका पृष्ठ ४ ५

२ प्रकाशक हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी।

लिए सन्देश प्रेषित करती है क्योंकि उसे डर है कहीं देवयानी उसके बच्चों तथा सन्देश के सम्बन्ध में न जान ले। रोचना उसकी मौसेरी बहन है जो ययाति के विरुद्ध उससे कई बातें करती है पर शर्मिष्ठा सबका यथोचित उत्तर देती है। तभी इर्विशा (शर्मिष्ठा की धाय) आती है, जो कहती है कि तुषारथ का प्रतीक्षा करते बड़ी देर हो गयी है तीनों पुत्रों को शीघ्र भेज दो। शेमिता ययाति की प्रतीक्षा में हैं। वह मंगल क्षण में पुत्रों को विदा नहीं करना चाहती।

तभी ययाति यज्ञोपरान्त देवयानी के साथ आते हैं। बच्चे भी यज्ञशाला के बाहर खेलते होते हैं। देवयानी उत्सुकता से बच्चों से उनकी माता के सम्बन्ध में पूछती है और रहस्य जानकर अति क्रुद्ध होती है। ययाति बड़े चिन्तित हो जाते हैं। देवयानी शेमिता को दण्डस्वरूप इन्द्रमद्र के द्वारा रचित नवीन जनपद भेज देने के लिए कहती है जिससे शेमिता जीवन भर राजा ययाति का मुँह न देख सके किन्तु तभी महर्षि शुक्र प्रवेश करते हैं। पिता के समझाने-बुझाने से, देवयानी परिस्थितियों के साथ समझौता करने में ही अपना कल्याण मानती है। इस प्रकार आर्यों और असुरों का मेल हो जाता है और पुरु आर्यावर्त का युवराज घोषित कर दिया जाता है।

विवेचन तथा आधार

इस नाटक की रचना एक भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण को केन्द्र बनाकर की गयी है। इस सम्बन्ध में लेखिका का कथन है—

'संसार के मानचित्र में आजकल जिस स्थान को मेसोपोटामिया का मैदान कहा जाता है वहाँ ई० पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में महान असुर संस्कृति अपने विकास पर थी। भारतीय संस्कृत पुराणों में जिन्हें असुर या राक्षस कहा जाता है वे वास्तव में मध्य एशिया की एक महान् सुसंस्कृत जाति के मनुष्य थे। असीरी बेबीलोनी सभ्यता के विषय में गवेषणाओं द्वारा काफी प्रकाश डाला जा चुका है। असुर आर्यों की अपेक्षा अधिक प्राचीन और संस्कृत थे। तुग्रा (टाइग्रिस) और मद्रा (यूफ्रेटिस) नदियों की मध्यवर्ती भूमि पर उनका शक्तिशाली असुर जनपद बसा हुआ था। उरस, निनवा बाबुल और असुर असीरिया में इनके नगर और गढ़ थे। असुर सभ्य क्रूर और अच्छे योद्धा थे। लिखने की कला का विकास सर्वप्रथम उन्होंने किया था। वे कच्ची मिट्टी की ईंटों पर कीलों से खोदकर अपनी लिपि अंकित करते थे। वे देवी ओसस (उषा) अनलिल (अग्नि) और (महान् असुर वरुण) असुर मेधस अथवा असुर मज्दाओ की पूजा करते थे। शेमिता असुर साम्राज्य के प्रतापी सम्राट वृषपर्वा की पुत्री थी। वृषपर्वा स्वयं शमीवंश समेटिक का असुर था। महाभारत और पुराणों में शेमिता का शर्मिष्ठा नाम लिया गया है जो किसी असुरभाषीय शब्द का आर्यीकरण मालूम पड़ता है। इसीलिए मैंने इस नाम को बदलने का साहस किया है—शेमिता अर्थात शमीवंश की कथा।

जिसे आजकल फारस या ईरान कहते हैं, वह पहले पर्शु देश के नाम से विख्यात था। पर्शु में दो जन निवास करते थे—उत्तर में मद और दक्षिण में दवस। देवों के साथ असुरों का निरन्तर युद्ध चलता था। पुराण वाङ्मय देवासुर संग्राम से भरा पड़ा है। पूर्व में कम्बोज (आधुनिक अफगानिस्तान) और सप्तसिन्धु (पंजाब) में आर्य जनपद बस रहे थे। आर्य

ऋषि और राजयगण युद्ध म कभी देवा का साथ दन थ, कभी असुरा का। उनकी नक्ति का प्रभाव सप्तसिंधु क अंतिम छोर तक था। असुरेन्द्र वृषपर्वा न युद्ध म अपनी नक्ति दृढ़ करने के लिए प्रचण्ड तजस्वी विद्यानिपुण भृगुवंशी पुत्र (महर्षि उपनम) को बुलाकर अपना पुरोहित बनाया। शुक्राचाय की युवती कन्या देवयानी उनक साथ गयी। उस अपने आयत्व का वण का और भृगुआ की पुत्री होन का गव था। दाना म अच्छी तरह पट न सकी। देवयानी ने अपने पिता को उत्तेजित किया और असुरेन्द्र का पौराहित्य छोडकर सप्तसिन्धु जान को कहा। अन्त म शेमिष्ठा को आजन्म दासी बनाकर, देवयानी का प्रतिशोध शान्त हुआ। देवयानी का विवाह सोमवंशी राजा ययाति म हुआ। शर्मिष्ठा भी उसकी दासी के रूप म आयकुल म आयी। ययाति ने उसके रूप और आभिजात्य स प्रभावित होकर उससे गुप्त परिणय कर लिया। पर उस भगवान शुक्र और देवयानी का भय था। शेमिष्ठा के प्रति उसके आकषण का कारण असुरेन्द्र का विशाल राज्य भी था। शर्मिष्ठा के तीन पुत्र द्रुह्यु, अनु और पुरु हुए और देवयानी के यदु और तुवसु। तुवसु मध्य एशिया के उस स्थान म बस गया जो आजकल तुर्किस्तान कहा जाता है। सभवत यही तुर्क जाति का आदि पुरुष था।[1]

लेखिका के इस वक्तव्य से नाटक के विषय म उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। भागवत पुराण की मूल कथा म जो परिवतन उन्होंने किये हैं उनके कारणों पर भी इससे प्रकाश पडता ह। नाटक को पढने और विचार करने से एसा प्रतीत होता है कि इस कथा पर लेखिका न मनन किया है। उनके अध्ययन की दृष्टि मुख्यत ऐतिहासिक और भौगोलिक रही है पर तु यह घटना इतनी प्राचीन है (विक्रमीय सवत के आरम्भ काल से भी सहस्रो वष पुरानी है) कि उसके सम्ब ध म निश्चित आधारा का निर्धारण करना कठिन है। अत लेखिका का केवल मात्र यह कथन कि इस नाटक का आधार केवल भागवत पुराण है पर्याप्त नहीं है क्योंकि भागवत पुराण म कथा का यह रूप नहीं है।[2]

इस नाटक म भागवत की कथा का आधार तो नाम मात्र का ही है सारा सव्यूहन मुख्यत लेखिका की कल्पना पर ही आधारित है। मुख्य कथा के सूत्र को लेकर उन्होंने उस पर अपनी उदभाविनी कल्पना का मुलम्मा चढाकर पल्लवित किया है। इस पल्लवन स एक नयी कथा का सजन हो गया है। यह कहना कठिन ह कि लेखिका की इस कल्पना का आधार क्या है। अच्छा तो यह रहता कि अपने आमुख म अपनी कल्पना के आधारभूत स्रोतो का वे निर्देश कर देती जिस उन्होंने अपने नाटक की कथावस्तु का आधार माना है। *भागवत पुराण में तो इस प्रकार का कोई संकेत नहीं है।*

देवयानी और शेमिष्ठा (शर्मिष्ठा) का यहा जो रूप चित्रित किया गया है वह अन्यत्र अप्राप्य है। शुक्राचाय का भी एक भिन्न रूप म ही चित्रित किया गया है। उनके इस चित्रण से विशाल मौय साम्राज्य के निर्माता और सचालक आचाय चाणक्य की स्मृति आ जाती है। उन्होंने भी यवन सम्राट सल्यूकस की पुत्री से चन्द्रगुप्त मौय का ववाहिक सम्बन्ध

१ नाटक आमुख

२ भागवत पुराण स्कन्ध ६ अ० १८ १६

राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए सम्पन्न कराया था। इस नाटक में भी असुर सम्राट वृषपर्वा की पुत्री शेमिना के साथ, ययाति का विवाह भी इसी प्रकार के उद्देश्य की सिद्धि के लिए आचार्य शुक्र के प्रयत्न से होता है। वे कहते हैं—

"मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ से विराट् को दूषित करता है। असुरों और आर्यों के इस महान जनपद को एक करने के प्रयत्न में मेरे मस्तक के केश श्वेत हो गये और इस लड़की देवयानी का हठ मेरे पचास वर्ष के परिश्रम का निष्फल किये दे रहा था। असुर प्रजा अपनी राजकन्या के अपमान से क्षुब्ध थी। असुर सम्राट उद्विग्न थे। आर्यों के प्रति उनकी भावनाएं कटु होती जा रही थीं। उधर आर्यों का यह वर्णद्वेष मिथ्या अहंकार की सृष्टि कर रहा था। इस विषमता के प्रतिकार का एक ही उपाय था—आर्यों और असुरों का रक्त सम्बन्ध।"[1]

यहाँ आचार्य शुक्र का अति उदार एवं दूरदर्शी रूप चित्रित हुआ है। इसीलिए ययाति के वृद्धत्व के शाप की घटना यहाँ त्याग दी गयी है। उसके साथ उनका इस प्रकार का उदात्त स्वरूप चित्रित न हो पाता। ययाति का चरित्र यहाँ साधारण है।

द्रौपदी स्वयंवर

द्रौपदी स्वयंवर महाभारत में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। स्वयंवर मण्डप में अपने अचूक लक्ष्य के द्वारा मत्स्याभिभेदन करके अर्जुन द्रौपदी को प्राप्त करता है। दुर्योधन इस घटना के द्वारा यह जान लेता है कि पाण्डव अब भी जीवित हैं। उधर पाण्डव आगामी परिस्थितियों में, द्रुपद की सहायता पाने की स्थिति में हो जाते हैं। इस प्रकार यह प्रसंग दुर्योधन के हृदय में ईर्ष्या का एक नया बीज वपन करता है जिसके परिणामस्वरूप कई नूतन घटनाएँ घटती हैं।

इस विशिष्ट प्रसंग को लेकर दो नाटक लिखे गये हैं—

१ द्रौपदी स्वयंवर ज्वालाराम नागर 'विलक्षण'

२ द्रौपदी स्वयंवर राधेश्याम कथावाचक

इन दोनों नाटकों की विशेषता यह है कि इनका शीर्षक यद्यपि केवल एक विशिष्ट प्रसंग से सम्बन्धित है, तथापि नाटक में महाभारत की अनेकों घटनाओं का समावेश भी किया गया है, जिनमें बहुत-सी अप्रासंगिक घटनाएं भी सम्मिलित हो गयी हैं।

द्रौपदी स्वयंवर[2]

यह नाटक सर्वांश में महाभारत पर ही आधारित है अतएव इसकी घटनाओं के स्रोत का संकेत नाटक के संक्षिप्त कथानक में ही पाद टिप्पणी में कर दिया गया है।

---

१ अमिता पृष्ठ ७४

२ प्रकाशक शिवरामदास गुप्त उपन्यास बहार आफिस काशी प्र० सं० माघ १९२१

कथानक और आधार

द्रोणाचार्य राजा द्रुपद की सभा में आकर उसको उसकी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर आधा राज्य चाहते हैं। द्रुपद उनका अपमान करता है और द्रोणाचार्य विक्षिप्तावस्था में इधर उधर घूमते हैं। तत्पश्चात कृपाचार्य के परामर्श और भीष्म के अनुरोध से कौरव पाण्डवों के गुरु नियत कर लिए जाते हैं।[1] अर्जुन के कौशल से प्रसन्न होकर द्रोणाचार्य उसे ब्रह्मास्त्र देते हैं।[2] निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य भी द्रोणाचार्य के समीप धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आता है किन्तु निषादपुत्र होने के कारण द्रोण उसे शिक्षा देना स्वीकार नहीं करते। द्रोण की अस्वीकृति पर एकलव्य स्वयं अभ्यास करता है और असाधारण निपुणता प्राप्त कर लेता है। द्रोणाचार्य इससे प्रसन्न नहीं होते और गुरुदक्षिणा में उससे दाहिने हाथ का अँगूठा कटवा लेते हैं। इसके पश्चात नाटक में राजकुमारों की शस्त्रपरीक्षा का दृश्य प्रस्तुत किया जाता है। रंगभूमि में अस्त्रकौशल के प्रदर्शन के समय अर्जुन के साथ कर्ण का विवाद छिड़ जाता है और यह विवाद (कर्ण के कुल से सम्बन्धित) एक भीषण रूप धारण कर लेता है।[3]

इसके पश्चात द्रोण शिष्यों से गुरुदक्षिणा माँगते हैं। आचार्य की इच्छानुसार सब शिष्य सेना लेकर द्रुपद पर आक्रमण कर देते हैं और द्रुपद को पकड़कर गुरु के सामने उपस्थित करते हैं। आचार्य द्रोण उसके विजित राज्य में से उसे आधा राज्य लौटा देते हैं। गंगा के उत्तर के प्रदेश के वे स्वयं राजा बनते हैं जिसकी राजधानी अहिच्छत्र है और गंगा के दक्षिण की ओर का भाग जिसकी राजधानी काम्पिल्य है वे द्रुपद को दे देते हैं। द्रुपद द्रोणाचार्य से बदला लेने के लिए यज्ञ करता है। याज नाम के मुनि यज्ञ करवाते हैं जिससे धृष्टद्युम्न और द्रौपदी प्रकट होते हैं। आकाशवाणी द्वारा यह ज्ञात होता है कि यह पुत्र द्रोण का अन्त करने वाला होगा और पुत्री कौरवकुल के नाश का कारण बनेगी।[4] युवती हो जाने पर द्रौपदी का स्वयंवर रचाया जाता है।[5]

अन्तर

महाभारत की कथा से इस नाटक की कथा में यही अन्तर है कि नाटक में द्रुपद की सभा में द्रोणाचार्य पहुँचकर उसकी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर आधा राज्य चाहते हैं, जबकि महाभारत में अपनी पुरानी मैत्री का स्मरण कराकर द्रोणाचार्य सहायता की याचना करते हैं। यह अधिक समीचीन एवं बुद्धिसंगत प्रतीत होता है क्योंकि बाल्यावस्था में कही हुई बात की याद दिलाकर मित्र से आधा राज्य माँगना बड़ा हास्यास्पद एवं अस्वाभाविक

---

१ महाभारत आदिपर्व (सम्भवपर्व) अध्याय १३
२ वही अ० ३२ श्लोक १८
३ महाभारत आदिपर्व (सम्भवपर्व) अ० १३१ ३२ ३४ ३५ ३७
४ वही (चैत्ररथपर्व) अध्याय १६६ श्लोक ३६ ५०
५ वही (स्वयंवरपर्व) अध्याय १३७

प्रतीत होता है।

प्रस्तुत नाटक की कथा में, यज्ञ की लपटों से धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के जन्म जैसी घटनाएँ आज के युग में बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होतीं, तो भी लेखक ने उन्हें कोई नया रूप देने का प्रयत्न नहीं किया है।

द्रौपदी स्वयंवर[1]

यह नाटक राधेश्याम कथावाचक लिखित है। यह विशेषतः न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए रचा गया है।

कथानक

प्रस्तुत नाटक का आरम्भ श्रीकृष्ण और नारद के वार्तालाप से होता है। नारद उनसे कहते हैं कि अपनी मायिक शक्ति से वे आततायियों का संहार क्यों नहीं कर देते। श्रीकृष्ण प्रत्युत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से पाण्डवों की सहायता देने का अवसर अभी नहीं आया है, अभी तो समस्त कार्य उनकी योगमाया ही कर रही है। विदुर की बुद्धि में बैठकर वही लाक्षागृह से पाण्डवों की रक्षा करायेगी और उसके बाद द्रौपदी-स्वयंवर में भी विजयी बनायेगी। ऐसा ही होना है।

हस्तिनापुर में राजकुमारों की परीक्षा होती है। इस घटना के द्वारा आपस में बहुत कटुता आ जाती है। दुर्योधन अपने पिता को फुसलाकर पाण्डवों को उत्सव देखने के बहाने वारणावत में भेज देने में सफल हो जाता है।

इस नाटक में हस्तिनापुर की घटनाओं का क्रम और द्वारका की मुख्य घटनाओं का क्रम एक साथ चलता है। कथा कुछ जटिल-सी बन गयी है। जाम्बवन्त की पुत्री जाम्बवती के साथ श्रीकृष्ण का विवाह, मुर राक्षस और भौमासुर की कथा, जैसी अप्रासंगिक कथाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं।

यह नाटक पूर्णरूपेण महाभारत पर आधारित है।[2] घटनाओं में कोई काँट-छाँट नहीं की गयी है, केवल उन्हें नाटकीय रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है।

---

१ प्रकाशक राधेश्याम पुस्तकालय बरेली प्रथम सं० सन् १९३०

२ महाभारत आदिपर्व अध्याय १३३ ३४ ४२ ४४ ४६ ५५ ६२

पाण्डव प्रताप अथवा सम्राट् युधिष्ठिर[1]

यह नाटक बाबू हरिदास माणिक का लिखा हुआ है। इसकी संक्षिप्त कथावस्तु इस प्रकार है—

इन्द्रप्रस्थ में मय नाम के असुर शिल्पी द्वारा महाराज युधिष्ठिर की राजसभा का अद्भुत वास्तुकला प्रदर्शन के साथ निर्माण कराया जाता है। महाराज युधिष्ठिर उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। इसी समय देवर्षि नारदजी आते हैं और वे महाराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की सम्मति देते हैं। इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए दूत भेजकर द्वारका से श्रीकृष्ण को बुलाया जाता है। श्रीकृष्णजी युधिष्ठिर को परामर्श देते हैं कि जब तक जरासंध का अंत न कर दिया जाए तब तक राजसूय यज्ञ करना ठीक नहीं है। भीम और अर्जुन को साथ लेकर वे स्वयं इस कार्य के लिए जाते हैं। भीम के साथ मल्लयुद्ध में जरासंध मारा जाता है। उसके पुत्र सहदेव को राजसिंहासन देकर भीम और अर्जुन सहित श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ लौट जाते हैं। समारोह के साथ राजसूय यज्ञ का आयोजन होने लगता है। अर्जुन के संरक्षण में यज्ञीय अश्व छोड़ा जाता है। दिग्विजय के पश्चात् राजाओं से प्राप्त विपुल धन और विविध प्रकार के उपहारों से भण्डार भर जाते हैं।

यज्ञ प्रारम्भ होने पर अर्घ्य अग्रपूजा का अधिकारी भीष्म पितामह की सम्मति से श्रीकृष्णजी को माना जाता है। शिशुपाल इस निर्णय का विरोध ही नहीं करता, अपितु आक्षेपयुक्त एवं अपमानजनक शब्दों में उनकी भर्त्सना भी करता है। सौ गालियाँ क्षमा करने के उपरान्त श्रीकृष्ण उसका संहार कर देते हैं। यज्ञ पूर्ण होता है। महाराज युधिष्ठिर सम्राट की उपाधि धारण करते हैं।

आधार

कथावस्तु का आधार महाभारत के सभापर्व के आरम्भ की कथा है।[2]

नाटककार ने महाभारत की विस्तृत कथा को इस छोटे से नाटक में बड़े ही कौशल से गुम्फित किया है। नाटक की शैली पर तत्कालीन थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रभाव स्पष्ट है तथापि परिष्कृत चरित्र चित्रण भाषा तथा कथोपकथन की ओर लेखक ने पर्याप्त ध्यान दिया है। महाराज युधिष्ठिर के सभाभवन को देखते हुए दुर्योधन की मनःस्थिति भीष्म की उदारता तथा सम्राट युधिष्ठिर के विनयभाव आदि का चित्रण अति सुन्दर है। वस्तुतः इसकी रचना विशुद्ध हिन्दी रंगमंच के लिए की गयी थी। काशी नागरी नाटक मण्डली द्वारा प्रकाशन से पूर्व ही इस नाटक का सफल अभिनय भी किया गया था।

---

१ प्रकाशक माणिक कार्यालय काशी प्रथम सं० १९१७ ई०

२ महाभारत सभापर्व अ० १४५

वचन का मोल[1]

उमाशंकर बहादुर लिखित इस नाटक में कुल तीन अंक हैं। महाभारत की कुछ घटनाओं को लेकर ही लेखक ने इस नाटक का सृजन किया है। इसका प्रस्तुतीकरण साधारण है। कथा इस प्रकार है—

कथानक

नाटक का आरम्भ शकुनि के साथ युधिष्ठिर के जुआ खेलने से होता है। क्रमशः वे सम्पूर्ण वस्तुओं को हारते चलते हैं यहां तक कि द्रौपदी को भी वे दांव पर लगा बैठते हैं। द्रौपदी राजसभा में दुःशासन द्वारा घसीटकर लायी जाती है और उसका चीरहरण किया जाता है। द्रौपदी के शील-सदाचार से प्रसन्न हो धृतराष्ट्र उससे तीन वर मांगने के लिए कहते हैं किन्तु वह केवल दो वर मांगती है प्रथम से युधिष्ठिर की दास्य स्थिति से मुक्ति तथा द्वितीय से अपने अन्य पतियों की मुक्ति। तीसरा वर वह यह कहकर नहीं मांगती कि क्षत्रिय की पत्नी को केवल दो वर मांगने का अधिकार है—

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥[2]

द्रौपदी के इस शील से धृतराष्ट्र अति प्रसन्न होते हैं और वे पाण्डवों का सम्पूर्ण राज्य उन्हें सौंप देते हैं।

पाण्डव राज्य प्राप्त करके इन्द्रप्रस्थ तक भी नहीं पहुंच पाते कि दुर्योधन के आग्रह पर धृतराष्ट्र को पुनः दूत भेजना पड़ता है। आदेश पालन की दृष्टि से युधिष्ठिर पुनः आ पहुंचते हैं। द्यूत का खेल पुनः प्रारम्भ होता है और इस बार की शर्त के अनुसार पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास मिलता है।

आधार

कथा का आधार महाभारत का सभापर्व है।[3] नाटक की कथावस्तु में अन्तर केवल उस स्थल पर है जहां चीरहरण की घटना को लेखक ने महाभारत के सदृश एक अलौकिक रूप न देकर अति मनोवैज्ञानिक तथा बुद्धिसम्मत रूप दिया है। यहां कृष्ण ही द्रौपदी का वस्त्र नहीं बढ़ाते अपितु धृतराष्ट्र मध्य में पड़कर स्वयं इस अशोभनीय कृत्य को रुकवा देते हैं।

प्रस्तुत नाटक का नामकरण 'वचन का मोल' सम्भवतः इसी आधार पर किया गया है कि सब कुछ खोकर, देकर और सहकर भी युधिष्ठिर अपने वचन का पालन करते हैं।

---

१ प्रकाशक येंडर बुक्स कम्पनी पटना और दिल्ली स० १६५१ वि०
२ महाभारत सभापर्व (द्यूतपर्व) अध्याय ७१ ३५
३ महाभारत सभापर्व अ० ६० ६१ ६५ ६७ ६८ ७१ ७४ ७६ और ७७

कृष्णापमान[1]

गणेशदत्त शर्मा गौड द्वारा लिखित इस नाटक की कथा मुख्य रूप से द्रौपदी के अपमान से सम्बंधित है। पांच अंकों का यह संक्षिप्त नाटक है। कथावस्तु इस प्रकार है—

नाटक का प्रारम्भ धृतराष्ट्र द्वारा पाण्डवों को उनका आधा राज्य दिला दिये जाने पर दुर्योधन के मनस्ताप से होता है। कर्ण, दुर्योधन, शकुनि इत्यादि मिलकर विचार विमर्श करते हैं कि किसी प्रकार धृतराष्ट्र को इस बात के लिए राजी कर लिया जाए कि वे पाण्डवों को कौरवों के साथ जुआ खेलने दें। जुआ खेला जाता है और परिणामस्वरूप युधिष्ठिर जुए में सब-कुछ हार जाते हैं। द्रौपदी का सभा में घोर अपमान किया जाता है।

नाटक में यही अंतिम घटना प्रमुख है। इसके आगे की घटना पुनः राज्य देने का केवल संकेत मात्र है।

आधार

नाटक का आधार महाभारत है।[2] कृष्णा (द्रौपदी) का अपमान महाभारत की एक प्रसिद्ध घटना है। नाटककार ने इसी घटना को अपने नाटक का विषय बनाया है।

विवेचन

नाटक की कथावस्तु छोटी रखने के कारण लेखक को पात्रों के चरित्रों के विकास का अवसर अधिक मिल गया है। दुर्योधन, शकुनि, कर्ण आदि का परिचय अच्छा कराया गया है।

नाटक की भाषा पर युग की थियेट्रिकल कम्पनियों की उर्दू-दीमयी भाषा का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने प्रयत्न करके भाषा को गढ़ा है। उस युग के नाटकों की दूसरी विशेषता अतिरंजित एव अशोभनीय शृंगारिकता इसमें कहीं नहीं आने पाई है।

द्रौपदी-वस्त्रहरण[3]

राय प्रभुलाल लिखित पाँच अंकों का गद्य पद्यमय यह एक सुन्दर नाटक है। लेखक ने कथा को बड़े कौशल से एक सूत्र में पिरोया है। कथावस्तु इस प्रकार है—

नाटक का आरम्भ राजसूय यज्ञ से होता है। दुर्योधन वहाँ पाण्डवों का वैभव तथा

१ प्रकाशक साहित्य कल्पलता कार्यालय भागलपुर प्र० सं० १९७५ वि०

२ महाभारत सान्त्विक अ० २ ६ सभापर्व अ० ४७ ४८ ५६ ६८

३ प्रकाशक श्रीवेंकटेश्वर प्रेस बम्बई संवत् १९५३ सन् १८९६

अपना अपमान देखकर जल भुन उठता है और हृदय में एक शूल लेकर वह हस्तिनापुर लौटता है। धृतराष्ट्र को उकसाकर पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए अपने यहाँ बुलवाता है। युधिष्ठिर द्रौपदी सहित अपना सब-कुछ दाँव पर लगाते हैं। द्रौपदी अपमान सहित सभामण्डप में खींचकर लाई जाती है। उसके प्रश्नों का उत्तर देने का साहस किसी सभासद में नहीं होता। अन्त में धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर उसे वर देते हैं।

युधिष्ठिर को उनका राज्य लौटा दिया जाता है किन्तु पाण्डव अभी इन्द्रप्रस्थ भी नहीं पहुँच पाते हैं कि धृतराष्ट्र के आदेश से उन्हें पुनः बुला लिया जाता है, जुआ फिर खेला जाता है। इस बार उन्हें बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास मिलता है। पाँचों पाण्डव मुनिवेश धारण करके वन को प्रस्थान करते हैं।

नाटक का आधार महाभारत है।[1]

नाटक में घटनाओं का संयोजन उत्तम है। नाटक अभिनेय है। मूलकथा से नाटक की कथा में कोई अन्तर नहीं है।

अज्ञातवास[2]

प्रस्तुत नाटक द्वारकाप्रसाद रचित है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कथा पाण्डवों के बारह वर्ष के वनवास के उपरान्त द्यूत के अनुसार एक वर्ष के अज्ञातवास से सम्बन्ध रखती है। नाटक का कथानक इस प्रकार है—

कुरु की द्यूत के अनुसार पाण्डवों को वन में घूमते फिरते बारह वर्ष हो चुके हैं। अब एक वर्ष अज्ञातवास का शेष है किन्तु भीम और द्रौपदी की इच्छा है कि अधिक कष्ट न सहकर इसी समय हम युद्ध द्वारा अपना अधिकार प्राप्त कर लेना चाहिए। युधिष्ठिर भीम को शान्त करके उचित मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। इसी समय महर्षि व्यास उनके पास आते हैं और सम्मति देते हैं कि उन्हें कहाँ और किस प्रकार गुप्त रूप से रहना चाहिए। व्यासजी के आदेशानुसार युधिष्ठिर अपने परिजन वर्ग को राजा द्रुपद के यहाँ छोड़, अपने-अपने नाम बदलकर राजा विराट के यहाँ द्रौपदी के साथ रहने लगते हैं। युधिष्ठिर कंक नाम से जुए आदि से विराट का मनोरंजन करते हैं। अर्जुन बृहन्नला नाम से हिजड़े का रूप धारण कर विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य सिखाने के कार्य पर नियुक्त होते हैं। भीम, जयन्त नाम से पाकशाला का अध्यक्ष बनता है। नकुल, बाहुक नाम से अश्वशाला का निरीक्षक तथा सहदेव तन्तिपाल नाम से गोशाला का मुख्य अधिकारी बन जाता है। द्रौपदी सैरन्ध्री नाम से विराट राजा की रानी सुदेष्णा की परिचारिका बनती है। कुछ समय उपरान्त द्रौपदी पर कुदृष्टि रखने के कारण रानी का भाई कीचक जो

---

१ महाभारत सभापर्व (द्यूतपर्व) अ० ४७ ५६ ६२ ६७ ७१, ७४ तथा ७६

२ प्रकाशक रसिकेन्द्र नाटक माला कालपी उ० प्र० प्रथम संस्करण

सेनापति भी है और उसके अन्य भाई भीम के द्वारा मारे जाते हैं।

कीचक के मारे जाने के समाचार फैलने पर मत्स्य देश का राजा सुशर्मा अवसर पाकर कौरवों की सहायता से विराटनगर पर आक्रमण कर देता है। दुर्योधन विराटनगर के राजा की गौओं का अपहरण कर लेता है। खूब युद्ध होता है और अर्जुन अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर सबको परास्त कर देता है। दुर्योधन हार जाने पर भी इसलिए प्रसन्न है, कि अवधि पूरी होने से पूर्व ही पाण्डवों का पता चल गया है अतः उन्हें बारह वर्ष पुनः वन में रहना चाहिए। किन्तु भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य ज्योतिष की गणना करके निश्चित रूप से बताते हैं कि अज्ञातवास की अवधि बीत चुकी है।

विजय के उपलक्ष्य में विराटनगर में आनन्द मनाया जाता है। सबके परामर्श से उत्तरा का विवाह अर्जुन पुत्र अभिमन्यु से कर दिया जाता है।

आधार

नाटक का कथानक पूर्णरूपेण महाभारत पर आधारित है।[1]

मुख्य रूप से अभिनय के लिए ही यह नाटक रचा गया प्रतीत होता है क्योंकि घटनाएं क्रमबद्ध सुव्यवस्थित तथा रोचक हैं। पात्रों का चरित्रचित्रण सामान्य है प्रस्तुतीकरण उत्तम है और कल्पना का अंश शून्य के समान है।

भीम-प्रतिज्ञा[2]

जीवानन्द शर्मा लिखित तीन अंकों का यह नाटक थियेट्रिकल कम्पनियों की शैली पर लिखा गया है। दृश्यों की संख्या प्रत्येक अंक में अधिक होने से यह आकार में बड़ा हो गया है। कथानक निम्न प्रकार है—

नाटक का आरम्भ इन्द्रप्रस्थ में महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से होता है। दुर्योधन इस यज्ञ में युधिष्ठिर की प्रतिष्ठा और वैभव को देखकर ईर्ष्या करता है। इसके बाद एक दिन वह महाराज युधिष्ठिर का नया प्रासाद देखने के लिए आता है। भीम प्रासाद का निरीक्षण का कार्य अपने ऊपर लेते हैं। अवलोकन के मध्य दुर्योधन फर्श को हौज हौज को फर्श, दीवार को दरवाजा और दरवाजे को दीवार समझता चलता है। द्रौपदी खिलखिलाकर हँस पड़ती है और अंधों की सन्तान अंधी होती है कहकर व्यंग्य करती है। यह व्यंग्य दुर्योधन के हृदय में चुभ जाता है। पाण्डवों से प्रतिशोध लेने के लिए वह शकुनि की सलाह से धृतराष्ट्र से पाण्डवों को बुलवाता है। आने पर धृतराष्ट्र जुआ खेलने का प्रस्ताव रखते

---

१ महाभारत विराटपर्व अ० ७-१२ २२ ३० ३१ ४ ६६ तथा ७२

२ प्रकाशक बिहार एजेन्सी प्रेस एण्ड स्टोर्स भागलपुर

हैं। युधिष्ठिर आज्ञा-पालन की दृष्टि से खेलने के लिए तैयार हो जाते हैं और राज्य, भाई, द्रौपदी तथा स्वयं तक को दाँव पर लगा देते हैं। द्रौपदी का सभा में अपमान किया जाता है। कृष्ण उसकी लज्जा की रक्षा करते हैं। द्रौपदी के कहने से धृतराष्ट्र पाण्डवों को मुक्त कर देते हैं किन्तु दुर्योधन यह नहीं चाहता इसलिए पाण्डवों के पास जुआ खेलने का निमन्त्रण धृतराष्ट्र के द्वारा वह पुनः भिजवाता है। इस बार हारने वाले के लिए बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष तक अज्ञातवास भुगतने की दण्ड की शर्त रखी जाती है।

इसके बाद महाभारत की परिचित घटनाएँ हैं। अन्त महाभारत युद्ध से होता है। भीम दुःशासन के रक्त से द्रौपदी को स्नान कराता है और इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है।

इस नाटक की कथा महाभारत से ली गयी है। महाभारत से नाटक के कथानक में प्रमुख अन्तर उस स्थल पर है, जहाँ भीम दुःशासन के रक्त से द्रौपदी को स्नान कराकर तुष्टि अनुभव करता है जबकि महाभारत में भीम स्वयं दुःशासन का रक्तपान करता है।[1] दूसरा अन्तर नाटक की उस घटना से सम्बन्ध रखता है, जहाँ दुर्योधन को भ्रान्ति में पड़े देखकर अर्थात् जल को स्थल और स्थल को जल समझने की भूल कर बैठने पर द्रौपदी हँसती है और व्यंग्य कसती है। महाभारत में द्रौपदी के व्यंग्य करने का विवरण न होकर मात्र हँसने का उल्लेख है।[2]

इस नाटक का कथानक बहुत विस्तृत है एक प्रकार से महाभारत की सम्पूर्ण प्रमुख घटनाओं को यह अपने में लिए हुए है, तथापि घटनाओं के प्रस्तुतीकरण का रूप परिष्कृत है।

कीचक वध

महाभारत में विराटपर्व के अन्तर्गत कीचकवधपर्व, एक प्रसिद्ध स्थल है जिसमें विराटनगर में कीचक द्वारा द्रौपदी के अपमान की कथा है। इस कथा से सम्बद्ध दो नाटक प्राप्त हुए हैं—

१ कीचक भगवन्नारायण भार्गव।
२ भीमविक्रम रामेश्वर चौमुवाल कविरत्न।

कीचक[3]

भगवन्नारायण भार्गव के प्रस्तुत नाटक में छह अंक है। कथावस्तु निम्न प्रकार से है—

पाँचों पाण्डव द्रौपदी सहित वेष एवं नाम बदलकर राजा विराट के यहाँ अज्ञातवास

---

१ महाभारत कर्णपर्व ३७ ८३ २८ ३९
२ महाभारत सभापर्व, ३९ ५० ३०
३ प्रकाशक बाला प्रसाद वर्मा स्वाधीन प्रेस झाँसी

करने की योजना बनाता है। ललिता नामी एक दासी का पात्र है जो द्रौपदी की प्रतिद्वन्द्विनी है। कीचक की सच्ची प्रणयिनी होने के कारण, वह द्रौपदी से उसकी निगरानी के लिए कहती है। कीचक राजा विराट की पत्नी का भाई है। वह इस सम्बन्ध में बहुत से वार्तालाप करने वह महल में जाता है किन्तु वहाँ सैरन्ध्री को देखकर उस पर मुग्ध हो जाता है। अपनी बहन से सैरन्ध्री की प्राप्ति के लिए वह कुछ करना चाहता है किन्तु उस समय बिना कुछ कहे वह लौट जाता है। द्रौपदी, कीचक की इस मनोवृत्ति का हाल पाँचों पाण्डवों से कहती है। भीम बहुत उत्तेजित हो उठता है किन्तु युधिष्ठिर किसी प्रकार उसे शान्त करते हैं।

रानी से कीचक का प्रस्ताव सुन द्रौपदी बहुत असन्तोष दिखाती है विरोध प्रदर्शित करती है। एक दिन कीचक रानी के द्रौपदी को अपमानित करता है तो द्रौपदी राजदरबार में जाकर शिकायत करती है। कीचक भी वहाँ पहुँचता है और कहता है कि द्रौपदी ने उसे धक्का दिया है। द्रौपदी को दण्ड मिलता है पर कीचक उसका अपराध क्षमा कर देने की प्रार्थना करता है।

अब पाँचों पाण्डव मंत्रणा करके कीचक को मार डालने का षड्यन्त्र रचते हैं। योजना के अनुसार द्रौपदी (सैरन्ध्री) रात में कीचक के पास जाने का अपना मन्तव्य प्रकट करती है, तो ललिता सैरन्ध्री के कपड़े माँग स्वयं वाटिका में जाने की इच्छा प्रकट करती है। द्रौपदी राजी हो जाती है और महल में जाकर सो रहती है। ललिता के पहुँचने से पूर्व ही स्त्रीवेष में जाकर भीम, कीचक को मार डालता है। अन्तिम दृश्य में ललिता पहुँचती है और कटार से स्वयं को मार लेती है।

आधार

उपर्युक्त कथानक मूलतः महाभारत के विराटपर्व[1] से लिया गया है। यह कथा वहाँ कीचक वध पर्व के अन्तर्गत है किन्तु प्रस्तुत नाटक में कल्पना का अंश भी प्रचुर मात्रा में है। सबसे पूर्व तो ललिता (दासी) पात्र ही कल्पित है अतएव ललिता से सम्बन्धित प्रायः सभी घटनाएँ भी कल्पित है, यथा द्रौपदी सैरन्ध्री से कहने उसके वस्त्र पहन कीचक के पास जाने की उसकी इच्छा तथा इच्छा पूरी न होने पर स्वयं कटार से आत्मघात कर लेना इत्यादि सभी घटनाएँ इसी प्रकार की हैं। इन घटनाओं से नाटक के सौन्दर्य एवं प्रभाव में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

अन्तर

अपने मूल आधार से नाटक की कथा में जो अन्तर है वे इस प्रकार है—

१ प्रथम अन्तर उस स्थल पर है, जहाँ द्रौपदी अपनी विपत्ति का वर्णन पाँचों पाण्डवों को सुनाती है और पाँचों पाण्डव मंत्रणा करके कीचक को मारने की योजना बनाते हैं। महाभारत में द्रौपदी, केवल भीम से ही कीचक द्वारा अपने अपमान का वर्णन करती है और केवल भीम ही बिना किसी भाई की सम्मति और सहायता के कीचक का वध कर डालता है।[2]

---

१ महाभारत विराटपर्व (कीचक वध पर्व) अध्याय ७ २४
२ महाभारत विराटपर्व (कीचक वध पर्व) अध्याय १७ २२

२ द्वितीय अन्तर स्थल भेद से सम्बन्ध रखता है। महाभारत में राजा विराट की पत्नी सुदेष्णा (कीचक की बहन), द्रौपदी (सैरन्ध्री) को कीचक के महल में सुरा लाने भेजती है और वहीं वह द्रौपदी का अपमान करता है। नाटक में द्रौपदी कीचक के द्वारा एक गली में सतायी जाती है।[१] अन्य प्रसंग मूल कथा के अनुसार हैं।

ललिता का चरित्र प्रस्तुत नाटक में बहुत सुन्दर चित्रित किया गया है। उसे कीचक की प्रणयिनी बनाकर लेखक ने चरित्र में उन्मत्तता तथा कथानक में रोचकता भर दी है। प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से यह एक सुन्दर नाटक है। भाषा पुष्ट परिमार्जित है। नाटक में परिहास-सामग्री पुरानी प्रथा के अनुसार जुटाने में भागवजी ने कारीगरी से काम लिया है। कीचक की विषयवासना और लालुपना का चित्र खींचा गया है पर कुरुचि को स्थान नहीं मिल पाया है।

भीमविक्रम[२]

इस नाटक की कथा अति संक्षिप्त है। भीम पराक्रम से सम्बन्धित केवल एक घटना कीचक वध का उल्लेख है। राजा विराट के यहाँ पाण्डवों के अज्ञातवास की कथा में से केवल कीचक के मारे जाने की घटना को लेकर ही नाटक की कथावस्तु का विस्तार किया गया है।

प्रस्तुत नाटक की कथा भगवन्नारायण भार्गव लिखित नाटक 'कीचक' की कथा के सदृश ही है। अन्तर निम्नलिखित हैं—

१ यहाँ कीचक की पत्नी चन्द्रकला एक कल्पित पात्र भी है जो महाभारत तथा कीचक नाटक, दोनों स्थलों पर नहीं दीख पड़ता। पत्नी कीचक को द्रौपदी के प्रति कुदृष्टि रखने से बहुत रोकती है किन्तु कामान्ध कीचक कोई बात मानने के लिए तैयार नहीं होता।

२ कीचक नाटक में द्रौपदी पाँचों पाण्डवों से अपनी विपत्ति का वर्णन करती है किन्तु इस नाटक में द्रौपदी केवल भीम से ही अपना दुखड़ा रोती है। इस प्रसंग में यह महाभारत के समान है।[३]

३ कीचक का वध इस नाटक में नाट्यशाला में भीम द्वारा किया जाता है, जबकि 'कीचक' नाटक में वधस्थल, वाटिका है। महाभारत में भी कीचक का वधस्थल नृत्यशाला ही है।[४] भीम पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अनुसार पहले से ही जाकर नृत्यशाला में एक पलंग पर लेट जाता है। कीचक के वहाँ आने पर तथा उसे टटोलने पर भीम उठकर उसे मल्लयुद्ध द्वारा मार डालता है।

---

१ महाभारत विराटपर्व (कीचकवधपर्व) अ० १५ श्लोक १

२ प्रकाशक हिंदी पुस्तक एजेन्सी २०३ हरिसन रोड कलकत्ता। प्रथम संस्करण सं० १९९२

३ महाभारत विराटपर्व अध्याय १७-२२

४ महाभारत विराटपर्व (कीचक वध पर्व) अध्याय २२, श्लोक २८,३९

विवेचन

इस नाटक में पात्रों के सम्भाषण में दरबारी शिष्टता का ध्यान नहीं रखा गया है। गुप्त वेष में रहते हुए पाण्डव, राजा के सम्मुख दरबार में एक दूसरे को वास्तविक नाम से सम्बोधित करते हुए दिखाये गये हैं। वही युधिष्ठिर सैरन्ध्री के अपमान की जड़ प्रथा जुए को बताने लगते हैं। कथा को नाटकीय रूप देने के लिए जिस कौशल की आवश्यकता है उसकी यहाँ कमी है।

प्रस्तुत नाटक का नाम कुछ भ्रामक है। भीमविक्रम के स्थान पर इसका नाम 'कीचकवध' होना चाहिए था, क्योंकि भीम के विभिन्न पराक्रमों का वर्णन यहाँ नहीं है।

राजतिलक अर्थात् किरातार्जुन-युद्ध नाटक[1]

श्री जगन्नारायण देवशर्मा तथा दयाशंकर शर्मा, लेखक द्वय लिखित इस नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है—

कथानक

प्रथम महर्षि व्यास की प्रेरणा से इन्द्रकील पर्वत पर शिवजी को प्रसन्न करके पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन की कठोर तपस्या का चित्रण है। अन्त में शिवजी किरात का रूप धारण करके अर्जुन की वीरता की परीक्षा लेने के लिए स्वयं उससे युद्ध करते हैं और उसकी वीरता से प्रसन्न होकर पाशुपत अस्त्र उसे देते हैं।

अर्जुन अस्त्र को लेकर अपने भाइयों के साथ लौटकर आता है। मार्ग में ही व्यासजी मिल जाते हैं। वे अर्जुन की सफल तपस्या से बड़े प्रसन्न हैं और आश्वासन देते हैं कि अब शत्रुओं पर विजय निश्चित है। महाराज युधिष्ठिर के गुणों की प्रशंसा करते हुए महर्षि व्यास वन में ही अपने कमण्डलु से जल लेकर उनका अभिषेक करते हैं।

आधार

यह कथा महाभारत के वनपर्व के एक लघु प्रकरण, किरातपर्व से सम्बन्ध रखती है। संस्कृत में महाकवि भारवि का प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीयम् भी वनपर्व के इसी खण्ड की कथा पर आश्रित है। प्रस्तुत नाटक के लेखकों ने अपने नाटक की कथावस्तु के लिए किरातार्जुनीयम को ही मुख्य आधार बनाया है। यह बात नाटक के आरम्भ के वक्तव्य में स्पष्ट कर दी गयी है।

संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय नामक एक वीर रस प्रधान महाकाव्य है। यह

---

१ प्रकाशक ज्योतिभवन, रामनगर, बनारस, प्रथम सं० १९८८ वि० सन् १९३१

नाटक उसी के आधार पर लिखा गया है।[1]

किरातार्जुनीय की कथा इस प्रकार है—

युधिष्ठिर की शर्त में पराजय होने पर, पूर्व निश्चित शर्त के अनुसार समस्त राज्य चले जाने पर, द्वादश वर्ष का वनवास एवं अन्त में एक वर्ष के अज्ञातवास का दण्ड भोगने के लिए पाण्डवों को वन जाना पड़ा। वन में अनेक वर्षों का कष्टमय जीवन बिताने पर युधिष्ठिर के अनुज और कृष्णा में उत्तरोत्तर अपनी स्थिति के प्रति असन्ताप बढ़ रहा था। अवधि की समाप्ति से पूर्व ही भीम और कृष्णा शत्रु पर आक्रमण कर देने के लिए युधिष्ठिर पर जोर डाल रहे थे। ऐसे ही समय में महर्षि व्यास उनके पास आते हैं और दोनों पक्षों के बलाबल सहित समस्त परिस्थिति का परिचय देते हुए अति शक्तिशाली शत्रुपक्ष पर विजय प्राप्त करने के लिए युधिष्ठिर से आग्रह करते हैं कि वे अर्जुन को तप करने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर भेजें, जहां वह अपनी कठोर आराधना से इन्द्र को प्रसन्न करके अपेक्षित शस्त्र और शक्ति प्राप्त करे। वे स्वयं भी शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने के लिए अर्जुन को विद्या देते हैं—

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप देवतानाम्।
दातुं प्रदानोचितभूरि धाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मिविद्याम्।[2]

अर्जुन महर्षि के आदेश से अपनी तपस्या द्वारा पहले इन्द्र को प्रसन्न करता है। तत्पश्चात् इन्द्र की सम्मति से पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के उद्देश्य से, भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिए कठोर तपस्या करता है। पर्याप्त समय के उपरान्त वे अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए किरात का वेष धारण करके स्वयं उपस्थित होते हैं। एक शूकर को अर्जुन और किरातवेषधारी शंकर दोनों ही अपना लक्ष्य बनाते हैं।

इस लक्ष्यवेध के प्रसंग को लेकर दोनों में झगड़ा आरम्भ हो जाता है। अन्त में यह पारस्परिक युद्ध में परिवर्तित हो जाता है। युद्ध अति भयंकर होता है। अर्जुन आहत हो जाता है परन्तु किरातवेषधारी भगवान शंकर उसके वीर्य और शौर्य से अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। अपने वास्तविक रूप में दर्शन देकर उसे मनोवांछित पाशुपतास्त्र प्रदान करते हैं—

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः,
प्रणतशिरसमीशः सादरं सान्त्वयित्वा।
ज्वलदनलपरीतं रौद्रमस्त्रं दधानं,
धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश॥[3]

और साथ ही अस्त्र के समस्त रहस्य भी बताते हैं। इन्द्र सहित अन्य लोकपाल भी वहां उपस्थित होकर अपनी अपनी शुभकामनाओं के साथ उसे विविध प्रकार के अस्त्र भेंट स्वरूप देते हैं—

---

१ नाटक के प्रारम्भ में लेखक का वक्तव्य पृष्ठ ७
२ किरातार्जुनीय ३.२३
३ वही १८.४४

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य
त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तः
विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः॥[1]

तपस्या से अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करके अर्जुन अपने भाइयों के पास पुनः लौट आता है।

अन्तर

किरातार्जुनीय की इस कथा में और नाटक की कथा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि भारवि का किरातार्जुनीय महाकाव्य तो अर्जुन को शिवजी से पाशुपतास्त्र और अन्य देवों से विविध अस्त्रों की प्राप्ति के साथ युधिष्ठिर के पास पहुँचकर समाप्त हो जाता है परन्तु नाटक में पूर्व निर्दिष्ट कथा के अनुसार पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के उपरान्त महाराज युधिष्ठिर का राजतिलक भी किया जाता है। महर्षि व्यास अर्जुन की सफलता से प्रसन्न होकर महाराज युधिष्ठिर के उन्नत गुणों की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए अपने कमण्डल से जल लेकर वन में ही युधिष्ठिर का राजतिलक कर देते हैं। इस घटना के कारण ही इस नाटक का नाम 'राजतिलक अथवा किरातार्जुन युद्ध नाटक' रखा गया है। किरातरूपधारी भगवान् शिव और अर्जुन के युद्ध का वर्णन तो भारवि के किरातार्जुनीय में भी है। इस घटना के लिए नाटक के लेखक का आधार महाभारत का वनपर्व रहा है।

विद्रोहिणी अम्बा[2]

अम्बा का चरित्र महाभारत में इतना प्रमुख रहा है कि उस सम्पूर्ण पर्व [illegible] अम्बोपाख्यान के नाम से यही विद्यमान है। प्रस्तुत नाटक के लेखक उदयशंकर भट्ट ने इसी कथानक को अपनी कृति के लिए चयन किया और अपने नाटक के माध्यम से [illegible] अम्बा के चरित्र को ही प्रस्तुत किया है अपितु नारी [illegible] के स्वाभिमान तथा सामर्थ्य को भी मुखरित करने का सफल प्रयास किया है। नाटक की कथावस्तु निम्नलिखित है—

नाटक का प्रारम्भ काशिराज के उद्यान में होता है। उद्यान में वे किसी सामन्त [illegible] अपनी तीनों पुत्रियों का [illegible] में [illegible] और [illegible] हो [illegible] है। [illegible] में [illegible] [illegible] करता रहता है। [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] करते हैं किन्तु [illegible]

---

[1] किरा० १८।४८
[2] [illegible]

नहीं समझ पाता। उधर काशिनरेश की सबसे बड़ी पुत्री अम्बा का सौभनरेश शाल्व से साक्षात्कार होता है और दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाते हैं।

स्वयंवर होता है दूर-दूर के नरेश आ आकर अपना स्थान ग्रहण करते हैं। शाल्व भी पहुंचता है, किन्तु सबके सम्मुख ही भीष्म अपने अतुलित बल के द्वारा काशिराज की तीनों कन्याओं—अम्बा अम्बिका और अम्बालिका—को उठाकर ले आते हैं। भीष्म के पराक्रम के सम्मुख युद्ध में कोई नहीं ठहर पाता।

अपनी माता सत्यवती के आदेशानुसार भीष्म अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के साथ अम्बिका और अम्बालिका का विवाह कर देते हैं। विचित्रवीर्य राजयक्ष्मा का रोगी है और उसके मनोविनोद के हेतु ही ये कन्याएँ लायी जाती हैं। सबसे बड़ी अम्बा भीष्म से शाल्व के प्रति अपने पूर्व आकर्षण की बात कहती है और उसी के पास चले जाने की अनुमति माँगती है। भीष्म सहर्ष अनुमति दे देते हैं किन्तु सौभनरेश शाल्व अम्बा को ग्रहण करने से अब एकदम तटस्थ हो जाते हैं। अम्बा अनुनय विनय करती है किन्तु शाल्व भीष्म का उच्छिष्ट कहकर उसे स्वीकार नहीं करते।

उधर विचित्रवीर्य की मृत्यु हो जाती है। सत्यवती अपने यौवन को धिक्कारती है, पुत्र के मरने पर विकल हो उठती है। उसकी दोनों पुत्रवधुएँ छिन्न लता के सदृश दीन-हीन, मलिन दीख पड़ती हैं।

अम्बा, परशुराम से प्रार्थना करती है कि वे उसकी सहायता करें। परशुराम भीष्म से अम्बा के साथ विवाह कर लेने के लिए कहते हैं, क्योंकि उसी के कृत्य के कारण अम्बा इस स्थिति में पहुंची है, किन्तु भीष्म स्वीकार नहीं करते। फलस्वरूप परशुराम और भीष्म में युद्ध होता है परशुराम अपनी पराजय स्वीकार कर लेते हैं।

अम्बा अब भयंकर तप करती है। शिव को प्रसन्न कर वह यही वर मांगती है कि वह किसी प्रकार भीष्म को मार सके। शिव उसकी कामना पूरी करते हैं। अम्बा राजा द्रुपद के यहाँ शिखण्डी के रूप में जन्म ले भीष्म की मृत्यु का कारण बनती है।

आधार

यह सम्पूर्ण कथा महाभारत में उपलब्ध है। महाभारत में भी यह एक स्थल पर नहीं है। उद्योगपर्व के अम्बोपाख्यान पर्व[1] के अतिरिक्त आदिपर्व[2] में भी यह उपाख्यान साधारण परिवर्तनों के साथ इसी रूप में मिलता है

उद्योगपर्व (अम्बोपाख्यानपर्व)

भीष्म के दुर्योधन से यह कहने पर कि वे शिखण्डी से युद्ध नहीं करेंगे और न कुन्ती के पुत्रों का वध करेंगे, दुर्योधन भीष्म से प्रश्न करता है कि—

भारतश्रेष्ठ! जब शिखण्डी धनुष-बाण उठाये समर में आततायी की भाँति आपको,

---

१ महाभारत उद्योगपर्व (अम्बोपाख्यानपर्व) अ० १७३ १९०
२ वही आदिपर्व (सम्भवपर्व) अ० १०१ १०२

मारने आयेगा, उस समय इस रूप में देखकर भी आप उसे क्या नहीं मारेंगे ?" तो भीष्म दुर्योधन को सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाते हैं और यही कथानक महाभारत में अम्बोपाख्यानपर्व के नाम से प्रख्यात है।

महाभारत का यह पर्व दुर्योधन के उपर्युक्त प्रश्न से ही आरम्भ होता है। भीष्म वर्णन करते हैं—

चित्रांगद की मृत्यु के उपरान्त, मैंने विचित्रवीर्य का विवाह किसी योग्य कुल की कन्या से करने का निश्चय किया। उन्हीं दिनों मैंने सुना कि काशिराज की तीन कन्याएँ हैं, जो अप्रतिम रूप-सौन्दर्य से सुशोभित हैं उनके नाम अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका हैं और वे स्वयंवर सभा में स्वयं ही पति का चुनाव करने वाली हैं। उन कन्याओं के लिए भूमण्डल के सम्पूर्ण नरेश आमन्त्रित किये गए हैं। स्वयंवर का समाचार पाकर मैं एक ही रथ के द्वारा काशिराज के नगर गया।

वहाँ पहुँचकर मैंने वस्त्राभूषणों से अलंकृत, उन तीनों कन्याओं को देखा। उसी समय आमन्त्रित होकर आये हुए सम्पूर्ण राजाओं पर भी मेरी दृष्टि पड़ी। तदनन्तर युद्ध के लिए खड़े हुए उन समस्त राजाओं को ललकारकर उन तीनों कन्याओं को मैंने अपने रथ पर बैठा लिया।

'पराक्रम ही इन कन्याओं का शुल्क है।' —यह जानकर उन्हें रथ पर चढ़ाकर मैंने वहाँ आये हुए समस्त भूपालों से कहा, "नरश्रेष्ठ राजाओ! शान्तनुपुत्र भीष्म इन राजकन्याओं का अपहरण कर रहा है तुम सब लोग पूरी शक्ति लगाकर इन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करो, क्योंकि मैं तुम्हारे देखते देखते इन्हें बलपूर्वक लिए जाता हूँ। बार बार ऐसा दोहराने पर उन राजाओं ने विशाल रथसमूह द्वारा मुझे घेर लिया किन्तु जैसे देवराज इन्द्र दानवों पर विजय पाते है, उसी प्रकार मैंने बाणों की वर्षा करके उन सब नरेशों को जीत लिया और राजकुमारियों को माता सत्यवती को लाकर सौंप दिया।

उस समय काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा ने कुछ लज्जित होकर बताया कि मैंने अपने मन से पहले शाल्वराज को अपना पति चुन लिया है उन्होंने भी एकान्त में मेरा वरण किया है। शाल्वराज निश्चय ही मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम्हें मुझे उनकी सेवा में जाने की आज्ञा देनी चाहिए।

इस पर माता सत्यवती से आज्ञा ले मन्त्रियों, ऋत्विजों तथा पुरोहितों से पूछकर, बड़ी राजकुमारी अम्बा को मैंने जाने की आज्ञा दे दी। आज्ञा पाकर राजकुमारी अम्बा वृद्ध ब्राह्मणों के संरक्षण में शाल्वराज के नगर में गयी। शाल्वराज से मिलकर वह इस प्रकार बोली—

'मैं तुम्हारे ही पास आयी हूँ। मुझे धर्मानुसार ग्रहण कर धर्म के लिए ही अपने चरणों में स्थान दो। मैंने मन ही मन सदा तुम्हारा ही चिन्तन किया है और तुमने भी एकान्त में मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव किया था।" इस पर शाल्व बोला—

तामब्रवीच्छाल्वपतिः स्मयन्निव विशाम्पते।
त्वयान्यपूर्वया नाहं भार्यार्थी वरवर्णिनि॥

गच्छ भद्रे पुनस्तत्र सकाशं भीष्मकस्य वै ।
नाहमिच्छामि भीष्मेण गृहीतां त्वां प्रसह्य वै ॥[1]

"क्योंकि भीष्म के द्वारा तुम बलात् ले जाई गयी थी अत मैं तुम्हें ग्रहण नही कर सकूंगा।'—शाल्व के मुख से इस प्रकार की कटु बात सुनकर अम्बा अति दुःखित हुई और रोती हुई कहने लगी—

भजस्व मां शाल्वपते भक्तां बालामनागसम् ।
भक्तानां हि परित्यागो न धर्मेषु प्रशस्यते ।[2]

राजकुमारी अम्बा ने अनेक प्रकार से प्रार्थना की, किन्तु शाल्व पर कोई प्रभाव न पड़ा वह अपने निश्चय से तनिक भी नही हटा। अम्बा निराश तथा अति दुःखित होकर वहाँ से चली आयी और तपस्वी महात्माओं के आश्रम पर जाकर उसने वह रात बितायी। उसके मुख से सम्पूर्ण स्थिति को भली प्रकार जानकर ऋषि मुनि बड़े असमंजस में पड़ गये और विचारने लगे कि उसके हित के लिए वे क्या कर सकते है। कुछ लोगों ने सम्मति प्रकट की कि उन्हें शाल्व को बाध्य करना चाहिए कि वे अम्बा को स्वीकार कर लें। कुछ लोगों ने यह निश्चय प्रकट किया कि ऐसा होना सम्भव नही है क्योंकि इस कन्या को त्याग उत्तर देकर उसने ग्रहण करने से इन्कार कर दिया है। अन्त सब तपस्वियों ने एकमत होकर यही सुझाव दिया कि वह अपने पिता के घर चली जाए। इसके पश्चात जो आवश्यक होगा वही उसके पिता काशिराज सोचें विचारेंगे। किन्तु अम्बा ने पिता के घर जाना इस कारण उचित न समझा कि बन्धु-बान्धवों के मध्य जाकर उसे अपमानित होकर रहना पड़ेगा। यह सुनकर समस्त तपस्वी अति चिन्तामग्न हो गए। तभी राजर्षि होत्रवाहन उस वन में आ पहुँचे। ये अम्बा के नाना थे। अम्बा की यह दुरवस्था सुनकर उन्होने उसे आश्वासन देते हुए कहा—

'तू मेरे कहने से तपस्यापरायण जमदग्निनन्दन परशुरामजी के पास जा। वे तेरे इस महान दुःख और शोक को अवश्य दूर करेंगे।'

राजा होत्रवाहन अम्बा से इस प्रकार की बातें कर ही रहे थे कि उसी समय परशुराम के प्रिय सेवक अकृतव्रण वहाँ प्रकट हुए। उन्हें देखते ही सहसा मुनि तथा संजय वंशी वयोवृद्ध राजा होत्रवाहन सभी उठकर खड़े हो गये। आदर सत्कार के उपरान्त वे सब उन्हें फिर घेर कर बैठ गए और परशुरामजी के विषय में अकृतव्रण से पूछने लगे। अकृतव्रण के सूचना देने पर कि कल तक परशुरामजी यहीं आ पहुँचेंगे, क्योंकि वे भी आपसे मिलने के लिए इच्छुक हैं सब बड़े आनन्दित हुए। राजा होत्रवाहन ने अपनी दौहित्री अम्बा का सम्पूर्ण वृत्तान्त उनके समक्ष प्रस्तुत किया। अकृतव्रण सब-कुछ सुनकर अम्बा से पूछने लगे कि अब उसकी क्या इच्छा है। परशुरामजी शाल्व को भी उससे विवाह करने के लिए विवश कर सकते हैं और यदि वह परशुरामजी के द्वारा भीष्मजी को पराजित देखना चाहती है, तो यह भी सम्भव हो सकता है। अम्बा ने जब सब निर्णय अकृतव्रण पर ही छोड़ दिया, तो अकृतव्रण ने सम्मति दी कि—

---

१ महाभारत उद्योग पर्व (अम्बोपाख्यान पर्व) अ० १७५ श्लोक ४५
२ महाभारत उद्योगपर्व, अ० १७५

'यदि गंगानन्दन भीष्म तुम्हें हस्तिनापुर न ले आते तो राजा शाल्व, परशुरामजी के कहने पर तुम्हें आदरपूर्वक स्वीकार कर लेता, किन्तु भीष्म तुम्हें जीतकर अपने साथ ले गए इसी कारण उसके मन में तुम्हारे प्रति संशय उत्पन्न हो गया है। उधर भीष्म को अपने पुरुषार्थ का अभिमान है और वे इस समय अपनी विजय से उल्लसित हो रहे हैं अतः भीष्म से ही बदला लेना तुम्हारे लिए उचित होगा।

अम्बा को भी यह प्रस्ताव उत्तम लगा और उसने कहा कि मैं भी युद्ध में भीष्म के वध की इच्छा रखती हूँ क्योंकि उन्हीं के कारण मैं दुःख में पड़ी हूँ।

परशुरामजी के पधारने पर अम्बा ने यही प्रार्थना की। अकृतव्रण ने भी उसका यह कहते हुए समर्थन किया कि वीरवर भार्गव आपने समस्त क्षत्रियों को जीतकर, ब्राह्मणों के बीच में यह प्रतिज्ञा की थी कि 'यदि कोई क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणों से द्वेष करेगा तो मैं उसे निश्चित ही मार डालूंगा। साथ ही भयभीत होकर शरण में आये हुए शरणार्थियों का परित्याग मैं जीते जी किसी प्रकार नहीं कर सकूंगा और जो युद्ध में एकत्र हुए क्षत्रियों को जीत लेगा, उस तेजस्वी पुरुष का भी मैं वध कर डालूंगा।

परशुराम को अपनी प्रतिज्ञा स्मरण हो आई और उन्होंने भीष्म को दण्ड देने का निश्चय कर लिया। किन्तु प्रथम, साम नीति का अनुसरण करते हुए वे भीष्म से मिलने के लिए जाकर हस्तिनापुर के बाहर ठहर गये। भीष्म ने उनका आदर-सत्कार किया किन्तु अम्बा को ग्रहण कर लेने की बात सुनकर उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'मेरा तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, मैं इसका विवाह अब अपने भाई से भी नहीं कर सकता।' यह सुनकर परशुराम क्रुद्ध हो उठे और भीष्म के स्वीकार न करने पर उन्हें युद्ध करने के लिए विवश कर दिया। माता गंगादेवी ने स्वरूपतः प्रकट होकर भीष्म से गुरु के साथ युद्ध न करने की याचना की। परशुरामजी के पास जाकर भी पुत्र की ओर से क्षमा माँगी किन्तु परशुरामजी ने गंगादेवी से यही कहा कि वे ही किसी प्रकार अपने पुत्र को समझा लें। भीष्म ने माता का आग्रह नहीं सुना। परशुराम और भीष्म के मध्य तेईस दिन तक घोर युद्ध होता रहा, जिसमें दोनों ने एक-दूसरे पर शक्ति ब्रह्मास्त्र इत्यादि अस्त्रों का प्रयोग किया। भीष्म प्रस्वापनास्त्र प्रयोग करना ही चाहते थे कि तभी नारद सहित आठों वसुओं ने प्रकट होकर युद्ध रोक दिया। परशुराम ने भी भीष्म से पराजय मान ली और अम्बा के सम्मुख अपनी असमर्थता स्वीकार कर ली।

अम्बा ने अब शिव की आराधना प्रारम्भ की। छः महीने तक निरन्तर केवल वायु पीकर अम्बा ठूंठे काठ की तरह निश्चल भाव से खड़ी रही। माता गंगा ने उसके समीप जाकर कहा कि यदि तू इसी प्रयत्न में मर जायगी तो तुझे टेढ़ी मेढ़ी नदी बनना पड़ेगा। केवल बरसात में ही तेरे भीतर जल दिखाई देगा। बरसात में भी भयंकर ग्राहों से भरी भरी रहने के कारण समस्त प्राणियों के लिए तू अत्यन्त भयंकर घोर-स्वरूपा रहेगी। शेष आठ महीने तू शुष्क रहेगी इसलिए तू अपना प्रयत्न छोड़ दे तू इसमें सफल नहीं होगी। किन्तु अम्बा अपने प्रयत्न में नहीं हटी। फलस्वरूप गंगा के कथनानुसार वत्स देश में आधे शरीर से वह अम्बा नाम की नदी बन गयी शेष आधे अंग से वत्स देश में ही वह एक कन्या होकर प्रकट हुई। अपने इस जन्म में भी वह तपस्यारत रही। शिवजी प्रकट हुए और उसके तप

स प्रभावित होकर उसको उसकी इच्छानुसार वर दिया कि तू राजा द्रुपद के यहाँ शिखण्डी नाम से पुत्री के रूप म जन्म लेगी और शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाने की कला म निपुणता प्राप्त करेगी। तू प्रथम, पुत्री के रूप म जन्म लेगी, तत्पश्चात् पुत्र बनकर भीष्म का वध करेगी।

अम्बा यह सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुई और तब वह दूसरे जन्म म यमुना नदी के किनारे चिता की आग म जलकर भस्म हो गयी।

इसके उपरान्त की कथा, अम्बा के शिखण्डी रूप म जन्म लेकर कन्या से पुत्र बनने से सम्बन्ध रखती है। यह कथा भी पर्याप्त विस्तृत है—

राजा द्रुपद न सन्तानहीन होने के कारण पुत्र प्राप्ति के लिए शिव की आराधना की। शिव न प्रसन्न होकर यही वर दिया कि तुम्हें पुत्र नहीं पुत्री होगी, जो कुछ समय के उपरान्त पुत्र हो जायगी। राजा द्रुपद के शिवजी के वरदानस्वरूप पुत्री तो उत्पन्न हो गयी, किन्तु बहुत समय बीतने पर भी वह पुत्र नहीं बन पायी, यहाँ तक कि दशार्णराज की कन्या से उन्होंने उसका विवाह भी रचा दिया, क्योंकि शिवजी के वचन पर उन्हें अटूट विश्वास था। दशार्णराज को जब यह ज्ञात हुआ कि उनका जामाता पुरुष नहीं, स्त्री है, तो पुत्री के कारण उद्विग्न हो, उन्होंने आक्रमण कर दिया। द्रुपद अति चिन्तित हुए किन्तु पुत्री शिखण्डी ने वन म जाकर तपस्या की और एक यक्ष ने प्रसन्न होकर उसे अपना पुरुषत्व कुछ समय के लिए दे दिया। शिखण्डी के रूप म जब वह पुरुष बनकर घर लौटी तो द्रुपद चिन्तामुक्त हो गये। उधर कुबेर न उस यक्ष को सदा के लिए स्त्री बने रहने का शाप दे दिया। इस प्रकार शिखण्डी को पुरुषत्व प्राप्त हुआ।[1]

उद्योगपर्व के अम्बोपाख्यानपर्व की कथा यहाँ समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात आगे चलकर शिखण्डी को युद्धभूमि म आगे रखकर ही अर्जुन न भीष्म पर विजय प्राप्त की। स्वयं शिखण्डी ने भीष्म के वक्षस्थल म पैने-पैने बाणों का प्रहार किया[2]—

शिखण्डी तु महाराज भरतानां पितामहम्।
आजघानोरसि क्रुद्धो नवभिर्निशितैः शरैः॥
ततः किरीटी संक्रुद्धो भीष्ममेवाभ्यवर्तत।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत्॥[3]

नाटक की अधिकांश घटनाएँ उपर्युक्त मूल कथा से साम्य रखती हैं अन्तर केवल कुछ स्थलों पर है, जिनमें असंगतियाँ भी विद्यमान हैं।

अन्तर

१ प्रथम अन्तर तो यही है कि उद्योगपर्व की इस कथा म कहीं यह स्पष्ट नहीं है

---

१ शिखण्डी सम्बन्धी कथा का यह रूप नाटक म नहीं है किन्तु इसका उल्लेख अवश्य है इसलिए यह कथा यहाँ दी गयी है।
२ महाभारत (भीष्मवधपर्व) अध्याय ११९
३ वही अ ११९ श्लोक ४३ ५०

कि विचित्रवीर्य के स्थान पर भीष्म, काशिराज की कन्याओं के स्वयंवर में क्यों पहुँचे ? वहाँ केवल इतना ही कहा गया है कि मैंने अपने भाई विचित्रवीर्य का विवाह किसी कुलीन कन्या से करना निश्चित किया है।[1]

विचित्रवीर्य के स्वयं आयोजन में सम्मिलित न होने वाले प्रसंग पर इस कथन से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। मूल कथा में कहीं यह उल्लेख भी नहीं है कि विचित्रवीर्य क्षय रोगी था अन्यथा यही कल्पना की जा सकती थी कि रुग्णावस्था के ही कारण वह स्वयं नहीं जा सका होगा अथवा भीष्म के हृदय में यह आशंका जगी होगी कि रोगी व्यक्ति का सम्भवतः कोई युवति कन्या वरण न करना चाहे—इन दोनों में से किसी भी कारण का निर्देश मूल कथा में नहीं है।

नाटक में यह असंगति नहीं है। वहाँ विचित्रवीर्य के स्वयंवर में न जाने का कारण मुख्य रूप से काशिराज के द्वारा आमन्त्रित न किया जाना ही है। भीष्म ने इसे अपना घोर अपमान समझा, क्योंकि इसके मूल में विचित्रवीर्य की कुलीनता पर आक्षेप आता था। यह तथ्य नाटक में बिलकुल स्पष्ट है।[2]

२. नाटक की कथा में शाल्व, अम्बा को स्वीकार करने से इंकार कर देता है। उसका कथन है —

'तुम उच्छिष्ट हो। आकाश से मल वतन में गिरी हुई अमृत की बूँदें भी पीने योग्य नहीं रहतीं। स्त्री ही संसार में एक ऐसा पदार्थ है जो केवल एक बार, केवल एक बार स्पर्श किया जाता है तुम जाओ।'[3]

नाटक में शाल्व के इस कथन से शाल्व के हृदय की इच्छा की तो अभिव्यक्ति हो जाती है किन्तु किसी अन्य व्यक्ति द्वारा केवल स्पर्श किये जाने के कारण और यह भी अज्ञान में बिना किसी भावना के ही त्याग दिए जाना, शाल्व के चरित्र को नीचे गिरा देता है और साथ ही यह तर्कसंगत भी नहीं प्रतीत होता। पाठक अंतिम तथ्य तक पहुँचने के हेतु आकुल ही बना रहता है। उद्योगपर्व की इस कथा में शाल्व जहाँ अन्य बातें अम्बा से कहता है वहाँ अन्त में यह भी कह देता है कि मैं भीष्म से डरता हूँ इसलिए तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता।

गच्छ गच्छेति तां शाल्वः पुनः पुनरभाषत।
बिभेमि भीष्मात् सुश्रोणि त्वं च भीष्मपरिग्रहः ॥[4]

जो व्यक्ति इतने सम्पूर्ण राजाओं के सम्मुख तीन-तीन राजकन्याओं को छीनकर ले आया उस व्यक्ति की वस्तु को अपने पास रखना खतरे से खाली नहीं होगा—ऐसे व्यक्ति से डरना स्वाभाविक है। यह कारण उचित एवं संगत प्रतीत होता है। शाल्व चाहे कितना ही वीर रहा हो किन्तु समय आने पर मैदान छोड़ गया—ऐसे व्यक्ति का भयभीत होना ही युक्ति

१. महाभारत उद्योगपर्व (अम्बोपाख्यान पर्व) अ० १७३ श्लोक ८-९
२. अम्बा (उदयशंकर भट्ट) पृ० ६४-६५
३. वही पृ० ७८
४. महाभारत उद्योगपर्व (अम्बोपाख्यान पर्व) अध्याय १७५ २४

युक्त है।

३ नाटक में यह भी विचित्र लगता है कि अम्बा के शाल्व के द्वारा ग्रहण न किए जाने पर काशिराज (अम्बा के पिता) के हृदय में कर्तव्य के प्रति कोई प्रेरणा नहीं जगी। यह तो सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इसके सम्बन्ध में काशिनरेश को कुछ ज्ञात नहीं हुआ हो क्योंकि यह घटना तो इस प्रकार की थी, जो दावानल के सदृश चारों ओर फैल जानी चाहिए थी। महलों में रहने वाली अम्बिका तथा अम्बालिका तक को भी इस घटना का ज्ञान, नाटककार ने दिखाया है—

'अम्बालिका—और बहन का क्या हुआ?

अम्बिका—सुना है शाल्व ने उसके साथ विवाह नहीं किया।

अम्बालिका—यह तो बड़ी बुरी खबर है। अब वह कहाँ जाएँगी?'[1]

बहनें चिन्तित हैं किन्तु पिता काशिनरेश की ओर से कुछ विचार विमर्श अथवा अम्बा की ओर से ही इस सम्बन्ध में कुछ निर्णय नाटककार ने नहीं दिखाया, यह अखरता है।

मूल कथा अम्बोपाख्यान पर्व में वे तपस्वीगण जिनके पास जाकर अम्बा शाल्व से अपमानित होने के उपरान्त ठहरी थी, अम्बा को पिता के घर जाने की सम्मति देते हैं, परन्तु अम्बा कहती है—

न शक्य काशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान्।
अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः॥[2]

काशिराज पर इस घटना की कोई प्रतिक्रिया सम्भवतः इसीलिए न हुई हो कि भीष्म के पराक्रम से वे स्वयं भयभीत हों।

इसके अतिरिक्त पाठक के मन में स्वतः ही यह प्रश्न उठता है कि अम्बा ने शाल्व से प्रतिशोध न लेकर भीष्म से ही बदला लेने की क्यों ठानी? जबकि भीष्म के द्वारा प्रथम तो उसका हरण अज्ञानवश किया गया था, द्वितीय शाल्व के समीप जाने की अनुमति भी उन्होंने अम्बा को सहर्ष दे दी थी। इसका समाधान नाटक में नहीं है। अम्बा शाल्व के पास से सीधी परशुराम के पास पहुँच जाती है किसी प्रकार का संकल्प विकल्प ही उसके मन में नहीं जगता। भीष्म को मारना उसका लक्ष्य है। शाल्व के प्रति किसी प्रकार का रोष उसके मन में नहीं दिखाई देता। उद्योगपर्व में अम्बा के सामने यह समस्या आती है। प्रथम तो परशुराम के सेवक अकृतव्रण ही अम्बा से इस सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं कि वह किसको दण्ड देना चाहती है, किन्तु जब निर्णय का भार अम्बा के द्वारा उन पर ही छोड़ दिया जाता है, तो वे स्वयं इसका निश्चय करते हुए कहते हैं—

भीष्म पुरुषमानी च जितकाशी तथैव च।
तस्मात् प्रतिक्रिया युक्ता भीष्मे कारयितुं तव॥[3]

भीष्म इस सम्पूर्ण काण्ड के लिए उत्तरदायी हैं अतएव दण्डनीय हैं सुनकर अम्बा भी दृढ़ हो

---

१ नाटक पृ० ८४

२ महाभारत उद्योगपर्व (अम्बोपाख्यानपर्व) अ० १७६ १२

३ वही अ० १७७ १२

जाती है।

मूल कथा (अम्बोपाख्यान पर्व) में अम्बा के नाना राजर्षि होत्रवाहन का वर्णन भी है। परशुरामजी की सहायता की ओर अम्बा का ध्यान आकर्षित कराने वाले उसके नाना ही थे। नाटक में होत्रवाहन, गंगा तथा महाव्रण का कोई उल्लेख नहीं है।

आदिपर्व

अम्बा के चरित्र की झाँकी आदिपर्व में[1] भी मिलती है। यहाँ वैशम्पायन जनमेजय से विचित्रवीर्य के विवाह तथा मृत्यु का वर्णन कर रहे हैं। यह कथा अम्बोपाख्यान पर्व की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त है। इस आख्यान की प्रमुख घटनाएँ हैं—

१ भीष्म द्वारा काशिराज की तीनों कन्याओं का हरण।

२ काशी में शाल्व तथा भीष्म का रक्तरंजित युद्ध। उद्योगपर्व तथा नाटक दोनों में भीष्म का उपस्थित राजाओं के साथ युद्ध का वर्णन है केवल शाल्व के साथ युद्ध का वर्णन वहाँ नहीं मिलता।

३ आदिपर्व के इस आख्यान से विदित होता है कि राजकुमार विचित्रवीर्य राजयक्ष्मा से पीड़ित नहीं था। अपनी दोनों पत्नियों (अम्बिका तथा अम्बालिका) के साथ सात वर्ष में निरन्तर विहार करने तथा असंयम बरतने के कारण वह युवावस्था में ही राजयक्ष्मा का शिकार हो गया, अन्यथा वह पूर्णरूपेण स्वस्थ था

स चाश्विरूपसदृशो देवतुल्यपराक्रमः।
सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनो रहः॥
ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत॥[2]

नाटक में विचित्रवीर्य को प्रारम्भ से ही क्षय रोगी दिखाया है। उसका विवाह करने का एक उद्देश्य यह भी रहा कि उसकी चित्तवृत्तियाँ निराशा तथा विरक्ति की ओर से हटकर आशा, उल्लास तथा रागरंग की ओर झुकें। विचित्रवीर्य के रोग की ओर संकेत अम्बिका और अम्बालिका ने अपनी बातचीत में किया है।[3]

आदिपर्व में अम्बा भीष्म के द्वारा पराजित शाल्व से भी विवाह करने की इच्छुक है। इस इच्छा में नारी के सच्चे प्रणय की झाँकी अवश्य मिलती है किन्तु अम्बा की यह साध मन में एक वितृष्णा जगाती है। जिस पुरुष में पत्नी को दूसरे से छीन लेने तक की सामर्थ्य नहीं है, उस पुरुष के प्रति इतना आकर्षण उचित नहीं लगता। मूल कथा में यह असंगति अथवा चारित्रिक अनुपयुक्तता नहीं है। वहाँ शाल्व का चरित्र स्पष्ट दीख पड़ता है—

---

१ महाभारत आदिपर्व (सम्भवपर्व) अध्याय १०२
२ वही आदिपर्व (सम्भवपर्व) अध्याय १०२ ६६ ७१
३ अम्बा (उदयशंकर भट्ट) पृ ८३

अस्त्रेण चास्यार्येन्द्रेण न्यवधीत् तुरगोत्तमान् ।
कन्याहेतोनरश्रेष्ठ भीष्म शान्तनवस्तदा ॥
जित्वा विसर्जयामास जीवन्तं नृपसत्तमम् ।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ॥[1]

'राजधानी को लौटकर धर्मपूर्वक पुनः शासन करने लगना', सिद्ध करता है कि शाल्व में न तो कोई भावना थी न अम्बा के प्रति सच्चा स्नेह। पराजित होने की वेदना से भी व्यथित वह नहीं दीख पड़ता। शूरवीर राजा में पराजित होने पर परिताप का अभाव खलता है।

नाटककार इस असंगति को बचा गया है। भीष्म के साथ शाल्व का एकाकी युद्ध न दिखाकर, उसने शाल्व को पराजित होने से बचा लिया है। यहां सामूहिक रूप से सभी राजा हारे हैं, शाल्व का दौर्बल्य यहाँ इतना नहीं अखरता। हाँ, शाल्व में दृढ़ चरित्र की कमी है, जिसकी व्याख्या नाटककार नहीं कर पाया। अम्बोपाख्यान पर्व में इसका स्पष्टीकरण है।[2] या नाटककार ने शाल्व में परिताप की भावना को अवश्य मुखरित किया है।

विवेचन

विद्रोहिणी अम्बा अति उच्च कोटि का एक साहित्यिक नाटक है। यह अभिनेय भी है। भाषा सरल और काव्यात्मक है। स्थान-स्थान पर दार्शनिक दृष्टिकोण की भी छाप है। कथोपकथन अति चुटकीले मार्मिक रसात्मक एवं पात्र तथा अवसरानुकूल हैं।

भट्टजी की इस कृति में चरित्र बहुत सुन्दर उभरे हैं। अम्बा का विद्रोहिणी रूप तो निखरकर आया ही है साथ ही सत्यवती भीष्म, शाल्व अम्बिका तथा अम्बालिका, यहां तक कि विदूषक के चरित्र चित्रण में भी भट्टजी की लेखनी अति सफल रही है। अपने चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में भट्टजी ने जो विश्लेषण किया है, वह इस प्रकार है—

मनलाभा के छलछलाते हुए मन्द मन्द अश्रुपात द्वारा कई पात्र मेरे सामने आकर रोये हैं और अन्त में सदा हँसने की प्रतिज्ञा करने वाले विदूषक ने भी, 'मैंने तो सदा से सवेरे को सांझ की ओर बढ़ते देखा है।' कहकर मुझे जी भरकर रुलाया है। कहा नहीं जा सकता, वे पात्र स्वयं इतनी दूर चले गये हैं या मैंने उन्हें खदेड़ा है। लेकिन इतना तो जरूर कहूँगा कि मुझमें उन्हें उतनी दूर खदेड़ने की सामर्थ्य न थी।

भीष्म महाभारत के बहुत ऊँचे पात्र हैं। उनके पास जाते हुए मुझे सदा डर लगता रहा है पर अम्बा ने उनके पीछे दौड़कर मुझे बेतरह दौड़ाया है। हां, अम्बा ने उन्हें पकड़ जरूर लिया है। लेकिन मैं भी भीष्म को पकड़ पाया हूं, इसमें अभी मैं बहुत संदिग्ध हूं। अम्बिका और अम्बालिका के व्यंग्य और मर्मभेदी विचारों में लचीले पाठकों को उत्कट क्रान्ति की भ्रान्ति होगी पर वह सत्य भी हो ही सकती है। विदूषक ने जरूर मुझे बहुत तंग किया है। कभी-कभी मैं उससे बेतरह खीझ भी उठा हूँ। लेकिन उसकी मीठी और

---

१ महाभारत (सम्भवपर्व), अ० १०२ श्लोक ४६ ५०
२ महाभारत (अम्बोपाख्यानपर्व), अध्याय १७५

अपने विचार प्रकट करने का उन्हें पूर्ण अवसर प्राप्त हो।"[1]

निःसन्देह लेखक नाटक में अपने उद्देश्य को मुखरित करने में पूर्ण सफल रहा है। समाज की कटुतापूर्ण अभेद्य दीवारें आज भी ज्यों की त्यों खिंची हैं। यों समय के साथ परिस्थितियों में अन्तर चाहे अवश्य दीख पड़ा हो, किन्तु यह परिवर्तन सतही है, आमूलचूल परिवर्तन अभी शेष है। अतएव कथानक पौराणिक होते हुए भी समस्याएँ पुरानी नहीं हैं, वे नयी ही हैं, जिनका समाधान अम्बा के विद्रोह द्वारा लेखक ने अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

मूल कथा की अपेक्षा प्रस्तुत नाटक का कथानक एवं शैली अति रोचक, सरस और उसकी सुपुष्ट है।

भीष्म चरित

भीष्म महाभारत के एक विशिष्ट चरित्र हैं। लोक में भीष्म अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा के कारण प्रसिद्ध हैं। भीषण व्रतधारी भीष्म का चरित वस्तुतः स्पृहणीय और अनुपमेय है। इस प्रकार के दुर्लभ एवं असाधारण चरित्रवान व्यक्ति से प्रभावित होकर, नाटककारों ने इस सुन्दर चरित्र को साहित्य की नाटकीय विधा में बाँधने का प्रयत्न किया है। श्री द्विजेन्द्र लाल राय का नाटक 'भीष्म' जो उन्होंने मूलतः बँगला में लिखा था और जिसका अनुवाद हिन्दी में हो चुका है, अनुवाद होने के कारण इस कोटि में नहीं आता। भीष्म चरित से सम्बद्ध हिन्दी नाटक जो उपलब्ध हुए हैं वे निम्नलिखित हैं—

१ भीष्म विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक
२ भीष्मव्रत नाटक मूलजी मनुज
३ गंगा का बेटा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

भीष्म

विश्वम्भरनाथ शर्मा लिखित[2] यह नाटक कई घटनाओं को एक साथ सँजोने के कारण काफी लम्बा हो गया है। घटनाओं का आधिक्य होने के कारण ही यहाँ प्रसगानुरूप मूल कथा से अन्तर भी साथ साथ दिखाये गए हैं।

नाटक की कथावस्तु से विदित होता है कि पूर्व जन्म में भीष्म द्यौ वसु एक गन्धर्व थे। अपनी स्त्री के प्रेमपाश में बँधकर वे महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी की गौ की चोरी करने की धृष्टता करते हैं। महर्षि को पता चल जाता है और वे आठों वसुओं को भूलोक में जाकर जीवन मरण का दुःख भोगने का शाप देते हैं, किन्तु प्रमुख अपराधी द्यौ वसु को शापवश

१ विद्रोहिणी अम्बा अपनी बात पृ० १३ १४
२ प्रकाशक शिवनारायण मिश्र, प्रताप कार्यालय कानपुर

अधिक समय तक भूलोक में ही ठहरने के लिए बाध्य होना पड़ता है। मर्त्यलोक में जन्म लेने पर गंगा उन्हें अपने गर्भ में धारण करती हैं। शान्तनु की पत्नी बनकर वह उनका पालन पोषण करती हैं, पर इसी शर्त पर कि शान्तनु उसके कार्यों में बाधा न दें। सात पुत्रों को जन्म के साथ ही वह उन्हें पानी में बहा देती हैं। अष्टम पुत्र के साथ भी ऐसा करने पर राजा उसे रोकते हैं, इस पर गंगा क्रुद्ध होकर अष्टमपुत्र (भीष्म) को लेकर चली जाती हैं और उनका लालन पालन करने के उपरान्त परशुरामजी से शस्त्रविद्या सिखवाकर शान्तनु को सौंप देती हैं।

महाभारत में यह कथा इस रूप में नहीं है किन्तु यह अवश्य प्रमाणित है कि भीष्म वसु के आठवें अंश से उत्पन्न थे।[1] महाभारत में भीष्म महर्षि वसिष्ठ से छः अंगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द सहित समस्त वेदों का अध्ययन करते हैं। नाटक में वर्णित परशुराम इनके गुरु यहाँ नहीं हैं।[2]

नाटक की कुछ विशिष्ट घटनाएँ जिनका साम्य महाभारत में है निम्नलिखित हैं—

१ शान्तनु का सत्यवती के साथ विवाह और देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा। महाभारत में यह कथा इस प्रकार वर्णित है[3]—

एक बार राजा शान्तनु यमुना नदी के निकटवर्ती वन में गए। वहाँ राजा को अवर्णनीय एवं परम उत्तम सुगन्ध का अनुभव हुआ। सुगन्ध के उद्गम का पता लगाते हुए उन्होंने वहाँ मल्लाह की एक कन्या देखी, जो देवांगना के सदृश सुन्दरी थी, जिसने राजा शान्तनु के पूछने पर अपना परिचय 'निषादराज की पुत्री' कह कर दिया। राजा ने निषादराज से उसकी कन्या माँगी किन्तु उसने यही शर्त प्रस्तुत की कि हे पृथ्वीपते! मेरी शर्त है कि इसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो आपके बाद उसी का अभिषेक किया जाय। परन्तु शान्तनु अपने एकमात्र पुत्र देवव्रत को राज्य से वंचित करना नहीं चाहते थे। वे घर लौट आये।

तदनन्तर एक दिन राजा शान्तनु ध्यानस्थ होकर कुछ सोच रहे थे कि तभी भीष्म ने उनके पास पहुँचकर उनकी चिन्ता का कारण पूछा। कुछ स्पष्ट न जान सकने के कारण वे मन्त्री के पास गये। मन्त्री ने राजा का एक कन्या के प्रति आसक्त होना कारण बतलाया। भीष्म रथ जुतवाकर बताये गए स्थल पर पहुँचे और धीवर राजराज की शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया, किन्तु धीवर ने कहा हे महाबाहो आपका जो पुत्र होगा, वह सम्भवतः इस प्रतिज्ञा पर दृढ़ न रहे—आपके बाद वह राज्य पर अधिकार पाना चाहे। निषादराज के अभिप्राय को जानकर भीष्म ने कठोर प्रतिज्ञा की कि वे आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे—

अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥[4]

इसके उपरान्त भीष्म सत्यवती को रथ में बैठाकर प्रासाद में ले आते हैं। पिता शान्तनु

---

१ महाभारत आदिपर्व अंशावतरण
२ वही अध्याय ६३ ६१
३ वही आदिपर्व अध्याय १०
४ वही, आदिपर्व (सम्भवपर्व) अ० १००, श्लोक ८६

सन्तुष्ट होते हैं और भीष्म को इच्छा मृत्यु का वरदान देते हैं।

२ काशिराज की तीनों कन्याओं का अपहरण।[1]

नाटक में दूसरी घटना, काशिराज की कन्याओं के अपहरण से सम्बन्ध रखती है। महाभारत में इस घटना का रूप इस प्रकार है —

काशिराज की तीनों कन्याएँ अप्सराओं के सदृश सुन्दरी थी। उनके स्वयंवर की चर्चा सुन भीष्म वाराणसी पहुँचे। वहाँ उपस्थित राजाओं ने विचारा कि भीष्म स्वयं स्वयंवर में भाग लेने आए हैं, इसलिए व्यंग्यपूर्ण हास्य से उनका स्वागत किया गया। भीष्म ने कुपित होकर तीनों कन्याओं का अपहरण कर लिया।

३ अम्बा का शाल्व प्रेम।

तीसरी प्रमुख घटना अम्बा सम्बन्धी है जो विभिन्न घटनाओं के साथ पर्याप्त दूर तक चली गयी है। महाभारत में[2] इसका विवरण पहले विद्रोहिणी अम्बा के प्रसंग में दिया जा चुका है। यहाँ आवृत्ति व्यर्थ है।

४ नाटक की अगली घटना, भीष्म से उनकी मृत्यु सम्बन्धी विचार विमर्श से सम्बन्ध रखती है। युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण तथा अर्जुन इत्यादि भाइयों के साथ भीष्म के समीप उनके वध के सम्बन्ध में पूछने जाते हैं। भीष्म कहते हैं कि, युद्धस्थल में शिखण्डी को मेरे सामने रखने से मेरी मृत्यु सम्भव हो सकती है, क्योंकि वह पहले नारी था और नारी पर बाण चलाना मेरे लिए असम्भव होगा। ऐसा ही किया जाता है और भीष्म आहत होकर शरशय्या पर लेटे हुए उत्तरायण की प्रतीक्षा करते दीखते हैं। समस्त राजागण तथा योद्धा भीष्म से मिलने जाते हैं। स्वागत भाषण करने के उपरान्त वे अपना सिर नीचा लटकने की शिकायत करते हैं। उपस्थित व्यक्ति कोमल महीन वस्त्र से बना हुआ तकिया ले आते हैं परन्तु पितामह के अभिप्राय को समझकर अर्जुन गाण्डीव धनुष ले, उसे अभिमन्त्रित कर, झुकी हुई गांठ वाले तीन बाणों द्वारा उनके मस्तक को ऊँचा कर देते हैं।

अगले दिन पानी पीने की इच्छा प्रकट करने पर राजा लोगों के द्वारा प्रस्तुत शीतल जल का उपयोग भीष्म नहीं करते, तब अर्जुन गाण्डीव की गर्जनमयी ध्वनि उत्पन्न करके जमीन से जल उत्पन्न करते हैं जिसकी धार सीधे भीष्म के मुख में पहुँचती है। महाभारत में यह घटना इसी रूप में उपलब्ध होती है।[3] इस प्रकार नाटक की अधिकांश घटनाएँ मूलकथा के सदृश ही हैं।

प्रस्तुत नाटक साहित्यिक तथा अभिनेय है इसमें घटनाक्रम बड़ी तीव्रता से चलता है। कहीं शैथिल्य नहीं दीख पड़ता। यह नाटक सुलझा हुआ और रोचक है। मूल घटनाओं के कौशलपूर्ण संयोजन ने नाटक के सौन्दर्य को उभारने में अतिशय सहायता की है।

---

१ महाभारत अ १ २

२ महाभारत उद्योगपर्व (अम्बोपाख्यानपर्व) अध्याय १७५ ७७ ८ ८६ ८७

३ महाभारत भीष्मपर्व (भीष्मवधपर्व), अध्याय १०७, ११९ १२१

भीष्मव्रत[1]

मूलजी मनुज लिखित भीष्म सम्बन्धी तीन नाटकों का यह दूसरा नाटक है जिसका कथानक 'विद्रोहिणी अम्बा' तथा 'उत्सर्ग भीष्म' नाटकों की घटनाओं के सदृश ही है। इस नाटक की केवल दो घटनाएँ इन दोनों नाटकों से भिन्न हैं। प्रथम घटना भीष्म की शिक्षा से सम्बन्धित है। विश्वम्भरनाथ शर्मा लिखित 'भीष्म' नाटक में भीष्म के गुरु परशुराम बताए गए हैं जबकि प्रस्तुत नाटक में भीष्म के गुरु श्रीव्यास को दिखाया है किन्तु ये दोनों ही नाम महाभारत में उल्लिखित गुरु से भिन्न हैं वहाँ भीष्म के गुरु वसिष्ठ हैं।

दूसरी घटना काशिराज के प्रासाद में काशिराज की सबसे बड़ी पुत्री अम्बा के भीष्म के प्रति अनुराग से सम्बन्ध रखती है। यह घटना लेखक की कल्पना पर आधारित प्रतीत होती है। भीष्म नाटक का कोई भी प्रसंग किसी भी स्थल पर भीष्म के दौर्बल्य को प्रकट नहीं करता, जबकि प्रस्तुत नाटक में भीष्म के हृदय के इस कोमल भाग की झाँकी भी प्रदर्शित की गयी है। आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत लेने के पूर्व भीष्म काशिराज कुमारी अम्बा से प्रेम करते हैं। यह प्रसंग नाटककार ने अति हृदयस्पर्शी संवादों द्वारा प्रस्तुत किया है। नाटककार की इस कल्पना ने नाटक को सरसता तथा स्वाभाविकता दोनों प्रदान की हैं।

प्रस्तुत नाटक का कथानक महाभारत से एक स्थल पर और भिन्न है। यहाँ भीष्म की मृत्यु का उपाय पूछने के लिए कुन्ती को भेजा जाता है जबकि महाभारत में भीष्म अपनी मृत्यु का उपाय युधिष्ठिर को बतलाते हैं।

प्रस्तुत नाटक की भूमिका से ज्ञात होता है कि लेखक ने द्विजेन्द्रलाल राय के समस्त नाटकों का अध्ययन किया है। द्विजेन्द्रलाल राय के 'भीष्म' नाटक के सम्बन्ध में आपका विचार है कि 'द्विजेन्द्रलाल राय का उस धीवर को जिसने अपनी दूरदर्शिता से देवव्रत के न केवल शासक बनने में बाधा डाली है प्रत्युत उसके पुत्र पौत्रादिकों को भी उस अधिकार से वंचित करने में समर्थ हुआ है एक वाम के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं जँचता। इसके अतिरिक्त अम्बा अम्बालिका में वृद्धावस्था तक उच्छृंखल वृत्ति को प्रदर्शित करना भी मनोविज्ञान की दृष्टि से भी संगत प्रतीत नहीं होता।'[2]

इस प्रकार की त्रुटियाँ एवं शिथिलताएँ प्रस्तुत नाटक में कहीं देखने को नहीं मिलती। नाटक रोचक है क्योंकि ऐतिहासिक पात्रों के अतिरिक्त अम्बा की सखी और लता (सत्यवती की सखी) दो कल्पित पात्र भी जोड़े गए हैं, जिनके कथोपकथनों ने नाटक में पर्याप्त रसवृद्धि की है। नाटक की भाषा परिमार्जित एवं पुष्ट नहीं है, किन्तु अभिनय की कसौटी पर नाटक खरा उतरता है।

---

१ प्रकाशक शारदा मन्दिर दिल्ली

२ भीष्मव्रत (मूलजी मनुज) भूमिका पृष्ठ २ ३

गंगा का बेटा[1]

पांडेय बचन शर्मा उग्र लिखित इस नाटक की कथा निम्नलिखित है—

नाटक की वस्तुवस्तु भीष्म के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं से सम्बद्ध है। नाटक का आरम्भ सुमेरु पर्वत की एक तलहटी में महर्षि वसिष्ठ के आश्रम से होता है। उनकी कामधेनु नन्दिनी सायंकाल का समय होने पर भी जब वन से घर नहीं लौटती, तो वसिष्ठ चिंतित हो जाते हैं। खोज करने पर भी नन्दिनी का कुछ पता नहीं चलता। वसिष्ठ तब अपने ध्यानचक्षुओं से सम्पूर्ण घटना को यथावत् देख लेते हैं।

अष्ट वसु नन्दिनी को चुराकर स्वर्ग की ओर ले जाते हैं। महर्षि उन्हें देव से मानव बनने का शाप दे देते हैं। नन्दिनी तथा आठों वसु तब उनके सम्मुख उपस्थित होते हैं। उनके क्षमा याचना करने पर द्यौ को छोड़ बाकी के जन्म लेते ही मरकर पुनः स्वपद प्राप्त कर लेने का वसिष्ठ आश्वासन देते हैं किन्तु अष्टम द्यौ का अधिक अपराध होने के कारण वह मानव शरीर से मुक्ति न पा सकेगा—साथ ही ऐसा अवश्य कह देते हैं।

स्वर्ग में जाते हुए वसुओं को मार्ग में गंगा देवी मिलती हैं। अपने उद्धार के लिए वे उनसे प्रार्थना करते हैं। करुणामूर्ति गंगा, द्रवित होकर उनके उद्धार के लिए तैयार हो जाती हैं। देवरूपिणी गंगा हस्तिनापुर के देवोपम महाराज शान्तनु को अपना पति बनाती हैं। अपने सात पुत्रों को तो वे एक एक वर्ष बाद गंगा में विसर्जित कर देती हैं परन्तु अष्टम पुत्र की वे रक्षा करती हैं। वसुओं के उद्धार का प्रतिश्रुत कार्य पूर्ण हो जाने पर वे शान्तनु को छोड़कर चली जाती हैं किन्तु समय होने तक पुत्र के पालन का भार ग्रहण करती हैं। गंगा का यह पुत्र 'देवव्रत' 'गंगापुत्र' तथा 'भीष्म' नामों से पुकारा गया है। गंगा के प्रताप से सर्वशास्त्र और शस्त्रविद्या में वह पारंगत हो जाता है। परशुराम और शिवजी से वह शस्त्रविद्या ग्रहण करता है।

नाटक की कुछ अन्य प्रमुख घटनाएँ निम्नलिखित है—

१ दाशराज की पुत्री सत्यवती से शान्तनु का पुनः विवाह।

२ भीष्म की प्रतिज्ञा।

३ काशिराज की तीनों कन्याओं का स्वयंवर में से बलपूर्वक अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्य के लिए भीष्म द्वारा हरण किया जाना।

४ भीष्म और परशुराम का युद्ध तथा इस युद्ध में परशुराम की हार।

५ अम्बा का तप करके शिवजी से वर मांगना।

---

१ प्रकाशक स्वरूप ग्रन्थ खजूरी बाजार इन्दौर प्रथम स० १९४

आधार

नाटक की यह कथा महाभारत में ज्यों-की-त्यों मिलती है।[1] केवल कुछ प्रारम्भिक प्रसंगों का महाभारत में विस्तारपूर्वक वर्णन है। आदिपर्व के अन्तर्गत सम्भवपर्व में नन्दिनी गौ का वर्णन अति विस्तृत है। शान्तनु के पूछने पर गंगा बतलाती हैं—

आपव महर्षि वसिष्ठ का नाम है। गिरिराज मेरु के पार्श्व भाग में उनका पवित्र आश्रम है जहाँ सभी ऋतुओं में विकसित होकर वन पुष्प उसकी शोभा बढ़ाते हैं। दक्ष प्रजापति की पुत्री, देवी सुरभि ने कश्यपजी के सहवास से एक गौ को जन्म दिया जो वसिष्ठ ने होमधेनु के रूप में प्राप्त की। वह गौ अति सुन्दर तथा सबका कल्याण करनेवाली थी। जो व्यक्ति इसका दूध पी लेता, वह सबदा के लिए युवा बन जाता था।

द्यौ वसु का शाप मिलने की घटना भी इसी प्रकार अति विस्तृत है—

एक बार आठों वसु तथा सम्पूर्ण देवता वहाँ ही आश्रम के समीप विहरण करने के लिए पधारे। द्यौ वसु की पत्नी ने अपने पति से बहुत आग्रह किया कि वे उस गौ को उसकी सखी राजर्षि उशीनर की पुत्री के लिए ले लें। द्यौ ने ऐसा ही किया और परिणामस्वरूप वसिष्ठ के शाप का भागी बना।

इन घटनाओं का यह विस्तार नाटक में नहीं दिखाया गया है, किन्तु शेष समस्त घटनाएँ नाटक में अति सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गयी हैं। नाटककार ने यहाँ समस्त पौराणिक घटनाओं को ज्यों-का-त्यों रखने का प्रयत्न किया है। असंगत तथा असम्भावित घटनाओं को मोड़ने-तोड़ने का प्रयत्न नहीं किया है।

इस नाटक की कथा विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक लिखित 'भीष्म नाटक' से बहुत मिलती जुलती है।

आधुनिक युग के पौराणिक नाटकों में उग्रजी का यह नाटक अति सुन्दर है। भाषा, भाव तथा शैली सभी दृष्टि से यह एक परिष्कृत नाटक है। ज्वालादत्त शर्मा उपाध्याय (पात्र) की सृष्टि कर उग्रजी ने इसमें परिमार्जित हास्य का पुट देने का प्रयत्न भी किया है।

सुभद्रा परिणय[2]

वीरेन्द्रकुमार गुप्त लिखित सुभद्रा परिणय नाटक की कथा निम्नलिखित है—

प्रस्तुत नाटक, सुभद्रा के बलपूर्वक परिणय की घटना से सम्बन्ध रखता है। अर्जुन बारह वर्ष के तीर्थाटन पर जाते हुए मार्ग में कृष्ण से मिलते हैं। कृष्ण उन्हें प्रथम, रैवतक

---

१ महाभारत आदिपर्व (सम्भवपर्व) अ० ९९ १०० १०२ तथा उद्योगपर्व (अम्बोपाख्यानपर्व), अ० १७५ ७७ ८ ८६ ८७

२ प्रकाशक आत्माराम एण्ड संज दिल्ली, प्रथम सं० १९५२

पवत पर, तदनन्तर द्वारका ले जाते हैं। अर्जुन के आगमन के उपलक्ष्य मे नगर खूब अच्छी तरह सजाया जाता है। अर्जुन के शयन कक्ष की तयारी सुभद्रा की सखी सत्या, सुभद्रा के साथ अति मनोयोग से करती है। सुभद्रा के वीणावादन तथा चित्रकला से अर्जुन उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं और उसे पत्नी रूप म पाने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। वे नही चाहते कि कृष्ण के बडे भाई बलराम की इच्छानुसार सुभद्रा दुर्योधन को मिले। बलराम अपनी बहन सुभद्रा का विवाह अपने शिष्य दुर्योधन से इसलिए करना चाहते हैं जिसस यादवो और कौरवो के सम्बन्ध दृढ हो जाएँ और भरत तथा यादव एक प्रचण्ड शक्ति के रूप म सगठित होकर समस्त विरोधी शक्तियो का सामना कर सकें। कृष्ण, बलराम तथा उग्रसेन से कहते हैं कि सुभद्रा के विवाह को राजनीति के क्षेत्र म न लाया जाय।

इसी बीच सात्यकि द्वारा समाचार मिलता है कि उत्तर-पश्चिम के नागो और यवनो ने मिलकर सिन्धु के इस पार के सौराष्ट्र के गणतन्त्रो पर आक्रमण कर दिया है। कृष्ण उधर जाते हैं और अर्जुन और सात्यकि सौराष्ट्र के पास के प्रान्तो को देखने चल पडते हैं। प्रभास उत्सव से कुछ दिन पूव ही अर्जुन तथा कृष्ण दोनो द्वारका लौट आते है। कृष्ण अर्जुन को सुभद्रा हरण की सम्मति देते हैं। उधर सुभद्रा बलराम की पत्नी रोहिणी से स्पष्ट कह देती है कि मैं दुर्योधन के साथ विवाह नही करूँगी, किन्तु भाई बलराम स कुछ कहन का साहस नही जुटा पाती।

दुर्योधन भी प्रभास पर आयोजित बडे भारी उत्सव म सम्मिलित होता है। द्वारका पुरी से चलकर सभी प्रभास के लिए यात्रा करते है। माग म दुर्योधन सुभद्रा स कहता है—'मेरा भी एक चित्र बना दो!" सुभद्रा सुनकर क्रोधवश दुर्योधन के रथ की पताका अपने रथ पर बठे-बठे ही काट देती है। दुर्योधन बडा अपमानित अनुभव करता है, पर उत्सव मे भाग लेता है। वही अपने गुरु बलराम के द्वारा उससे देश की दुरवस्था सँभालने पाण्डवो से मेल करने तथा शकुनि और कण का साथ छोडने के लिए कहा जाता है पर दुर्योधन पाण्डवो से मल करने के लिए तयार नही होता।

इसी स्थल पर जब स्त्रिया पूजन करने जाती हैं तो अर्जुन सुभद्रा को हर ले जाता है। दुर्योधन, शकुनि इत्यादि रथ लेकर दौडत है पर अर्जुन के रथ को रोकने म विफल रहत हैं। बलराम को भी अर्जुन का यह व्यवहार अच्छा नही लगता किन्तु कृष्ण के द्वारा समझाये जाने पर बलराम समझ जाते हैं और अन्तत अर्जुन को बुलाकर सुभद्रा के साथ विवाह रचाया जाता है।

आधार

महाभारत म सुभद्राहरण की यह कथा अति विस्तार म वर्णित है।[1] इस कथा के अनुसार अर्जुन बारह वष के तीर्थाटन पर निकलते है और प्रभास क्षेत्र जा पहुचते हैं। वही उनका श्रीकृष्ण से मिलन होता है। तदनन्तर घूम फिरकर अर्जुन और कृष्ण दानो रवतक पवत पर जाते हैं, जहाँ श्रीकृष्ण के आदश से सवको द्वारा पूव ही इसी उपलक्ष्य म भली

१ महाभारत आदिपव (सुभद्राहरण पव) अध्याय २१७ २२०

प्रकार, सज्जा की गयी है। तदनन्तर द्वारकापुरी पहुँचने पर भी स्वागत समारोह तथा साज सज्जा से अर्जुन को प्रसन्न कर अभिनंदित किया जाता है। श्रीकृष्ण के रमणीय भवन में वे अनेक रात्रियों तक निवास करते हैं।

कुछ दिन व्यतीत होने पर रैवतक पर्वत पर वृष्णि और अंधक वंश के लोगों का एक बड़ा भारी उत्सव होता है, जिसमें कृष्ण अर्जुन को भी ले जाते हैं। द्वारकापुरी तथा दूर-दूर के अनगिनत व्यक्ति उत्सव में भाग लेने के लिए पहुँचते हैं। यहीं अर्जुन सुभद्रा को देखते हैं और उसके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन की मनोदशा को भाप लेते हैं और सुभद्रा को अपहरण द्वारा प्राप्त करने की सम्मति दे देते हैं।[1]

तदुपरान्त अर्जुन कुछ शीघ्रगामी पुरुषों को भेजकर युधिष्ठिर की अनुमति भी इस कार्य के लिए प्राप्त कर लेते हैं। युधिष्ठिर की आज्ञा मिल जाने के उपरान्त अर्जुन को जब ज्ञात होता है कि सुभद्रा पूजा करने रैवतक पर्वत पर गई है तो अर्जुन एक सुन्दर सुसज्जित रथ के द्वारा आखेट खेलने के बहाने रैवतक पर्वत पर पहुँचते हैं और देवताओं की पूजा करके ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर, परिक्रमा पूरी करके द्वारकापुरी को लौटती हुई सुभद्रा को, बलपूर्वक पकड़कर रथ में बिठा लेते हैं और चल देते हैं।

अपहरण की सूचना क्षणमात्र में ही सम्पूर्ण द्वारकापुरी में फैल जाती है। सैकड़ों सैनिक पीछे दौड़ पड़ते हैं। बलराम अत्यन्त कुपित होते हैं।[2] परन्तु श्रीकृष्ण शांतिपूर्वक बलराम को समझाते हैं और तत्पश्चात् पुनः द्वारकापुरी में अर्जुन को आमन्त्रित करके विवाह रचाया जाता है।

अन्तर

महाभारत की कथा के साथ नाटक की कथा की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार पूर्णरूपेण महाभारत पर ही निर्भर नहीं रहा है। नाटक की कथा के विस्तार में उसने अपनी कल्पना का समावेश भी किया है।

१ अनेक पात्र तथा तत्सम्बन्धी विस्तृत क्रियाकलाप तो नाटक में कल्पित हैं ही इसके अतिरिक्त सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ करने की बलराम की इच्छा को भी नाटक की कथा में अपनी ओर से ही जोड़ा गया है। महाभारत में बलराम की इस प्रकार की इच्छा का संकेत मात्र भी नहीं है।

२ अर्जुन का उत्सव से कुछ मास पूर्व द्वारका में लाने के उपरान्त पुनः राजनीतिक कारणों से हटा देना भी लेखक की अपनी कल्पना है। लेखक ने इसका कारण प्रेमी प्रेमिका दोनों के हृदय में प्रेम का परिपाक करना बताया है।[3]

महाभारत की कथा के प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं—

१ सुभद्रा का हरण उत्सव के मध्य नहीं हुआ, प्रत्युत रैवतक पर्वत पर पूजा करके लौटते समय हुआ।

---

१ महाभारत आदिपर्व (सुभद्राहरणपर्व) अध्याय २१८ श्लोक २२ २३

२ वही अध्याय २१६ श्लोक २८ २६

३ सुभद्रा परिणय अपनी बात पृ० १०

२ बलराम अर्जुन से केवल उसके दुस्साहसपूर्ण कार्य के कारण ही क्रुद्ध थे।

३ कृष्ण के अतिरिक्त युधिष्ठिर की सम्मति भी इस कार्य के लिए अर्जुन को प्राप्त थी।

४ दुर्योधन का प्रवेश इस कथा के प्रसंग में कहीं नहीं हुआ है।

नाटककार ने इस कथा में दुर्योधन को सम्मिलित करके तथा बलराम की दुर्योधन के साथ सुभद्रा का विवाह करने इच्छा को दिखाकर नाटक की कथा को एक राजनीतिक मोड दे दिया है।

भागवत पुराण

भागवत पुराण में भी सुभद्राहरण की कथा मिलती है।[1] यहां इस प्रसंग का रूप इस प्रकार है—

शक्तिशाली अर्जुन, तीर्थयात्रा के लिए पृथ्वी विचरण करते हुए कदाचित् प्रभास-क्षेत्र पहुँचते हैं। वहाँ उन्हें ज्ञात होता है कि बलरामजी, अपनी भगिनी सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ करना चाहते हैं और वसुदेव श्रीकृष्ण आदि उनसे इस विषय में सहमत नहीं हैं। यह सब जानकर अर्जुन के मन में सुभद्रा को पाने के हेतु लालसा जग उठती है। अतः वे त्रिदण्डी वैष्णव का वेष धारण करके द्वारका पधारते हैं। सुभद्रा को प्राप्त करने के लिए अर्जुन वहां वर्षाकाल के चार महीने तक रहते हैं। वहां पुरवासी और स्वयं बलरामजी उनका खूब सम्मान करते हैं। उन्हें यह विदित नहीं होता कि ये अर्जुन हैं।

एक दिन बलरामजी आतिथ्य के लिए त्रिदण्डीवैष्णव वेषधारी अर्जुन को आमन्त्रित करते हैं और उनको अपने भवन में ले आते हैं। खूब स्वागत सत्कार होता है। अर्जुन भोजन के समय विवाह योग्य सुन्दरी सुभद्रा को देखते हैं जिसका अनुपम सौंदर्य स्त्रियां तक के हृदयों को मुग्ध करनेवाला है। देखते ही अर्जुन मोहित हो उठते हैं और सुभद्रा प्राप्ति की उत्कट कामना उनके हृदय को मथन लगती है। सुभद्रा अर्जुन को देखकर मन में उन्हीं को पति बनाने का निश्चय कर लेती है।

एक बार सुभद्रा देवदर्शन के लिए रथ पर सवार होकर द्वारका दुर्ग से बाहर निकलती है। उसी समय महारथी अर्जुन देवकी, वसुदेव और श्रीकृष्ण की अनुमति से, सुभद्रा का हरण कर लेते हैं। यह समाचार सुनकर बलरामजी बहुत बिगडते हैं। परन्तु भगवान श्रीकृष्ण तथा अन्य सुहृद सम्बन्धीजन उन्हें पैर पकडकर समझाते हैं और तब वे शान्त होते हैं। इसके उपरान्त बलरामजी प्रसन्न होकर वर-वधू के लिए बहुत सा धन, सामग्री हाथी, रथ घोडे और दासी-दास दहेज में देते हैं।

भागवत की उपर्युक्त कथा नाटक की कथा के अति समीप प्रतीत होती है, क्योंकि—

१ यहां दुर्योधन के साथ सुभद्रा के विवाह करने की बलरामजी की इच्छा का स्पष्ट उल्लेख है।

२ अर्जुन और सुभद्रा एक-दूसरे को प्राप्त करने के लिए यहां समान रूप से

---

१ भागवतपुराण गीताप्रेस गोरखपुर दशम स्कन्ध अध्याय ८६ श्लोक १-१२

उत्सुक हैं।

३ बलरामजी के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धी जन इस विवाह से सहमत हैं।

४ अर्जुन द्वारकापुरी में विवाह से पूर्व चार महीने निवास करते हैं।

कुछ द्रष्टव्य अन्तर—

१ भागवत की कथा में अर्जुन को सुभद्रा की प्राप्ति के लिए त्रिदण्डी वैष्णव का रूप धारण कर चार महीने निवास करते दिखाया गया है। नाटक में इस वेष का उल्लेख नहीं है।

२ सुभद्रा हरण भागवत में द्वारकापुरी में ही सुभद्रा के पूजा के लिए जाते समय होता है और महाभारत या नाटक की कथा के समान रैवतक अथवा प्रभास क्षेत्र में नहीं घटता।

इस प्रकार नाटक की घटनाओं तथा भागवत की इस कथा के मध्य भिन्नताओं की अपेक्षा समानताएं अधिक हैं। अतः नाटक की कथा महाभारत की अपेक्षा भागवत की कथा के अधिक समीप है तथापि इन दोनों आधारों के अतिरिक्त नाटक के सृजन में कल्पना का अंश भी प्रचुर मात्रा में रहा है।

विवेचन

भूमिका लेखक श्री गोविन्ददासजी के अनुसार यह नाटक पौराणिक है और पौराणिक कथा में ऐसी समस्याओं का समावेश हो गया है जो आधुनिक काल की हैं।[1]

वस्तुतः यह सत्य है। आधुनिक परिवारों में भी जब युवती कन्या किसी विशिष्ट व्यक्ति से सम्बन्ध करना चाहती है तो कभी-कभी परिवार के सदस्यों में ही उस सम्बन्ध के विषय में मतभेद उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार की एक झांकी लेखक ने इस नाटक में प्रस्तुत की है। ऐसे वातावरण में सुभद्रा की आकुलता पीड़ा दृढ़ता तथा साथ ही शालीनता जिस ढंग से प्रस्तुत की गयी है वह सराहनीय है।

नाटक की प्रायः सम्पूर्ण कथा पौराणिक पात्रों को लेकर चली है केवल सत्या पात्र कल्पित है किन्तु इसके प्रवेश ने नाटक के रस में वृद्धि ही की है। प्रस्तुत पात्र सत्या के प्रति नाटककार का झुकाव अधिक रहा है। नाटककार ने इसे स्वयं स्वीकार किया है—

सत्या के प्रति मेरा बड़ा पक्षपात है। नाटक के आधे से अधिक सौन्दर्य का श्रेय सत्या को है। यदि सत्या को नाटक से निकाल दें तो कुछ भी न बचेगा। इस इतिवृत्त की अस्थियों पर मांस मज्जा चढ़ाने एवं शरीर में रक्त प्रवाहित करने का काम सत्या ही करती है।[2]

एक व्यक्तिगत घटना कभी कभी समाज तथा राष्ट्र को किस प्रकार प्रभावित करती है नाटककार ने इस रचना में यही दिखाने का प्रयत्न किया है और वह इसमें सफल हुआ है। लेखक की यह धारणा रही है कि श्रीकृष्ण ने सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ इसलिए नहीं

१ सुभद्रापरिणय दो शब्द पृ १

२ वही 'अपनी बात' पृ० ११

होने दिया क्योंकि व कौरव-पाण्डव वैमनस्य को किसी भी मूल्य पर कम करना नहीं चाहते थे। इस घटना के पश्चात जो घटनाचक्र प्रवाहित हुआ उसके लिए यही घटना उत्तरदायी कही जा सकती है। अभिमन्यु के नृशंस वध के मूल म सम्भवत यही घटना थी। अत लखक के अनुसार 'राजनीतिक चक्रों का परिचालन मानवीय एव राष्ट्रीय सिद्धान्तो के आधार पर न होकर बहुधा व्यक्तिगत लगाव के द्वारा ही हुआ करता है।"[1]

वस्तुत यही ध्वनि इस नाटक म मुखरित है। भाषा की दृष्टि से नाटक यत्र-तत्र क्लिष्ट हो गया है। यो नाटक अभिनेय है।

नाटककार ने अर्जुन सुभद्रा विवाह की इस घटना को 'सुभद्रा हरण' नाम न देकर 'सुभद्रा परिणय' नाम दिया है जो सवथा उचित ही है। सुभद्रा का विवाह कन्या पक्ष की ओर से श्रीकृष्ण, वसुदव देवकी एव अन्य सम्बन्धियो तथा वरपक्ष को ओर से युधिष्ठिर की अनुमति से हुआ होता है इसलिए 'हरण' होने का प्रश्न नही रहता।

चक्रव्यूह[2]

अभिमन्यु की कथा स सम्बद्ध लक्ष्मीनारायण मिश्र लिखित यह एक अति सुन्दर एव परिष्कृत नाटक है। प्रसिद्ध चक्रव्यूह भेदन की घटना को लेकर लेखक ने प्रस्तुत कथा का विस्तार किया है। नाटक तीन अकों मे विभक्त है, कथा निम्नलिखित है—

युद्धभूमि म युधिष्ठिर के मन्त्रणागह म विचार विमर्श हो रहा है कि अर्जुन जब दूर ससप्तको के साथ युद्धरत है तो उसकी अनुपस्थिति म चक्रव्यूह भेदन के लिए किसे भेजा जाए। सबके व्यूहभेदन स अनभिज्ञ होने के कारण युधिष्ठिर अति चिन्तामग्न हैं। भीम की उग्र वाणी एव उत्तेजित स्वरूप युधिष्ठिर को चिन्तामुक्त नही कर पाते। तभी अभिमन्यु पहुचकर सबको आश्वासन देता है कि यह काय वह अवश्य कर सकेगा, क्योकि माता के शिविर म टँगे चक्रव्यूह के चित्र को दिखा पिता (अर्जुन) उस चक्रव्यूह भेदन की विधि, ससप्तको के युद्ध म जान स पूव सिखा गये हैं। अन्तत युधिष्ठिर तथा माताओ से आशीष ल और अपनी पत्नी उत्तरा स भेंट करने के उपरान्त अभिमन्यु युद्ध-स्थल म पहुच जाता है। उत्तरा स मिलन का दृश्य अति स्वाभाविक एव हृदय-स्पर्शी है। सुकुमारी गर्भवती पत्नी का आशकामिश्रित धय, तरुण पति-पत्नी का सुकोमल दाम्पत्य म मोहक, मनोरजक वार्तालाप एव मर्यादायुक्त विदा विवरण दर्शक को भाव विभोर कर देने की अदभुत क्षमता रखता है। रणक्षेत्र म अभिमन्यु का द्रोणाचाय के अतिरिक्त दुर्योधन पुत्र लक्ष्मण से भी आमना सामना होता है। उत्तर प्रत्युत्तरो की चोटो के साथ दोनो म भयकर युद्ध होता है। प्रथम, लक्ष्मण की मृत्यु होती है, तत्पश्चात सब महारथी मिलकर अभिमन्यु को मार डालते

१ सुभद्रा परिणय अपनी बात पृ० १२

२ प्रकाशक कौशाम्बी प्रकाशन दारागज प्रयाग प्रथम स० १९५७

है। अभिमन्यु के समाप्त होते ही, जो दुर्योधन का शत्रु पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु की कामना करता था, समस्त वैरभाव भुलाकर अभिमन्यु का सिर अपनी गोद में रखकर बच्चों की भाँति रो उठता है। संशप्तकों से युद्ध करने के उपरान्त जब अर्जुन लौटता है तो अभिमन्यु की मृत्यु सुनकर जयद्रथ को अगले दिन की सन्ध्या तक मारने की तथा ऐसा न कर सकने की स्थिति में स्वयं अग्नि में प्रवेश करने की प्रतिज्ञा करता है।

अन्त में सब पात्र मिलकर भीष्म के समीप जाते हैं। भीष्म इच्छा करते हैं कि उत्तरा जो पाण्डवों और कौरवों की अन्तिम आशा को अपने गर्भ में सँभाले हुए है, भानुमती (दुर्योधन की पत्नी) और सुभद्रा (अर्जुन की पत्नी) के मध्य बैठे और दोनों उस भावी पुत्र की आदि माता का पद प्राप्त करने का आशीर्वाद दें। भीष्म की इच्छानुसार ऐसा ही किया जाता है। अन्तिम दृश्य में सब उस दिन की प्रतीक्षा में दीख पड़ते हैं, जब अभिमन्यु का पुत्र जन्म लेगा और दोनों कुलों में पुनः सुख शान्ति की स्थापना होगी।

जयद्रथ की मृत्यु इस नाटक में नहीं दिखायी जाती।

आधार तथा अन्तर

प्रस्तुत नाटक की कथा का आधार महाभारत का द्रोणपर्व[1] है। नाटक में कुछ मूल घटनाएँ यथा अर्जुन की जयद्रथवध की प्रतिज्ञा[2] तथा चक्रव्यूह भेदन की घटनाओं को ही यथावत् लिया है शेष विस्तार में मूल में नाटककार की अपनी कल्पना है। जहाँ नाटककार की कल्पना प्रवणता ने नाटक की कथावस्तु को अति मनोरम एवं अभिनय रूप प्रदान किया है वहाँ मूल कथा से इस कथा में अन्तर भी आ गए हैं जो निम्नलिखित हैं—

१ दुर्योधन का हृदय परिवर्तन इस नाटक में सबसे मुख्य वस्तु है जो महाभारत की कथा में तथा महाभारत की इस कथा पर आधारित किसी रचना में नहीं दीख पड़ता। इस परिवर्तन का प्रयोजन कथा को मानवीय और बुद्धिसंगत रूप देना है।

२ चक्रव्यूह में प्रविष्ट होने की विधा यहाँ अभिमन्यु माता के गर्भ में नहीं सीखता माता के शिविर में टँगे चित्र को देखकर पिता द्वारा प्रवेश विधि बताने से उसका ज्ञान प्राप्त करता है।

३ युद्ध का विवरण, लक्ष्मण अभिमन्यु तथा द्रोणाचार्य का पारस्परिक वार्तालाप इत्यादि सब प्रसंगों में कल्पना का अंश है।

४ अभिमन्यु और लक्ष्मण उस दिन युद्ध में भाग न लें, भीष्म की यह इच्छा भी काल्पनिक है।

विवेचन

यह नाटक अति परिमार्जित एवं पुष्ट खड़ी बोली में लिखा गया है, जिसमें उचित अवसरों पर एक दो गीत भी सम्मिलित हैं। आज के बौद्धिक युग के अनुरूप लेखक ने

---

१ महाभारत द्रोणपर्व अध्याय ३३ ५०

२ महाभारत द्रोणपर्व (प्रतिज्ञापर्व) अध्याय ७३ श्लोक २० २१, ४७

था को बड़े सगन एव मयन ढग से प्रस्तुत किया है। तत्कालीन वातावरण को बनाए रखन म भी लेखक पूणरूपण सफल रहा ह। पात्रा के चरित्र बहुत सुदर एव स्वाभाविक ढग से चित्रित किये गए हैं। कथा का बिना विकृत किये ही एक नया रूप देने के सम्बध म लेखक ने अपना मत निम्नलिखित शब्दा म प्रकट किया है—

'महाभारत के इस पौराणिक आख्यान को अधिक से अधिक मानवीय और बुद्धि सगत रूप देन का मेरा प्रयत्न रहा ह। रामायण और महाभारत, अपन सवमान्य आधुनिक रूप म आने से पूव, युगा तक राजभवना के सिंहद्वारा पर, जातीय उत्सवा म चारण गीता के रूप म गाये जाते रहे लोक की भावभूमि म य युगा तक बढते रहे फूले फले और अन्त म वाल्मीकि और व्यासदेव के नाम म इनका विकसित रूप आया। ससार के सभी महाकाव्या की भाँति इनम भी विजेताओ का उत्कप और विजिता का अपकप प्रधान अग बन गया।

"इस नाटक म अतीत के चरित्र अजुन और सुयोधन, अभिमन्यु और लक्ष्मण आदि अनासक्त वृत्ति से देखे गये हैं। किसी के प्रति नाटककार का निजी लगाव नही ह उसको ओर से न्याय का अवसर सबको समान मिला है और अत म उसकी समवेदना के आसू भी सबके लिए समान हैं। पाण्डव और कौरव दोना पक्षा को पुण्य और पाप का प्रतीक न मानकर अपनी परम्परा के स्वाभाविक मानव का रूप दिया गया ह। अब समय आ गया है कि हम अपनी पौराणिक घटनाओ और उनसे सम्बधित व्यक्तिया के साथ न्याय करें। इस रूप म हमारा अतीत केवल बुद्धिसगत ही नही, हमारे लिए उपयोगी भी होगा।"[1]

अपने इन्हीं विचारा की पष्ठभूमि से प्रेरित होकर प्रस्तुत नाटक म मिश्रजी ने दुर्योधन के चरित्र को एक मानवीय एव मनोवज्ञानिक रूप दिया है। महाभारत का स्वार्थी अविवेकी क्रूर एव चालबाज राजा दुर्योधन यहाँ सुदर सरल विवेकयुक्त भावनामय रूप लेकर उपस्थित हुआ है। कल्पना के इस प्रकार के सयोजन द्वारा लेखक ने पौराणिक कथा का खण्डन किये बिना इसे एक तकसगत रूप प्रदान किया है। यहा मनुष्य मनुष्य है देवता अथवा दानव नही। नाटककार की यह भावप्रवणता एव उदभावना शक्ति उनके गभीर अध्ययन एव विचार शक्ति की परिचायक ह।

अभिमन्यु की कथा को आधार बनाकर इससे पूव कई नाटक लिखे गये हैं, किन्तु पात्र चित्रण, कथा सयोजन तथा घटना क्रम की दृष्टि स यह नाटक सर्वोत्कृष्ट है।

परीक्षित[2]

आनन्दप्रसाद कपूर लिखित प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु तीन अका म विभाजित है। कथावस्तु का रूप निम्नलिखित है—

---

१ नाटक चक्रव्यूह पूवरग पृष्ठ ४५

२ प्रकाशक उपयास बहार आफिस काशी प्रथम सस्करण

अश्वत्थामा, पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए, द्रौपदी के पाँच पुत्रों को मारने के बाद भी उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने के लिए अग्निबाण का प्रयोग करता है। उत्तरा के गर्भ से इसीलिए परीक्षित चेष्टाहीन मृतक के सदृश उत्पन्न होता है। उत्तरा इस महाविनाश को देखकर रक्षा के लिए भगवान से प्रार्थना करती है कि किसी प्रकार इस मृत बालक को, जो पाण्डवों का अंतिम वंशज है जीवित कर दें। कृष्ण उत्तरा के विलाप से द्रवित होकर सुदर्शनचक्र द्वारा अग्निबाण को नष्ट कर देते हैं और परीक्षित पुनः जीवित हो जाता है।

समयानन्तर परीक्षित एक दिन पत्नी के मना करने पर भी आखेट के लिए वन में जाता है। साथियों से भटककर वह शिण्डी ऋषि के आश्रम की ओर आ पहुँचता है। वहाँ वह प्यास से व्यथित होकर, ऋषि से पानी पिलाने के लिए प्रार्थना करता है। बार-बार कहने पर भी समाधि में लीन ऋषि कुछ सुन नहीं पाते। राजा के सिर पर स्वर्ण का मुकुट है और स्वर्ण में कलि का वास है। राजा की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। विवेकहीन हो वह ऋषि का अपमान करता है और पास पड़े हुए एक मरे सर्प को ऋषि की ग्रीवा में डालकर चला जाता है।

राजा के चले जाने पर तत्काल शिण्डी ऋषि का पुत्र शृंगी ऋषि बाहर से आश्रम में आता है और अपने पूज्य पिताजी की ग्रीवा में मृत सर्प को देखकर क्रोधाभिभूत हो जाता है और सर्प डालने वाले राजा परीक्षित को सातवें दिन तक्षक सर्प द्वारा डसे जाने और मरने का शाप दे देता है। समाधि से उठने पर पिता को पुत्र के शाप से बहुत दुःख होता है क्योंकि वे अपने योगबल से सम्पूर्ण स्थिति को समझ लेते हैं, किन्तु ऋषि का शाप अन्यथा नहीं हो सकता यह विचार कर वे अपने एक शिष्य को परीक्षित के पास भेजते हैं और उसके द्वारा वे शाप के सम्बन्ध में राजा को सूचित करवा देते हैं। उधर मुकुट के उतारते ही राजा स्वयं सम्पूर्ण घटना को स्मरण कर लेता है और बहुत पश्चात्ताप करता है।

इसके पश्चात राजा हरिद्वार में जाकर शुकदेवजी से भागवत का पारायण सुनता है। जिस दिन पाठ समाप्त होता है शुकदेवजी प्रसाद के रूप में उसे पुष्प देते हैं। पुष्प में सूक्ष्म रूप बनाकर बैठा हुआ तक्षक उसे तुरन्त डस लेता है और परीक्षित की मृत्यु हो जाती है।

प्रस्तुत कथा महाभारत पर आधारित है[1] किन्तु कई स्थलों पर मूल कथा से कुछ अन्तर भी विद्यमान हैं।

अन्तर

१ नाटक में अश्वत्थामा का अग्निबाण, श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र द्वारा नष्ट किया जाता है। महाभारत में सुदर्शन चक्र का कोई प्रसंग नहीं है केवल कृष्ण उस ब्रह्मास्त्र

---

१ महाभारत सौप्तिकपर्व (एषीकपर्व) अध्याय १५ तथा आश्वमेधिकपर्व अ० ६६ से अ० ६९

व प्रभाव को नष्ट कर देते हैं और बालक परीक्षित जीवित हो उठता है।[1]

२ नाटक में राजा परीक्षित, मुनि के कण्ठ में मृतक सर्प इस कारण डाल देता है क्योंकि उन्होंने राजा के द्वारा पूछे जाने पर जल के सम्बन्ध में उत्तर नहीं दिया, किन्तु मूल कथा में राजा परीक्षित ने मृग के सम्बन्ध में पूछा है और मुनि से उत्तर न पाने पर वह बाधित हो उठा है।[2]

३ नाटक में आसन्नमृत्यु राजा परीक्षित के पास, वैद्यराज धन्वन्तरि स्वयं पहुंचते हैं। महाभारत में राजा की रक्षा के लिए मन्त्रशास्त्र के ज्ञाता द्विजश्रेष्ठ काश्यप आते हैं।[3]

४ मृत्यु का प्रसंग भी महाभारत से नाटक में भिन्न है। नाटक में तक्षक से बचने के लिए परीक्षित हरिद्वार पहुंचता है। शुकदेवजी भागवत का पारायण समाप्त हो जाने पर राजा को प्रसाद के रूप में पुष्प देते हैं पुष्प में सूक्ष्म रूप से बैठा तक्षक राजा को डस लेता है। किन्तु महाभारत में राजा स्वयं कहीं नहीं जाता। महल को सब प्रकार से सुरक्षित करके वहीं से राजकाज की व्यवस्था करता है। तक्षक कुछ नागों को तपस्वी ब्राह्मणों का रूप बनाकर राजा को फल-फूल भेंट करने के लिए भेजता है और राजा उन्हीं फलों में से उस फल को खाकर समाप्त हो जाता है जिस पर तक्षक नाग बैठा था।[4]

इन प्रमुख अन्तरों के अतिरिक्त एक अन्तर नाम से भी सम्बन्ध रखता है। नाटक में ऋषि का नाम महाभारत के अनुसार शमीक न होकर मिंडी है।

इस नाटक का प्रमुख उद्देश्य, कर्म की रेखाओं की प्रबलता का चित्रण करना ही है। प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से नाटक उत्तम है।

कुरुवनदहन[5]

सात अंकों में विभाजित कुरुवनदहन नाटक बद्रीनाथ भट्ट बी० ए० लिखित है। इसका आधार महाभारत है।[6] उद्योगपर्व से शल्यपर्व पर्यन्त इसकी कथा का विस्तार है, यद्यपि मध्य में अवान्तर कथाएँ भी सम्मिलित हैं। नाटक का विभाजन अंकों और दृश्यों में है। इस नाटक के कथानक के सम्बन्ध में लेखक का मत निम्नलिखित है—

"संस्कृत में वेणीसंहार एक वीर रस प्रधान नाटक है। उसमें महाभारत युद्ध की कथा है। उसी की सहायता से यह कुरुवनदहन नाटक तैयार किया गया है। इसका यदि

१ महाभारत आश्वमेधिक पर्व (अनुगीतापर्व) ७० १
२ वही आदिपर्व (आस्तीकपर्व) अ ४०
वही आदिपर्व अध्याय ४२ श्लोक ३२
४ वही आदि पर्व (आस्तीक पर्व) अ० ४२ और ४३
५. प्रकाशक रामभूषण प्रेस आगरा प्रथम संस्करण १९१२ ई०
६ महाभारत उद्योगपर्व से शल्यपर्व (गदापर्व) अध्याय ५६ पर्यन्त

वेणीसंहार का रूपांतर कहें तो भी अनुचित न होगा। इस कथन पर पाठकों को मालूम हो जाएगा कि उपयुक्त नाटक संहार की सहायता से लिखा जाता पर इसका नाम वर्तमान सर्वथा उचित ही हुआ है, उसमें और इसमें बड़ा अन्तर है। कितनी ही नई घटनाएँ इसमें सम्मिलित कर दी गयी हैं और वेणीसंहार के कितने ही पात्र और कितनी बातचीत इसमें नहीं रखा गया है। उसमें ६ अंक हैं इसमें सात हैं। उसमें द्रौपदी के केशों का भीम द्वारा बाँधा जाना ही नाटक की कथा का अन्त माना गया है। इसमें यह बात नहीं है।

'उसकी और इसकी शैली में भी बड़ा भेद है। यह अंग्रेजी ढंग पर एक्ट (अंकों) तथा सीन (दृश्यों) में विभक्त किया गया है जिससे समझने में सुगमता रहे। अंग्रेजी नाट्य रचनापद्धति उन्नत तथा समयोपयुक्त है। इसलिए उसका ही अनुसरण करना उचित समझा गया ।

'इसकी मूलकथा का आरम्भ महाभारत के उद्योगपर्व से होता है जबकि कंचुकी द्वारा भीम को यह सूचित कराया गया है कि दुर्योधन की सभा में श्रीकृष्णजी का संधिप्रस्ताव लेकर जाना निष्फल हुआ। वहीं से लगाकर कौरवों के पूर्ण पराजय तथा दुर्योधन के मारे जाने तक की कथा इसमें है। इसलिए इस नाटक का नाम कुरुवनदहन रखा गया है।'[1]

यह एक सुन्दर एवं परिष्कृत नाटक है।

बाणशय्या[2]

लक्ष्मणप्रसाद मिश्र लिखित तीन अंकों के इस नाटक का कथानक इस प्रकार है—

नाटक की कथा का आरम्भ श्रीकृष्ण के दुर्योधन से संधि प्रस्ताव के असफल हो जाने पर होता है। श्रीकृष्ण के चले जाने पर भीष्म दुर्योधन को पुनः समझाते हैं किन्तु शकुनि और कर्ण के दुराग्रह और स्वयं अपनी दुष्टता के कारण दुर्योधन युद्ध के निश्चय को नहीं त्यागता।

फलतः भयंकर युद्ध होता है। युद्ध में अर्जुन के बाणों से आहत होकर भीष्म शरशय्या पर सूर्य के उत्तरायण होने तक पड़े रहते हैं। वहीं युद्ध में सबके मारे जाने पर वे युधिष्ठिर प्रभृति पाण्डवों को शांति और धर्म का उपदेश देते हैं।

आधार

कथा का आधार महाभारत है। इसकी विभिन्न घटनाएँ क्रमशः उद्योगपर्व,[3] भीष्म

---

१ नाटक लेखक की प्रस्तावना पृ० १२

२ प्रकाशक लेखक स्वयं अमीरगंज महमूदाबाद (अवध)

३ महाभारत उद्योगपर्व अ० १२४ ८६२ अ० १२५ २७

पर्व[1] तथा शान्तिपर्व[2] से सम्बन्धित हैं।

प्रस्तुत नाटक तथा मूल घटनाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

विवेचन

नाटक के नायक भीष्म हैं। नाटककार की मौलिकता चरित्र चित्रण में है। इसमें भीष्म का चरित्र अति सुन्दरता से चित्रित हुआ है। उनके विमल गुण, उनकी सत्यप्रियता, धर्मभीरुता, अनुपमेय वीरता आदि का अच्छा समन्वय दिखाया गया है। श्रीकृष्ण को यहां भक्तवत्सल अवतारी के रूप में चित्रित किया गया है।

कुरुक्षेत्र[3]

बाबू जगन्नाथशरण लिखित यह एक सुन्दर नाटक है। इसकी कथा पूर्णतः महाभारत पर आधारित है। कथा इस प्रकार है—

महाराज पाण्डु के वन चले जाने पर राज्य के संचालन का भार अंधे धृतराष्ट्र पर पड़ता है। पाण्डुपुत्र अभी बालक ही होते हैं और उनकी शिक्षा अभी पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु जब वे बड़े होते हैं तो उनके शौर्य की ख्याति चारों ओर फैलने लगती है। द्रोणाचार्य द्वारा सभी पाण्डवों की शस्त्र परीक्षा में अर्जुन सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। न्यायतः राज्य पाण्डवों का होना है किन्तु धृतराष्ट्र दुर्योधन की वृत्ति और राज्यलिप्सा को देखते हुए उसे राज्य से वंचित नहीं करना चाहते। लाक्षागृह के निर्माण द्वारा पाण्डवों का समूल नष्ट करने के प्रयत्न किए जाते हैं किन्तु पाण्डव बच निकलते हैं और वेश बदलकर भटकते रहते हैं। द्रौपदी स्वयंवर पर वे पुनः प्रकट होते हैं। धृतराष्ट्र भी दुर्योधन के द्वारा पाण्डवों की हत्या के लिए की गयी करतूतों को पूरी तरह जान जाते हैं किन्तु विवश होकर उन्हें राज्य का विभाजन कौरव-पाण्डवों के मध्य करना ही पड़ता है।

आधार

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथा महाभारत के आदिपर्व में यथावत् वर्णित है।[4] युधिष्ठिर राजा बनने पर अपनी नयी राजधानी 'इन्द्रप्रस्थ' बसाते हैं। मय नामक असुर कारीगर, बहुत सुन्दर राजभवन का निर्माण करता है। युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करते हैं। उनका प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। दुर्योधन नवनिर्मित भवन को देखने आता है, किन्तु यहां द्रौपदी द्वारा

---

१ महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ११६
२ वही शान्तिपर्व (राजधर्मानुशासनपर्व) अध्याय ४५
३ प्रकाशक सौवनिया बिहारीलाल वर्मा मथुराभवन छपरा
४ महाभारत आदिपर्व अ० १०१ ३३ १४, ४७ १८६ ६८

अपमानित किए जाने से भनि युद्ध हारकर वापस लौटता है।

इसके पश्चात् की सम्पूर्ण कथा प्रतिशोध की कहानी है जिसमें जुए का खेला जाना, बारह वर्ष का वनवास तथा अज्ञातवास, संधि प्रस्ताव एवं दुर्योधन की अनीति की कहानी सम्मिलित हैं।[1]

विवेचन

सम्पूर्ण महाभारत की कथा को लेकर लेखक ने समाधान रूप में इसका निवाह किया है। महाभारत का कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रसंग इसमें छूटने नहीं पाया है। इसकी दूसरी सफलता अभिनय विषयक है। प्रकाशित होने से पूर्व नाटक दो बार अभिनीत भी हो चुका है। इससे पूर्व २७ जून सन् १९३८ को अष्टाविंश हिन्दी-साहित्य सम्मेलन मुजफ्फरपुर, के अधिवेशन के अवसर पर भी इसका सफल अभिनय हुआ था।

लेखक ने इस नाटक में चरित्र चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया है। प्राय सभी पात्रों का चरित्र चित्रण मूल महाभारत के अनुरूप ही हुआ है। इस दृष्टि से धृतराष्ट्र दुर्योधन, भीम, शकुनि आदि के चरित्र चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

मनोरंजन और चिंतन विश्राम के लिए नाटक में हास्य रस का समावेश आवश्यक होता है—विशेषत वीर और करुण रस प्रधान नाटकों में। अतएव हास्य रस की अवतारणा के हेतु लेखक ने प्रस्तुत नाटक में एक कल्पित पात्र वनमाली की कल्पना की है, जो अति उपयुक्त है।

कर्ण[2]

इस नाटक में तीन अंक हैं। कर्ण नायक है। सम्पूर्ण कथा महाभारत पर आधारित है, अत नाटक का कथानक तथा आधार साथ साथ दिखाये गये हैं।

कथानक तथा आधार

द्रोणाचार्य के पास नाना देशों के जो राजकुमार अस्त्रशिक्षा लेने के लिए आये, उनमें कर्ण का नाम भी है। सूतपुत्र कर्ण अर्जुन से सदा स्पर्धा रखता था, ऐसा उल्लेख भी महाभारत में है।[3]

महाराज धृतराष्ट्र और पाण्डु के राजकुमारों की शस्त्रपरीक्षा के लिए बहुत बड़ा

---

१ महाभारत आदिपर्व।

२ प्रकाशक जे सिंह बकसेलर काशी मुद्रक सूर्यनारायण जगन्नाथ प्रिंटिंग वर्क्स राजघाट काशी

३ महाभारत आदिपर्व अ १३१ ११

४ वही आदिपर्व अध्याय १३१ श्लोक १२

प्रदर्शन आयोजित किया जाता है। आचार्य द्रोण के आदेश से सब राजकुमार क्रम से अपनी-अपनी परीक्षा देते हैं। आचार्य, अर्जुन के हस्तकौशल से अति प्रसन्न होते हैं। दुर्योधन इससे हतप्रभ हो जाता है। भीम और दुर्योधन आपस में ही एक-दूसरे से झगड़ने लगते हैं। कर्ण भी अर्जुन की प्रशंसा से उत्तेजित हो जाता है। वह भी अर्जुन से बढ़कर अपना शौर्य प्रदर्शित करता है और अर्जुन को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारता है किन्तु अर्जुन यह कहकर उसके साथ लड़ने के लिए उद्यत नहीं होता कि वह अधिरथ नामक सूत का पुत्र है। अर्जुन उसका अपमान करता है,[1] यह देखकर दुर्योधन कर्ण को अंगदेश का राजा बनाने की घोषणा करता है।

महाभारत में दिखाया गया है कि कुन्ती अपने दोनों पुत्रों को लड़ने को उद्यत देख बहुत दुःखी होती है और मूर्च्छित हो जाती है। विदुर दासियों से चन्दन आदि छिड़कवाते हैं। कृपाचार्य जो द्वन्द्वयुद्ध की रीति-नीति में दक्ष थे, कर्ण से उसके कुल तथा राजवंश का नाम बताने के लिए कहते हैं क्योंकि राजकुमार नीच कुल तथा हीन आचार वाले व्यक्तियों के साथ युद्ध नहीं करते।

दुर्योधन ने प्रत्युत्तर में बताया कि राजाओं की तीन योनियाँ होती हैं—उत्तमकुल में उत्पन्न पुरुष, शूरवीर तथा सेनापति। अतः शूरवीर होने के कारण कर्ण लड़ना नहीं चाहते तो मैं कर्ण को इसी समय अंग देश के राज्य पर अभिषिक्त करता हूँ। दुर्योधन के आदेशानुसार महारथी कर्ण का सोने के सिंहासन पर बैठाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों द्वारा फूलों से युक्त सुवर्णमय कलशों से अंगदेश के राज्य पर अभिषिक्त किया जाता है।[2] इसके उपरान्त कर्ण की वीरता तथा दानशीलता सम्बन्धी विविध घटनाएँ भी नाटक में हैं। इसकी प्रमुख घटना इन्द्र द्वारा कवच और कुण्डल माँगने से सम्बद्ध है। महाभारत में इसका रूप इस प्रकार है—

इन्द्र के ब्राह्मण रूप धारण करके कवच-कुण्डल की याचना करने पर कर्ण ने गोधनों से भरे हुए अनेकों ग्राम, युवती स्त्रियाँ तथा यहाँ तक कि सम्पूर्ण राज्य देने की इच्छा प्रकट की किन्तु इन्द्र ने कवच और कुण्डल के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु को नहीं लेना चाहा। अन्ततः कर्ण ने सूर्य की बात स्मरण करके कि इन्द्र के द्वारा कवच-कुण्डल माँगने पर उसकी अमोघ शक्ति माँग लेना, इन्द्र की अमोघशक्ति के विनिमय में ही अपनी वस्तुएँ देने की घोषणा की। इन्द्र ने स्वीकार किया किन्तु साथ ही कहा कि इस अमोघ शक्ति को तुम किसी विशिष्ट व्यक्ति पर अपने जीवन संकट की अवस्था में ही प्रयुक्त कर सकते हो। यदि प्रमादवश किसी साधारण व्यक्ति पर यह प्रयुक्त की जाएगी तो यह उसे न मारकर तुम्हारे ऊपर ही आ पड़ेगी। कर्ण ने तेजोमय देह बनी रहने का वरदान पाकर अपने शरीर से दिव्य कवच को उधेड़कर इन्द्र के हाथ में रख दिया। इस कर्तनरूपी कर्म से उसका नाम

---

1. महाभारत (आदिपर्व) अध्याय १३५ श्लोक १२
2. वही आदिपर्व अध्याय १३५, श्लोक ३३-३८

कर्ण पड़ा ।[1]

अनुशासनपर्व में भी कर्ण की दानशीलता का संकेत है ।[2]

मूलकथा से नाटक की घटना में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है ।

अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन[3]

कृष्णकुमार महोपाध्याय द्वारा लिखित तीन अंकों का यह नाटक अति सुन्दर एवं अभिनेय है । कथावस्तु अति रोचक शैली में प्रस्तुत की गयी है—

बारह वर्ष के वनवास के मध्य एक समय अर्जुन नागराज-कन्या उलूपी से विवाह करते हैं । इनके पुत्र का नाम इलावन्त रखा जाता है । नागराज के समीप के ही मणिपुर के राजा की कन्या चित्रांगदा से भी अर्जुन ने विवाह किया है और इससे बभ्रुवाहन नाम का पुत्र होता है ।

नाटक में महाभारत के युद्ध के समाप्त होने पर, महर्षि व्यास की सम्मति से राजसूय यज्ञ करने का विचार किया जाता है । यज्ञ के अश्व की रक्षा का भार अर्जुन पर डाला जाता है । अर्जुन अपने पुत्र इलावन्त, शिष्य सात्यकि कर्णपुत्र वृषकेतु और बहुत बड़ी सेना लेकर अश्व की रक्षा के लिए चल पड़ते हैं । कोई राजा अश्व को रोकने का साहस नहीं करता किन्तु यह अश्व जब मणिपुर के राज्य की सीमा से पार होने लगता है तो वहाँ का राजकुमार बभ्रुवाहन अश्व को छोड़ देने पर अपने राज्य का अपमान समझता है और अश्व को रोक लेता है । अर्जुन की भी यही इच्छा है । उसे यह असह्य प्रतीत होता है कि उसके पुत्र को कोई कायर समझे । दोनों ओर से भयंकर युद्ध होता है । इस युद्ध में बभ्रुवाहन सात्यकि और वृषकेतु को निरस्त्र करके रणक्षेत्र से भगा देता है । उसकी सगी मौसी का पुत्र इलावन्त मारा जाता है । अंतिम दिन अर्जुन और बभ्रुवाहन का युद्ध होता है । बभ्रुवाहन की वीरता देखकर अर्जुन अभिमन्यु की मृत्यु का दुःख भी भूल जाते हैं और पुत्र के शौर्य की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं । अन्त में युद्ध में अर्जुन की मृत्यु हो जाती है ।

इस युद्ध की घटना से पूर्व एक बार नारदजी मातृभक्ति से प्रसन्न होकर इलावन्त को एक ऐसी मणि देते हैं जिसको धारण करने से धारणकर्ता की कभी मृत्यु नहीं होती और यदि किसी मृत व्यक्ति से उसका स्पर्श कर दिया जाये तो वह जीवित हो सकता है । परन्तु इसका प्रयोग केवल एक ही बार किया जा सकता है । यह मणि उलूपी अपने पास सँभाल

---

१ महाभारत, वनपर्व अध्याय ३०६ श्लोक २३ २४ तथा अ० ३१० के ३८ श्लोक तक
ततश्छित्वा कवचं निष्प्रमाद तथवाद्र प्रत्नो वासवाय ।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुण्डलेते कर्णात् तस्मात् कर्मणा तेन कर्णं ॥

—(वन अ० ३१० श्लोक ३८)

२ महाभारत अनुशासनपर्व अ० ३०७ श्लोक ६

३ प्रकाशक श्रीलाल उपाध्याय, श्रीसीताराम प्रेस विश्वेश्वरगंज बनारस १६२६ ई०

कर रखती है। इसका प्रयोग वह अपने पुत्र इरावन्त के मर जाने पर भी नहीं करती। उलूपी के द्वारा उसी मणि से अर्जुन पुनः जीवित कर दिया जाता है। वस्तुतः इसी अवसर के लिए वह इस मणि को सँभालकर रखती है। उसे विश्वास है कि इस युद्ध में बभ्रुवाहन अपने पिता को अवश्य परास्त कर देगा।

आधार

यह कथा मुख्य रूप से जैमिनीय अश्वमेधपर्व[1] पर, जो महाभारत का ही एक परिशिष्ट अंश माना जाता है, आधारित है। यह कथा इस ग्रन्थ में अति विस्तार से वर्णित है। संक्षेप में यहाँ की कथा का रूप इस प्रकार है—

राजसूय यज्ञ का अश्व, जो अर्जुन के संरक्षण में भेजा जाता है, जब बभ्रुवाहन के राज्य मणिपुर में पहुँचता है तो वह अपने वीरों को भेजकर उसे बड़ी सरलता से पकड़वाकर मँगा लेता है किन्तु जब वह घोड़े के मस्तक पर बँधे हुए स्वर्णपत्र को पढ़ता है कि यह युधिष्ठिर के अश्वमेधयज्ञ का अश्व है और उसके पिता अर्जुन इसकी रक्षा में नियुक्त हैं, तो वह अपने प्रमुख मन्त्री सुमति की सम्मति के अनुसार घोड़े को छोड़ देता है और प्रतिष्ठित व्यक्तियों तथा कुमारी कन्याओं एवं अतुलित वैभव के साथ स्वागतार्थ पैदल ही अर्जुन के समीप पहुँचता है। अर्जुन के चरण स्पर्श कर बड़ी विनम्रता से वह अपना परिचय देता है। बभ्रुवाहन की यह शालीनता अर्जुन को नहीं सुहाती। वह बभ्रुवाहन (चित्रांगदा से प्रसूत और उलूपी से पालित) औरस पुत्र को क्रोधपूर्वक उसकी कायरता के लिए फटकारता है और तब बभ्रुवाहन अर्जुन की ललकार से उत्तेजित हो सम्पूर्ण सामग्री सहित अपने समस्त प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ लौटकर अर्जुन की सेना के साथ भयंकर युद्ध करता है।

मूल कथा से नाटक की कथा पर्याप्त अंश में भिन्न है।

अन्तर

१ नाटक की कथा में बभ्रुवाहन अश्व को अपने राज्य में पहुँचा देखकर ही भयंकर युद्ध प्रारम्भ कर देता है। मूल कथा के अनुसार वह अर्जुन के प्रति पूज्यभाव प्रदर्शित नहीं करता।

२ नाटक में बभ्रुवाहन के द्वारा सात्यकि और वृषकेतु युद्धस्थल से केवल मात्र भगा दिए जाते हैं, जबकि जैमिनीय अश्वमेध पर्व में घमासान युद्ध में विभिन्न विशिष्ट वीरों के साथ बभ्रुवाहन वृषकेतु का भी वध कर देता है। अर्जुन यह देखकर अत्यन्त संतप्त होते हैं और भयंकर विलाप करते हैं।[2]

३ यहाँ चित्रांगदा से अर्जुन के विवाह की कथा भी भिन्न रूप में वर्णित है। जैमिनीय अश्वमेधपर्व में बभ्रुवाहन अपने मन्त्री सुमति को अपने माता पिता का विवरण देते हुए कहता है—

---

१ जैमिनीय अश्वमेधपर्व—अध्याय २२,२४ तथा ३७,४० तक।

२ जैमिनीय अश्वमेधपर्व अध्याय ३७

"भद्रिन्, मेरी माता तो इन्हीं अर्जुन की पत्नी हैं। एक बार वे अपने पिता के महल में नृत्य कर रही थीं, उस समय जब ताल भंग हो गया, तब उनके महामना पिता ने शाप देते हुए कहा, 'अरी ताल भंग करनेवाली, तू जल में नागी बनकर निवास कर। दैवयोग से जब तुझे अर्जुन के चरण प्राप्त होंगे तब वे ही तुझे इस शाप से मुक्त करेंगे और निःसन्देह वे ही तेरे पति होंगे।' उनके कथनानुसार यह घटना घट चुकी है। मैं इस शुभ नगर में उन्हीं अर्जुन से उत्पन्न हुआ हूँ।"

नाटक में बभ्रुवाहन के जन्म के साथ इस प्रकार की कोई कथा नहीं दिखायी गयी।

४ जैमिनीय अश्वमेधपर्व में अर्जुन के वध के उपरान्त उसके पुनर्जीवित होने की कथा अति विस्तृत तथा एकदम भिन्न रूप में है। उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

अर्जुन की मृत्यु होने के पश्चात् चित्रांगदा, अर्जुन के साथ अपने पुत्र के युद्ध का समाचार सुनकर हस्तिनापुर से मणिपुर आ जाती है। वहाँ आकर पति को मृत देखकर, वह घोर विलाप करके पुत्र को बहुत भला-बुरा कहती है। उलूपी भी वहाँ पहुँच जाती है और वह भी अत्यन्त दुखी होती है। माताओं के असह्य दुख को देख तथा उनकी चिता में प्रवेश करके पति के साथ परलोक जाने की इच्छा को जान, बभ्रुवाहन स्वयं अग्नि में प्रवेश करने की तैयारी प्रारम्भ करता है। तब उलूपी बताती है कि पाताल लोक में एक ऐसी मणि है जो मरे हुए को जीवन प्रदान कर सकती है।

भगवान शंकर ने यह संजीवनी मणि गरुड़ से भयभीत हुए नागों को प्रदान की थी, किन्तु इस मणि की प्राप्ति अति कठिन है।

बभ्रुवाहन यह सुनकर घोषणा करता है कि उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। किन्तु माता उलूपी बभ्रुवाहन को पाताल लोक जाने की आज्ञा नहीं देती और उसके बदले मन्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ मन्त्री पुण्डरीक को, जिसे वह अपना सखा-तुल्य मानती है अपने पिता शेषनाग के पास अपने दोनों कर्णफूल तथा कण्ठभूषण देकर मणि की याचना के लिए भेजती है।

पुण्डरीक द्वारा याचना किए जाने पर शेषनाग मणि देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है, किन्तु शेषनाग की यह इच्छा जानकर समस्त नागलोक दुखी हो जाता है। एक प्रमुख नाग धृतराष्ट्र यहाँ तक प्रस्तुत करता है कि इस मणि के द्वारा ही हम अपने चिर शत्रु गरुड़ से अपनी रक्षा करते हैं। मणिरहित हो जाने पर हम बिलकुल शक्तिहीन हो जायँगे। मर्त्यलोक की स्त्रियाँ भी हम सरलता से मणिहीन कर सकेंगी तथा साधारण व्यक्ति भी हम बाँधकर घर-घर घुमाते फिरेंगे।

सब-कुछ सुनकर शेषनाग ने समझाया कि जब श्रीकृष्ण रूपी मणि अर्जुन की सहायतार्थ जायगी तो हम फिर यश लूटने का अवसर कहाँ मिलेगा? तथापि नाग राजी नहीं होते। फलस्वरूप इच्छा रहते हुए भी शेषनाग मणि नहीं दे पाता और पुण्डरीक को निराश होकर वापस आना पड़ता है।

बभ्रुवाहन पुण्डरीक को खाली लौटा देख अति क्रुद्ध हो उठता है और अपनी विशाल

---

१ जैमिनीय अश्वमेधपर्व अध्याय २३ श्लोक २१-२२

वाहिनी को लेकर पाताल लोक मे जा धमकता है। नागो के फनो म उत्पन्न हुई वायु के वेग से सयुक्त उनके फूत्कारो से अपनी सेना को जलकर राख हुई देखकर बभ्रुवाहन भयकर मयूरास्त्र का सधान करता है।। इसके उपरात वह मधु की वर्षा करने लगता है। बाणो से घायल हुए शरीर जब मधु से सराबोर हो जाते है, तो वह वीर अर्जुनकुमार पिपीलिका अस्त्र का प्रयोग करता है। उस अस्त्र मे निकली हुई चीटिया नागो के शरीर म लिपट जाती हैं और तत्पश्चात वह उस मणि तथा नाना प्रकार के धन को ग्रहण करके आनन्द पूर्वक मणिपुर के लिए प्रस्थान करता है।

तब वह नाग जिसने तक्षक को मणि देने से रोका था अपने पुत्रो दुर्बुद्धि तथा दुस्वभाव, का बुलाकर यह इच्छा प्रकट करता है कि किसी प्रकार अर्जुन जीवित न होने पाये नही तो महान अनर्थ हो जायगा। वे दोनो जाकर अर्जुन के विशाल सिर को बभ्रुवाहन के पहुँचने से पूर्व ही चुरा लेते ह और उस भयकर एव विशाल वन म डाल देते हैं जहा गरुड की पहुँच नही हो सकती थी। उलूपी और चित्रागदा यह देखकर अति दुखित होती हैं। बभ्रुवाहन भी रणभेत्र म पहुँचकर जब यह वृत्तान्त सुनता है तो वह मृत तुल्य हो, पृथ्वी पर गिर पडता है।

उधर कुती के अर्जुन के सम्बन्ध मे एक दुस्वप्न देखने के कारण कृष्ण गरुड पर भीमसेन, कुती, माता देवकी और गोपकुमारी यशोदा को चढाकर उसी स्थान पर पहुँचते है जहा मृत अर्जुन तथा वृषकेतु इत्यादि अचेत पडे होते हैं। अर्जुन की यह दशा देखकर सब अति दुखित होते हैं। तदनन्तर कृष्ण की इच्छा के वशीभूत हो धृतराष्ट्र नाग के दोनो पुत्र दुर्बुद्धि और दुस्वभाव नष्ट हो जाते है और अर्जुन का सिर उसी समय मणिपुर आ जाता है। तदुपरान्त कृष्ण प्रथम वृषकेतु तथा उसके पश्चात अर्जुन के हृदय पर उस मणि को रखकर जीवित कर देते हैं—[1]

> समुत्थिते कर्णपुत्रेऽथ पार्थ
>   स्तथा बुद्धो विधिना तेन कृष्णात् ॥
> यथा देही मायया भिन्नभाव ।
>   सम्प्राप्यासौ निर्विकार सुयोगात ॥[2]

प्रस्तुत कथा का उल्लेख महाभारत म भी उपलब्ध है।[3]

अन्तर

महाभारत की कथा से नाटक की कथा मे निम्नलिखित अन्तर हैं—

१ महाभारत की कथा म चित्रागदा का विवाह करने से पूर्व, उसका पिता चित्रागद, पुत्री के पुत्र को अपना पुत्र माने जाने की शर्त रखता है। किन्तु नाटक की कथा मे इस

---

१ जैमिनीय अश्वमेध पर्व, अध्याय, ३७ ४०

२ वही अध्याय ४० श्लोक १६

३ महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ७६

प्रकार का कोई संकेत नहीं है।

२ नाटक में इलावान (इरावान) की मृत्यु राजसूय यज्ञ के अवसर पर अश्व की रक्षा के लिए अर्जुन के साथ जाने पर बभ्रुवाहन के द्वारा दिखायी जाती है जबकि महाभारत में युद्ध के अवसर पर पाण्डवों की रक्षा करते हुए इरावान की मृत्यु कौरवों के पक्ष के एक महाबली योद्धा अलम्बुष के द्वारा होती है।[1]

३ नाटक में बभ्रुवाहन अपने राज्य का अपमान समझकर अर्जुन पर आक्रमण करता है जबकि महाभारत में बभ्रुवाहन उलूपी द्वारा धर्म सुझाने तथा उत्तेजित किये जाने पर पिता से युद्ध करता है।[2]

४ अगला अन्तर अर्जुन के पुनर्जीवन से सम्बन्धित है। नाटक की कथा में अर्जुन उलूपी द्वारा उस मणि से जीवित किया जाता है जो उलूपी के पुत्र इलावन्त को नागजी द्वारा उसकी मातृभक्ति से प्रसन्न होकर दी जाती है और जिसके सम्बन्ध में नारदजी का यह कथन था कि इससे केवल एक मृत व्यक्ति जीवित हो सकेगा। उलूपी के द्वारा इस मणि का प्रयोग अपने पुत्र के लिए नहीं अपने पति अर्जुन के लिए किया जाता है।

महाभारत में अर्जुन की मृत्यु पर चित्रांगदा बहुत विलाप करती है और उस समय उलूपी नागों की आधारभूत संजीविनी मणि का स्मरण करती है और मणि स्मरण मात्र से ही वहां आ पहुँचती है और उसी से अर्जुन को जीवन मिलता है।[3]

विवेचन

नाटक में अलौकिक घटनाओं के निराकरण का प्रयत्न लेखक ने बहुत कम किया है तथापि मातृभक्ति पितृभक्ति तथा देशभक्ति का रूप अति सुन्दर ढंग से चित्रित करने में लेखक सफल रहा है।

चन्द्रहास

श्रीमैथिलीशरण गुप्त लिखित यह चन्द्रहास[4] नाटक पाँच अंकों में विभाजित है। नाटक का कथानक निम्नलिखित है—

कुन्तलपुर के राजा के मन्त्री धृष्टबुद्धि के यहाँ राजा के पुरोहित गालवमुनि जा रहे थे कि उन्हें मार्ग में बच्चों के साथ खेलता हुआ एक सुन्दर बालक चन्द्रहास दिखायी दिया। वे उसकी आकृति की भव्यता से प्रभावित होकर उसे अपने साथ लेकर धृष्टबुद्धि के यहाँ

---

१ महाभारत भीष्मपर्व अध्याय ६ श्लोक ५६-७६
२ वही आश्वमेधिक पर्व अध्याय ७९ श्लोक १-१३
३ वही आश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत अनुगीता पर्व में अध्याय ८
४ प्रकाशक साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी

गये। वहाँ बालक की प्रशंसा करते हुए उद्दालक ने भविष्यवाणी की, 'यह बालक आगे चलकर इस राज्य का अधीश्वर होगा।' मन्त्री धृष्टबुद्धि को यह भविष्यवाणी अच्छी नहीं लगी, क्योंकि राजा के निःसंतान होने के कारण वह उस राज्य को अपने पुत्र मदन को दिलवाना चाहता था। उसने चन्द्रहास की हत्या करवाकर, मदन के मार्ग को प्रशस्त करने का निश्चय किया और इस कार्य के लिए अपने परम विश्वस्त व्यक्ति विरोचन और विमर्ष को, चन्द्रहास को लेकर वन में भेजा। किन्तु उन दोनों के मन में चन्द्रहास के भोले मुख और भव्यता को देखकर, दया उत्पन्न हुई और वे उसके हाथ की षष्ठ उँगली को काटकर और यह सोचकर कि यह तो यहाँ मर ही जायगा, उसे निविड वन में छोड़कर चले आये और मन्त्री को कटी उँगली दिखाकर संतुष्ट कर दिया।

दूसरी ओर कुंतल राज्य के अधीन चन्दनावती के राजा के यहाँ भी कोई संतान न थी। उसकी रानी बड़ी दुखी थी। एक रात उसे स्वप्न हुआ कि भगवान ने दर्शन देकर आदेश दिया है कि 'वन में एक भव्य बालक है, उसे तुम अपना पुत्र बनाओ वह तुम्हारे वंश को उज्ज्वल करेगा।' रानी ने अपने स्वप्न का वृत्त राजा से कहा, किन्तु राजा ने विश्वास नहीं किया। वह यूँ ही शिकार खेलने के लिए वन में चला गया और किसी अज्ञात शक्ति से खिंचता हुआ वहीं जा पहुँचा, जहाँ वह बालक था। राजा बालक को लेकर घर आ गया और उसे अपना पुत्र मानकर, उसका लालन-पालन करने लगा।

मन्त्री धृष्टबुद्धि को जब यह समाचार मिला, तो वह स्वयं सम्पूर्ण स्थिति को देखने के लिए चन्दनावती गया। वहाँ जाकर उसने चन्द्रहास को पहचान लिया। उसके मन में पुनः चन्द्रहास को समाप्त करने की इच्छा जगी। चन्द्रहास बड़ा ही सुन्दर और गुणी था। उसकी ख्याति कुन्तलपुर तक पहुँच चुकी थी। मन्त्री की पत्नी भी उसके गुणों पर मोहित होकर अपनी कन्या विषया का विवाह उसके साथ करना चाहती थी। मन्त्री ने पत्नी को आश्वासन दिया था कि वह उसे स्वयं देखेगा।

अब मन्त्री ने एक चाल चली और चन्दनावती के राजा से कहा कि किसी विश्वस्त आदमी को एक अति आवश्यक काम से कुंतलपुर भेजना है और उसके लिए चन्द्रहास उपयुक्त रहेगा। उसने एक पत्र अपने पुत्र मदन को सांकेतिक लिपि में लिखकर दे दिया। चन्द्रहास पत्र लेकर घोड़े पर गया। धूप के कारण विश्राम लेने के लिए वह कुंतलपुर के उद्यान में एक वृक्ष की छाया में लेटा तो उसे नींद आ गयी। मन्त्री की पुत्री विषया अपनी सखियों सहित बाग में, अपने विनोद के लिए संयोग से आ पहुँची। वृक्ष के नीचे सोये हुए चन्द्रहास को उसने वैसा ही पाया जैसा लोगों से सुना था। उसके सिरहाने एक पत्र रखा था। उस पर अपने भाई का नाम और पिता की लिखावट देखकर उसने उस पत्र को खोल लिया, लिखा था 'इसे विष दे देना।' उसने विष के आगे 'या' और जोड़ दिया और पत्र बन्द करके वहीं छोड़ दिया।

मन्त्री जब चन्दनावती पहुँचा और उसे चन्द्रहास के साथ विषया के विवाह का समाचार मिला, तो उसे बड़ा विस्मय हुआ। अब उसने चन्द्रहास, अपने दामाद की हत्या कराने का दूसरा उपाय सोचा कि सायंकाल वह उसे अँधेरे में वन में देवी का दर्शन करने के लिए भेजेगा और वहीं उसकी हत्या कर दी जायेगी।

उधर गालव मुनि के परामर्श से राजा ने चन्द्रहास को ही अपना उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय किया। सायंकाल को विचार करने के लिए राजा ने मदन से कहकर चन्द्रहास को बुलाया। मदन ने चन्द्रहास को राजा के पास भेज दिया और खुद देवी के शून्य मंदिर में चला गया। मुनि गालव ने परामर्श करके चन्द्रहास को राज्य स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया। गालव मुनि ने चन्द्रहास का वास्तविक परिचय भी कराया कि यह केरल देश के स्वर्गीय राजा सुधार्मिक का पुत्र है। कुक्षत्रियों ने सुधार्मिक को मारकर उसका राज्य हरण कर लिया। उस समय चन्द्रहास की आयु एक वर्ष की भी नहीं थी। इसकी धाय किसी प्रकार इसे लेकर इस नगर में आ गयी। राजा को यह सब जानकर प्रसन्नता हुई, क्योंकि चन्द्रहास उसके मित्र का पुत्र निकला।

इसी बीच समाचार मिला कि मन्त्री और मदन दोनों देवी के मंदिर में अचेतनावस्था में पड़े हैं। सब वहाँ गये। वे दोनों अब तक जीवित थे। मन्त्री ने निराश होकर राजा के साथ ही वन जाने का निश्चय किया। चन्द्रहास राजा बना और मदन मन्त्री।

आधार

प्रस्तुत कथा, जैमिनीय अश्वमेधपर्व[1] में बड़े विस्तार से वर्णित है। कथा का स्वरूप बहुत कुछ यही है केवल कुछ स्थलों पर अन्तर है।

अंतर

१ चन्द्रहास के पिता सुधार्मिक का वर्णन, गालव मुनि के द्वारा कुंतल नरेश का नाटक में कथा के अंतिम भाग में परिचय के तौर पर दिया गया है, जबकि मूल कथा जैमिनीय अश्वमेधपर्व में[2] यह विवरण कथा के प्रारम्भ में ही है।

२ नाटक की कथा में चन्दनावती के राजा कुलिन्द की रानी को स्वप्न में आदेश मिलता है कि अमुक स्थल पर एक बच्चा है जिसको उसे अपना पुत्र मानना चाहिए। मूल कथा में इस प्रकार के किसी स्वप्न का उल्लेख नहीं है। राजा स्वयं ही मृगया के लिए उस वन में पहुँचता है और वधिकों द्वारा छोड़े गये षष्ठ उंगली से रहित उस अनाथ बच्चे को देखता है उसका नामकरण चन्द्रहास वह स्वयं अपने राज्य में लाकर करता है।[3]

३ नाटक में धृष्टबुद्धि को यह समाचार पूर्व ही मिल जाता है कि चन्दनावती में राज्य में चन्द्रहास पल रहा है और तब वह चन्दनावती जाता है। मूल कथा में इसका विवरण इस प्रकार है—

बड़े हो जाने पर चन्द्रहास के पिता ने पुत्र का दिग्विजय करने का आदेश दिया, किन्तु उसने केवल कुन्तल-नरेश के शत्रुओं को मारने का ही आदेश दिया, क्योंकि उसका राज्य कुंतल-नरेश के अधीन था। विजय प्राप्ति के उपरान्त चन्द्रहास चन्दनावती की

---

१ जैमिनीय अश्वमेध पर्व गीता प्रेस गोरखपुर अ० ५० ५८ श्लो० ७८ तक, पृ० ३१५ ३६८
२ जैमिनीय अश्वमेध पर्व अध्याय ५० श्लोक २२ २५
३ जैमिनीय अश्वमेध पर्व अ० ५० २२ २५

राजगद्दी पर अभिषिक्त किया जाता है। तदनन्तर पिता के आदेशानुसार दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ (आधी राजा के लिए तथा आधी में से आधी आधी रानी तथा मन्त्री के लिए) कर रूप में चन्द्रहास द्वारा भेजी जाती हैं। राजवाहक मार्ग में स्नान करके कुन्तलपुर पहुँचते हैं तो उनके गीले वस्त्र देखकर मन्त्री पूछता है कि तुम्हारे राजा की मृत्यु कब हुई। सुनकर वे व्यक्ति अपने राज्य की समृद्धि का ब्यौरा देते हैं जिसे सुनकर वह कुन्तलपुर की देखरेख के लिए अपने पुत्र मदन को अपना कार्यभार सौंपकर चल पड़ता है और चन्दनावती पहुँचकर ही उसे चन्द्रहास के सम्बन्ध में ज्ञात होता है।[1]

४ चन्द्रहास की हत्या के लिए अपने पुत्र मदन को लिखे गए धृष्टबुद्धि के पत्र का विवरण नाटक में विस्तृत है। पत्र मूल कथा में मीलबन्द है।[2]

५ गालव मुनि मूल कथा में राजा के पुरोहित हैं कोई सामान्य मुनि नहीं। नाटक की कथा में ये मुनि दिखाए गए हैं जो राजा के पास पहुँचते हैं और परामर्श देते हैं।[3]

६ एक मुख्य अन्तर जो नाटक की कथा में दीख पड़ता है वह धृष्टबुद्धि तथा उसके पुत्र मदन की मृत्यु से सम्बन्धित है। मूलकथा में चन्द्रहास को जब दोनों की मृत्यु का समाचार मिलता है तो वह देवी के मन्दिर में तुरन्त पहुँचता है। पिता पुत्र को मृतक अवस्था में पड़ा देखकर वह स्वयं स्नान करके शुद्ध होता है तदनन्तर स्वस्तिवाचन करके वह शुभ लक्षणों से युक्त सुन्दर चौकोर कुण्ड खोदकर तैयार करता है और उस कुण्ड में 'देवी सूक्त' का पाठ करता हुआ अपने शरीर का पैर से लेकर मस्तक तक का सारा मांस काटकर होम कर देता है। इन्द्रियों का ढाँचा और मस्तक शेष रह जाने पर अपना सिर काटने को प्रस्तुत होता है तभी चण्डिका देवी प्रकट होती हैं और चन्द्रहास से दो वर माँगने को कहती हैं। चन्द्रहास प्रथम वर में श्रीहरि के चरणों में अटल भक्ति तथा दूसरे से पिता पुत्र का पुनः जीवन माँगता है। देवी प्रसन्न होकर यही वर देती हैं और दोनों जीवित हो जाते हैं।

कृष्णार्जुन युद्ध

'कृष्णार्जुन युद्ध'[4] नाटक कर्मवीर के सम्पादक, पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) की रचना है। इसका प्रथम प्रकाशन, १९८५ वि० (सन् १९१९ ई०) में हुआ। इसकी रचना प्रकाशन समय से बहुत पूर्व हो चुकी थी एवं जबलपुर में हिन्दी साहित्य

---

१ जैमिनीय अश्वमेध पर्व गीता प्रेस गोरखपुर अध्याय ५२ श्लोक ७ ७२
२ अध्याय ५३ श्लोक ६ १४
३ ५७ श्लोक १५
४ ५८ श्लोक १ ९८
५ प्रकाशक, वैद्य शिवनारायण मिश्र प्रताप पुस्तकालय कानपुर पंचम संस्करण

सम्मेलन के अवसर पर इसका सफल अभिनय पहले ही हो चुका था। चतुर्वेदीजी का यह अकेला नाटक है—प्रथम और अंतिम। इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य नाटक प्रकाश में नहीं आया। निःसन्देह हिन्दी के नाटक-साहित्य में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसे पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

कथानक

आकाश मार्ग से अपनी पत्नी चित्रांगी के साथ जाते हुए गन्धर्व चित्रसेन द्वारा थूका हुआ पान गंगास्नान के पश्चात् सन्ध्या करते हुए गालव मुनि की अंजलि में आ गिरता है। देखते ही मुनि के क्रोध की सीमा नहीं रहती। वे श्रीकृष्ण से चित्रसेन के अपराध की शिकायत करते हैं। श्रीकृष्ण गालव द्वारा क्षमा न किये जाने पर दूसरे दिन चित्रसेन को मार देने की प्रतिज्ञा करते हैं। देवर्षि नारद द्वारा दण्ड की अधिकता का ध्यान दिलाये जाने पर भी वे अपने वचन से मुड़ते नहीं हैं। चित्रसेन देवर्षि से समाचार पाकर अपनी रक्षा के लिए इन्द्र के पास जाता है किन्तु वहाँ से आश्वासन न पाकर वह महाभारत युद्धविजयी पाण्डवों के पास जाता है। युधिष्ठिर मिलते नहीं हैं अन्य भाई स्थिति की गम्भीरता पर विचार करके श्रीकृष्ण के विरुद्ध युद्ध करके उसकी रक्षा करने का आश्वासन नहीं देते हैं।

नारदजी दूसरा उपाय सुझाते हैं। चित्रसेन से गंगा के किनारे चिता तैयार करके विलाप करते हुए उस पर बैठने के लिए कहते हैं। उधर उन्हीं की प्रेरणा से सुभद्रा गंगा स्नान के लिए आती है। वह चित्रसेन के करुण क्रन्दन से द्रवित होकर पूरी बात सुने बिना ही उसकी रक्षा का आश्वासन दे देती है। स्थिति की गम्भीरता का पता बाद को चलता है किन्तु वह अपने वचन के परिपालन के लिए अर्जुन से आग्रह करती है। अर्जुन पत्नी के वचन को पूर्ण करने का आश्वासन देते हैं। उधर शिवजी भी इस कार्य में अर्जुन की सहायता करने का निश्चय करते हैं। ब्रह्माजी श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच युद्ध के भयंकर परिणाम की आशंका से गालव मुनि के पास आकर चित्रसेन को क्षमा कर देने का आग्रह करते हैं। गालव भी कुछ शान्त होने पर अपराध की अपेक्षा दण्ड की अधिकता का अनुभव करते हैं और ब्रह्माजी के साथ ही युद्धभूमि की ओर चल देते हैं। उधर युद्धभूमि में इन दोनों के पहुँचने से पूर्व ही दोनों ओर से युद्ध आरम्भ हो जाता है। अर्जुन श्रीकृष्ण के प्रहार से घायल होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। अपनी अर्धचेतनावस्था में स्वभाववश सहायता के लिए श्रीकृष्ण को ही पुकारते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी गोद में ले लेते हैं। ब्रह्माजी के साथ गालव मुनि भी वहाँ आकर चित्रसेन को क्षमा कर देते हैं अतः दोनों में पुनः युद्ध की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रतिज्ञा भंग की आशंका भी समाप्त हो जाती है।

आधार

चतुर्वेदीजी के इस नाटक के हिन्दी में प्रकाशन से पूर्व, इसी कथा को आधार बनाकर मराठी में दो नाटक लिखे जा चुके थे। प्रथम 'चित्रसेन गन्धर्व' नामक नाटक सन् १८८३ में ग० बा० आगाशे ने लिखा है। इसने मराठी नाट्य साहित्य में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। इसी कथानक को आधार बनाकर महादेव निवासकर ने सन् १८८८ में

कृष्णार्जुन युद्ध नाम से एक सुंदर नाटक की रचना की। इन दोनों नाटकों के पश्चात इसी कथानक पर एक तीसरा नाटक सन १९१४ में नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने कृष्णार्जुन युद्ध नाम से ही लिखा। इसे भी उस युग में मराठी साहित्य में पर्याप्त प्रशंसा और ख्याति प्राप्त हुई। मराठी के इन सुंदर नाटकों ने चतुर्वेदीजी को भी आकर्षित किया। इस कथानक पर हिंदी में इससे पूर्व कोई नाटक नहीं लिखा गया था। मराठी के इन नाटकों से प्रेरित होकर उसी कथानक पर हिन्दी में इस कृष्णार्जुन युद्ध नाटक की रचना चतुर्वेदीजी ने की है। उनके इस नाटक की कथा का आधार मुख्य रूप से मराठी के ये नाटक ही रहे हैं। जिस प्रकार से प्राय क्षेमीश्वर के संस्कृत नाटक चण्डकौशिक को आधार बनाकर भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने सत्य हरिश्चन्द्र की रचना की उसी प्रकार चतुर्वेदीजी ने भी कृष्णार्जुन युद्ध लिखा है।

विवेचन

इस नाटक के श्रीकृष्ण अर्जुन और सुभद्रा ये तीनों पात्र महाभारत के हैं। चित्रसेन का भी इन्द्र की सभा के एक प्रधान गन्धर्व के रूप में महाभारत में उल्लेख हुआ है।[1] महर्षि गालव का भी महाभारत में उल्लेख हुआ है परन्तु उन गालव के साथ इस नाटक की घटना का सम्बन्ध कहीं नहीं बताया गया है।

माखनलाल चतुर्वेदी का सम्बन्ध राष्ट्र के स्वतन्त्रता आंदोलन से प्रत्यक्ष रूप में रहा है इसलिए इस नाटक में युग की राजनीतिक विचारधारा भी प्रतिबिम्बित होती गयी है। महर्षि गालव के शिष्यों के द्वारा जिस हास्य रस की सृष्टि की गयी है वह पर्याप्त मात्रा में शिष्ट है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से यह नाटक सामान्य है। महर्षि गालव साधना ज्ञान की उच्च भूमि में पहुंचकर भी चित्रसेन के अनजान में हुए अपराध से अत्यधिक क्रुद्ध हो जाते हैं और उसकी शिकायत श्रीकृष्ण से भी कर देते हैं यह शोभन और उचित प्रतीत नहीं होता। श्रीकृष्ण का भी एक छोटे से अपराध के लिए मृत्यु दण्ड देने की प्रतिज्ञा करना सर्वथा न्यायोचित नहीं लगता है। अर्जुन का चरित्र वस्तुत अति उदात्त चित्रित हुआ है। सुभद्रा के चरित्र को और परिमार्जित किया जा सकता था। सोमनाथ गुप्त के अनुसार, यदि चतुर्वेदीजी ने सुभद्रा के चरित्र में स्त्रीजनित चापलपन वाली क्रिया के द्वारा अर्जुन को रिझाने का प्रयास न किया होता और उसके स्थान पर हिन्दू रमणी के कर्तव्य और पति पर उसके अधिकार की तर्कबद्ध उपयोगिता एव महत्ता दिखायी होती तो बहुत ही सुंदर बात होती। सुभद्रा के चरित्र में जो शिथिलता इस तीसरी श्रेणी की योजना के कारण आ गयी है वह दूर हो जाती। कर्तव्य का उद्बोधन उस महान् चरित्र के भी अनुकूल होता और हिन्दू संस्कृति का द्योतक भी।[2]

कृष्णार्जुन युद्ध एक सुंदर साहित्यिक नाटक तो है ही अभिनय गुणों से भी परिपूर्ण है। इसमें न कहीं शृंगारिकता है और न अतिरंजन। बाल, युवा और वृद्ध स्त्री और पुरुष सबके लिए समान रूप से पठनीय और अभिनेय है। अब से लगभग ३० ३५ वर्ष पूर्व हिन्दी जगत में इस नाटक ने बड़ी लोकप्रियता अर्जित की है।

---

१ महाभारत सभापर्व, अ० ७ श्लो० २२

२ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास सोमनाथ गुप्त हिन्दी भवन प्रयाग वि० सं० १९५१ पृ० १०६

रामायणधारा

षष्ठ अध्याय

१ आनन्द रघुनन्दन
२ कर्तव्य
३ आदर्श राम
४ भूमिजा
५ शबरी कथा (क) शबरी (ख) शबरी अछूत (ग) शबरी
६ श्रवण कुमार (इस नाम के तीन नाटक)
७ रावण

■ रामकथा के कुछ अन्य नाटक १ रामराज्य वियोग २ सीता वनवास ३ जनक बाग दर्शन, ४ धनुष लीला ५ भायप, ६ रामलीला रामायण, ७ रामचरित्रोद्दीपन ८ रामलीला ९ रामाभिषेक, १० प्रयाग रामागमन, ११ बन्धु भरत १२ सीता स्वयंवर, (बन्दीदीन दीक्षित) १३ सीताहरण १४ रामाभिषेक (गिरवरधर) १५ रामवनयात्रा, १६ रामचरित १७ सीता-स्वयंवर (मु० तोताराम) १८ रामलीला विजय, १९ पंचवटी २० रामायण नाटक।

रामचरित से सम्बद्ध नाटक

अष्टादश पुराण एवं महाभारत के समान वाल्मीकीय रामायण भी कवियों तथा नाटककारों के लिए युगों से प्रेरणा का स्थान रही है। अमरकाव्य रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी के समक्ष भी यह आदर्श रचना के रूप में निःसन्दिग्ध रूप में रही है यद्यपि अनुप्राणित वे अध्यात्म रामायण से भी पर्याप्त मात्रा में हुए हैं। तुलसीदासजी के रामचरितमानस को आधार बनाकर भी हिन्दी में अनेक काव्यों तथा नाटकों की रचना

उत्तरकाल म होती आई है। नाटक रचना तो विशेष रूप से विपुल मात्रा म हुई है, परन्तु प्रारम्भ की अधिकतर नाटक रचनाएँ पद्यमय हैं। इन रचनाओं मे बहुत-सी तो ऐसी हैं, जिनम रामचरितमानस के सम्पूर्ण भाग अथवा किसी स्थल विशेष के किसी अश को यत्र-तत्र नाटकीय निर्देश जोडकर नाटकीय रूप की अभिधा प्रदान कर दी गयी है। वस्तुत नाटक नाम से पुकारे जानेवाले ऐसे नाटकों म नाटकीय तत्वों का सवथा अभाव है। रामलीला के प्रदर्शनों के अवसर पर रगमच पर कथोपकथनों को सस्वर बोलने के रूप म अभिनय करने के लिए ही इन्ह नाटकीयता प्रदान की गयी है। यह स्थिति आरम्भिक अवस्था की है। ज्यों ज्यों समय बीतता गया और हिन्दी म नाटकीय विधान का विकास होता गया, रचनाएँ भी उसी अनुपात म परिमार्जित होती गयी।

इस धारा म जिन नाटकों के मूलस्रोतों का विचार किया जाएगा उनम अधिक सख्या ऐसी रचनाओं की है जिनका आधार मुख्य रूप से रामचरितमानस है। प्रारम्भिक रचनाएँ प्राय एसी ही हैं। उत्तरकाल की कुछ रचनाएँ वस्तुत नाटकीय विधान को दृष्टि म रखकर रची गयी हैं, अत पर्याप्त मात्रा में परिमार्जित हैं।

इस धारा म कुछ नाटक ऐसे भी हैं जो रामायण की प्रधान-कथा पर आधारित न होकर उसम आयी अवान्तर कथाओं अथवा उपाख्यानों पर आधारित हैं, यद्यपि इनकी सख्या अति न्यून है। इस प्रकार के नाटकों का समावेश रामचरितधारा शीर्षक म सम्भवत निरापत्तिजनक रूप म न हो पाता, अत इसे 'रामायणधारा' कर दिया है। एसा करने म प्रधान कथा अथवा अवान्तर कथा किसी पर भी आधारित नाटक को इसम सम्मिलित करने म अनुपपत्ति या आपत्ति होने की सम्भावना नही रह जाती।

आनन्द रघुनन्दन

यह नाटक रीवाँ क महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज विश्वनाथसिंह दव का है। इनका शासन सन १६६१ स १७४० तक रहा है। जसा कि नाटक के नाम स प्रतीत हो रहा है यह रामचरित से सम्बद्ध है। यह सात अकों का एक बडा नाटक है।

कथानक

नाटक का आरम्भ, राम और उनके तीनों भाइयों के जन्म के समाचार स होता है और रावण पर विजय के पश्चात राम के अयोध्या मे राजतिलक से समाप्त होता है। आरम्भ मे सभा म महाराज दशरथ को चारों राजकुमारों के जन्म की सूचना मिलती है। खूब आनन्दोत्सव मनाया जाता है। किशोर होने पर राम और लक्ष्मण को महर्षि विश्वामित्र आश्रम रक्षा के लिए ले जाते हैं। वहा स तीनों, राजा जनक के धनुष यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिए मिथिला जाते हैं। मार्ग म अहल्या का उद्धार होता है। राम के शिवधनुष तोड देने पर महाराज दशरथ को सूचित किया जाता है। वे अयोध्या से बरात लेकर मिथिला

पहुँचते हैं। राम और सीता का विवाह सम्पन्न होता है। अयोध्या आने पर कुछ समय के पश्चात् राम को युवराज बनाने का प्रस्ताव एवं कैकेयी के आग्रह से राम का चौदह वर्ष का वनवास और भरत को अयोध्या का उत्तराधिकारी घोषित किया जाता है। राम, सीता और लक्ष्मण वन को चले जाते हैं। वहाँ रावण द्वारा सीता का अपहरण, राम की सुग्रीव से मित्रता एवं रावण का संहार होता है। राम सीता और लक्ष्मण के साथ अयोध्या आते हैं और शासन भार ग्रहण करते हैं।

आधार

नाटककार राजा विश्वनाथसिंह ने अपने इस आनन्द रघुनन्दन नाटक की कथा का मुख्य आधार आदि कवि की रामायण को ही माना है। इस बात का संकेत उन्होंने नाटक की प्रस्तावना में दिया है। वह इस प्रकार है—

"(भाव का प्रवेश)

भाव—त्रिशालज्ञादिक्के पत्रिकेयम।

सूत्र—(प्रणम्य गहीत्वा वाचयति)

बहुविधि आशिष नित्य हमारी।
है इत कुशल, कुशल तुव चाहैं, होवे निरमल बुद्धि तिहारी॥
दिगसिर अघ भू भूरि भार भव, बदन विधाता विनय कराई।
अव उदार अवतार परम प्रभु लहे पुहुमि परम सुददाई॥
ताके गुनगन भरित चरितमय काव्य सस्कृत रची अगारी।
नाटय करन परिहै प्रभु आगे पेलत ह्व है तेऊ सुरारी॥
श्री जसिंह भुवाल विधिपति सुत विसुनाथसिंह अहि नाऊँ।
सो नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' भाषा रचि है आउ पढाऊँ॥

यहाँ इस पद्य में पंचम पंक्ति में गुन गन भरित चरितमय काव्य सस्कृत रची अगारी से आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के अमर संस्कृत महाकाव्य रामायण की ओर ही संकेत है। इसीलिए आनन्द रघुनन्दन को भाषा नाटक कहा गया है—सो नाटक आनन्द रघुनन्दन भाषा रचि है। ये शब्द नाटक के मौलिक स्रोत के लिए ऊपर निर्दिष्ट संस्कृत काव्य की ओर ही स्पष्ट संकेत कर रहे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि नाटककार का मूलाधार तो यद्यपि वाल्मीकीय रामायण ही है तथापि वह गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस से प्रभावित न हुआ हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सर्वांश में उसने वाल्मीकीय रामायण का ही अनुसरण नहीं किया है। कुछ घटनाएँ अथवा उसके संकेत ऐसे हैं जिनका वाल्मीकीय रामायण में उल्लेख नहीं है पर रामचरितमानस में वर्णित हैं। कुछ ऐसी भी हैं जिनका वाल्मीकीय रामायण एवं रामचरितमानस दोनों में ही उल्लेख नहीं है। ऐसी घटनाओं के लिए या तो किसी अन्य स्रोत की खोज करनी होगी या फिर उन्हें नाटककार की अपनी उदभावना मानना होगा। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

१ प्रथम अंक के सीता स्वयंवर के प्रसंग में यहां कहा गया है कि सहस्रार्जुन और रावण दोनों ही सीता को प्राप्त करने के लिए मिथिला में उपस्थित होते हैं। दोनों वीरों में

आपस में ही कुछ झगड़ा हो जाता है। सहस्रार्जुन तो पिनाक धनुष को नमस्कार करके ही वहाँ से चला जाता है और रावण भी यह आकाशवाणी सुनकर कि, 'स्वामी, तुम्हारी कुमीनसी कन्या को मधुनामा दैत्य हर लिये जाय है।' वहाँ [redacted] चल देता है।

वाल्मीकीय रामायण में इस घटना का उल्लेख नहीं है। वहाँ केवल सामान्य रूप से इतना ही कहा गया है—

इदं धनुर्वरं ब्रह्मन् जनकैरभिपूजितम्।
राजभिश्च महावीर्यैरशक्तं पूरितुं तदा॥
नैतत् सुरगणाः सर्वे सासुरा न च राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः॥

अर्थात् यह वह श्रेष्ठ धनुष है जिसका जनकवंशियों ने सदा पूजन किया है और इसे उठाने में असमर्थ महापराक्रमी राजाओं ने भी इसका सम्मान किया है। इसे समस्त देव, असुर, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और महानाग भी नहीं चढ़ा सके हैं।

रामचरितमानस में भी इन दोनों वीरों के विवाद का उल्लेख नहीं है। वहाँ भी—

नृप भुजबल बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू।
रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवँहि सिधारे॥

केवल इतना ही कहा गया है। एक स्थल पर सामान्य रूप में और दूसरे पर रावण और बाण का नामोल्लेखपूर्वक विशेष रूप में निर्देश है। नाटककार ने अपनी रचना में इसी को विस्तार दिया है।

२. दूसरे अंक के आरम्भ में ही आदिकवि और उनके शिष्य में संभाषण है। इससे प्रकट होता है कि भरत का उसके मामा के यहाँ भेजना, राम को युवराज बनाने के स्थान पर वन को भेजना, कुटिला मंथरा की बुद्धि को फेरना—ये सब कार्य पूर्व से ही 'सुरकाज सिद्धि' के उद्देश्य से सुनियोजित योजना के अंग रहे हैं—

माका बानी की बानी यों सुनी परी — तुम दिगजान (दसरथ) पै जाय डहडहजस कारी (भरत) डिमीवर (शत्रुघ्न) को कासमीर को पठवाइयो और उपाय करि भूप सो हितकारी (राम) को युवराजपद दिवावत बन दिवाइयो। अरु हितकारिहू को याही रुख है। हौं कुटिला के कंठ बैठि सुरकाज सिद्ध करन जाऊँ हौं।'

इस नाटक का यह प्रसंग वाल्मीकि की रामायण पर नहीं तुलसी के रामचरितमानस पर आधारित है। वहाँ सुरगण बार बार सरस्वती से यही विनय कर रहे हैं, कि तुम जाकर उन लोगों की बुद्धि विकृत कर दो, जिससे वे लोग राम को वन भेज दें—

बिपति हमारि बिलोकि बड़ि मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राजु तजि होइ सकल सुरकाजु॥

—अयोध्याकाण्ड, दोहा ११

३. द्वितीय अंक में ही एक अन्य स्थल पर इन्द्र के पुत्र जयन्त के वायस का रूप धारण करके चित्रकूट में राम की कुटी पर आना और दुष्टतावश सीता के पैर का चोंच मारकर विक्षत करना एवं उसे दण्ड देने के लिए राम द्वारा छोड़े बाण द्वारा उसका सर्वत्र अनुसरण किया जाना तथा राम की शरण में आने पर त्राण मिलना।

आनन्द रघुनन्दन में इस घटना का वर्णन चित्रकूट में कुटी बनाकर राम के निवास के पश्चात् एवं भरत मिलन से पूर्व आया है। वाल्मीकीय रामायण में भरत मिलन के पूर्व अथवा पश्चात कहीं पर भी इस घटना का वर्णन नहीं है। किन्तु सुन्दरकाण्ड में इस घटना का उल्लेखमात्र उस स्थल पर किया गया है जहाँ हनुमान (लंका में) सीता के पास जाते हैं, राम का सन्देश सुनाते हैं और फिर सीता की निशानी के साथ उनका सन्देश लेकर पुनः राम के पास लौटते हैं। सीता स्मरण दिलाने के लिए अपने एकान्त जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख करती है—

अभिज्ञानं च रामस्य दत्तं हरिगणोत्तम।
क्षिप्तामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम्॥

—सुन्दरकाण्ड सर्ग ४० श्लोक ४

यद्यपि महर्षि वाल्मीकि ने यहाँ इस घटना का विस्तृत विवरण नहीं दिया है किन्तु इस उल्लेख से इतना तो स्पष्ट है कि वे राम के चरित्र की इस घटना से परिचित थे।

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में भरत मिलन के पश्चात इसका विस्तृत वर्णन आया है। सम्भव है आनन्द रघुनन्दन में यह घटना यहीं से ली गयी हो।

४ तृतीय अंक में ही जहाँ राम पंचवटी में कुटी बनाकर निवास करने लगते हैं उनके कुशल समाचारों को जानने के लिए माता कौशल्या द्वारा एक शुक को दूत बनाकर राम के पास भेजने और राम द्वारा अपना समाचार देकर पुनः वापस भेजने का उल्लेख है। यह घटना पूर्णरूपेण नाटककार की स्वकल्पना है। इसका वाल्मीकीय रामायण एवं रामचरितमानस में कहीं उल्लेख नहीं है।

५ इसी अंक में शूर्पणखा के नाक कान काटे जाने की घटना के पश्चात रामम नाम के राक्षस के राम के पास आने और मारे जाने का भी—दोनों ही आधार ग्रन्थों में उल्लेख नहीं है।

६ तृतीय अंक के अन्त में एक अन्य महत्वपूर्ण घटना का और उल्लेख है वह यह *कि लक्ष्मण तो राम और सीता को कुटी पर छोड़कर स्वयं आखेट के लिए चले जाते हैं* उधर राम सीता को यह आदेश देते हैं— महिजा छाया महिजा इत राखि दिगशिर वधान्त अग्नि में रहो।'

सीता की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही यहाँ सम्भवतः नाटककार ने राम से ऐसा कहलाया है। इसका भी वाल्मीकीय रामायण एवं रामचरितमानस में उल्लेख नहीं है। इस घटना को पढ़ने के उपरान्त मन में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यदि वस्तुतः ही रावण के द्वारा हरी गयी सीता छाया सीता ही थी और राम को यह सब तथ्य ज्ञात ही था तो फिर सीता के लिए राम की इतनी व्याकुलता क्या दिखायी गयी है ? रावण को मारने के उद्देश्य से छाया सीता के हरण का औचित्य कुछ सीमा तक तो सिद्ध किया जा सकता है। बस यह कल्पना है कल्पना के लिए ही। बुद्धि इसे स्वीकारती नहीं है।

७ चतुर्थ अंक में एक घटना है कि द्रविड देश की पर्वत गुफा में रहने वाली एक तपस्विनी राम के *आगमन को सुनकर उनके दर्शनों के लिए जाती है और उन्हें कुछ आवश्यक*

सक्रिय सूचनाएँ देनी है।

यह घटना भी सर्वथा नाटककार की अपनी कल्पना मात्र है। इसका स्रोत न तो वाल्मीकीय रामायण में है और न रामचरितमानस में।

८ पचम अंक में लंका राक्षसी (लंका की अधिष्ठात्री देवी) रावण को लंका में हनुमान के प्रवेश का समाचार देकर समझाती है 'महिजा (सीता) जहाँ रही सो थल मय सा बताय दियो। तुमसों कहौं हौं, त्रिनारी (राम) परम पुरुष हैं। जो जीवन चाहौ तौ महिजा को ल शरण जाउ।'

इस घटना के प्रथम अंश का वर्णन दोनों ही ग्रंथों वाल्मीकीय रामायण एवं रामचरितमानस में उपलब्ध है।[1] रामचरितमानस के वर्णन की अपेक्षा वाल्मीकीय रामायण का वर्णन विस्तृत है। वहाँ लंका द्वारा प्रथम हनुमान को चपत मारने एवं इसके पश्चात हनुमान द्वारा उसे एक मुक्का मारने का उल्लेख है। इसके पश्चात ही ब्रह्मा के एक वचन का स्मरण करके वह हनुमान को नगर में प्रवेश की अनुमति दे देती है। यहाँ हनुमान के अपना सूक्ष्म रूप बनाकर प्रवेश करने का उल्लेख नहीं है, वे अपने स्वाभाविक रूप में ही प्रवेश करते है—

अथ सा हरिशार्दूल प्रविश्य महाकपिम्।
नगरी स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम्॥ सुन्दरकाण्ड ३/२०

इसके विपरीत रामचरितमानस में हनुमान मसक समान रूप धरकर लंका में प्रवेश करते है—

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।
नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥

प्रवेश रोकने पर हनुमान एक मुक्का मारकर उसे विक्षत कर देते है। यहाँ तुलसीदास ने रामदूत को नारी द्वारा पिटने से बचा लिया है।

इस घटना के दूसरे भाग अर्थात नारी-लंका द्वारा रावण को समझाये जाने का वर्णन दोनों ग्रंथों में नहीं है। यह नाटककार की अपनी कल्पना से प्रसूत है। नाटक के षष्ठ और सप्तम अंकों की घटनाओं का मूल ग्रंथों की घटनाओं में कहीं विशेष अंतर नहीं है।

विवेचन

महाराज विश्वनाथसिंह (सन १६६१ १७४०) के आनन्द रघुनन्दन के गद्य एवं पद्य दोनों की मुख्य भाषा ब्रज है जो कि पर्याप्त रूप में सुपरिष्कृत है। यत्र-तत्र अलंकारों की छटा भी मन को मोहती चलती है। इसके गद्य रूप दर्शन के लिए एक छोटा सा उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

राजा दशरथ के नाम राजा जनक का पत्र—

'अनन्त श्रीमहाराज अपराजिताधिराज सकल महाराजनि सिरताज जग लाज का

---

१ वा० रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ३ २ ४१
रामचरितमानस सुन्दरकाण्ड दोहा ३ ४

जहाज, गरीब निवाज, महिमण्डल महेन्द्र, सुरेन्द्र के उपन्द्र सम करत काज जग जागत जहान, केते भान समान, प्रतापवान, दानमान, सनमान सुजान, मान प्रेम निधान, दिग्गजान भूपजू येते शीलकेतु भूप की जोहार। अनूप सुगल स्वरूप है। इत आपरी कृपाही कुशल है। भुवन हित मुनि सग अग अग आभा उमग अनग आभा भग करनहार आपके युगल कुमार आये। हम लोग लोचन लाहु पाय। हितकारी महीपति मद मारि महेश धनु तारि मही कीर्ति छाई महिजा पाई। सजि बरात आइय ब्याहि ल जाइय।

यह सत्रहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का मँजा हुआ रूप है।

यह नाटक संस्कृत के नाटयशास्त्र के नियमों का अनुसरण करता है। नाटक के आरम्भ की प्रस्तावना और विष्कम्भक उसी परिपाटी के द्योतक हैं। नाटय सकेत इसम सवत्र ही संस्कृत मे दिये है। यह कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। ये सकेत ब्रजभाषा म भी दिय जा सकते थे। संस्कृत से सवथा अपरिचित व्यक्ति के लिए सम्भवत कुछ कठिनाई भी उप स्थित कर सकते हैं।

इस नाटक म सबसे बडी कठिनाई तो पात्रों के नामों से सम्बन्धित है। इसम परम्परा से प्रचलित नामों को ग्रहण नही किया गया है, अपितु उनके स्थान पर कुछ अथ साहश्य को लेकर दूसरे ही नाम गढे गये हैं। उनमे से कुछ प्रधान पात्रों के नाम इस प्रकार हैं—

राम हितकारी भरत हहडहवारी लक्ष्मण डील धराधर, शत्रुघ्न डिम्भीकर, दशरथ दिगजान कैकेयी काश्मीरी विश्वामित्र भुवनहित वसिष्ठ जगदयोनिज जनक शीलकेतु सीता महिजा परशुराम रणकेतु रावण दिविशिर मेघनाद घनध्वनि विभीषण भयानक, सुग्रीव सुगल, बाली वासव हनुमान त्रेतामल्ल, अगद भुजभूषण अनसूया अनीष्या आदि तथा अयोध्या अपराजितापुरी गगा ब्रह्मकुण्डजा।

नामों की कठिनाई के अतिरिक्त एक और कठिनाई यह है कि इस नाटक मे अको का विभाजन दृश्यों मे नही किया गया है। इससे इसम गति समय और स्थान के समन्वय म बडी कठिनाई उपस्थित होती है। प्रत्यक अक की कथावस्तु के लिए प्राय एक ही घटना स्थल है। उसी पर विविध दृश्य उपस्थित किय गय है। उदाहरण के लिए प्रथम अक म अयोध्या के दृश्य ताडकावध का दृश्य वनमाग का दृश्य, मिथिला के दृश्य आदि सब एक ही स्थल पर दिखाये गये हैं। स्थान और दृश्यों के परिवतन का कही निर्देश नही है।

इस नाटक की एक प्रमुख विशेषता या इसे दोष भी कह सकते हैं वह यह है कि जिस सामाजिक स्थिति श्रेणी, प्रदेश या देश का पात्र है वह वहाँ की और उसी प्रकार की भाषा बोलता है। दूसरी नटी शौरसेनी प्राकृत बोलती है। कुमार दशनार्थी अपभ्रश बोलता है धानिनी भ्रष्ट मागधी प्राकृत बोलती है काबुल का चारभुज पश्तो बोलता है नेपथ्य म दो गान हात हैं जो मथिली म हैं गौतम का बगाली शिष्य बगाली म बोलता है आदि। एक स्थल पर अग्रेजी का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार स विविध भाषाओं एव बोलियों के रूप इस नाटक म मिलत हैं। मुख्य भाषा तो ब्रज ही है। विविध भाषा बानगी स रचना के समय का आभास तो हो जाता है किन्तु नाटक के वृत्तयुगीन वातावरण का प्रभाव नहीं आ पाता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस नाटक को हिन्दी नाटक साहित्य का प्रथम नाटक स्वीकार किया है। वस्तुत कालक्रम की दृष्टि से इसे प्रथम होने का श्रेय दिया जा सकता है। यह हिन्दी का प्रथम प्रयास है अतः इसमें कहीं-कहीं जो दोष हैं उनकी उपेक्षा की जानी चाहिए। 'स तु तत्र विशेष दुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः।' महाकवि भारवि के इन शब्दों को स्मरण करते हुए महाराज विश्वनाथ सिंह को उचित गौरव अवश्य मिलना चाहिए।

कर्तव्य[1]

सेठ गोविन्ददास ने अपने कर्तव्य नाटक को दो खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित है और द्वितीय में श्रीकृष्ण का। वस्तुतः ये दोनों पाच पाच अंकों के स्वतन्त्र नाटक हैं। कथा और काल की दृष्टि से दोनों में कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। यहाँ श्रीराम के चरित का आधार बनाकर रचे गये कर्तव्य पर ही विचार किया जा रहा है। इसका कथानक इस प्रकार है—

कथानक

इस नाटक की कथा का आरम्भ राम के अभिषेक की तैयारी से होता है। राम और सीता दोनों आने वाले उत्तरदायित्व और कर्तव्य की चर्चा कर रहे हैं। सीता अति प्रसन्न हैं। राम अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हैं। उसी समय महाराज दशरथ की अस्वस्थता के समाचार के साथ राम को बुलाया जाता है। कैकेयी की वर प्राप्ति के अनुसार, राम और सीता लक्ष्मण सहित वन को चले जाते है। वन में तेरह वर्ष तो सरलता से कट जाते हैं किन्तु चौदहवें वर्ष का आरम्भ होते ही उत्थान आरम्भ हो जाते हैं। स्वर्णमृग के पीछे सीता के अनुरोध से राम का जाना, पीछे राम का सा आर्तनाद सुनकर लक्ष्मण का भी चले जाना और सीता का हरण—यह सब घटता है। इसके पश्चात सुग्रीव के साथ मित्रता और बाली का वध होता है। समुद्र पर पुल बनाकर लंका में युद्ध और तत्पश्चात विजयोपरान्त सीता की परीक्षा तथा ग्रहण की घटनाएँ घटती हैं। अयोध्या में आकर राम के द्वारा सीता का परित्याग, अश्वमेध और दोनों कुमारों का रामायणपाठ तथा वाल्मीकि के आग्रह से सीता का आगमन होता है। सब नागरिकों के सहमति प्रकट करने पर भी पुनः सतीत्व परीक्षा के लिए राम आग्रह करते हैं। पृथ्वी फटती है और सीता का विलय हो जाता है।

इसके उपरान्त की घटनाएँ भी नाटक के कथानक में सम्मिलित हैं यथा—शम्बूक का वध, एक ऋषि की राम से एकान्त बातचीत, वहाँ किसी को न आने देने की शर्त, आने वाले का वध, दुर्वासा का आगमन, प्रवेश के लिए आग्रह, लक्ष्मण का रामकृत त्याग, त्यक्त लक्ष्मण के द्वारा योग से सरयूतट पर शरीर त्याग, उर्मिला का सती होने के लिए प्रयत्न, राम का

---

1 प्रकाशक महाकोशल साहित्य मन्दिर गोपाल बाग जबलपुर द्वितीय सं० १९६२

मृत्यु भूपाल—उसका वसिष्ठ, राम, भरत, शत्रुघ्न आदि का विलाप।

इस नाटक की मुख्य विशेषता यही है कि सीता यहाँ परीक्षा के समय अग्नि में प्रवेश नहीं करती अपितु वे निर्दोष उज्ज्वल होती हैं।

आधार

रामकथा पर लिखे गये हिन्दी के नाटकों का आधार प्राय वाल्मीकि रामायण अध्यात्म रामायण, रघुवंश उत्तररामचरित रामचरितमानस रहा है। परन्तु सेठजी ने इनमें से किसी एक को अपने इस नाटक के कथानक का आधार नहीं बनाया है। वे सामूहिक रूप में उपर्युक्त ग्रंथों में से सभी से प्रभावित हैं और जहाँ जो उनको अच्छा लगा है उसे उन्होंने निःसंकोच भाव से ग्रहण किया है। पौराणिक कथा के मूल रूप में आवश्यकतानुसार कहीं कहीं उन्हें मोड़ भी देना पड़ा है। इस सम्बन्ध में सेठजी का कथन है—

सबसे पहली कठिनाई मेरे सामने समय के विभाजन की उपस्थित हुई पौराणिक कथा अपने काल के अनुरूप होने हुए अस्वाभाविक भी न हो इस बात पर ध्यान रखने के लिए मुझे इस नाटक में समय के विभाजन में स्वतन्त्रता लेनी पड़ी है। दूसरी कठिनाई जो मेरे सामने उपस्थित हुई वह कथा का एक निश्चित रूप बनाना था। राम और कृष्ण की कथा प्राचीन ग्रंथों में हर स्थान पर एक-सी नहीं है। छोटे मोटे पाठान्तर हो इतना ही नहीं पर कई स्थल ऐसे हैं जहाँ मुख्य मुख्य बातों में ही अन्तर है। कथा को निश्चित रूप देने में मुझे स्वतन्त्रता लेनी पड़ी है परन्तु मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि अपनी कथा का कोई-न-कोई प्राचीन आधार अवश्य रखूँ। इस सम्बन्ध में मेरा मत है कि किसी भी आधुनिक लेखक को यह अधिकार नहीं है कि पौराणिक कथा की छाया मात्र लेकर उसे तोड़ मरोड़कर वह एक नयी कथा की ही रचना कर डाले। हाँ किसी कथा के अर्थ के इंटरप्रिटेशन के सम्बन्ध में लेखक को स्वतन्त्रता अवश्य रहती है। इस स्वतन्त्रता का उपयोग मैंने भी किया है। राम तथा कृष्ण के अनेक कार्यों का जो अर्थ आजकल लगाया जाता है उससे मेरा मतभेद होने के कारण मेरे मतानुसार जो युक्तिसंगत है वही मैंने लगाया है। साथ ही चूँकि मैंने राम और कृष्ण को इस नाटक में मनुष्य माना है ईश्वर नहीं इसलिए ऐसे स्थलों पर जहाँ राम और कृष्ण के कार्य ईश्वरीय जान पड़ते हैं मैंने उन कार्यों को ऐसा रूप देने का प्रयत्न किया है कि जिसमें वे मनुष्य के लिए असम्भव न जान पड़ें। फलत, रामकथा में सीता की अग्निपरीक्षा, सीता का पृथ्वी प्रवेश राम के साथ अवध की प्रजा का स्वर्गारोहण आदि का वर्णन दूसरे ही प्रकार से करना पड़ा है।[1]

विवेचन

इस प्रकार इस नाटक के लिखने में सेठजी का एक विशेष उद्देश्य रहा है। अपनी नौ पृष्ठों की लिखी हुई भूमिका में उन्होंने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट किया है। उनका कहना है—

---

१ वक्तव्य नाटक की भूमिका से

'मैंने यह नाटक भगवान रामचन्द्र और भगवान कृष्णचन्द्र को मनुष्य मानकर ही लिखा है। इन दोनों को मनुष्य मानकर भी कुछ लिखा जाय तो भी मैं कह सकता हूँ कि पूर्व अथवा पश्चिम किसी भी दिशा के, किसी भी काल में, किसी भी साहित्यकार को ऐसे नायक नहीं मिले हैं, जैसे भारत के साहित्यकारों को राम और कृष्ण के रूप में मिले हैं।"[1]

सेठजी का यह नाटक तीस वर्ष पहले का लिखा हुआ है, किन्तु जिस उद्देश्य को लेकर सेठजी ने इसकी रचना की है, वह लक्ष्य सर्वदा नूतन रहेगा, क्योंकि आपने राम के कर्तव्यपथ को अपने नाटक में सर्वोच्च भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। यूँ तो राम के जीवन का अध्ययन करने के बहुविध दृष्टिकोण हो सकते हैं और रहे हैं परन्तु यहाँ लेखक ने कर्तव्य की कसौटी पर ही रखकर उन्हें देखा है। यहाँ भी राम कम मान्य नहीं रहे हैं। उनकी मानवीय दुर्बलताओं के साथ उनका निखरा रूप कहीं ही आवश्यक और ग्राह्य बना है। यह इसलिए भी कि लेखक ने उन्हें मानव रूप में ही चित्रित किया है। भगवान का अवतारी रूप स्तुत्य तो बन जाता है पर ग्राह्य नहीं। वहाँ ईश्वर और मानव के बीच में महत्त्व की एक विशाल भित्ति खड़ी हो जाती है जो समानता और तद्रूपता एवं ऐकात्म्यानुभूति में बाधक बन जाती है। भगवान जब तक भगवान हैं तब तक मानव के साथ उनकी तद्रूपता कैसे सम्भव हो सकती है। मानव की मानव के साथ जो सहानुभूति हो सकती है वह अवतारी के साथ नहीं। सेठजी ने इस नाटक में इस बात का ध्यान रखा है कि राम के लोकोत्तर कार्यों का चित्रण भी मानवता के धरातल पर ही किया जाये। इसलिए उन घटनाओं को तोड़ मोड़ करने में उन्हें बौद्धिक श्रम करना पड़ा है।

रामकथा में लोकोत्तर घटनाओं की बहुलता होने के कारण सर्वत्र उनकी मानवीय व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। सीता ने अग्नि में कूदकर अपने सती व की परीक्षा नहीं दी कूदने के लिए प्रस्तुत होकर दी है। अग्नि में कूदने के लिए उनका प्रस्तुत होना ही जनदृष्टि में उनके सतीत्व की शुद्धि के लिए पर्याप्त मान लिया गया है। परन्तु राम के अश्वमेध यज्ञ में वाल्मीकि के आश्रम से उन्हें बुलाकर भरी सभा में पुनः अपने सतीत्व की शुद्धि की परीक्षा देने के लिए राम के आदेश पर, उनके करुण निवेदन पर पृथ्वी के फटने पर उसमें उनके समाने को नहीं रोका जा सका है। मारीच के स्वर्णमृग बनने और उसके पीछे राम के भागने के लिए भी कुछ नहीं कहा गया। शायद इसकी किसी अन्य रूप में व्याख्या सम्भव प्रतीत न हुई हो।

रात्रि एवं दिवस के समान श्याम और श्वेत मानवचरित्र के आवश्यक पक्ष हैं। सेठजी के मानव राम के साथ श्याम के स्थान पर श्वेत की मात्रा ही अधिक है। उनमें कर्तव्य की वह उदात्त भावना है कि जो कुछ भी उन्होंने किया है सब उसी से प्रेरित होकर। कर्तव्य उनके दिन की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न है। कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को यदि अपना सर्वस्व की आहुति भी देनी पड़े तो उसे पीछे नहीं हटना चाहिए यही उनका आदर्श रहा है। जो कुछ भी उन्होंने अपने जीवन में किया सब इसी के वशीभूत होकर। युग की मर्यादाओं से वे बद्ध रहे, उनकी रक्षा करना उनका कर्तव्य रहा। मर्यादा रक्षा को इसी

1 कर्तव्य नाटक की भूमिका से

भावना से प्रेरित होकर उन्होंने नारी ताड़का और शम्बूक का वध किया। अभागे शम्बूक का एकमात्र अपराध यही था कि वह शूद्र जाति में उत्पन्न होकर भी तप कर रहा था। युग की मर्यादा इसे सहन नहीं कर सकी। उसकी रक्षा के लिए कर्त्तव्यनिष्ठ राम ने हृदय पर पत्थर रखकर जो कुछ किया, कर्तव्य समझकर ही। उन्हें इसके लिए प्रशंसा का भ्रम नहीं मिला। वशिष्ठ ने कहा भी—

'कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोड़ा, परम प्रिय सती साध्वी पत्नी का चिर वियोग सहा और अन्त में प्राणों से प्यारे भ्राता का भी त्याग किया। अगणित स्वार्थों को त्याग तुमने *प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है।*'

पर राम को सन्तोष नहीं है, एक शूल उनके हृदय में है—

'नाथ, परन्तु मैंने यह सब स्वयं को खोकर पाया है। ताड़का स्त्री की हत्या की ग्लानि अब तक मेरे मन में है, बाली को अधर्म से मारने की लज्जा से अब तक मेरा हृदय लज्जित है। पत्नी को मेरे कारण कष्ट भोगना पड़ा है। मैं समझता था कि कर्तव्य पालन से संसार को सुखी करने में मग्न मनुष्य स्वयं भी सुखी होता है पर नहीं, यह मेरा भ्रम निकला। मैं तो सदा पीड़ित ही रहा।

आदर्श राम[1]

आदर्श राम के लेखक बाबू बजरंगदासजी हैं। जैसा कि नाटक के नाम से ही स्पष्ट है, रामकथा को केन्द्र बनाकर इसकी रचना की गई है। अति प्राचीन काल से ही श्रीराम के चरित्र को आधार बनाकर विविध प्रकार का साहित्य-सृजन होता रहा है और आज भी यह क्रम अनवरत गति से चलता आ रहा है। इसी क्रम में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की अर्चना के साहित्य पुष्प के रूप में, लेखक का यह नाटक है। युग-युगों से श्रीराम चरित सम्पन्न एवं विपन्न जनता का आदर्श बनकर समुचित पथ का निर्देशन करता रहा है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आज तक श्रीराम पर बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु आज भी यह प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। श्रीराम का चरित इतना बहुमुखी है कि पूर्णरूप से उसे चित्रित करने का कोई साहित्यकार साधिकार घोषणा नहीं कर सकता। लेखक के दृष्टिकोण का अन्तर वर्ण्य वस्तु के स्वरूप में भेद उपस्थित कर देता है। इस नाटक के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

श्रीराम का चरित सुपरिचित होने के कारण ही नाटक की कथा का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। यह अवश्य है कि लेखक ने इसे एक विशेष दृष्टि से उपस्थित किया है। उनका कहना है—

"यदि हम अयोध्या नरेश महाराज दशरथ के पुत्र को परब्रह्म परमेश्वर मानकर

---

१ प्रकाशक हिन्दी साहित्यकुटीर हाथीगली बनारस प्रथम सं० सं० २०१२

ही चलें तब वे साधारण मानव के लिए न आदर्श ही हो सकते हैं और न उनका राज्य ही आदर्श राज्य। यह तो निश्चित रूप से माना ही जाता है कि श्रीरामचन्द्र ने अपनी सारी जीवन लीला भारतभूमि पर मानव रूप ही में मानवों के बीच व्यतीत की थी और उनके आदर्शचरित्र महामानव या महापुरुष मानकर चित्रित किए जाएँ तो वे साधारण मानवों के लिए भी आदर्श उच्च आदर्श हो सकेंगे। कुछ ऐसे ही विचार से इस नाटक के लिखने का प्रयास किया गया है।"[1]

यहाँ लेखक ने इस नाटक के लिखने का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रसंग में वह आगे कहता है—

"इस नाटक में रामायण के सभी पात्र मानवों ही के रूप में चित्रित किए गए हैं और सभी ने अपने अपने कार्य-व्यवहार आदि से अपनी उच्चता तथा महत्ता प्रकट की है। इस नाटक के लिखने में यह भी ध्यान रखा गया है कि इसमें शृंगार रस की गंध भी न आवे। वास्तव में इस नाटक का रस मुख्यतः वीर ही है और उसके तीनों भेद, धर्मवीर, कर्मवीर या उद्योगवीर तथा युद्धवीर प्रधान पात्रों में पूर्णरूपेण प्राप्त हैं। साथ ही यह नाटक अभिनय की दृष्टि से भी प्रस्तुत किया गया है और मंच पर वैसे सभी दृश्य बचाए गए हैं जो नाट्यशास्त्र के अनुसार वर्ज्य हैं।"[2]

आधार तथा विवेचन

भारत देश में रामकथा की दो धाराएँ प्रसिद्ध हैं, एक तो अति प्राचीन काल से चली आ रही महर्षि वाल्मीकि की 'रामायण' की धारा है। इसमें राम को आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया गया है। इसके द्वितीय काण्ड से लेकर षष्ठ काण्ड पर्यन्त कहीं श्रीराम को ईश्वर या परब्रह्म रूप में चित्रित नहीं किया गया है। प्रथम और सप्तम काण्डों में जहाँ उनका अतिमानव रूप मिलता है विद्वान आलोचकों के मत से वे अंश प्रक्षिप्त मान गए हैं। वाल्मीकि के पश्चात समय की धारा के साथ उसमें कुछ धाराएँ ऐसी भी मिल गयीं जो उत्तर-काल की भावधारा का प्रतिबिम्ब थीं। रामकथा की दूसरी धारा अध्यात्म रामायण की धारा है। गोस्वामी तुलसीदासजी का रामचरितमानस इसी धारा का उत्कृष्ट रूप है। संस्कृत भाषा के ह्रास के साथ वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्म रामायण इन दोनों का सामान्य जनता में प्रचार उत्तरोत्तर न्यून होता गया। गोस्वामीजी ने इस कमी को अनुभव करके भाषा में राम चरित का भक्ति समन्वित रूप प्रस्तुत किया। इसमें राम को परब्रह्म मानकर ही उनके चरित का चित्रण किया गया है। श्रीव्रजरत्न दासजी के 'आदर्श राम' की कथावस्तु का आधार मुख्यतः वाल्मीकि रामायण है।

श्रीराम चरित्र का जो रूप भक्तियुगीन कवियों ने दिया, वह अति मानवीय है और इसलिए अतिरंजित होते हुए भी आज के युग की भावधारा के अनुरूप वह उस रूप में उतना प्रेरणा का स्रोत नहीं बन सकता, जितना कि एक महामानव या महापुरुष का।

१ व्रजरत्नदास 'आदर्श राम' का प्रारम्भिक निवेदन पृ० १

२ वही पृ० २ ३

नाटककार ने स्वयं ही इसको अधिक स्पष्ट किया है—

'रामचरित्र पर अनेक महान ग्रंथ काव्य, नाटकादि संस्कृत तथा हिन्दी में लिखे जा चुके हैं, ऐसी अवस्था में एक नया नाटक लिखने की क्या तुक है, इसे बतला देना उचित बात होता है। इस नाटक में यह ध्यान रखा गया है कि आरम्भ ही से रामचन्द्र को ईश्वरावतार न मानकर उनके उन महत्त्वपूर्ण कार्यों का दिग्दर्शन कराया जाए, जिनके कारण वह मनुष्यत्व से देवत्व तथा देवत्व से परमेश्वरत्व तक ऊँचे उठ गए। यदि उन्हें सर्वशक्तिमान परब्रह्म परमेश्वर ही मानकर चला जाए तो जो कुछ उन्होंने इस मर्त्य संसार में किया था उसका विशेष महत्त्व ही क्या रह जाता है, किसी महान शक्ति की क्रीडा मात्र रह जाती है। साधारणतः जब किसी व्यक्ति विशेष में जन साधारण के स्तर से बहुत उच्च प्रतिमा, विद्वत्ता, साहस, शौर्य, औदार्यादि गुण पाये जाते हैं तब स्वभावतः मानव प्रकृति उन पर विशेष आस्था रखने लगती है। जब ये गुण अत्यधिक विशिष्ट तथा व्यापक रूप में पाये जाते हैं तब वह आस्था श्रद्धा में परिणित हो जाती है। किन्तु जब इन गुणों के कारण उक्त व्यक्ति विशेष के कार्य-कलाप से देशव्यापी लाभ देन को पहुँचता है तब उस देन के निवासियों की श्रद्धा भक्ति इतनी उमड पडती है कि वे उसे परमेश्वर ही मान लेते हैं और हृदय से उसका अर्चन-पूजन करते हुए वही भाव अपनी भावी पीढ़ियों के लिए छोड जाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी ने अपने अपरिमेय गुणों के कारण अपनी प्रजा तथा राज्य के उत्पीडक शत्रुओं का नाश कर ऐसा शान्त समृद्ध राज्य स्थापित कर दिया कि आज तक तथा भविष्य में भी रामराज्य आदर्श माना गया और माना जाएगा। ऐसी महान आत्मा को परमात्मा या परब्रह्म मान लेना सहज स्वाभाविक है। मानव रूप धारण कर मानव समाज के बीच रहते हुए ही ये सब कार्य किये गए थे अतः वे उसी रूप में वर्णित किए जाएँ तो अधिक स्वाभाविक होगा। ऐसे ही विचारों से इस नाटक में श्रीरामचन्द्र की महत्ता का प्रदर्शन उनके कार्यों द्वारा किए जाने का प्रयास किया गया है।'[1]

इस प्रकार लेखक ने मानवीय धरातल पर रखकर ही अपने नायक के लोकानयनकारी उदात्त चरित्र का चित्रण किया है। यह एक सोद्देश्य रचना है। लेखक की सफलता सराहनीय है। रामकथा में जहाँ कोई लोकोत्तर अथवा अतिरंजित घटना आई है, लेखक ने उसको युक्तियुक्त रूप देने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए अहल्या के उद्धार की घटना इसी प्रकार की है। रामचन्द्र और लक्ष्मण को साथ लेकर मिथिला को जाते हुए महर्षि विश्वामित्र रामचन्द्र से गौतम पत्नी अहल्या के उद्धार के लिए कहते हैं—

एक प्रबल दस्यु ने उसका हरण करके उसे प्रस्तर कोट में बन्द कर रखा है। मुनिश्रेष्ठ निराश्रय तथा निरुपाय होकर उसकी मुक्ति के लिए तप में लीन हैं। यदि यह कार्य करोगे जिसकी हम दृढ़ आशा है तो तुम यश तथा मुनि के आशीष के भागी होगे।[2]

इस नाटक के प्रथम अंक के पंचम दृश्य में पुनः दो बार अहल्योद्धार की चर्चा हुई है। पहले तो महर्षि विश्वामित्र के मिथिला पहुँचने पर उनके साथ दो राजकुमारों को देख

---

१ ब्रजरत्नदास आदर्श राम की भूमिका पृ० ७ १०

२ ब्रजरत्नदास आदर्श राम अंक १ दृश्य ४ पृ० १८ १९

कर अन्य उपस्थित ऋषि कुमारों की वीरता की चर्चा करते हुए कहते हैं—

'ऋषि—मुनिवर वास्तव में ये दोनों राजकुमार अत्यन्त ही शक्तिसम्पन्न, साहसी तथा शस्त्र-कुशल हैं। दस्यु-वेष्टित कोट को तोड़कर तथा दस्युराज को मारकर अहल्या का उद्धार कर लाए। आज तक जिसका उद्धार प्रसिद्ध क्षत्रिय न कर सके उसका इतने शीघ्र इस प्रकार उद्धार कर डालना असाधारण कार्य है। ये इस समय वीराग्रगण्य हैं।

दूसरा ऋषि—विश्वामित्रजी क्या सहज में किसी की प्रशंसा करते हैं। भारत के उद्धार का आश्रय उन्होंने इन्हीं को बनाया है तो इनकी शक्ति से पूर्ण परिचित होकर ही बनाया है। इनके आरम्भिक कार्यों को देखकर हम सबको भी पूर्ण विश्वास हो गया है कि ये असम्भव को भी सम्भव करने योग्य वीर हैं।'[1]

दूसरा स्थल वह है जहाँ जनक महर्षि विश्वामित्र के पास जाकर बातचीत में उस प्रसंग का भी उल्लेख करते हैं—

'जनक—(सिर नवाकर) धन्य हुआ। भगवन् अहल्योद्धार की जो यह वार्ता सुनी जा रही है वह क्या सत्य है? यदि सत्य है तो उस दुर्भेद्य दुर्ग को किस वीर ने तोड़ा?

विश्वामित्र—सत्य है राजर्षि और उसे तोड़ने वाला यह वीर बालक है।

जनक—(राम-लक्ष्मण को देखकर सादर) ऋषिवर, ये किस राजकुल के भूषण हैं, जो अत्यन्त होनहार ज्ञात हो रहे हैं?

विश्वामित्र—राजर्षि ये कोशलाधिप महाराज दशरथ के पुत्र हैं। उनके चार पुत्रों में सबसे बड़े इन्हीं रामचन्द्र ने कोट तोड़ा था। इन्हीं दोनों वीरों ने मारीच तथा सुबाहु द्वारा स्थापित उपनिवेश को नष्ट कर सुबाहु तथा ताड़का को मार डाला और मारीच भाग गया।'[2]

ऊपर के प्रसंगों में अहल्या के उद्धार का जो रूप नाटककार ने यहाँ प्रस्तुत किया है वह प्रकार अथवा भाग की दृष्टि से स्वाभाविक भले ही हो ग्राह्य नहीं हो सकता। अहल्या का किसी दस्यु द्वारा अपहरण और अपने दुर्भेद्य कोट में बन्द कर रखना तथा उसके पति महर्षि गौतम का उसके उद्धार के उपाय की खोज में मौन बैठकर माला जपते दिखाना उचित प्रतीत नहीं होता। इन्द्र से धर्षित, महर्षि गौतम से शप्त शिला बनी अहल्या का राम द्वारा उद्धार किस रूप में कराया जाए, जिसमें अतिरंजकता न आने पाए और स्वाभाविकता के साथ बुद्धिग्राह्य भी हो यह समस्या नाटककार के सामने उपस्थित हुई और उस समय जो समाधान उसे जँचा वह उसने उपस्थित कर दिया।

इस प्रकार के समाधान उन नाटकों के ठीक हो सकते हैं, जिनकी कथावस्तु केवल कल्पना पर आधारित है। परन्तु जब कोई नाटककार जनप्रसिद्ध कथा को लेकर नाटक की रचना करता है, तो उसमें स्वीकृत तथ्यों को परिवर्तित करते समय उसे उसके लिए कोई ठोस आधार उपस्थित करना चाहिए। यदि अहल्या के इस प्रसंग के सम्बन्ध में लेखक ने वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के सम्बद्ध सन्दर्भों का विवेचक दृष्टि से

---

1 ब्रजवल्लभदास भारत राम अंक १ दृश्य ४ पृ० १८-१९

2 वही अंक १ दृश्य ४ पृ० २०-२१

ध्यानपूर्वक पढ़ लिया होता तो उन्हें इसका सुन्दर समाधान मिल जाता। महर्षि वाल्मीकि ने गौतम के शाप से अहल्या को शिला नहीं बताया है—

"तथा शप्त्वा स वै शक्रं भार्यामपि शशाप ह।
इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि॥
वायुभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि॥
यदा त्वेतद् वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि॥
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि॥"[1]

अर्थात् इन्द्र को इस प्रकार शाप देकर गौतम ने अपनी पत्नी अहल्या को भी शाप दिया—यहाँ तुम हजारों वर्षों तक वायु भक्षण करती हुई निराहार रहती हुई भूमि पर धूलि में शयन करती हुई समस्त प्राणियों से अदृश्य होकर इस आश्रम में निवास करोगी। जब दुर्धर्ष दशरथ के पुत्र राम इस घोर वन में आएँगे तब तुम पवित्र होगी। उनका आतिथ्य करने से तुम लोभ और मोहरहित हो जाओगी और तब तुम आनन्दपूर्वक मेरे पास आकर वही पूर्व सौन्दर्ययुक्त अपना शरीर धारण कर सकोगी।

ऊपर उद्धृत वाल्मीकि रामायण की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि यहाँ भी गौतम के शाप से अहल्या के शिलारूप में परिवर्तित होने का उल्लेख नहीं है। शाप से अहल्या के उद्धार का उपाय भी बता दिया गया है। और जब महर्षि विश्वामित्र की आज्ञा से गौतम के आश्रम में राम पहुँचे तो उन्होंने वहाँ अहल्या को जिस रूप में देखा उससे भी उसके शिला बनने का आभास कहीं नहीं मिलता।[2] गोस्वामी तुलसीदासजी ने जो अहल्या को

---

१ वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग ४८ श्लोक २९-३२

२ तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः।
तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम्॥
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सह लक्ष्मणः।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह॥
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥
सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह।
त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम्॥
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता।
राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा॥
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ।
पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं चकार सुसमाहिता॥
—वाल्मीकि रामायण १-४९-१२-१८

शिला रूप में परिवर्तित बताया है उसका आधार सम्भवतः अध्यात्म रामायण है।[1] इसलिए नाटककार ने अहल्या की घटना को लेकर जिस रूप में उसे तोड़ मोड़कर प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा अयुक्त एवं निराधार है।

इसी प्रकार रावणवध के उपरान्त सीता की अग्नि परीक्षा के प्रसंग को भी भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। सीता के आदेश से, प्रवेश करने के लिए, लक्ष्मण से चिता प्रस्तुत करायी जाती है। इसी बीच राम मूर्च्छित हो जाते हैं। अपनी उस अचेतनावस्था में स्वप्न सा देखते हैं कि अग्निदेव स्वयं सीता के निष्कलंक होने की साक्षी दे रहे हैं। बस, राम हड़बड़ाकर भागकर जाते हैं और सीता को अग्नि में प्रवेश करने से पूर्व ही पकड़कर ले आते हैं और कहते हैं 'जिस तत्परता से तुमने शरीर भस्म कर लेने की दृढ़ इच्छा कर ली थी वह शुद्ध निश्चित प्रमाण था।'[2] बस, इतनी परीक्षा यहाँ पर्याप्त मान ली गयी है। स्पष्ट है कि नाटककार ने अतिरंजन या अलौकिकता से बचाने के लिए रामायण की उस प्रसिद्ध घटना को इस रूप में प्रस्तुत किया है।

भूमिजा[3]

प्रस्तुत नाटक के रचयिता भवदासदजी ने अपनी इस रचना में सीता के जीवन से सम्बन्धित कथा को लिया है। एक पुराने कथानक को लेकर उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए युगानुरूप एक नयी दृष्टि प्रदान करना लेखक की रचनापटुता तथा मौलिकता दोनों को प्रकट करता है। नाटक की कथा इस प्रकार है—

महाराज दशरथ के प्रासाद के एक कक्ष में सीता की अग्नि शुद्धि का एक वृहत् चित्र लटका हुआ दिखाई देता है जिसके नीचे अगरु और चन्दन का धुआँ उठ रहा है और बड़े बड़े दीप जल रहे हैं। कञ्चुकी तथा लक्ष्मण के पारस्परिक वार्तालाप से ज्ञात होता है कि महारानी सीता को दुर्मुख की सूचना के कारण नगर से निष्कासित करने का आदेश राम लक्ष्मण को दे चुके हैं।

लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला प्रवेश करती है और बतलाती है कि सीता के सम्बन्ध की

---

१ गौतमनारी सापवस उपल देह धरि धीर।
चरनकमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥
—रामचरितमानस बा० दो० २४३
इण्डियन प्रेस स० सम्पादक श्यामसुन्दर दास

दृष्ट्वाहल्यां व्रजमानां प्राजनि गौतमोऽब्रवीत्।
दुष्ट तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम॥
—अध्यात्मरामायण बालकाण्ड सर्ग ५ श्लोक २७

२ भावी राम पृष्ठ ११२

३ प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड रोड वाराणसी प्र० सं १९६०

यह चर्चा और सूचना सर्वत्र प्रसारित हो गई है किन्तु सीता एकदम शांत है, आंसू तक उनकी आंख में नहीं दीख पड़ता। उर्मिला लक्ष्मण को सम्मति देती है कि किसी प्रकार यह दुर्घटना रोकी जानी चाहिए क्योंकि यह विश्वास करना ही कठिन है कि सीता असती है।

लक्ष्मण उर्मिला के हाथ में थमी हुई पिटारी का अवलोकन करते हैं तो नवजात शिशुओं के पहनने योग्य सुंदर वस्त्र उसमें से टपक पड़ते हैं। उर्मिला बताती है कि ये कौशल्या माता ने तैयार किए हैं। उसी समय दुर्मुख प्रवेश करता है और उसे देखते ही दोनों, लक्ष्मण और उर्मिला घृणा से मुह फेरकर चले जाते हैं। भरत का आगमन भी तत्काल होता है। वे दुर्मुख को देखते ही उसे भाले से मारना चाहते हैं कि तभी प्रतिहारी आ पहुंचता है जो लक्ष्मण को बुलाने आया है।

राम और लक्ष्मण जब मिलकर उस स्थल पर आते हैं तो लक्ष्मण एक बार पुनः राम से अपना दण्ड हटा लेने की प्रार्थना करते हैं किन्तु राम अपने निश्चय पर अटल रहते हैं। उधर दुर्मुख कौशल्या से क्षमा मांगता है पर वे कुछ न कहकर उपेक्षा से मुंह फेर लेती हैं। राम के पास आकर वे कहती हैं 'बेटा अपने इस खेल को बंद कर।'[1] भाग्य की विडम्बना कि कौशल्या माता राम के निश्चय को निश्चय न मानकर इसे अंत तक खेल ही मानती रहती हैं। सीता जिस समय राम से विदा लेने आती है तो लक्ष्मण तुरंत आकर सूचित करते हैं कि रथ तैयार है। राम उस समय अति व्यथित हो उठते हैं और कहते हैं—

अभी चम्पकारण्य चलना है—गुरु वसिष्ठ के पास। उनका आदेश उन्हें लौटा देना होगा। सती का परित्याग मुझसे न होगा। तुम लोग राज करो प्रजा संतोष की सांस ले। मैं अपनी सीता को लेकर चला जाऊंगा।[1]

अन्ततः सीता वाल्मीकि के आश्रम में पहुंचा दी जाती है, वहीं लव कुश का जन्म होता है और वहीं उनका पालन पोषण किया जाता है। अगले दृश्य में वाल्मीकि के आश्रम में लव कुश दिखाई देते हैं। वाल्मीकि उन्हें बतलाते हैं कि मैंने प्रचलित अनुष्टुप छन्द की रचना की है। वासन्ती को भी वाल्मीकि के द्वारा सूचना मिलती है कि राम अश्वमेध यज्ञ करनेवाले हैं और सहधर्मिणी के स्थान पर उन्होंने सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा का निर्माण करवाया है। इसी समय वे यह भी बतलाते हैं कि शूद्र शम्बूक का वध करने के लिए राम दण्डकारण्य तक तो आएंगे, शायद यहां भी आयें। लव भी यह समाचार सुन लेता है और यह जानकर कि शम्बूक के वध का कारण उसका वेदपाठ करना है तो वह तत्काल पूछता है—

शूद्र को वेदपाठ का निषेध है यह किस शास्त्र में लिखा है?[2] तो वाल्मीकि कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते।

उधर अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा आता है। लव के द्वारा घोड़ा पकड़ लिए जाने पर भी चन्द्रकेतु (लक्ष्मण पुत्र) का हाथ लव पर नहीं उठता। अन्ततः राम को सूचना दी जाती है

१ सकरनन्द भूमिका पृ० ९१
२ वही पृ० ६८

कि एक बालक द्वारा जम्भकास्त्र का प्रयोग किया गया है। यह जान राम को आश्चय होता है। युद्धस्थल पर पहुँचने पर सीता से भी भेंट होती है। वाल्मीकि के द्वारा व अपन पुत्रा के सम्बन्ध म भी जान जात हैं और हर्ष विह्वल हो उठत हैं। लव कुश स्वाभिमानवश घोडे को पकडकर भी छोड देत हैं—जिस पिता न उनकी मा को जीवन-पर्यन्त दु ख पहुँचाया, चाह वह राजा ही क्या न हो व न ता उसका सम्मान करना चाहते हैं न उसका घोडा पकडकर उसस युद्ध करना चाहते हैं। एस निदयी पुरुष के साथ युद्ध करना भी व अपना अपमान समझत है और दाना भाई (लव-कुश) बाहर चल जात हैं। अब राम, सीता से राजभवन लौट चलन का आग्रह करत हैं पर सीता अब बिलकुल तैयार नहीं होती और अन्तिम दृश्य म व विलीन हो जाती हैं।

आधार

नाटक की कथा यही है। यह कथा दशक का भवभूति रचित उत्तररामचरित के कथानक का स्मरण करानी ह जो आद्योपान्त करुण रस स ओत प्रोत है। जहा तक नाटक म उपस्थित मार्मिकता तथा भाव प्राबल्य का प्रश्न है निश्चित रूप से नाटककार भवभूति स प्रभावित है और उस अश म उत्तररामचरित की छाया इस नाटक म पूणरूपेण दखी जा सकती है किन्तु जहा तक कथा क प्रस्तुतीकरण का सम्बन्ध है नाटक स्वय म मौलिक है।

उत्तररामचरित के प्रसगा स नाटक की कथा सवाश म नहीं मिलती। वहा प्रारम्भ कुछ पूवघटित घटनाओ के परिचय से हाता है—सूत्रधार और नट की पारस्परिक बातचीत से विदित हाता ह कि कौशल्या इत्यादि सभी रानिया तथा परिवार के अन्य सम्मानित सदस्य (वृद्ध-जन) ऋष्यशृग के आश्रम म द्वादश वार्षिकीय यज्ञ म सम्मिलित होने गए है। ऋष्यशृग का परिचय भी दशका को यही मिलता ह कि वे दशरथ क दामाद हैं क्योंकि उनकी पुत्री शान्ता का विवाह ऋष्यशृग क साथ हुआ था।

तत्पश्चात यज्ञ स लौट हुए अष्टावक्र ऋषि राम को वसिष्ठ का आदश सुनात हैं कि प्रजा क अनुरजन क लिए उन्ह सवदा सजग रहना उचित है। इसके उपरान्त चित्रदशन प्रकरण प्रारम्भ हाता ह। लक्ष्मण, नवनिर्मित चित्र म राम और सीता को रामचरित की प्रमुख घटनाओ से सम्बद्ध चित्रो का अवलोकन करवाते हैं।

अन्तर

१ चित्रदशन सम्बन्धी कोई घटना प्रस्तुत नाटक म नहीं है।

२ उत्तररामचरित म नाटक म वासन्ती का मिलन वनवास की अवस्था म सीता से नहीं हाता, जबकि इस नाटक म वासन्ती ही सीता की एकमात्र सहायिका ह।

३ उत्तररामचरित क अन्त म, वाल्मीकि, अभिनय द्वारा राम को सीता के निष्कासन की अवधि म घटित घटनाओ का ज्ञान करात ह। भूमिजा नाटक मे इस प्रकार का कोई प्रकरण नहीं है।

४ उत्तररामचरित का अन्तिम दृश्य राम-सीता के मिलन से समाप्त हाता है। प्रस्तुत नाटक म मिलन सम्भव नहीं हुआ है।

शेष घटनाएँ, यथा अश्वमेध यज्ञ की सूचना लव कुश के द्वारा जृम्भकास्त्र का प्रयोग तथा सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा—कई घटनाएं नाटक में उत्तररामचरित के अनुरूप भी हैं किन्तु इनका प्रस्तुतीकरण एकदम भिन्न है।

वाल्मीकि रामायण

नाटक के मूल आधार के सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण का पर्यालोचन भी अपेक्षित है।[1] इस ग्रन्थ में प्रस्तुत नाटक की कथा उत्तरकाण्ड के अधिकांश भाग में बिखरी पड़ी है।

नाटक में प्रस्तुत अधिकांश प्रसंगों का आधार इसमें स्पष्ट देखा जा सकता है। यथा सीता की अपकीर्ति फैलाने वाली जनचर्चा लक्ष्मण के द्वारा सीता का वन में ले जाए जाना, अश्वमेध यज्ञ सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा इत्यादि किन्तु दोनों (वाल्मीकि रामायण तथा नाटक भूमिजा) में भिन्नताएं भी पर्याप्त हैं—

अन्तर

१ कुछ प्रमुख पात्र यथा दुर्मुख, वासन्ती इत्यादि वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं यद्यपि राम द्वारा राज्य सम्बन्धी चर्चाएँ सुनने का प्रसंग वहां है। वाल्मीकि रामायण में सीता सम्बन्धी लोकापवाद का समाचार राम वहां दुर्मुख से नहीं प्रत्युत अपने मित्र भद्र से पाते हैं।

२ वाल्मीकि रामायण में शत्रुघ्न लवणासुर को मारने के उद्देश्य से जाते हुए मध्य में महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ठहरते हैं और वहीं लव कुश के जन्म के सम्बन्ध में जान लेते हैं। राम तब भी इस घटना से अनभिज्ञ रहते हैं क्योंकि शत्रुघ्न वाल्मीकि के आश्रम से लवणासुर को मारने के लिए सीधे आगे बढ़ जाते हैं और बारह वर्ष बाद लौटते हैं—

तथा तां क्रियमाणां च वृद्धाभिर्गोत्रनाम च।
संकीर्तनं च रामस्य सीतायाः प्रसवौ शुभौ॥
अर्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत् प्रियम्।
पर्णशालां ततो गत्वा मातर्दिष्ट्येति चाब्रवीत्॥[2]

प्रस्तुत नाटक में राम के परिवार का कोई भी सदस्य इस घटना को नहीं जान पाता।

३ वाल्मीकि रामायण में राम जब शम्बूक वध के लिए जाते हैं तो शम्बूक वध के उपरान्त अगस्त्य मुनि के आश्रम में ठहरकर ही अयोध्या लौट आते हैं इसलिए 'भूमिजा' नाटक के सदृश दण्डकारण्य जाने तथा वहाँ उत्तररामचरित नाटक के सदृश वन प्रान्तर को देखने तथा सीता से मिलने का अवसर नहीं आता।

४ प्रस्तुत नाटक में युद्ध (अश्वमेध यज्ञ के घोड़े से सम्बन्धित) का विस्तृत वर्णन है। वाल्मीकि रामायण में इस प्रकार का युद्ध आश्रम में नहीं घटता, यद्यपि घोड़े का विवरण वहां

---

१ वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ४५, ५२ ६६ ७१ ७६ ८३ ८४ तथा ९१ से ९७ सर्ग पर्यन्त
२ वही उत्तरकाण्ड सर्ग ६६

है।[1] महर्षि वाल्मीकि लव कुश को लेकर अश्वमेध यज्ञ में आते हैं और बालकों को यज्ञशाला के समीप तथा सभा में रामायण गान करने का आदेश देते हैं। यहीं राम का लव कुश के सम्बन्ध में ज्ञात होना है, सीता को अपनी शुद्धि का प्रमाण देने के लिए यहीं सभा में आना पड़ता है और यहीं वे धरती में विलीन हो जाती हैं।[2]

५ वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण पुत्र चन्द्रकेतु लव के साथ युद्ध नहीं करते, प्रत्युत लक्ष्मण ही अश्व के संरक्षक बनाकर भेजे जाते हैं तथापि भूमिजा नाटक तथा उत्तररामचरित के सदृश लव के साथ राम सेना का युद्ध विवरण यहाँ नहीं है।

६ वाल्मीकि रामायण में राम एक कर्तव्य पालक प्रजारंजक राजा के रूप में ही दीख पड़ते हैं जबकि प्रस्तुत नाटक में राम का मानवीय रूप ही अधिक उभरकर आया है।

उपर्युक्त भिन्नताओं से यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि रामायण में जहाँ पर्याप्त समानताएँ हैं वहाँ पर्याप्त भिन्नताएँ भी हैं। उत्तररामचरित में तो भिन्नताओं का ही आधिक्य है। रामचरितमानस को तो नाटक का आधार कदापि माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि—

१ रामचरितमानस का उत्तरकाण्ड, केवल रामराज्य की सुखदावस्था तथा राम के माहात्म्य का ही वर्णन मात्र है।

२ वहाँ राम और सीता के मिलन राज्याभिषेक तथा लव कुश के अयोध्या में ही जन्म के उपरान्त कथा समाप्त हो जाती है। सीता के रसातल प्रवेश की घटना नहीं दिखायी गई है।[3]

अतएव भूमिजा नाटक के आधार निश्चित करते समय यह कहना असंगत न होगा, कि लेखक ने भवभूति के उत्तररामचरित तथा वाल्मीकि रामायण का पर्याप्त अध्ययन किया है और तत्पश्चात् रामायण के प्रमुख पात्र राम सीता, लक्ष्मण, भरत उर्मिला इत्यादि पात्रों एवं कुछ विशिष्ट ऊपर निर्दिष्ट घटनाओं तथा उत्तररामचरित की गहन अनुभूति को लेकर स्वतन्त्र रूप से नाटक का ताना-बाना बुना है। इसके मूल में नाटककार की कल्पना प्रचुर मात्रा में है और यही कल्पना लेखक की मान्यताओं को भी सिद्ध करती चलती है।

विवेचन

नाटक 'भूमिजा' राम सम्बन्धी नाटकों में प्रमुख स्थान रखता है। इस नाटक की कथा को लेखक ने न केवल एक नये दृष्टिकोण से देखने का ही प्रयत्न किया है, वरन् पात्रों के अन्तस में पैठकर उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को भी टटोला है और इस प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर सम्पूर्ण नाटक का निर्वाह लेखक ने बहुत सुन्दर ढंग से किया है।

वाल्मीकि रामायण के सदृश राम यहाँ एक ठूँठ नहीं हैं। नियमपालक राजा होते हुए भी एक धुकधुकाता हृदय उनके पास है जो उन्हें अपनी पत्नी के प्रति इतना निष्ठुर कदम उठाते हुए, पग-पग पर व्यथित बनाता है एवं साधारण मानव की तरह रुलाता है। निम्न-

---

१ वाल्मीकि रामायण इय लक्षण सम्पन्न विमोक्ष्यामि समाधिना। —उत्तरकाण्ड सर्ग ६१ श्लोक २३

२ वही उत्तरकाण्ड सर्ग ९२ ९७

३ रामचरितमानस उत्तरकाण्ड २४ २५

लिखित उदाहरण इस कथ्य का प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है—

> यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा।
> करोत्विहात्मन शुद्धिमनुमान्य महामुनिम ॥
> छन्द मुनेश्च विज्ञाय सीतायाश्च मनोगतम।
> प्रत्यय दातुकामायास्तात शासत मे लघु ॥[1]

इसके विपरीत भूमिजा नाटक म प्रस्तुत राम का कथन अवलोकनार्थ उद्धत है—

राम—सत्रह वर्षों तक राजमहल मे अनलशय्या पर तडपता रहा हूँ जानकी! पिशाच बन कर मरघट म घूमता रहा हू। भगवान वशिष्ठ का आज्ञा वक्ष बनकर राम के वक्ष पर जमा रहा है। प्रजा क पागलपन पर राम ने पत्थर बनकर अपना हृदय बलिदान किया है। अब सामर्थ्य नही है देवि! राम को राज्य नही चाहिए, राजमहल नही चाहिए धन वभव सम्पदा कुछ नही चाहिए। स्वय भगवान भी उसके द्वार स आज विमुख लौट जावेंगे। राम भिक्षुक बनकर रहेगा उस भिखारी को सतोष चाहिए उस चाहिए पत्नी उसे चाहिए पुत्र सुनती हो कल्याणि! राम को चाहिए सीता राम को चाहिए लव-कुश! इस विभूति पर त्रिभुवन का राज्य राम ठुकरा देगा।[2]

जहा तक नाटक के मूल्य का प्रश्न ह साहित्यिक दृष्टि से यह नाटक अति उच्च कोटि का है। भाषा परिमार्जित पुष्ट एव काव्यात्मक है। प्रवाह एव प्रभाव के दर्शन यहा सवत्र होते है।

नारी जाति के स्वाभिमान को मुखरित करना ही इस रचना के लेखक का मुख्य उद्देश्य है। आज की नारी जाति क सामने भी आज यह एक ज्वलन्त प्रश्न ह कि वह आज के इस सघषमय ससार म जहा पुरुष हर पग पर उसको अपमानित लाछित एव प्रताडित करने का प्रयत्न कर रहा है—अपने अस्तित्व की रक्षा किस प्रकार करे। क्या वह हर प्रकार के अत्याचार तथा अन्याय के सम्मुख घुटने टेक द अथवा अपन कुल की मान मर्यादा की रक्षा करत हुए स्वाभिमान का आश्रय लेकर पुरुष को एक अविस्मरणीय पाठ पढाये?

लखक ने इस प्रश्न का समाधान बडे स्पष्ट शब्दों म अपनी रचना म सीता के मुख स स्थान स्थान पर करवाया है। निरपराधिनी सीता सुख वभव स एकाएकी छिन्न करके जब निविड वन प्रान्तर म छोड दी जाती है ता उसके सम्मुख समस्या है कि वह कहा जाए क्या करे? अतत वाल्मीकि के आश्रम म आश्रय लेकर अपना सम्पूर्ण जीवन वह वही काट देती है। राम उसे पुन स्वीकार करना चाहते हैं पर नारी का स्वाभिमान पुरुष के इस दान, अनुकम्पा को निरीह होने पर भी ठुकरा देता है। सीता कहती है—

नारी का आत्मसम्मान अमर हो जाएगा पिता! राम का प्रेम सीता के हृदय म प्रलय पर्यन्त जीवित रहेगा किन्तु सीता का शरीर अपमानित होकर फिर उसी घर म लौट जाये जहाँ स अपना काला मुह लेकर वह चली आई थी यह मुझसे सहन नहा होगा।[3]

---

१ वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ६५ श्लोक ४५
२ भूमिजा नाटक पृ० ८५
३ वही पृ० ८६

प्रस्तुत नाटक दुखान्त है। सीता राम के पास लौटकर नहीं आती। लेखक ने इस प्रकार का अन्त जान-बूझकर किया है। इस सम्बन्ध में लेखक का कथन है—

"संस्कृत नाटकों की परम्परा में ट्रेजिडी के लिए स्थान नहीं है। भवभूति ने उत्तर रामचरित के अन्त में राम और सीता का प्रयत्न लाकर इस प्रकार की निस्सार तटस्थता ग्रहण कर ली है। मुझे यह रुचा नहीं। नारी के आत्मसम्मान और गौरव का इस मिलन से महत्व नहीं होता। राम का एकान्त पश्चात्ताप और कष्ट भाग अपने में स्वाभाविक है, किन्तु सीता की इस आत्मग्लानि के प्रति उदासीनता, दो बार के कटु अनुभवों के बाद दिखाए बिना, मेरी समझ में करुणनिष्पत्ति सम्पूर्ण नहीं होती। मंथरा और दुर्मुख के चरित्र भी इसीलिए मैंने उभारे हैं। लक्ष्मण और उर्मिला के प्रसंग का यही प्रयोजन है।[1]

अभिनय की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्णरूपेण सफल है। इस सम्बन्ध में लेखक का मन्तव्य है—

रंगमंच का ध्यान मेरे लिए प्रमुख रहा है। किन्तु साहित्य-सृजन को विस्मृत करने की चेष्टा मैंने नहीं की है। हिन्दी में अभिनय नाटक नहीं हैं। दृश्यकाव्य का जो प्रधान लक्षण है इस अभियोग का मार्जन करने के लिए मैं स्वयं अभिनीत करने के बाद ही नाटक प्रकाशित करना उचित मानता हूँ। आवश्यक काट छाँट हो जाती है। भूमिजा के साथ भी ऐसा ही रहा है।'[2]

इस प्रकार भूमिजा नाटक अभिनय के उपरान्त ही प्रकाश में आया है। प्रथम बार इसका अभिनय २३ फरवरी १९७९ को लखनऊ में उत्तर प्रदेश सरकार के विकास संग्रहालय के रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया। लेखक के तीन ग्रन्थ नाटक विषपान, चेतसिंह और सिराजुद्दौला का प्रकाशन भी अभिनय के उपरान्त ही हुआ।

वस्तुतः सम्पूर्ण नाटक में एक भी दृश्य इस प्रकार का नहीं है जिसके प्रस्तुत करने में कठिनाई अनुभव हो। उदाहरणार्थ सीता यहाँ धरती में प्रवेश नहीं करती अपितु स्टेज पर अन्धकार कर दिया जाता है और सीता रंगमंच से बाहर निकल जाती हैं। सीता के धरती में विलय होने की घटना को क्रियात्मक रूप देने का ढंग लेखक ने यही लिया है जो अति सुगम है और साथ ही स्वाभाविक भी।

युद्ध की घटनाएं नेपथ्य में संवादों के द्वारा सूचित की जाती हैं। यथा— बालकों के द्वारा जृम्भकास्त्र का प्रयोग किया गया।'[3]

इस प्रकार नाटक की सम्पूर्ण कथा को लेखक ने बुद्धिसंगत एवं स्वाभाविक रूप देने का प्रयत्न किया है और वह इसमें सफल रहा है। नाटक रोचक, मार्मिक तथा अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

---

१ लेखक के निवेदन से पृ० ७
२ वही पृ० १०
३ नाटक पृ० ७३

कुछ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती। हाँ जूठे बेरों वाली घटना का स्पष्टीकरण लेखक ने अच्छा किया है—

"शबरी—(टोकरी से एक एक बेर निकालकर देते हुए) यह लीजिए भगवन्! यह पहाड़ पर के झाड़ का है सबसे मीठा है। मैंने एक एक बेर छाँट छाँटकर आपके लिए रखा है। जब मैं वन जाती थी तो सब झाड़ियों के बेर चखती चलती थी जिस झाड़ी के बेर मीठे होते थे उसमें पहचान बनाती चलती थी।[1]

कथावस्तु की यह विशेषता यहाँ दृष्टव्य है कि जातिभेद अथवा अछूत समस्या जैसा कोई प्रश्न लेखक ने नहीं छुआ है।

नाटककार का उद्देश्य शबरी की भक्ति भाव से आपूरित कहानी को प्रस्तुत करने के साथ साथ तत्कालीन राजनीतिक पहलू को चित्रित करना भी रहा है। नाटक के मुखपृष्ठ पर ही अंकित है— राजनीतिक छाया सहित पौराणिक नाटक। पुस्तक के अन्त में भी लेखक ने मतंग ऋषि की पुत्री स्वधा से कहलवाया है—

'स्वधा—सेवा नहीं एक प्रार्थना है भगवन्! कि एक बार इस देश से इन राक्षसों को निकाल दीजिए और इन्हें ऐसा खदेड़ दीजिए कि न ये विदेशी रह जाएँ न इनका विदेशीपन बचा रहे। हमारा देश अखंड हो सदा धनधान्य से पूर्ण रहे और उस पर कभी किसी विदेशी का शासन न हो।'[2]

यह नाटक राजनीतिक स्थिति के साथ तत्कालीन आर्थिक वातावरण पर भी प्रकाश डालता है। लेखक की आशा के भाग एक स्वप्न है जिसे साकार कर पाने की इच्छा भी सम्भवतः इस पुस्तक की रचना का एक लक्ष्य कहा जा सकता है।

नाटक की भाषा ललित खड़ी बोली है जो पात्र और परिस्थिति के अनुकूल होने के साथ साथ प्रभावोत्पादक भी है। नाटक अभिनेय है। भूमिका में लेखक ने वेशभूषा और दृश्य विधान के संकेत भी दिए हैं जो नाटक के अभिनय में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। नाटक का प्रथम अभिनय सं० २००२ की अनन्त चतुर्दशी को काशी की अभिनव रंगशाला में दो दिन हुआ था। इसके पश्चात सं० २००३ और २००८ में यह नाटक बम्बई में खेला गया।[3]

शबरी अछूत[4]

जैसा कि नाटक के नाम से स्पष्ट है इस नाटक में शबरी को शूद्र रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक का प्रस्तुतीकरण पर्याप्त रोचक है। भक्ति का माहात्म्य प्रदर्शन भी

---

१ शबरी (प० सीताराम चतुर्वेदी) पृष्ठ १११
२ वही पृष्ठ ११२ का अन्तिम वक्तव्य
३ नाटक की भूमिका से
४ प्रकाशक ... मिश्रा इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग १९५१

शवरी की कथा द्वारा बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। अछूत समस्या इसमें प्रमुख है। भूमिका में लेखक ने लिखा है—

शवरी स्वयं शूद्र ऋषियों के शूद्रों को सुख प्रदान करने में अपने मोक्ष का साधन समझ रही है[1]

कथानक

नाटक का प्रारम्भ ऋषियों के इस वाद विवाद से होता है कि अछूतों का बहिष्कार उचित है। मतंग ऋषि विपक्ष में हैं। ऋषियों को अप्रसन्न करके भी वे शबरी को अपनी कुटिया के समीप रहने की अनुमति देते हैं। शबरी भी ऋषियों की उपेक्षा की चिन्ता नहीं करती, क्योंकि मतंग ऋषि उसे उचित सम्मान और स्नेह देते हैं। शबरी ऋषियों के आश्रम में समिधा पहुँचाती है और सरोवर तक का मार्ग साफ करती है।

इस नाटक में भी ऋषि आपानन्द के द्वारा शवरी से घृणा किये जाने के कारण पम्पा सरोवर के अशुद्ध एवं रक्तमय हो जाने की घटना वर्णित है। मतंग ऋषि १०० वर्ष की आयु प्राप्त कर शवरी को राम की प्रतीक्षा करने का आदेश दे समाधि द्वारा प्राण त्यागते हैं। राम आकर शबरी का आतिथ्य स्वीकार करते हैं। उसके जूठे बेर खाते हैं। तत्पश्चात नवधा भक्ति का उपदेश दे प्रस्थान करते हैं तो शबरी राम के चरणों पर गिरकर प्राण त्याग देती है।

आधार

यह नाटक रामचरितमानस पर आधारित है[2] क्योंकि शवरी का शूद्र जाति का होना नाटक और रामचरितमानस में एक समान है। नवधा भक्ति का विवरण भी इसमें रामचरितमानस के अनुसार ही है।[3]

विवेचन

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी लिखित शवरी नाटक से यह नाटक एकदम भिन्न है। कथानक में उतना अन्तर नहीं है जितना दृष्टिकोण में। प्रथम नाटक शबरी में लेखक ने शवरी के साथ अछूत होने का प्रश्न नहीं जोड़ा है इसलिए अछूत समस्या जैसा कोई प्रश्न वहाँ नहीं है जबकि प्रस्तुत नाटक में यही समस्या प्राथमिक है। सम्भवतः इसका कारण नाटकों के पृथक स्रोत ही हैं चतुर्वेदीजी ने अपने नाटक का कथानक वाल्मीकि रामायण से लिया है जिस काल में वर्णविभेद अथवा अछूत समस्या जैसे कोई प्रश्न न थे, रामचरितमानस के सृजन-काल तक आते आते परिस्थितिवश छुआछूत की समस्या अस्तित्व में आ गयी थी

---

१ शवरी अछूत भूमिका पृ० ३

२ रामचरितमानस मानसांक अरण्यकाण्ड, ३४ दोहा चौपाई १

३ रामचरितमानस अरण्यकाण्ड ३५ दोहे से ऊपर दो अन्तिम पंक्तियाँ तथा ३५ दो० के पश्चात प्रथम ३ चौपाइयाँ

और इसीलिए लेखक ने अपने युग की समस्या का समाधान रामचरितमानस म पाकर ही इस समस्या को उभारकर दिखाया है।

शवरी[1]

तीसरा नाटक 'शवरी' सेठ गोविन्ददास लिखित है। इस नाटक के चार खण्ड हैं—कहानी एकाकी नाटक, एकपात्री नाटक और श्रव्य काव्य। कथानक क्रमश इस प्रकार है—

कथानक कहानी खण्ड

नायिका शवरी केवल छ वर्ष की है। वह एक भील बालिका है और दक्षिण म दण्डकारण्य वन म पम्पा नाम के एक सरोवर के तट पर सप्त ऋषियों के आश्रम म रहती हुई उनकी सेवा करती है।[2] शवरी इन ऋषियों की चार वर्ष तक बडी लगन से सेवा करती है। एक समय शुभ मुहूर्त म ये ऋषि आश्रम को छोड आगे बढते हैं। प्रस्थान करते समय व उसकी सेवा से प्रसन्न होकर वर देते हैं कि भगवान रामचन्द्र के दक्षिण म पधारने पर वे उसे दर्शन देंगे।

एकाकी खण्ड

नाटक के द्वितीय खण्ड एकाकी म शवरी को दस वर्ष की अवस्था का दिखाया जाता है। ऋषियों की प्रस्थान वेला पर वह व्यथित होती है किन्तु श्यामा गाय की सेवा करती हुई राम के दर्शन की आशा से धैर्य धारण करती है।

एकपात्री नाटक

इस खण्ड म ऋषियों को गये चार वर्ष बीत जाते हैं। शवरी चौदह वर्ष की हो जाती है। दो वर्ष पश्चात षोडशी अवस्था म भी राम के प्रति उसकी तल्लीनता और आतुरता वही है। दो वर्ष प्रतीक्षा म और बीत जाते हैं। बारह वर्ष का एक युग और बीतता है, पर शवरी की प्रभु प्रतीक्षा और स्वागत की तैयारियाँ उसी प्रकार चलती रहती हैं।

श्रव्य काव्य

अंतिम चतुर्थ खण्ड म शवरी को एक दिन राम का समाचार मिलता है। आगन्तुकों से वह राम सम्बन्धी—ताडकावध, विवाह वनवास सीताहरण इत्यादि समाचार सुनती रहती है। आखिर एक दिन राम आ पहुंचते हैं। शवरी इस समय तक चौरासी वर्ष की

---

१ प्रकाशक भारतीय विश्व प्रकाशन फुव्वारा दिल्ली, १९५६

२ यहाँ पर सप्त ऋषियों के नाम नहीं हैं जो कि गगन म सप्तऋषि नाम से प्रसिद्ध तारों के हैं।

हो जाती है। उसके देखने मुनन की गरिमा का ह्रास होता जाता है, किन्तु अपने आराध्य देव राम के पहुँचने पर वह उनका भरपूर स्वागत सत्कार करती है। उन्हें बेर खिलाती है और फिर राम के प्रस्थान के समय उनके चरणों में गिरकर प्राण त्याग देती है।

शबरी स्वयं राम के दर्शन करने नहीं गयी—नाटक में इसका कारण यही बताया जाता है कि अति वृद्धा और शिथिल होने के कारण एक तो वहाँ उसका पहुँचना ही कठिन था और पहुँचकर भी वह उनके सेवा सत्कार का अवसर भला कैसे पाती वह तो अपने घर आने पर ही सम्भव था। दूसरे उसे ऋषियों के वचन पर विश्वास था जो कह गये थे, कि राम एक दिन स्वयं उसकी कुटिया में पधारेंगे।

इस प्रकार गद्य-पद्य मिश्रित यह सम्पूर्ण कथा भक्तिरस की मार्मिकता एवं दर्शन की लालसा से ओत प्रोत है। कई स्थल तो वस्तुतः अत्यन्त हृदयद्रावक हैं यथा—

क्या इस वसन्त का भी अन्त लिखा यों ही है ?
किंवा प्राणनाथ आके प्राणों को जुड़ायेंगे।[1]
इसी बीच काल और अपने शरीर में
होड़ लगी देखकर सोच हुआ उसको
अन्त में क्या मेरा, रामदर्शन किये बिना
अन्त होगा, और सब जब हैं वे पास ही
कभी नहीं, कभी नहीं, वर है ऋषियों का।
मर नहीं सकती मैं दर्शन किये बिना॥[2]

आधार और अन्तर

प्रस्तुत नाटक के आधार वाल्मीकि रामायण तथा रामचरितमानस हैं[3] किन्तु वाल्मीकि रामायण से नाटक की कथा में यह अन्तर है कि यहाँ मतंग ऋषि का कहीं उल्लेख नहीं है, जबकि वाल्मीकि रामायण में मतंग ऋषि एक प्रमुख पात्र है।[4] हाँ वाल्मीकि रामायण के अनुरूप सप्त ऋषियों के नाम इसमें अवश्य हैं। रामचरितमानस की कथा में जहाँ शबरी को एक नीच जाति की स्त्री के रूप में दिखाया गया है, वहाँ नाटक में इसे केवल एक भील बाला के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

विवेचन

इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक वाल्मीकि रामायण के अधिक निकट है क्योंकि शबरी की मृत्यु का संकेत भी इस नाटक में वाल्मीकि रामायण के सदृश है। शबरी की क्रमशः समीप आती वृद्धावस्था का चित्र प्रस्तुत करने का ढंग सेठजी का अपना ही है। मूल ग्रन्थ में कहीं भी इस प्रकार का चित्रण नहीं है। शैली तथा कथानक दोनों में नूतनता एवं

१ शबरी (सेठ गोविन्ददास) एकपात्री नाटक पृष्ठ ३७
२ वही अन्यकाव्य खण्ड पृष्ठ ५४
३ वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ७४
रामचरितमानस अरण्य काण्ड दोहा ३३-३६ पृ० ५८३-५८५ (गीताप्रेस मानसांक)
४ वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ७४ श्लोक २१-२२

परिष्कृति नाटककार की मौलिकता के परिचायक हैं, किन्तु इस मौलिकता एवं नूतन दृष्टिकोण का श्रेय युग के बदलते मानदण्डों को ही दिया जा सकता है। शैली के सम्बन्ध में लेखक का कथन है—

"राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त की यशोधरा के ढंग पर इस रचना में कहानी, नाटक और श्रव्य काव्य ये तीनों तो हैं ही, इन तीनों माध्यमों के अतिरिक्त इस रचना में एकपात्री नाटक का भी समावेश किया गया है। यह बात कहाँ तक ठीक है, यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु एकपात्री नाटक लिखना मुझे भी कुछ कठिन अवश्य लगा। इस रचना के गद्य अंशों को भी गद्यकाव्य के रूप में लिखने का प्रयत्न किया गया है।'[1]

यह नाटक अभिनय कम पाठ्य अधिक है। सम्भवतः इसकी शैली सामान्य स्तर से उत्कृष्ट है। जनसाधारण इसकी विशेषताओं को पहचानने में असमर्थ हो सकता है।

इस प्रकार ये तीनों नाटक जहाँ तक शबरी की अनुपम भक्ति का प्रश्न है सभी समान हैं। शबरी की मृत्यु केवल दो नाटकों में—सेठ गोविन्ददास की 'शबरी' में तथा गौरीशंकर मिश्र की 'शबरी अछूत' में दिखाई गयी है।[2] शबरी का अछूत के रूप में 'शबरी अछूत' में केवल गौरीशंकर मिश्र ने चित्रित किया है जो वाल्मीकि रामायण तथा रामचरितमानस के अनुरूप है।

श्रवणकुमार-कथा

श्रवणकुमार का चरित्र अपनी मातृ पितृ भक्ति के कारण लोक में भी बहुत प्रसिद्ध रहा है। रामायण का यह एक प्रमुख आख्यान है। श्रवण के चरित्र से सम्बद्ध निम्नलिखित नाटक उपलब्ध हुए हैं—

श्रवणकुमार हरशंकरप्रसाद उपाध्याय
श्रवणकुमार राधेश्याम कथावाचक
श्रवणकुमार वेणीराम त्रिपाठी श्रीमाली

१—श्रवणकुमार[3]

हरशंकरप्रसाद उपाध्याय लिखित श्रवणकुमार नाटक की कथा का स्वरूप निम्नलिखित है—

---

१ शबरी (सेठ गोविन्ददास) निवेदन से
२ वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड श्लोक ४२
रामचरितमानस अरण्यकाण्ड दोहा ३४ अन्तिम चौपाई
३ प्रकाशक बजनाथ बुकसेलर बनारस द्वितीय संस्करण १९२८

कथानक

नागशय्या पर विष्णु और माया का वार्तालाप होता है। विष्णु भक्ति की महत्ता बताते हैं। माता पिता की अडिग भक्ति के कारण ही श्रवणकुमार के ऊपर किसी प्रकार की माया का प्रभाव नहीं हो पाता।

श्रवणकुमार अपने माता पिता को ईश्वर के साक्षात रूप में मानकर उनकी सर्वान्त-करण से सब प्रकार की सेवा करता है। उसकी पत्नी विद्या भी पति, सास और ससुर की सेवा में लगी रहती है। उसे सेवा मार्ग से विरत करने का प्रयत्न भी मित्र के बहकावे में आकर उसके भाई द्वारा किया जाता है। पति के घर में धोखे से उसे पिता के घर माता की बीमारी का असत्य बहाना करके ले जाया जाता है। वहाँ वह अपने भाई और भाभी को सही मार्ग पर लाती है।

गुरु वशिष्ठ के आदेश से श्रवणकुमार अपने माता पिता को सब तीर्थों की यात्रा और देवदर्शन के लिए कांवरी में बिठाकर ले जाता है। प्रयाग काशी, बदरीनारायण आदि तीर्थों पर भी जाता है। उसकी पत्नी विद्या भी उसे खोजते खोजते बदरीनारायण पहुंचती है और वहीं उसकी मृत्यु होती है। तीर्थयात्रा से लौटने पर अयोध्या के पास वन में रात्रि को महाराज दशरथ के शब्दभेदी बाण से श्रवण की मृत्यु होती है उसकी मृत्यु के समाचार से श्रवणकुमार के माता पिता की भी मृत्यु हो जाती है। पिता मरते समय दशरथ को पुत्र वियोग से मरने का शाप देते हैं। माता भी राजा के मृतक शरीर की उचित समय पर दाह क्रिया न हो सकने का शाप देती है।

आधार

प्रस्तुत नाटक का आधार मूलरूप से रामचरितमानस, वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा ब्रह्मपुराण हैं।

रामचरितमानस

रामचरितमानस[1] में मृत्युशय्या पर लेटे हुए महाराज दशरथ के द्वारा कथा सुनाये जाने का उल्लेख तो है किन्तु कवि ने दशरथ के मुख से कथा का कथन नहीं करवाया है। वहाँ केवल इतना ही वर्णित है —

> बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती॥
> तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥
> भयउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा॥[2]

---

१ रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड १५४ दोहे की पहली चौपाई

२ वही १५४ दोहे की प्रथम और दूसरी चौपाई

वाल्मीकि रामायण

इसके विपरीत वाल्मीकि रामायण[1] में यह कथा अति विस्तार से वर्णित है। राजा दशरथ मृत्युशय्या पर पड़े हुए कौशल्या को वह दुःखद प्रसंग स्वयं सुनाते हैं जिसके कारण उनकी मृत्यु उस रात निश्चित है। श्रीरामचन्द्रजी को वन में गए हुए वह छठी रात बीत रही थी। तभी राजा दशरथ को अपना पूर्वकृत दुष्कर्म का स्मरण हुआ। कथा का सारांश यहाँ इस प्रकार है—

पिता के जीवनकाल में राजा दशरथ की ख्याति एक प्रसिद्ध धनुर्धर के रूप में थी। वे शब्दभेदी बाण चलाना जानते थे। वर्षा ऋतु के सुखद सुहावने समय में वे एक बार धनुष बाण लेकर सरयू नदी के तट पर शिकार खेलने के लिए गए। वहाँ किसी उपद्रवकारी भैंसा, मतवाले हाथी, सिंह अथवा व्याघ्र आदि किसी हिंसक जन्तु को मारने की इच्छा से वे नदी के पास ही ठहर गए। उस समय वहाँ सब ओर घोर अन्धकार छा रहा था। अकस्मात् उन्होंने पानी में घड़ा भरने का स्वर सुना। अतएव वहाँ हाथी की कल्पना करके उन्होंने विषधर सर्प के समान तीव्र बाण छोड़ दिया। बाण के छूटते ही राजा दशरथ को किसी वनवासी का हाहाकार स्पष्ट सुनाई दिया जो अपने को निष्पाप घोषित करता हुआ उस बाण की पीड़ा से अति व्यथित हो रहा था। वहाँ राजा दशरथ को उसके ये शब्द स्पष्ट सुनाई दिये कि—मुझे अपने इस जीवन के नष्ट होने की चिन्ता उतनी नहीं है। मेरे मारे जाने से मेरे माता पिता को जो कष्ट होगा, उसी के लिए मुझे बारम्बार शोक हो रहा है।[2]

ये करुण वचन सुनकर दशरथ उस ऋषिकुमार के पास गए उन्होंने उसे अति दीन दशा में देखा—उसकी जटाएं बिखरी हुई थीं, घड़े का जल गिर गया था और वह बाण से बिंधा पड़ा था। आसन्न मृत्यु वाले उस ऋषिकुमार ने बताया कि वह प्यासे माता पिता के लिए पानी लेने की इच्छा से वहाँ आया था। आश्रम में वे उसकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उस तपस्वी ने दशरथ से उस बाण को निकाल देने की भी प्रार्थना की, क्योंकि मर्मस्थल पर लगा हुआ वह बाण उसको बहुत पीड़ा पहुँचा रहा था। दशरथ यह सुनकर अति व्यथित हुए परन्तु बाण को खींचने के सम्बन्ध में वे दुविधा में पड़े थे, क्योंकि बाण के निकाल देने से उस ऋषिपुत्र की तत्काल मृत्यु निश्चित थी। उधर ब्रह्महत्या का भाव भी उन्हें आतंकित बना रहा था। दशरथ की आशंका पहचानकर उस ऋषिकुमार ने कहा कि मैं वैश्य द्वारा

---

१ वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६३ ६४ के ५७ श्लोक तक

२ वाल्मीकि रामायण—

नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३०
मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१
तौ नूनं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ।
चिरमाशां कृतां कष्टां तृष्णां संधारयिष्यतः ॥ ३२

—अयोध्याकाण्ड सर्ग ६३

शूद्र जातीय माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ, इसलिए इस चिन्ता को आप अपने हृदय से निकाल दें।[1] मेरे पिता के आश्रम की ओर वह पगडंडी जाती है, मुझे इस पीड़ा से मुक्त करके आप उन्हें सूचना दे दें, उन्हें आप प्रसन्न कर लें जिससे कुपित होकर वे आपको शाप न दें। दशरथ ने तदनुसार ही किया और फिर ऋषिकुमार द्वारा संकेतित मार्ग पर जाकर उन्होंने उसके वृद्ध माता पिता को जल लाने की सूचना देते हुए अपना परिचय दिया और उनके पुत्र की दुखद मृत्यु की जानकारी भी दी।

दशरथ द्वारा अपने मुख से अपना पाप प्रकट किये जाने के कारण वे दोनों उन्हें भस्म हो जाने का कठोर शाप नहीं दे सके। इस मुनिकुमार के माता पिता को, उनकी इच्छानुसार दशरथ उस स्थल पर ले गए, जहाँ उनका पुत्र मरा पड़ा था। उन दोनों तपस्वियों ने पुत्र की देह को टटोलकर स्पर्श करते हुए करुण विलाप किया तत्पश्चात् वे दम्पति पुत्र को जलांजलि देने के कार्य में तत्पर हुए। इसी समय वह धर्मज्ञ मुनिकुमार अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से दिव्य रूप धारण करके अपने माता पिता को आमन्त्रित करता हुआ शीघ्र ही इन्द्र के साथ स्वर्ग को चला गया। पुत्र के वियोग से व्यथित उन्होंने दशरथ से कहा—

पुत्र के वियोग से इस समय जैसा कष्ट हमें हो रहा है, ऐसा ही तुम्हें भी होगा। तुम भी पुत्र शोक से ही काल के गाल में जाओगे।[2] इस प्रकार शाप देकर वे बहुत देर तक करुणा जनक विलाप करते रहे और फिर वे पति पत्नी अपने शरीर को जलती हुई चिता में डालकर स्वर्ग को चले गए।

अध्यात्म रामायण

अध्यात्म रामायण[3] में उपलब्ध श्रवण उपाख्यान का स्वरूप वाल्मीकि रामायण के सदृश ही है, अन्तर केवल दो स्थलों पर है।

अन्तर

१ प्रथम अन्तर उस स्थल पर है जब अन्ध तपस्वी दम्पति पुत्र की मृत्यु के कारण विलाप करते हुए राजा दशरथ को चिता बनाने का आदेश देते हैं और दोनों एक साथ ही अग्नि में भस्म होकर स्वर्गलोक को चले जाते हैं। उसी समय श्रवणकुमार के वृद्ध पिता राजा दशरथ को शाप देते हैं[4]। वाल्मीकि रामायण में प्रथम श्रवणकुमार ही इन्द्र के साथ स्वर्गलोक को जाता है।

२ वाल्मीकि रामायण से अध्यात्म रामायण के आख्यान में दूसरा अन्तर यह है कि वाल्मीकि रामायण में ऋषिकुमार के वध की घटना राजा दशरथ के युवाकाल पिता की

---

१ वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६४ श्लोक २ २१
२ वही सर्ग ६४ श्लोक ५४
३ अध्यात्म रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ७ श्लोक १९ ४५
४ वही सर्ग ७

जीवितावस्था में और दशरथ के विवाह से पूर्व घटी है[1], जबकि अध्यात्म रामायण में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वहाँ राजा दशरथ ने केवल इतना ही कहा है—

पुराहं यौवने दृप्तश्चापबाणधरो निशि।
अचरं मृगयासक्तो नद्यास्तीरे महावने॥[2]

ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण[3] में यह कथा 'दशरथ चरित्र' वर्णन के अन्तर्गत आती है। प्रकारान्तर से यह कथा पूर्व निर्दिष्ट दोनों ग्रंथों के सदृश ही है। कथा की प्रमुख विशेषता यही है कि, यहाँ उस वृद्ध पुरुष का नाम श्रवण है जिसका पुत्र दशरथ के बाण से मृत्यु को प्राप्त होता है। पिता के लिए श्रवण नाम का संकेत दो बार किया गया है।[4] यहाँ रात्रि के समय जल पीने की दोनों की (माता पिता की) इच्छा को भी व्यक्त किया गया है।

दूसरा अन्तर उस स्थल पर दीख पड़ता है जहाँ आसन्नमृत्यु कुमार ने स्वयं को ब्राह्मण घोषित किया है। अन्य स्थलों पर वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण में मुनिकुमार की जाति वैश्य है।

प्रस्तुत नाटक के मूल आधार ये चारों ही स्थल माने जा सकते हैं क्योंकि चारों स्थलों की कथा लगभग समान है और नाटक की कथा से भी अधिकांश में साम्य रखती है। कल्पित स्थल तथा घटनाएँ नाटक में निम्नलिखित हैं—

१ मूल ग्रंथों में कहीं भी श्रवणकुमार के विवाहित होने का संकेत नहीं है। अतः नाटक में श्रवण की पत्नी विद्या कल्पित पात्र है अतएव इस पात्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण क्रिया-कलाप भी कल्पित है।

२ नाटक में वर्णित माता पिता को कावरी में बैठाकर श्रवण द्वारा तीर्थ यात्रा करवाये जाने की घटना भी मूल कथाओं में प्राप्त नहीं होती। मुनिकुमार अपने आश्रम के निवास स्थान से ही माता पिता के लिए जल लेने आता है।

३ सबसे महत्त्व अन्तर जो मूल स्थलों तथा नाटक में दृष्टव्य है वह है कि इन कथाओं में कहीं भी दशरथ के द्वारा विद्ध कुमार का नाम श्रवण नहीं बताया गया है। कोई अन्य विशिष्ट नाम भी इसके लिए नहीं दिया गया। सर्वत्र मुनिकुमार, ऋषिपुत्र तथा तपस्वी इत्यादि शब्दों से ही उसका उल्लेख किया गया है। हाँ, ब्रह्मपुराण में तापसकुमार के पिता का नाम अवश्य श्रवण है।[5]

विवेचन

नाटक की कथा निःसन्देह रोचक और हृदयस्पर्शी है। एक साधारण लोकप्रसिद्ध

---

१ वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६३
२ अध्यात्म रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ७। २
३ ब्रह्मपुराण द्वितीय खण्ड अध्याय १२३ श्लोक ३३-८३
४,५ वही अ० १२३ श्लोक ७०,७५

घटना को नाटकीय रूप दे डालना नाटककार की मौलिकता एवं प्रतिभा को प्रकट करता है।

२–श्रवणकुमार[1]

राधेश्याम कथावाचक लिखित यह नाटक तीन अंकों में विभाजित, सरल भाषा में लिखा हुआ एक रोचक नाटक है। प्रकाशन क्रम से इस विषय का यह दूसरा नाटक है। कथा इस प्रकार है—

कथानक

नाटक की कथा हरशंकर उपाध्याय लिखित श्रवणकुमार नाटक के ही सदृश है। इस नाटक में केवल एक उपकथा और जोड़ दी गयी है, जिसका उद्देश्य सम्भवत माता पिता की सेवा न करने के दुष्परिणामों को ही दिखाना प्रतीत होता है। यह उपकथा प्रासंगिक एवं काल्पनिक है। इस उपकथा का रूप इस प्रकार है—

उपकथा

चम्पकलाल चमेली से विवाह होने के उपरान्त, अपने पिता भानुशंकर और माता लक्ष्मी को घुणा में अपनी पत्नी के कहने से निकाल देता है और श्रवण की पत्नी विद्यादेवी को, उसके भाई नन्दशंकर का बहकाकर पति के घर से बुलवा लेता है। अवसर पाकर उसके सतीत्व को भ्रष्ट करने की दुरभिलाषा भी वह व्यक्त करता है यहां तक कि बलात्कार करने पर उतारू हो जाता है। सती विद्या के शाप से वह कोढ़ी बनता है। इसकी पत्नी चमेली घर छोड़कर एक साधु चेतनदास के साथ घर का धन लेकर भाग जाती है। वाद को दोनों मर जाते हैं। जीवन के कटु अनुभवों के बाद चम्पक भी माता पिता की शरण में जाता है और उनका सेवक बन जाता है।

इसके बाद की कथा दोनों नाटकों में समान है।

आधार

इसके आधार-स्थल भी पूर्व उल्लिखित नाटक के आधार-स्थलों के समान हैं।

३–श्रवणकुमार[2]

वणीराम त्रिपाठी श्रीमाली लिखित इस नाटक में अन्य नाटकों की अपेक्षा कुछ

---

१ प्रकाशक लेखक स्वयं राधेश्याम कथावाचक बरेली प्रथम सं० सन् १९३२

२ प्रकाशक ठाकुरप्रसाद बुकसेलर कचौड़ी गली बनारस चतुर्थ संस्करण संवत् २००५ वि प्र० सं० संवत १९९३ वि०

विशेषताएँ है, जो इस प्रकार हैं—

१ श्रवण के माता पिता का नाम यहाँ ज्ञानवती और शान्तनु दिया गया है जो किसी भी मूलकथा में उपलब्ध नहीं होता। युवावस्था बीतने पर भी पुत्र का मुख न देख सकने से ये चिंतित हैं। नारदजी के आदेश से ये पुत्र प्राप्ति के लिए बारह वर्ष पर्यन्त नैमिषारण्य में कठोर तपस्या करते हैं। ब्रह्मा प्रसन्न होकर उन्हें पुत्र प्राप्ति का वर देते हैं, किंतु इस शर्त पर कि पुत्र उत्पन्न होने पर दोनों की आँखों की ज्योति नष्ट हो जाएगी।

२ यहाँ अवान्तर कथा श्रवणकुमार और पूर्णिमा की है जिन्हें माता पिता और सास ससुर की सेवा का अवसर दिया गया है। श्रवणकुमार और उसकी पत्नी विद्या के संसर्ग से दोनों में अच्छा परिवर्तन दिखाया गया है जैसा कि सत्संगति से होना अपेक्षित है।

३ यहाँ विद्यावती श्रवणकुमार की यात्रा में जहाँ वह अपने माता पिता को तीर्थ यात्रा को ले जाता है आरम्भ से ही साथ जाती है।

४ वर्षा के कारण गलने से विद्या की मृत्यु का उल्लेख यहाँ भी है।

आधार तथा विवेचन

मुख्य आधार-स्थल प्रथम दोनों नाटकों के सदृश ही हैं। नाटक में सौन्दर्य लाने के लिए ही पूर्व उल्लिखित विभिन्न कल्पित घटनाओं की सृष्टि यहाँ की गयी है जिनसे नाटक निःसन्देह अति रोचक बन गया है।

रावण[1]

देवराज दिनेश द्वारा लिखित नाटक रावण पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान के विभाजन से पूर्व सन १९४२ में लिखा गया था। इसका प्रकाशन-काल विभाजन के पश्चात का है। नाटक के प्रारम्भ में दो शब्द लिखते हुए लेखक ने इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए बताया है कि पंजाब से आते हुए नाटक की पाण्डुलिपि उनके पास थी। तथापि नाटक के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने विभाजन के समय की समूची परिस्थिति को नाटक के माध्यम से मुखरित करने का प्रयत्न किया है।

जैसा कि नाटक के शीर्षक से स्पष्ट है कथा का प्रमुख नायक रावण है, जिसने राम की पत्नी सीता का हरण किया राम के पक्ष के सभी व्यक्तियों को त्रास दिया, भरपूर कष्ट पहुँचाया—लेखक ने इन सबको एक नयी दृष्टि से देखा है, उसने इस सबका कारण, शूर्पणखा का अपमान निश्चित किया है। राम का रावण की भगिनी का तिरस्कार करने का ही दुःखद

---

१ प्रकाशक प्रेम साहित्य निकेतन नई सड़क देहली

परिणाम लम्बे काल तक भोगना पड़ा। इस प्रकार इतिहास में प्रथम बार रावण के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष पाठक के समक्ष आता है। नाटक में लेखक ने रावण को तीन वस्तुएँ ही अति प्रिय दिखाई हैं—शिव, वेद की ऋचाएँ और बहन। रावण यहाँ एक दुराचारी आततायी तथा अविवेकी राजा के रूप में नहीं दीख पड़ता। उसके समस्त प्रयास, भले ही वे राम को कष्ट देने की दिशा में रहे हों रावण को एक सम्माननीय पद पर स्थिर कर देते हैं और इस प्रकार परम्परा से चली आती हुई एक निश्चित धारणा का खण्डन हो जाता है।

नूपणखा रावण की बहन है, जो राम रावण के इतिहास प्रसिद्ध युद्ध का प्रधान कारण रही है—नूपणखा के चरित्र पर भी नाटककार ने एक नया प्रकाश डाला है, पाठक तथा दर्शक की सहानुभूति उसके साथ बराबर बनी चलती है। नूपणखा के नाम में भी लेखक ने परिवर्तन किया है। कारण बतलाते हुए लेखक ने लिखा है—

'मैंने नूपणखा को केवल नूपण की ही संज्ञा दी है। वैसे तो नूपणखा नाम अपने में मादक भाव लिये हुए है जिसका अर्थ है—नूप जैसे चमकीले नखों वाली। कुछ विद्वानों का मत है कि उसका नाम सुपर्णनखा रहा होगा—सुपर्ण जैसे सुघड़ नखों वाली। सुपर्ण एक सुन्दर पक्षी होती है किन्तु नूपणखा नाम ही अधिक प्रचलित और ठीक जँचता है। इस नाटक को लिखते हुए मुझे ऐसा भास हुआ जैसे मेरी इस नारी पात्र में इस 'खा' शब्द के आ जाने से नारीत्व का अभाव आ रहा है। खा शब्द 'खा' के पास पहुँच रहा है खा है पुरुषत्व का सूचक, जैसे अजमलखाँ, रहमानखाँ इत्यादि इत्यादि। इसलिए मैंने ण अक्षर का प्रयोग आधे नाम नूप नाम के साथ करके उसे सुन्दर कर दिया है। चाहे उसमें अर्थ कुछ न हो किन्तु कानों को प्रिय अवश्य लगता है।'[1]

निश्चित ही लेखक मूलकथा को अविकृत किये बिना अपनी स्वच्छन्द मौलिकता प्रतिपादित करने में समर्थ हुआ है। नाटक का कथानक इस प्रकार है—

कथानक

सर्वप्रथम रावण मारीच की कुटी पर जाकर उसे अपने साथ चलने के लिए बाध्य करता है किन्तु माल्यवान रावण का मामा रावण को लौट जाने की सम्मति देता है क्योंकि नूपणखा द्वारा किया हुआ अपराध उसकी दृष्टि में क्षम्य नहीं है। नूपणखा इस पर अपने भाई रावण को आकर पुनः उकसाती है। परिणामस्वरूप रावण फिर उत्तेजित हो जाता है और सीता को हर लेता है। उधर जटायू द्वारा राम को इसकी सूचना मिल जाती है। इधर-उधर वन में भटकते हुए राम और शबरी का मिलन भी होता है।

ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव और हनुमान से राम का परिचय होता है। सुग्रीव की अकर्मण्यता पर राम लक्ष्मण विचार करते हैं। अन्ततः लक्ष्मण हनुमान के साथ सुग्रीव के पास जाकर उसे उसकी प्रतिज्ञा के प्रति फिर सचेष्ट करते हैं, सुग्रीव अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग हो जाता है। अगले दृश्य में माल्यवान तथा मन्दोदरी के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि नूपण सारे प्रदेश में घूम घूमकर नवयुवकों में राष्ट्र के प्रति उनके कर्तव्य तथा प्रेम का

---

[1] नाटक दो शब्द से

जागृत कर रही है। हनुमान लंका पहुँचकर विभीषण से मिलते हैं जो अशोकवाटिका में सीता से मिलने में उनकी सहायता करते हैं। हनुमान पकड़े जाकर रावण के दरबार में पहुँचते हैं जहाँ उनके वध पर विचार किया जाता है। विभीषण हनुमान को शस्त्रहीन करके छोड़ देने की सम्मति देते हैं।

अगली घटनाओं में नल नील का पुल बाँधना तथा निकष का रावण की सहायतार्थ प्रस्तुत होना सम्मिलित है। रावण के दरबार में अंगद के पैर जमाने की घटना भी घटित होती है।

मेघनाद और कुम्भकर्ण की मृत्यु के उपरान्त नाटक में रावण की मृत्यु दिखाई गयी है जिसकी समाप्ति पर नाटक के अनुसार युग का षष्ठ मानव समाप्त हो जाता है।

आधार

उपर्युक्त कथा निश्चित रूप से रामचरितमानस पर आधारित है किन्तु नाटक में प्रस्तुत प्रसंग वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायणों में भी मिलते हैं।[1]

इस प्रकार विभिन्न काण्डों में यत्र-तत्र बिखरी कथा को लेखक ने एक सूत्र में पिरो कर नाटक में प्रस्तुत किया है। अधिकांश में यह मूलकथा के समान ही है तथापि भिन्नताएं भी पर्याप्त स्थलों पर दीख पड़ती हैं—

१ नाटक में माल्यवान रावण का मामा है, जबकि मूल कथा में माल्यवान रावण का नाना तथा मन्त्री है—

रामचरितमानस—

माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्रीवर॥

—षष्ठ सोपान लंकाकाण्ड, ४७/३

वाल्मीकि रामायण—

ततस्तु सुमहाप्राज्ञो माल्यवान नाम राक्षसः।
रावणस्य वचः श्रुत्वा इति मातामहोऽब्रवीत॥

—युद्धकाण्ड सर्ग ३५।६

अध्यात्म रामायण—

ततः समागमद् वृद्धो माल्यवान राक्षसो महान।
बुद्धिमान्नीति निपुणो राज्ञो मातुः प्रिय पिता॥

—युद्धकाण्ड, ५।२५

---

१ रामचरितमानस अरण्यकाण्ड तृतीय सोपान २३ ३ २७ ४ २६, ३३ ३ किष्किन्धाकाण्ड तृतीय सोपान १ २१ सुन्दरकाण्ड पंचम सोपान ५ २३ लंकाकाण्ड षष्ठसोपान सातवाँ विश्राम ३४, ३ सुन्दरकाण्ड ३८ ४३

वाल्मीकि रामायण अरण्यकाण्ड सर्ग ३१ ५२ ७२ ७४ किष्किन्धा सर्ग ५ २८ ३० सुन्दरकाण्ड सर्ग १ ४ ४७ ५४ युद्धकाण्ड

अध्यात्मरामायण अरण्यकाण्ड सप्तम् सर्ग ५१ किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १ ६ सुन्दरकाण्ड सर्ग २ ३ युद्ध काण्ड सर्ग ८ ११

२ दूसरा अन्तर नाटक में उस स्थल पर है जहां विभीषण हनुमान को वस्त्रहीन करके छोड़ देने की सम्मति देता है जबकि मूल कथाओं में विभीषण रावण को केवल वध मात्र से रोकता है।[1]

३ नाटक में रावण के दरबार में अंगद के पैर जमाने की घटना किसी यौगिक क्रिया से सम्बन्ध रखती है जबकि रामचरितमानस में यह किसी दैवी शक्ति अर्थात् केवल एक अलौकिक घटना मात्र है। वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायणों में इस प्रकार का प्रसंग उपलब्ध नहीं है।

४ नाटक में विभीषण के राम से जाकर मिल जाने का कारण रावण से उसका मतभेद नहीं है अपितु कुम्भकर्ण के पुत्र कुम्भ के प्रतिवाद से कुपित होना है जबकि रामचरितमानस में पुलस्त्य ऋषि के शिष्य द्वारा प्राप्त सन्देश विभीषण द्वारा सुनने पर रावण ने विभीषण का अपमान किया और परिणामस्वरूप विभीषण चला गया।[2] वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायणों में भी विभीषण रावण से सीता को लौटा देने के लिए कहता है किन्तु यह किसी के द्वारा दिया गया सन्देश नहीं है, विभीषण की स्वयं की सम्मति है।[3]

विवेचन

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि नाटककार यद्यपि कथानक के चयन में मूलकथा पर आश्रित रहा है तथापि उसने कल्पना का आश्रय भी भरपूर लिया है, यद्यपि ऐसा करते हुए कथा की आत्मा अक्षुण्ण रही है। हां, यह अवश्य है कि नायक का चरित्र यहां एकदम परिवर्तित है। लेखक के दृष्टिभेद से ही यह सम्भव हुआ है। युग युग से रावण के नाम के साथ जुड़ी हुई कालिमा को लेखक ने अपनी समर्थ लेखनी से छिन्न कर डाला है।

संसार में प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—सित और असित। असित में से सित के दर्शन करना ही मानवता है और साधारण में असाधारणत्व को उभारना एक कला। नाटक के नायक के चरित्र में परिवर्तन करना सम्भवतः लेखक का यही लक्ष्य रहा है। लेखक की यह कल्पना निश्चित ही अति महत् है। शूर्पणखा का समस्त प्रदेशों में घूमकर युवकों में राष्ट्र प्रेम को जागृत करवाना भी लेखक की कल्पना है जिसका प्रस्तुतीकरण नाटक में आवश्यक था, किन्तु इस प्रकार की कल्पना उद्देश्य निर्वाह तथा नाटक के सौन्दर्य वृद्धि में सहायक रही है।

नाटक की सम्पूर्ण कथा के प्रस्तुतीकरण में यह तथ्य भी दृष्टव्य है कि लेखक असम्भावित तथा अनावश्यक घटनाओं को बिलकुल बचा गया है शेष घटनाओं को उसने मानवीय तथा बुद्धिसंगत रूप देने का प्रयत्न किया है। रावण के दरबार में अंगद के पैर

---

१ रामचरितमानस सुन्दरकाण्ड पंचम सोपान ५ २३
वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ५२
अध्यात्म रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ४ श्लोक २६ ३०

२ रामचरितमानस सुन्दरकाण्ड दोहा ३६ (क ख)
बार बार पद लागउं विनय करउं दससीस। परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस ॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन कहि पठई यह बात। तुरत सो मैं प्रभु सन कही पाइ सुअवसरु तात ॥

३ वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ६ १० । अध्यात्म० युद्धकाण्ड सर्ग २

धनुष लीला नाटक[1]

रामगुलामलाल ने अपने इस नाटक में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का आधार लेकर, उस युग में प्रचलित लीला के उद्देश्य से कथोपकथन के रूप में सीता स्वयंवर के कथा भाग का नाटकीकरण कर दिया है। सम्भाषण अधिक पद्य में है। कहीं कहीं गद्य भी है। पात्रों के चरित्र चित्रण तथा अन्य नाटकीय तत्वों का इसमें सर्वथा अभाव है। यह लीला के लिए लिखा गया, मात्र लीला नाटक है।

भ्रातृप्रेम[2]

इस नाटक के लेखक गुप्त बन्धु हैं। इसके लिखने का उद्देश्य भ्रातृप्रेम के उज्ज्वल रूप को दिखलाना है। नाटक की कथा बहुत छोटी है। इसमें केवल तीन अंक हैं।

कथानक

नाटक की कथा का आरम्भ श्रीराम के राजतिलक के आयोजन से होता है। राजतिलक का समाचार सुनकर मन्थरा इसलिए भयभीत होती है कि कहीं ताड़का के समान राम राजा बनने पर उसे भी न मार डालें। वह कैकयी को उत्तेजित करती है और परिणामस्वरूप राम लक्ष्मण और सीता के साथ वन को चले जाते हैं।

नाटक के अगले भाग में दृश्यों का चित्रण बड़ा ही हृदयस्पर्शी है। ननिहाल से लौटने पर भरत राम के लिए अधीर हो उठते हैं। मन्त्री, पुरोहित और माताएँ उन्हें समाश्वस्त करने में असमर्थ रहते हैं। वे राम को लिवा लाने के लिए चल पड़ते हैं। विविध प्रकार से वे राम को मनाने के लिए प्रयत्न करते हैं। यहाँ भरत का बड़ा ही उदात्त रूप चित्रित हुआ है।

आधार

इस कथा का आधार गोस्वामीजी रचित रामचरितमानस है।

भाषा और अभिनय दोनों दृष्टियों से यह नाटक बड़ा सुन्दर है। कथोपकथन, चरित्र चित्रण और कथा का प्रवाह, सभी तत्व सन्तोषजनक हैं।

---

१ प्रकाशक : बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, काशी, प्रथम संस्करण सं० १९६६

२ प्रकाशक : नई पुस्तक साहित्य भवन, ... फतेहपुर, प्र० संस्करण सं० २०१२

श्रीरामलीला रामायण[1]

रामलीला करने वालों के लिए पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस से उपयोगी अंश लेकर कथोपकथन के रूप में इसे संकलित किया है। इसके सम्बन्ध में उनका कहना है—

इस समय गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण के आधार पर रामलीला होती है। यह ग्रन्थ कथा की रीति पर भक्त शिरोमणि तुलसीदासजी ने रचा है जिससे लीला करने वालों को यह कठिनता उपस्थित होती है कि लीला कराने के समय किस चौपाई को छोड़ना चाहिए और किसको पढ़ना चाहिए और सबका इस चरित्र के कराने में चतुर पुरुषों की प्राप्ति भी कठिन है और पढ़ने वालों की बुद्धि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से चरित्र किया जाता है यह देखकर हमारा यह विचार हुआ कि इस तुलसीकृत रामायण में से वही उपयोगी दोहा चौपाई गाएँ जिनका केवल रामलीला मात्र से सम्बन्ध हो और कथाक्रम भंग न हो यही सिद्धान्त कर हमने रामायण में से उपयोगी ग्रन्थ का उद्धार किया है।[2]

श्रीरामलीला रामायण के नाम से ही इस ग्रन्थ के सात खण्ड हैं। प्रति काण्ड पर एक खण्ड आधारित है। इसमें प्रत्येक खण्ड के विविध दृश्यों या स्थानों में विभक्त किया गया है। स्थान दृश्य के स्थानीय हैं। श्रीरामलीला रामायण के सभी खण्डों में रंगनिर्देशन के अतिरिक्त कहीं गद्य नहीं है। पात्रों के समस्त कथोपकथन दोहों और चौपाइयों में हैं।

श्रीरामलीला रामायण[3] नाटक

इस नाटक में चार अंक हैं। इसमें सीता स्वयंवर से लेकर रावण के वध तक की रामायण की कथा को नाटक का रूप दिया गया है। मुख्यतः इसकी रचना नाटक खेलने वाली कम्पनियों के लिए की गयी है। इसीलिए इसकी भाषा चलती उर्दू मिश्रित है। गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। कथोपकथनों में भी पद्यों का प्रयोग है ठीक वैसा ही जैसा कि थियेट्रिकल कम्पनियों के अन्य नाटकों में पाया जाता है।

भाषा सरल है। पठित और अपठित सबको समझ में आने योग्य है। इसकी रचना सामान्य जनरुचि को ध्यान में रखकर की गयी है।

---

१ प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९६१ वि०

२ नाटक श्रीरामलीला रामायण की भूमिका से पृ० १

३ प्रकाशक बम्बई भूषण यन्त्रालय मथुरा। सम्पादक द्वारिकाप्रसाद भरतिया

रामचरित्रोद्दीपन नाटक[1]

रघुवरदयाल पाण्डे का यह राम कथा का लीला के लिए रचा गया ग्रन्थ है। इसमें सम्भाषण पद्य में हैं। यही इसकी नाटकीयता है। मंगल के बाद में विशिष्ट प्रकार की वेश भूषा बनाकर लोगों के लिए रंगमंच पर बोले हुए वाक्यों को जो बातचीत है वही नाटक है। इसीलिए इसे नाटक कहा गया है। वस्तुतः इसमें नाटकीयता कुछ भी नहीं है। पद्य भी लेखक के अपने नहीं हैं संगृहीत हैं। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही—

'जिसमें श्री गोसाईं तुलसीदास बनारसी ललितदयाल इत्यादि कवियों की सीधी-सादी कविताओं का संग्रह किया है।' वस्तुतः यह संग्रह ही है। कहीं कोई नवीनता नहीं है।

इस नाटक की कथा का आधार मुख्यतः गोस्वामीजी का रामचरितमानस है।

रामलीला वा नाटकाकार रामायण[2]

दामोदर शास्त्री सप्रे ने महर्षि वाल्मीकि की रामायण को आधार बनाकर रंगमंच पर रामलीला के उद्देश्य से सात खण्डों में इस विशालकाय ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में नटी द्वारा कथा का आधार एवं रचना के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया गया है। इस नाटकाकार रामायण ग्रन्थ के प्रथम भाग की रचना संवत् १९२७ में हुई थी। बाल काण्ड के अन्त के एक श्लोक में लेखक ने अपनी रचना के रूप को और भी स्पष्ट कर दिया है—

रामलीलानुरूपं यद्बालकाण्डं सदा शुचि।
दामोदरेण तत्प्रीत्या भाषायां समनूदितम्॥

इससे स्पष्ट है कि लेखक ने नाटक के आकार में वाल्मीकीय रामायण का भाषा में अनुवाद किया है सातों भागों के शीर्षक सातों काण्डों के नाम से ही रखे गये हैं। इन भागों में रामायण के काण्डों की समस्त कथा नहीं है। मुख्य मुख्य घटनाओं को ही ले लिया गया है।

रामाभिषेक नाटक[3]

रामायण की कथा के आधार पर रामगोपाल विद्यान्त ने इस नाटक की रचना की है। इसमें तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक में अनेक गर्भांक। नाटक की विषयवस्तु के सम्बन्ध

---

१ प्रकाशक हिन्दी नाट्य पुस्तकालय रजीतपुरवा कानपुर प्र० सं० सन् १९११ ई०
२ प्रकाशक खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर पटना १८८२ ई०
३ प्रकाशक नवलकिशोर यन्त्रालय सन १८७७ ई०, सं० १९३३ वि०

म नाटक की प्रस्तावना म नट के मुख से स्पष्टीकरण करा दिया गया है—

'क्या प्यारी, तुमको क्या स्मरण नही है कि रामाभिषेक नामक एक नूतन नाटक मिना, उसम ऐसा ही प्रमग है सवगुणाधार सवलोकाभिराम श्रीराम सरीखे नायक और रामराज्याभिषेक के उद्योग स उनका वनवास और राजा दशरथ की मत्यु का विवरण उसके विषय म है एसे पवित्र चरित्र नायक और एसा करुणारसोपशोभित विषय कहाँ मिलेगा ! सो आज उसी का आरम्भ किया जाय।"

इस नाटक की रचना भी सम्भवत लीला के लिए ही की गयी ह।

प्रयाग-रामागमन[1]

उपाध्याय श्री बदरीनारायण 'प्रेमघन जी का यह एक छोटा सा रूपक ह। इसमे वाल्मीकीय रामायण म वर्णित, शृगवेरपुर से महर्षि भारद्वाज के आश्रम पयन्त भाग का नाटकीकरण किया गया ह।

यह एक भावप्रधान मधुर रूपक है। इसमें भगवती गगा, वन त्रिवणी सगम और भारद्वाजाश्रम का जो वणन किया गया है, वह अति मनोरम है। कथा की दृष्टि से कम भाव की दृष्टि से इसका महत्त्व विशेष ह। प्रेमघनजी भारतन्दु मण्डल के प्रमुख लेखक रहे है। उनकी भाषा भाव, शली आदि सभी सुदर हैं।

इस रूपक म तीन प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है। सीताजी के मुख से ब्रज भाषा का प्रयाग कराया गया है। निषादपति के मुख स ठेठ भोजपुरी सुनाई दती है और शेष पात्र खडी बोली हिन्दी का प्रयाग करत है। प्रेमघनजी की भाषा के दो नमूने—

सीता—(आँचल से राम के आसू पोछकर) हे प्राणनाथ ! आपने का य जान्यो कि मैं थक गई हू। नाथ, एसो भूलिहू के ना सोचियो। मैं तो एसे ही पूछी। भला आपके सग मोहि खेद और कलश ? हा इन अँखियान मे ये अँसुआ दखिवे तें अवश्य ही हिया दरक्यो जाय है।' पृ० १३

निषादराज—महाराज, आप ई मरि न कहै। अजुध्या के लावन परजा में स केहू कै सँग नाही लिहिन। सुमन्त कै विलपत छाडि भागिन। ऊ बचारा उही पार रोवत होई। अब ही का ऊ गवा धारे होई। अब मोहि कन रोआवें। पृ० ४

बन्धु भरत[2]

तुलसीराम शर्मा दिनश ने भ्रात प्रेम के आदश को दृष्टि म रखकर इस नाटक की

---

१ प्रकाशक-मुद्रक स्वय लेखक आनन्दकादम्बिनी यन्त्रालय मिरजापुर स० १९६८ वि०

२ प्रकाशक मीरा मंदिर, बम्बई प्रथम सस्करण माच १९३८ ई०

रचना की है। यह चरित्र प्रधान नाटक है। इसकी कथावस्तु तो रामायण की ही प्रसिद्ध कथा है। लेखक ने उसका चित्रण इतना सुन्दरता से किया है कि भरत का चरित्र अति उज्ज्वल बन गया है। यह उसका केन्द्र बिन्दु है। आदर्श भाई के रूप में भरत को दिखाना ही इस नाटककार का उद्देश्य है और वह अपने इस उद्देश्य में सफल रहा है। कथा का जो प्रवाह चलता है उसमें कोई नवीनता नहीं है। वह तो पाठकों या दर्शकों का चिरपरिचित कथा भाग है किन्तु उसमें भरत को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह वस्तुतः मनन विचार करने वाला है।

सीता स्वयंवर नाटक[1]

बन्दीदीन दीक्षित का लिखा यह पाँच अंकों का नाटक है। इसमें सीता स्वयंवर पर्यन्त की सारी कथा आ गयी है। सीता स्वयंवर का चित्रण तो नाटक के अन्तिम अंक में हुआ है। पहले अंकों में राम के जन्म की पृष्ठभूमि पृथ्वी का भार हरण करने के लिए देवताओं की चिन्ता, दशरथ की चिन्ता, पुत्रेष्टि यज्ञ, चारों पुत्रों का जन्म, मिथिला में सीता का जन्म होना व विवाह के लिए जनक की चिन्ता, शिवजी के पास जाना, शिवजी का अपना धनुष देकर परशुराम को राजा जनक के पास भेजना, विश्वामित्र का राम-लक्ष्मण का यज्ञ की रक्षा के लिए अपने साथ ले जाना और फिर दोनों कुमारों का ऋषि के साथ मिथिला जाना आदि बातों का चित्रण है।

कथा का मूलाधार गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस है। नाटक की भाषा साधारण है। ब्रज और खड़ी बोली दोनों का प्रयोग हुआ है। पात्रों का चरित्र चित्रण भी सामान्य है। रामचरितमानस की कथा को लेकर लेखक ने इसे नाटकीय रूप दिया तो है किन्तु उसे अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई।

सीताहरन नाटक[2]

यह बन्दीदीन दीक्षित का रामायण के सीताहरण के प्रसंग को लेकर लिखा गया एक छोटा सा करुण रस का नाटक है। इसकी भाषा बड़ी ही चटकीली है। ऐसा प्रतीत

---

१ प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई संवत १६५६ सन् १६०

२ प्रकाशक लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस लखनऊ, प्र० सं० १८६५ ई०

होता है कि उस युग की थियट्रिकल कम्पनियों के नाटकों से प्रभावित होकर लेखक ने इसकी रचना की है। इसकी भाषा का एक नमूना—

"नटी—वही, वही, राम की प्यारी सुकुमारी जनक कुमारी का हरन अर्थात सीताहरन नाटक करना होगा, जिसमे नीच मारीच कनक का हरना होगा, राम के आश्रम मे विचरना होगा रावण का यतीरूप धरना होगा राम का कपट हरना का प्राण हरना होगा, सीता का हरना होगा, जटायू का समर करना व मरना होगा गीध का उद्धरना होगा—वही नाटक दिखाकर आज रसिकों का चित्त हरना होगा।'

नाटक के सभी सम्भाषणो मे प्राय इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है। पात्रो के कथोपकथन मे शिष्टता और मर्यादा का ध्यान उचित मात्रा मे नही रखा गया है। नाटक साधारण है।

रामाभिषेक नाटक[1]

यह बाबू गगाप्रसाद गुप्त का एक भाव प्रधान नाटक है। रामायण की अति प्रसिद्ध कथा को लेकर लेखक ने इसे सुन्दर रूप मे गुम्फित किया है। इसकी भाषा और भाव परिमार्जित हैं। पात्रो का चरित्र चित्रण उदात्त है। कथोपकथन मर्यादित एव समयानुकूल है। यद्यपि गद्य और पद्य दोनो का प्रयोग है, किन्तु गद्य की अपेक्षा पद्य भाग अधिक है। विविध गीतो मे अनेक रागो का समावेश किया गया है। प्राय सभी स्थलो पर गीतो मे समयानुकूल वातावरण और भावनाओ का चित्रण किया गया है। कुछ दृश्यो मे ग्रामीण जनता का विचार चित्रण बहुत अच्छा हुआ है।

रामवनयात्रा नाटक[2]

बाबू गिरिवरधर का सात अको का यह एक बडा नाटक है। इसमे राम, लक्ष्मण और सीता के वन को प्रस्थान करने एव महाराज दशरथ की करुण मृत्यु तक की ही कथा का समावेश है।

लेखक ने तुलसीदासजी के रामचरितमानस और वाल्मीकि की रामायण दोनो को अपने नाटक की कथा का आधार बनाया है।

---

१ प्रकाशक हिन्दी साहित्य, बनारस सिटी प्रथम स० स० १९६० सन १९१०
२ मुद्रक एवं प्रकाशक रणजीत प्रेस पटना सिटी प्रथम स० सन् १९१

इस नाटक की रचना भी लेखक ने लीला के लिए ही की है, किन्तु रामचरित पर आधारित अन्य लीला नाटकों की अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता है। यह उसकी मौलिक रचना है। इसमें लेखक ने कवित्त, रोला, वसन्ततिलका दोहा, छप्पय, सवैया आदि विविध छन्दों का तथा भैरवी, खमाच, प्रभाती, पीलू आदि अनेक रागों का प्रयोग किया है। इसमें गद्य का भी प्रयोग हुआ तो है, किन्तु बहुत थोड़ा। ग्रन्थ का अधिक भाग राग और रागिनियों से पूर्ण है। पात्रों के कथोपकथनों में भी अधिकतर पद्य का ही प्रयोग हुआ है।

रामचरित नाटक[1]

इस नाटक के लेखक जयगोविन्द मालवीय हैं। इसकी कथा रामायण से ली गयी है। इसमें विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण की वन यात्रा से लेकर लंकेश वध तक की कथा है।

लेखक ने इसे लीला के लिए लिखा है। समस्त नाटक को उन्होंने अंकों में नहीं अपितु आठ लीलाओं में विभक्त किया है। लीलाओं को अंक का स्थान दिया जा सकता है। बीच बीच में स्थान-स्थान पर जो विविध पात्रों के प्रवेश और रंगशाला के लिए जो निर्देश हैं उन्हें दृश्य परिवर्तन कह सकते हैं। स्थान परिवर्तन का निर्देश लीलाओं में किया गया है।

सारे नाटक की भाषा खड़ी बोली है। कथोपकथन बहुत अच्छे और प्रभावयुक्त हैं। इसे लेखक ने बड़े परिश्रम से लिखा है ऐसा उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है।[2]

सीता स्वयंवर नाटक[3]

यह नाटक समस्त रामलीला नाटक का एक भाग है। मेरठ के मुन्शी सीताराम ने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस की कथा के आधार पर उस समय के लोगों की रुचि का ध्यान रखते हुए पारसी एलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी मुम्बई के तर्ज पर इसको लिखा है। वस्तुतः रामलीला खेलने वालों के लिए ही इसकी रचना की गयी है। इसमें अयोध्या से अपने यज्ञ की सुरक्षा के लिए विश्वामित्र द्वारा राम और लक्ष्मण के ले जाए जाने से आरम्भ करके सीता के स्वयंवर पर्यन्त भाग की कथा का कथोपकथनों में वर्णन किया गया है। इसमें

१ प्रकाशक सरस्वती यन्त्रालय प्रयाग प्रथम सं. फरवरी १८६४ ई०
२ बड़े परिश्रम से लीलायें रचा।—नाटक की भूमिका से
३ प्रकाशक ईश्वरी प्रसाद रामचन्द्र संस्कृत पुस्तकालय सदर बाजार मेरठ सं. १९६० सन १९०३

अक के लिए एक्ट और दृश्य के लिए सीन शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें दो ही एक्ट हैं। इसमें गद्य भाग कम है, पद्य अधिक।

रामलीला विजय नाटक[1]

यह लघु नाटक एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए वैद्य बलदेव प्रसाद ने लिखा है। इसमें मुख पृष्ठ पर ही, "इस नाटक में रामलीला और मुहर्रम का हाल बड़ी कैफियत के साथ हिन्दू मुसलमानों के उपदेश के लिए प्रकाश किया है।" ये शब्द छपे हुए हैं।

यह सात अंकों का एक विवरणात्मक गद्यमय नाटक है। नाटक इसे नाम दिया गया है वस्तुतः यह नाटक की पद्धति का नाटक नहीं है। इटावा में सन् १८८६ में कलक्टर होई साहब ने किस चतुरता और न्यायप्रियता से हिन्दुओं के साथ बर्ताव करते हुए रामलीला को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराया, जैसा कि रामनगर काशी राज्य में होता है इसी प्रकार की बातों का कथोपकथन में ब्यौरेवार विवरण दिया गया है।

इस नाटक की कथा का सम्बन्ध तो राम कथा से नहीं है किन्तु इसका विषय रामलीला से सम्बद्ध है इसीलिए इसका नाम रामलीला रखा गया है। यह बहुत ही साधारण कोटि की रचना है।

नाटक पंचवटी[2]

यह शम्भूदयाल सक्सेना का नया नाटक है। इसमें नाटककार ने नवीन पद्धति का आश्रय लिया है। समस्त कथावस्तु का अंक और दृश्यों में विभाजन न करके लेखक ने 'हठ', 'विदा', 'वनपथ', 'तापसी' और 'पंचवटी' इन नामों से पांच खण्डों में विभक्त किया है। इस नाटक का नाम भ्रामक है। नाम से प्रतीत होता है कि पंचवटी में रहते हुए राम लक्ष्मण और सीता की जीवनचर्या का चित्रण या उस स्थान का अपना विशिष्ट इतिहास सन्निविष्ट होगा, किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। इसके पंचम खण्ड 'पंचवटी' में, रावण के संहार के उपरान्त अयोध्या में राज्य संभालने के बहुत वर्षों के बाद अश्वमेध यज्ञ करने से पूर्व राम एक बार पुनः पंचवटी जाते हैं। उस समय सीता के वियोग से दुःखी राम अपने वनवास काल के

१ प्रकाशक काशिका यन्त्रालय बनारस प्रथम सं० सन् १८८७ सं० १९४२ वि०
२ प्रकाशक नवयुग ग्रन्थ कुटीर बीकानेर प्र० सं० सम्वत् १९९८

व्यक्ति, वृक्ष, नदी, पशु और स्थानों को देखकर सीता की स्मृति से और दुःखी हो जाते हैं। राम की उस दुःखित अवस्था का चित्रण कुछ विस्तार के साथ इसमें किया गया है। नाटक के इस भाग को पढ़ने से भवभूति के उत्तररामचरित में सम्बद्ध प्रसंग के वर्णन की छाप स्पष्ट लक्षित होने लगती है।

नाटक के प्रथम तीन खण्डों की कथा रामायण के अयोध्याकाण्ड से ली गयी है। पहले 'हठ' खण्ड में राम के राज्याभिषेक का आयोजन और फिर पिता के आदेश से वन जाने की तयारी का वर्णन है। दूसरे में लक्ष्मण अपनी माता सुमित्रा और पत्नी उर्मिला से राम और सीता के साथ वन जाने के लिए विदा लेते हैं। यहाँ का चित्रण रामायण के चित्रण से अधिक हृदयस्पर्शी है। इसमें नवीनता भी है। वनपथ खण्ड में कोई विशेषता नहीं है। चतुर्थ खण्ड 'तापसी' में लेखक ने रामायण की कथा को छोड़कर अपनी कल्पना से ही इस अंक को सजाया है। इसमें रामायण की उपेक्षिता विरहिणी उर्मिला का सहानुभूतिपूर्ण एवं सुंदर चित्र प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार नाटक की कथा का मुख्य आधार रामायण होते हुए भी लेखक ने अपनी नवोन्मेषिनी प्रतिभा से कई नवीन एवं सुंदर उद्भावनाएँ की हैं। नाटक की भाषा शैली, चरित्र चित्रण, कथोपकथन आदि परिमार्जित और सुंदर है।

रामायण[1]

रामायण की कथा को नाटकीय रूप देने के लिए श्रीकृष्ण हसरत ने इसकी रचना की है। इसमें रामायण की प्रायः सभी प्रमुख घटनाएँ सन्निविष्ट हो गयी हैं।

कथानक

नाटक का आरम्भ शिवजी के प्रति रावण की प्रगाढ़ भक्ति से होता है जहाँ वह उन्हें तुष्ट करके तीनों लोकों में मानव के अतिरिक्त सबसे अजेय होने के वर को प्राप्त करता है किन्तु अकिंचन मानव से उसकी मृत्यु हो यह बात भी उसे सह्य नहीं होती, अतः वह पुनः कठोर तप करके ब्रह्मा से मानव रूप में श्रीराम से मुक्ति का आश्वासन प्राप्त करता है। इसके पश्चात् रावण के विविध अत्याचारों के कई दृश्य दिखाये गये हैं और सभी प्रमुख घटनाओं के अनन्तर श्रीराम द्वारा युद्ध में उसका वध होता है।

आधार

नाटक की मुख्य कथा का आधार गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस है।

---

१ प्रकाशक : उपन्यास बहार आफिस, बनारस, प्रथम संस्करण।

परन्तु उत्तरकाण्ड की कथा का समावेश इस नाटक में नहीं किया गया है। रावण पर विजय प्राप्त करके सीता और लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौटने तक की कथा इसमें ली गयी है।

यह नाटक श्रीहसरत ने किसी थियेट्रिकल कम्पनी के रंगमंच के लिए लिखा था, अतः इसकी भाषा उर्दू मिश्रित हिन्दी है। अपने उस युग में यह बड़ा लोकप्रिय रहा है।

श्रीकृष्णधारा

सप्तम अध्याय

१ श्रीकृष्ण चरित (क) कंस विध्वंस (ख) कंस वध (ग) श्रीकृष्णावतार (घ) श्रीकृष्ण जन्म (ङ) श्रीकृष्ण (च) बलबीर कृष्ण

२ श्रीकृष्ण-सुदामा (क) श्रीसुदामाकृष्ण (ख) श्रीकृष्ण सुदामा (ग) द्वापर की राज्य क्रांति

३ उषा अनिरुद्ध चरित (क) उषाहरण (ख) उषा नाटक (ग) उषा अनिरुद्ध (मुंशी आरजू) (घ) उषा अनिरुद्ध (राधेश्याम)

४ कृतान्त (उत्तरार्ध)

५ मोरध्वज

श्रीराम के चरित के समान ही श्रीकृष्णचरित भी साहित्य और जनसमाज में समादृत होता चला आया है। यह भी लीला का विषय रहा है। लीला को ही लक्ष्य मानकर अनेक नाटकों की रचना अतीत में होती रही है। विविध प्रकार की लीलाओं की दृष्टि से भी श्रीकृष्ण चरित अति व्यापक रहा है अतः इस आधार बनाकर विविध नाटकों की रचना हुई है। इनमें कुछ नाटक तो ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध श्रीकृष्णचरित के साथ किसी अन्य चरित से भी है जैसे सुदामाचरित उषा अनिरुद्धचरित मोरध्वजचरित आदि। इनमें श्रीकृष्ण के चरित की अपेक्षा अन्य चरितों को प्रधानता दी गयी है यद्यपि श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र है ही। इसीलिए इस धारा का शीर्षक श्रीकृष्णचरितधारा न रखकर केवल श्रीकृष्णधारा रखा है जिससे इसमें श्रीकृष्ण से सम्बद्ध अन्य चरितों पर आधारित नाटकों को भी सरलता से सम्मिलित किया जा सके।

इस धारा में भी दो प्रकार के नाटक देखने में आए हैं एक तो वे जो आरम्भिक काल की रचना हैं। इनमें भक्ति भाव अधिक है नाटकीयता कम। दूसरे वे जिनकी रचना श्रीकृष्ण

का महापुरुष मानकर की गयी है। इनमे भावतत्त्व के साथ नाटकीय तत्त्व की भी न्यूनता नही है।

श्रीकृष्ण-चरित

पौराणिक साहित्य म श्रीकृष्णचरित अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है। कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध विभिन्न घटनाओ म पर्याप्त नाटकीय तत्त्व निहित हैं, यही कारण है, कि कृष्णचरित के विभिन्न रूपो को लकर लिखे गए जो नाटक उपलब्ध होत हैं, व अति रोचक एव सरस हैं। इस श्रेणी क निम्नलिखित नाटक प्राप्त हुए है—

१ कस विध्वस बनवारीलाल
२ कस वध रामनारायण मिश्र द्विजदव'
३ श्रीकृष्णावतार राधेश्याम कथावाचक
४ श्रीकृष्ण जन्म भारतसिंह यादवाचार्य
५ श्रीकृष्ण चतुर्भुज एम० ए०
६ बलवीर कृष्ण रघुवीरशरण मिश्र

कस विध्वस[1]

प्रस्तुत नाटक के लेखक बनवारीलाल हैं। पाच अको का यह एक भक्तिप्रधान नाटक है। इसकी कथावस्तु निम्नलिखित है—

कस न अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बनाकर मथुरा के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया है। प्रजा उसक अत्याचारो से दुखी है। एक आकाशवाणी होती है कि तेरी बहन देवकी म उत्पन्न अष्टम पुत्र तेरे विनाश का कारण होगा। वह बहन और बहनोई दोनो को जेल म डाल देता है और उनकी प्रत्यक सन्तान को मारता जाता है। कृष्ण के उत्पन्न होते ही वसुदेव उन्हें व्रज म नन्द के घर पहुचा देते ह और उनकी सद्य जात पुत्री को कस को दे जाता दिया है। कस उसकी हत्या करा देता है।

कृष्ण का लालन पालन नन्द के घर म होता है। वहा व और बलराम दोनो विविध प्रकार की लीलाए करते हैं। कस को स्थिति का ज्ञान होता है तो वह कृष्ण को मारने के

---

१ प्रकाशक लेखक स्वय मुद्रक श्याम प्रेस कलकत्ता प्रथम स १९६६ वि० सन् १९०९

लिए विविध उपाय करता है किन्तु असफल रहता है। अन्त में मथुरा में वह एक आयोजन करता है जिसमें बहुत से अन्य राजाओं को भी आमन्त्रित किया जाता है। वह अक्रूर द्वारा श्रीकृष्ण और बलराम को भी बुलाता है। वह चाहता है यह कांटा सदा के लिए दूर कर दिया जाए। इसी के लिए वह योजना बनाता है। उसकी योजना असफल होती है, कृष्ण को मारने वाले ही मारे जाते हैं और अन्त में उसकी मृत्यु कृष्ण के हाथ से होती है।

कंस की मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण अपने नाना उग्रसेन को मुक्त करके उन्हें मथुरा के राज सिंहासन पर आसीन कराते हैं। अपने पिता वसुदेव और माता देवकी को भी वे जेल से मुक्त करते हैं। कुछ समय तक अपने माता पिता के पास ही रहने की आज्ञा वे बाबा नन्द से प्राप्त कर लेते हैं।

आधार

इस कथा का मूल आधार भागवत पुराण है।[१] नाटक की कथा जिस स्थल से प्रारम्भ होती है वह भागवत पुराण में इस प्रकार वर्णित है—

प्राचीनकाल में यदुवंशी राजा शूरसेन थे। वे मथुरा नगरी में रहकर माथुर मण्डल और शूरसेन मण्डल का शासन करते थे। उसी समय से मथुरा ही समस्त यदुवंशी राजाओं की राजधानी हो गयी थी। एक बार मथुरा में शूर के पुत्र वसुदेवजी विवाह करके अपनी नवविवाहिता पत्नी देवकी के साथ घर जाने के लिए रथ पर सवार हुए। उग्रसेन का पुत्र कंस था। उसने अपनी चचेरी बहन देवकी को प्रसन्न करने के लिए, उसके रथ के घोड़ों की रास पकड़ ली और वह स्वयं ही रथ हांकने लगा। देवकी के पिता देवक थे। अपनी पुत्री पर उनका बड़ा प्रेम था। कन्या को विदा करते समय, उन्होंने उसे सोने के हारों से झलकते चार सौ हाथी पन्द्रह हजार घोड़े अठारह सौ रथ तथा सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषणों से विभूषित दो सौ सुकुमारी दासियां दहेज में दी। विदाई के समय वरवधू के मंगल के लिए एक ही साथ शंख, तुरही और दुन्दुभियाँ बजने लगी। मार्ग में जिस समय घोड़ों की रास पकड़कर कंस रथ हांक रहा था उस समय आकाशवाणी ने उसे सम्बोधित कर कहा—

'अरे मूर्ख जिसको तू रथ में बैठाकर लिए जा रहा है उसकी आठवें गर्भ की सन्तान तुझे मार डालेगी।'[२]

इस आकाशवाणी के उपरान्त तलवार खींचकर कंस देवकी को मारने के लिए उद्यत हो गया। उस समय वसुदेव ने विविध प्रकार से कंस को अपने इस पापकर्म से विरत करना चाहा किन्तु कंस ने एक न सुनी। अन्त में वसुदेव ने देवकी की प्रत्येक सन्तान को कंस को दे देने की प्रतिज्ञा की तब कहीं कंस ने देवकी को मारने का विचार छोड़ा। देवकी और वसुदेव अपने स्थान पर चले आए। देवकी के प्रथम पुत्र को लेकर वसुदेव कंस के पास पहुँचा तो कंस वसुदेव की सत्यवादिता से अत्यन्त प्रभावित हुआ और हँसकर बोला—

---

१ भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) अध्याय १ ४४

२ वही अध्याय १ श्लोक २६ ३४

"आप इस नन्हे-से सुकुमार बालक को ले जाइए। मुझे इससे कोई भय नहीं है क्योंकि आकाशवाणी ने देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न सन्तान के द्वारा मेरी मृत्यु बताई थी। कंस के ये वचन सुनकर वसुदेव पुत्र को वापस ले आए। इधर भगवान नारद कंस के पास आये और उसे बताया कि व्रज में रहनेवाले नन्द आदि गोप उनकी स्त्रियाँ वसुदेव आदि वृष्णिवंशी यादव देवकी आदि सब देवता हैं। दैत्यों के कारण धरती का भार बढ़ रहा है, इसलिए देवताओं की ओर से उनके वध की तैयारी की जा रही है।

यद्यपि नारद के इन वचनों से कंस को निश्चय हो गया कि यदुवंशी देवता हैं और देवकी के गर्भ से विष्णु भगवान ही मुझे मारने के लिए उत्पन्न होने वाले हैं, अतः उसने देवकी और वसुदेव को हथकड़ी बेड़ी से जकड़कर कैद में डाल दिया और उन दोनों से जो पुत्र होते गए उन्हें मारता गया।[1]

अन्तर

नाटक तथा भागवत पुराण की इस कथा में अन्तर केवल इतना ही है कि उपर्युक्त वर्णित कथा के अनुसार कंस देवकी के प्रथम पुत्र को मारता नहीं वसुदेव को सहर्ष लौटा देता है। प्रारम्भ में वह देवकी तथा वसुदेव को बन्दी भी नहीं बनाता। नाटक में कंस प्रारम्भ से ही दोनों को बन्दी बनाकर उनके प्रत्येक पुत्र को मारता चलता है।

नाटक की शेष घटनाएँ भागवत पुराण के सदृश हैं। विष्णुपुराण[2] तथा हरिवंश पुराण[3] में भी यह सम्पूर्ण कथा मिलती है किन्तु हरिवंशपुराण में देवकी के रथ को हाँकते हुए कंस को आकाशवाणी सुनाई देने वाली घटना अप्राप्त है। विष्णुपुराण में भी यह वर्णन मिलता है।

ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण में[4] ये सभी घटनाएं विद्यमान हैं किन्तु हरिवंशपुराण के सदृश यहाँ भी कंस के द्वारा देवकी के रथ संचालन तथा आकाशवाणी की घटना नहीं है, शेष सब घटनाएँ अन्य पुराणों के ही सदृश हैं।

पदमपुराण

पदमपुराण[5] की कथा भागवत पुराण के सदृश ही है। यहाँ भी समस्त घटनाएँ उसी क्रम तथा उसी रूप में घटी हैं। कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

---

१ भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) अ० १ श्लोक ३७ ६६
२ विष्णुपुराण पंचम अंश अ० १ २१
३ हरिवंशपुराण विष्णुपर्व अ ४ ३२
४ ब्रह्मपुराण अध्याय ७२ ८६,६
५ पद्मपुराण अध्याय २४५

महाभारत

महाभारत[1] में भी कस के द्वारा ग्यारानार तथा आरापवार्णो की घन्ना क पति रिया नाप सर घन्नार्ये ययावन् हैं।

कृष्ण की बाललीनाश्रा रा विनश्रण यहा भ्रति रमाररर है। भाषा तथा शली की दृष्टि स यह नाटक परिमार्जित नही है किन्तु मूल घन्नाश्रा का नीन्य नाप र न्प म नि सन्देह निगरा है।

कसवध नाटक[2]

प्रकाशन क्रम स द्वितीय नाटक, रामनारायण मिश्र द्विजदेव लिखित कसवध नाटक है। पाँच श्रका का यह एक लघु नाटक है। इसकी भाषा परिष्कृत है।

कथानक

नाटक का प्रारम्भ देवताओ की एक सभा स होता है। कस क अत्याचारों से सब देवगण चिन्तित हैं। मुक्ति का कोई उपाय नही सूझता है। ग्रन्त म शिवजी क अनुरोध से सब विष्णु की स्तुति करत हैं। कस की सावधानी रहन पर भी कृष्ण जन्मोपरान्त व्रज मे लालन पालन क लिए भेज दिय जात हैं। कस का जब यह ज्ञात होता है, तो वह कृष्ण की समाप्ति के लिए विविध उपाय करता है। कृष्ण तथा बलराम को बुलान के लिए अक्रूरजी को गोकुल जाना पडता है। मथुरा म आन पर व दोनो बहुत से असुरो का सहार करत हैं। अन्त म कस श्रीकृष्ण क हाथ से मारा जाता है।

आधार

इस कथा का प्रमुख आधार हरिवशपुराण[3] है। यहा कथा का प्रारम्भिक रूप इस प्रकार है—

स्वग से उतरकर नारदजी सीधे मथुरा के उपवन म खडे हो गए और वहीं से उन मुनिश्रेष्ठ ने कस के पास दूत भेजा। दूत ने कस को जाकर सूचना दी कि नगर के उपवन मे नारदजी पधारे हैं। नारदजी के आगमन का समाचार सुनकर असुर कस जल्दी जल्दी अपनी पुरी से बाहर निकला।

---

१ महाभारत सभापव अध्याय ३८ प ७६७ ८०१

२ प्रकाशक लेखक स्वय मधुवनी दरभगा प्र० स १६१०

३ हरिवश पुराण विष्णुपव अध्ययाय १ ३२

उपवन में पहुँचकर उसने अपने स्पृहणीय अतिथि देवर्षि नारद का दर्शन किया जो पाप-ताप से रहित थे। उनका तेज प्रज्वलित अग्नि के समान जान पड़ता था। कंस ने उनके लिए कान्तिमान सुवर्णमय आसन दिया और विधिपूर्वक उनका पूजन किया। आसन ग्रहण करने के उपरान्त नारदजी बोले—विभिन्न स्थलों पर घूमता हुआ मैं, किसी समय हाथ में वीणा लिए, मेरु के शिखर पर विराजमान ब्रह्माजी की सभा में गया जहाँ देवताओं का समाज जुड़ा हुआ था। वहाँ देखा कि श्वेत पगड़ी धारण किए नाना रत्नों से विभूषित ब्रह्मा आदि सभी देवता दिव्य सिंहासन पर बैठे हुए हैं। उस सभा में देवताओं की जो गुप्त मन्त्रणा हो रही थी उसमें मैंने सुना कि सेवकों सहित तुम्हारे वध हेतु अत्यन्त दारुण उपाय का ही विचार हो रहा है। कंस, वहाँ जो कुछ मैंने सुना है उसके अनुसार मथुरा में जो तुम्हारी यह छोटी बहन देवकी है, इसका आठवाँ गर्भ तुम्हारे लिए मृत्यु रूप होगा।[1]

भागवत पुराण तथा विष्णु पुराण में भी यह कथा उपलब्ध होती है किन्तु वहाँ कथा का प्रारम्भिक रूप कुछ भिन्न है।

भागवत पुराण

जिस समय लाखों दैत्यों के दल ने घमंडी राजाओं का रूप धारण कर अपने भारी भार से पृथ्वी को आक्रान्त कर रखा था, उस समय गौ का रूप धारण किए हुए तथा रोती हुई पृथ्वी ब्रह्माजी की शरण में गई। ब्रह्माजी ने बड़ी सहानुभूति के साथ उसकी दुःखगाथा सुनी। उसके बाद वे भगवान शंकर, स्वर्ग के अन्यान्य प्रमुख देवता तथा गौ के रूप में आयी हुई पृथ्वी को अपने साथ लेकर क्षीर तट पर गये। क्षीर सागर तट पर पहुँचकर ब्रह्मा आदि देवताओं ने पुरुष सूक्त के द्वारा उन्हीं परम पुरुष सर्वान्तर्यामी प्रभु की स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गए, उन्होंने समाधि की अवस्था में ही आकाशवाणी सुनी।[2] इसके बाद जगत के निर्माणकर्ता ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा—

देवताओ! मैंने भगवान की वाणी सुनी है। तुम लोग भी उसे मेरे द्वारा अभी सुन लो और फिर वैसा ही करो। भगवान को पृथ्वी के कष्ट का पहले ही पता है अतः वसुदेवजी के घर स्वयं पुरुषोत्तम भगवान प्रकट होंगे। उनकी और उनकी प्रियतमा श्रीराधा की सेवा के लिए देवांगनाएँ जन्म ग्रहण करेंगी। स्वयंप्रकाश भगवान शेष भी जो भगवान की कला होने के कारण अनन्त हैं और जिनके सहस्र मुख हैं भगवान के प्रिय कार्य करने के लिए उनसे पहले ही उनके बड़े भाई के रूप में अवतार ग्रहण करेंगे। भगवान की योगमाया भी उनकी आज्ञा से उनकी लीला के कार्य सम्पन्न करने के लिए अंश रूप से अवतार लेगी।

विष्णु पुराण

विष्णु पुराण[3] में भी कथा का आरम्भ भागवत पुराण के सदृश ही है, किन्तु यहाँ

१ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अध्याय १ श्लोक ११६
२ भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) प्रथम अ० श्लोक २० २१
३ विष्णु पुराण पंचम अंश, अध्याय १ २०

ब्रह्मा द्वारा आकाशवाणी नही सुनी गयी पृथ्वी की करुण पुकार सुन देवताओं सहित क्षीर सागर के निकट पहुँचकर व भगवान विष्णु की स्तुति करने लगे। भगवान अज अपना विश्वरूप प्रकट करते हुए ब्रह्माजी से प्रसन्नचित्त हो कहने लगे तुम्हे मुझसे जिस वस्तु की इच्छा हो, वह सब कहो। ब्रह्माजी से समस्त वृत्तान्त सुनकर उन्होंने अपने श्वेत और श्याम दो केश उखाड और देवताओं से बोले—

मेरे ये दोनो केश पृथ्वी पर अवतार लेकर पृथ्वी के भारस्प कष्ट को दूर करेंगे। सब देवगण अपने अपने अंशो से पृथ्वी पर अवतार लेकर अपने से पूर्व उत्पन्न हुए उन्मत्त दैत्यों के साथ युद्ध करेंगे। वसुदेवजी की जो देवी के समान देवकी नाम की भार्या है उसके आठवें गर्भ से मेरा यह श्याम केश अवतार लेगा और इस प्रकार यहाँ अवतार लेकर यह कालनेमि के अवतार कंस का वध करेगा। ऐसा कहकर श्रीहरि अन्तर्धान हो गए।[1]

इसी समय भगवान नारदजी ने कंस से आकर कहा कि देवकी के आठवें गर्भ से भगवान धरणी पर जन्म लेंगे। नारदजी से यह समाचार पाकर कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागृह में डलवा दिया। वसुदेव प्रतिज्ञानुसार कंस को अपनी प्रत्येक सन्तान ला लाकर देते रहे। देवकी के पहले छ गर्भ हिरण्यकशिपु के पुत्र थे। कंस द्वारा उन सबके मार जाने पर शेष नामक भगवान का अंश, भगवान से देवकी के सातवें गर्भ में स्थापित होकर फिर नष्ट हो गया। देवकी के आठवें गर्भ से कृष्ण उत्पन्न हुए। योगमाया भी उसी दिन यशोदा के गर्भ से अवतरित हुई।

इसके उपरान्त की कथा कृष्ण को गोकुल पहुँचाने गोकुल से कन्या लाने तथा उसकी मृत्यु की समस्त घटनाएँ नाटक में सदृश ही हैं।

ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण[2] में श्रीकृष्ण अवतार का वृत्तान्त विष्णुपुराण के सदृश ही है। शेष घटनाएँ अन्य पुराणो के सदृश है।

पद्मपुराण

पद्मपुराण[3] की कथा भागवत पुराण के समान है।

उपर्युक्त समस्त ग्रन्थो की कथाओं में से प्रस्तुत नाटक की कथा हरिवंशपुराण की कथा के ही अधिक समीप जान पडती है क्योंकि यहा भी देवताओं की सभा मे ही कंस के विनाश का निश्चय होता है। शेष सब घटनाएँ तीनो ग्रन्थों[4] में ही उपलब्ध हो जाती हैं।

---

१ विष्णुपुराण अध्याय १ श्लोक ५६ ७५

२ ब्रह्मपुराण अध्याय ७२ ८५

३ पद्म पुराण अध्याय २४५

४ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अध्याय २ २२। भागवत पुराण दशम् स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) अ० ४ ४४। विष्णु पुराण पचम अंश, अध्याय १ २०

अन्तर

नाटक की कथा तीनों ग्रन्थों की कथा से इस दृष्टि में भिन्न है कि नाटक में शिवजी मध्यस्थ बनते हैं। वे ही देवताओं को विष्णु के समीप जाकर प्रार्थना करने के लिए प्रेरित करते हैं, जब कि मूल कथाओं में शिव का कहीं कोई संकेत नहीं है।

इन तीनों ग्रन्थों की कुछ प्रमुख घटनाओं को संगृहीत कर लेखक ने नाटक की रचना की है। नाटक लघु है इसलिए सम्पूर्ण घटनाओं का समावेश इसमें नहीं हो पाया है।

श्रीकृष्णावतार[1]

राधेश्याम कथावाचक लिखित यह एक रोचक नाटक है। इस नाटक की रचना न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए की गयी है। कथा के मध्य में मनोरंजनार्थ अवान्तर प्रसंग भी आते हैं किन्तु इनका मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कथानक

प्रस्तुत नाटक का प्रारम्भ स्वर्ग में नारद और विष्णु भगवान के वार्तालाप से होता है। नारदजी भूलोक में बढ़ते हुए अत्याचारों का उल्लेख करते हैं और उनके अन्त के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं। भगवान उन्हें आश्वासन देते हैं कि देवकी के गर्भ से अष्टम पुत्र के रूप में वे जन्म लेंगे।

कंस अपने पिता को अपदस्थ करके स्वयं मथुरा का राजा बन जाता है। वसुदेव के साथ देवकी का विवाह होकर रथ में उसके चल देने पर आकाशवाणी होती है कि इसका अष्टम पुत्र तेरा संहारक होगा। अतः कंस दोनों को बन्दी बना लेता है। वह उनके प्रत्येक पुत्र का वध करता रहता है। श्रीकृष्ण के जन्म के उपरान्त की घटनाएँ अन्य नाटकों के ही समान हैं।

कालिया नाग का नाथन पूतना, शकटासुर, वृषभासुर अघासुर, बकासुर तथा धेनुकासुर राक्षसों के वध की घटनाएं यहां अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक हैं। इस नाटक की कथा कंसवध पर्यन्त है।

आधार

इस नाटक का आधार मुख्य रूप से भागवत पुराण है।[2] नाटक का प्रारम्भ कल्पित

---

१ प्रकाशक, लेखक स्वयं राधेश्याम पुस्तकालय बरेली प्र० सं० १९२६ ई०

२ भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध), अध्याय १-४४

ब्रह्मा द्वारा आकाशवाणी नहीं सुनी गयी। पृथ्वी का करुण पुकार सुन देवताओं सहित क्षीर सागर के किनारे पहुंचकर वे भगवान विष्णु की स्तुति करने लगे। भगवान इस घटना पर विस्मय प्रकट करते हुए ब्रह्माजी से प्रसन्नचित्त हो कहने लगे "मुझे किस कार्य की इच्छा हो वह सब कहो।" ब्रह्माजी ने समस्त वृत्तान्त सुनाकर उत्पात दूर करने और उसे जड़ से उखाड़ फेंकने की प्रार्थना की। भगवान ने कहा—

"मेरे ये श्वेत और कृष्ण केश पृथ्वी पर अवतार लेकर पृथ्वी के भारस्वरूप कष्ट को दूर करेंगे। सब देवगण अपने अपने अंशों से पृथ्वी पर अवतार लेकर उन्मत्त दैत्यों के साथ युद्ध करेंगे। वसुदेवजी की जो देवी के समान देवकी नाम की भार्या है उनके आठवें गर्भ से मेरा यह श्याम केश अवतार लेगा और इस प्रकार वहाँ अवतार लेकर वह कालनेमि के अवतार कंस का वध करेगा। ऐसा कहकर श्रीहरि अन्तर्धान हो गए।"[1]

इसी समय भगवान नारदजी ने कंस से आकर कहा कि देवकी के आठवें गर्भ से भगवान धरणी पर जन्म लेंगे। नारदजी से यह समाचार पाकर कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागृह में डलवा दिया। वसुदेव प्रतिज्ञानुसार कंस को अपनी प्रत्येक सन्तान ला-लाकर देते रहे। देवकी के प्रथम छः गर्भ हिरण्यकशिपु के पुत्र थे। कंस द्वारा उन सबके मारे जाने पर शेष नाग भगवान का अंश प्रभाव से देवकी के सातवें गर्भ में स्थापित होकर फिर नष्ट हो गया। देवकी के आठवें गर्भ से कृष्ण उत्पन्न हुए। योगमाया भी उसी दिन यशोदा के गर्भ से अवतरित हुई।

इसके उपरान्त की कथा कृष्ण को गोकुल पहुँचाने, गोकुल से कन्या लाने तथा उसकी मृत्यु की समस्त घटनाएँ नाटक के सदृश ही हैं।

ब्रह्मपुराण

ब्रह्मपुराण[2] में श्रीकृष्ण अवतार का वृत्तान्त विष्णुपुराण के सदृश ही है। शेष घटनाएँ अन्य पुराणों के सदृश हैं।

पद्मपुराण

पद्मपुराण[3] की कथा भागवत पुराण के समान है।

उपर्युक्त समस्त ग्रन्थों की कथाओं में से प्रस्तुत नाटक की कथा हरिवंशपुराण की कथा के ही अधिक समीप जान पड़ती है क्योंकि यहाँ भी देवताओं की सभा में ही कंस के विनाश का निश्चय होता है। शेष सब घटनाएँ तीनों ग्रन्थों[4] में ही उपलब्ध हो जाती हैं।

---

१ विष्णुपुराण अध्याय १ श्लोक ५६-७५
२ ब्रह्मपुराण अध्याय ७२-८१
३ पद्म पुराण अध्याय २४५
४ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अध्याय २-२२। भागवत पुराण दशम् स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) अ० १-४४। विष्णु पुराण पंचम अंश अध्याय १-२

अंतर

नाटक की कथा तीनों ग्रंथों की कथा से इस दृष्टि में भिन्न है कि नाटक में शिवजी मध्यस्थ बनते हैं। वे ही देवताओं को विष्णु के समीप जाकर प्रार्थना करने के लिए प्रेरित करते हैं, जब कि मूल कथाओं में शिव का कहीं कोई संकेत नहीं है।

इन तीनों ग्रंथों की कुछ प्रमुख घटनाओं को संग्रहीत कर लेखक ने नाटक की रचना की है। नाटक लघु है, इसलिए सम्पूर्ण घटनाओं का समावेश इसमें नहीं हो पाया है।

श्रीकृष्णावतार[1]

राधेश्याम कथावाचक लिखित यह एक रोचक नाटक है। इस नाटक की रचना न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के लिए की गयी है। कथा के मध्य में मनोरंजनार्थ अवान्तर प्रसंग भी आते हैं किन्तु इनका मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कथानक

प्रस्तुत नाटक का प्रारम्भ स्वर्ग में नारद और विष्णु भगवान के वार्तालाप से होता है। नारदजी भूलोक में बढ़ते हुए अत्याचारों का उल्लेख करते हैं और उनके अन्त के लिए भगवान से प्रार्थना करते हैं। भगवान उन्हें आश्वासन देते हैं कि देवकी के गर्भ से अष्टम पुत्र के रूप में वे जन्म लेंगे।

कंस अपने पिता को अपदस्थ करके स्वयं मथुरा का राजा बन जाता है। वसुदेव के साथ देवकी का विवाह होकर रथ में उसके चल देने पर आकाशवाणी होती है कि इसका अष्टम पुत्र तेरा संहारक होगा। अतः कंस दोनों को बन्दी बना लेता है। वह उनके प्रत्येक पुत्र का वध करता रहता है। श्रीकृष्ण के जन्म के उपरान्त की घटनाएँ अन्य नाटकों के ही समान हैं।

कालिया नाग का नाथन, पूतना, शकटासुर, वृषभासुर, अघासुर, बकासुर तथा धेनुकासुर राक्षसों के वध की घटनाएँ यहाँ अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक हैं। इस नाटक की कथा कंसवध पर्यन्त है।

आधार

इस नाटक का आधार मुख्य रूप से भागवत पुराण है।[2] नाटक का प्रारम्भ कल्पित

---

१ प्रकाशक लेखक स्वयं राधेश्याम पुस्तकालय बरेली प्र. सं० १६२६ ई०

२ भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) अध्याय १-४४

है। तथापि देवताओं को आश्वासन देने वाला प्रसंग तथा भगवान विष्णु के जन्म लेने वाला प्रसंग इत्यादि सभी पुराणों में है। यहां इसका रूप परिवर्तित है, क्योंकि भागवत तथा पद्म पुराणों में[1] पृथ्वी गौ का रूप धारण कर, अत्याचारों से पीड़ित होकर ब्रह्माजी की शरण में जाती है और ब्रह्मा देवताओं तथा गौरूपिणी पृथ्वी को लेकर क्षीर सागर के तट पर जाकर विष्णु भगवान की आराधना करते हैं। भगवान कंस के नाश हेतु स्वयं जन्म लेने का आश्वासन देते हैं। विष्णु पुराण तथा ब्रह्मपुराण[2] में गौरूपिणी पृथ्वी की पुकार पर ब्रह्मा स्वयं विष्णु के पास जाते हैं और विष्णु उन्हें आश्वस्त करते हैं। हरिवंशपुराण[3] में देवता एक सभा में स्वयं कंस वध का निश्चय करते हैं। नारद उसमें कोई भाग नहीं लेते। इस दृष्टि से उपर्युक्त समस्त स्थलों पर कथा का रूप भिन्न है जो नाटक की कथावस्तु के प्रसंग से मेल नहीं खाता अतएव नाटक की कथा का यह प्रसंग मौलिक है। रथ के चल देने पर आकाशवाणी होने का प्रसंग भागवतपुराण[4], विष्णुपुराण[5] तथा पद्मपुराण[6] तीनों में मिल जाता है। नाटक की शेष घटनाएँ इन सब ग्रंथों में यथावत् देखी जा सकती हैं।

श्रीकृष्ण-जन्म नाटक[7]

डा० भारतसिंह यादवाचार्य लिखित श्रीकृष्ण-जन्म नाटक में केवल तीन अंक हैं। इस नाटक की कथावस्तु संक्षिप्त है तथा अन्य नाटकों से कुछ भिन्न भी है। कथा का रूप इस प्रकार है—

कथानक

देवकी के विवाह के समय की आकाशवाणी सुनकर कंस भयभीत हो वसुदेव तथा देवकी दोनों को बंदी बना लेता है। देवकी की जो भी संतान होती है, वह उसे मरवा डालता है। देवकी के अष्टम पुत्र के जन्म पर पुत्र रूपी भगवान अपना विराट रूप दिखाते हैं। देवकी स्तुति करती है तदुपरान्त बालस्वरूप धारण करने की प्रार्थना करती है। श्रीकृष्ण के बाल रूप में आने पर देवकी और वसुदेव उसकी रक्षा की चिंता करते हैं। वसुदेव की हथकड़ी बेड़ियाँ टूट जाती हैं। पुत्र को सूप में रखकर वे अपने छोटे भाई नन्द के यहाँ ब्रज में छोड़ने के

---

1. भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) अध्याय १ श्लोक १७-२५। पद्म पुराण अ० २४५
2. विष्णु पुराण पंचम अंश अध्याय १ श्लोक १२-८६। ब्रह्मपुराण अ० ७२ ५-३१
3. हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अध्याय १ श्लोक १-१७
4. भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) अध्याय १ श्लोक २६-३४
5. विष्णु पुराण पंचम अंश अध्याय १ श्लोक ५-८
6. पद्म पुराण अध्याय २४५-४८
7. प्रकाशक भार्गवकुमार मन्नालाल काशी प्र० सं० सन् १९-४

लिए ले जाते हैं। कोई प्रहरी उन्हें देख नहीं पाता। जमुना भी मुस्तर हो जाती है। ब्रज जाकर ये नन्द से मिलते हैं। पुत्र को लेकर बदले में नन्द सब जानकर कन्या को इस आशा से दे देते हैं कि कंस कन्या की हत्या नहीं करेगा। वसुदेव कारागृह में लौटते हैं तो उनके हाथों पैरों में पुनः हथकड़ी-बेड़ियाँ पड़ जाती हैं।

उधर नन्द के घर धूमधाम से पुनः जन्मोत्सव मनाया जाता है।

आधार

इस नाटक का मूल आधार भागवतपुराण ही[1] है क्योंकि नाटक की अधिकांश घटनाएँ इस ग्रन्थ में ज्यों-की-त्यों मिल जाती हैं। भगवान के विराट रूप में जन्म लेने पर देवकी के द्वारा केवल इसी पुराण में स्तुति की गयी है। कृष्ण के शिशुरूप में परिवर्तित हो जाने के उपरान्त, वसुदेव द्वारा उन्हें गोकुल ले जाने की घटना भी यहाँ यथावत वर्णित है। अन्तर केवल एक स्थल पर है।

अंतर

नाटक में वसुदेव कृष्ण को सूप में रखकर ले जाते हैं किन्तु यहाँ कृष्ण वसुदेव की गोद में ले जाये जाते हैं। विष्णुपुराण[2] तथा हरिवंशपुराण[3] में भी कृष्ण को गोकुल ले जाने का प्रसंग है किन्तु हरिवंशपुराण में यमुना पार करने का विवरण उपलब्ध नहीं है,[4] वहाँ वसुदेव कृष्ण को लेकर रात के समय यशोदा के घर में घुस जाते हैं। अतएव वे थल या जल किस मार्ग से गये, यह केवल अनुमान का विषय रह जाता है।

पद्मपुराण[5] तथा ब्रह्मपुराण[6] में भी यह वर्णन इसी रूप में प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ कृष्ण को किस प्रकार ले जाया गया इसका उल्लेख नहीं है। हाँ, ब्रह्मपुराण में इतना अवश्य लिखा है कि कृष्ण को वर्षाकाल में ले जाते समय शेषनाग ने अपने फणों से छाया की।[7]

विवेचन

इस नाटक की शैली थियेट्रिकल कम्पनियों के नाटकों जैसी है। इसका स्तर भी साधारण है, भाषा भी परिष्कृत नहीं है किन्तु एक दृष्टि से यह नाटक अब तक विवेचित अन्य नाटकों से भिन्न है। यहाँ नाटककार ने अलौकिक एवं चमत्कारिक घटनाओं के साथ-साथ घटना का व्यावहारिक रूप भी उपस्थित किया है। वसुदेव यहाँ कृष्ण को यशोदा के समीप

---

१ भागवत पुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) अध्याय ३ ४४

२ विष्णु पुराण (पंचम अंश) अ० ३ श्लोक १५ २३

३ हरिवंश पुराण (विष्णुपर्व) अध्याय ४ श्लोक २९ ३०

४ वही अध्याय ४

५ पद्म पुराण अध्याय २४५ ४३ ५५

६ ब्रह्मपुराण अध्याय ७३ २ २६

७ वही अध्याय ७३ २१

लिटाकर तथा नन्द की कन्या को चुपचाप लेकर नहीं चले आते। अपने छोटे भाई नन्द से कहकर वे उनकी पुत्री को लाते हैं। मूल कथाओं तथा अन्य नाटकों के समान यह अदला-बदली चुपचाप नहीं हो जाती। माँ को अपने बालक के सम्बन्ध में यह भी ज्ञात न हो कि वह पुत्र है या पुत्री और इसलिए किसी के द्वारा उठाकर ले जाने पर भी कोई सन्देह न जगे, यह चीज अत्यन्त अव्यावहारिक, अविश्वसनीय एवं असंगत है।

इस नाटक के अतिरिक्त अन्य तीनों नाटकों में कहीं भी नाटकीय घटनाओं को बुद्धि संगत रूप देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसका कारण सम्भवतः युग-सापेक्षता ही हो। प्रकाशन के कालक्रम की दृष्टि से यह चतुर्थ नाटक है। समय के साथ-साथ विचारधारा का परिवर्तन यहाँ स्पष्ट है। अन्य तीनों नाटक अपने मूल आधारों के समीप होते हुए भी व्याव-हारिकता से बहुत दूर हैं।

श्रीकृष्ण[1]

चतुर्भुज एम० ए० लिखित यह नाटक संगीत नाटक अकादमी की आर्थिक सहायता से प्रकाशित हुआ। इस नाटक के सृजन में लेखक का उद्देश्य कृष्ण की केवल उन भूमिकाओं को प्रस्तुत करना रहा है जिनका अभिनय भली प्रकार किया जा सके। इस नाटक का सफल अभिनय प्रथम बार १७.२.५१ को लेखक के ही निर्देशन में हुआ। सुन्दर तथा सरल भाषा में लिखा हुआ तीन अंकों का यह एक लघु नाटक है। कथानक इस प्रकार है—

मगध सम्राट् जरासन्ध अपनी एकमात्र पुत्री अस्ति के विधवा हो जाने के कारण दुःखी है। उसे आश्चर्य होता है कि कृष्ण (एक बालक) के द्वारा मथुराधिपति कंस का वध किस प्रकार सम्भव है। अस्ति के रुदन करते हुए प्रवेश करने पर तो उसे विश्वास करना ही पड़ता है। अपने सेनापति शिशुपाल से वह मन्त्रणा करता है और अस्ति के यह कहने पर कि वह पति का बदला लेने के लिए ही सेना लेकर कृष्ण से युद्ध करता है किन्तु कृष्ण जरासन्ध को सत्रह बार परास्त करते हैं। बलराम कृष्ण के साथ रहते हैं। सत्रह बार की पराजय से व्यथित हो जरासन्ध कालयवन को आमन्त्रित करता है। कालयवन विधर्मी है। जरासन्ध उसे वश में न कर पाया था। उसकी सेना जंगली नीति से लड़ती है। कालयवन अस्ति को देखते ही मुग्ध हो जाता है और कृष्ण को हराने के पश्चात् उससे विवाह करने की योजना बनाता है। कृष्ण कालयवन से लड़ते हुए द्वारका चले जाते हैं और वहाँ अपनी राज-धानी बनाते हैं। कालयवन अस्ति से आकर प्रेमयाचना करता है पर अस्ति विषबुझी कटार से कालयवन को मारकर स्वयं मर जाती है।

दूसरी घटना इस नाटक में रुक्मिणी परिणय से सम्बन्ध रखती है। उसका भाई

---

[1] प्रकाशक : मगध कलाकार, अम्बिकापुर [illegible] स्वतन्त्र नवभारत प्रेस, पटना ३

भी उसका विवाह शिशुपाल से करना चाहता है। रुक्मिणी का पत्र पाने के कारण कृष्ण पूजा के अवसर पर बलराम के साथ पहुँचकर मूर्ति के पीछे छिपकर रुक्मिणी का हरण कर लेते हैं और रुक्म से लड़ते हुए द्वारका चले जाते हैं।

तीसरी घटना युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से सम्बन्ध रखती है। कृष्ण बताते हैं कि जरासंध और शिशुपाल का जीतना ही कठिन है। भीम राजगृह पहुँचकर जरासंध से मल्ल युद्ध कर उसका वध कर देते हैं। अंतिम दृश्य में शिशुपाल का वध सुदर्शन चक्र से कृष्ण के द्वारा होता है क्योंकि शिशुपाल कृष्ण का सर्वप्रथम तिलक देने के पक्ष में नहीं है। वचन के अनुसार सौ अपराधों से अधिक हो जाने के कारण कृष्ण उसे मार डालते हैं तत्पश्चात् तिलक होता है।

उपर्युक्त कथानक में तीन प्रमुख प्रसंग स्पष्ट देखे जा सकते हैं—

१ कालयवन की मृत्यु।

२ रुक्मिणी हरण।

३ युधिष्ठिर का राजसूययज्ञ तथा जरासंध एवं शिशुपालवध।

इन तीनों प्रसंगों के आधार-स्थल तथा अंतर निम्नलिखित हैं—

आधार

भागवत पुराण

भागवत पुराण[1] में उपर्युक्त तीनों ही प्रसंग लगभग इसी रूप में विस्तार से वर्णित है। नाटक तथा भागवत पुराण की कथा में अंतर इस प्रकार हैं—

कालयवन की मृत्यु

१ नाटक में अस्ति को जरासंध की एकमात्र पुत्री कहा गया है। भागवत पुराण में जरासंध की अस्ति और प्राप्ति दो पुत्रियां हैं और दोनों का विवाह कंस के साथ हुआ है।

२ नाटक की कथा में जरासंध जब सत्रह बार पराजित हुआ तो अठारहवीं बार उसने कालयवन को सहायतार्थ आमंत्रित किया। भागवत की कथा के अनुसार कालयवन को नारदजी ने भेजा था, न वह स्वयं आया और न उसे जरासंध द्वारा आमंत्रित ही किया गया।[2]

३ नाटक में कालयवन की मृत्यु अस्ति के द्वारा कटार से उस समय की गयी, जब

---

१ भागवत पुराण दशम स्कंध (उत्तरार्द्ध) अध्याय ५० ५१ ५२ ५४ ७२ ७४

२ भागवत पुराण—

अष्टादशमसंग्रामे आगामिनि तदन्तरा।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत॥

—दशम स्कंध (उत्तरार्द्ध) अध्याय ५० श्लो० ४४

वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उससे प्रणययाचना कर रहा था। भागवत पुराण की कथा में कालयवन की मृत्यु का प्रसंग है, पर प्रणय कथा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

रुक्मिणी हरण

भागवत पुराण तथा नाटक की कथा में रुक्मिणी-हरण प्रसंग में सम्बद्ध निम्नलिखित अन्तर हैं—

१ नाटक में रुक्मिणी हरण की घटना पूजा के अवसर पर हो घटती है किन्तु ब्राह्मण द्वारा सन्देश भेजे जाने के स्थान पर (भागवत पुराण की कथा के अनुसार) यहाँ कृष्ण रुक्मिणी के पत्र से द्रवित होकर कुण्डिनपुर पहुँचते हैं और यथासमय रुक्मिणी का हर लेते हैं।

२ नाटक में मूर्ति के पीछे छिपकर रुक्मिणी के पूजा के लिए आने पर उसे हर लेना लेखक की अपनी कल्पना है। भागवत पुराण में रुक्मिणी हरण उस समय होता है जब रुक्मिणी पूजा के उपरान्त मन्दिर में से सखी के साथ निकलती है। यहाँ हरण की विधि में भी अन्तर है। नाटक की कथा में ऐसा प्रतीत होता है कि वे मन्दिर के गुप्त द्वार से बाहर निकल गये जबकि भागवत की कथा के अनुसार कृष्ण समस्त राजाओं के सम्मुख रुक्मिणी को उठाकर ले गये।

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, जरासन्ध तथा शिशुपालवध

इस प्रसंग में नाटक तथा भागवत पुराण की कथा में बहुत साधारण अन्तर है—

१ नाटक में कृष्ण अर्जुन और भीम स्नातक के रूप में जरासन्ध के पास पहुँचते हैं भागवत पुराण में इन तीनों ने जरासन्ध के भवन में ब्राह्मण वेष में प्रवेश पाया, ऐसा वर्णित है।

२ नाटक में भीम तथा जरासन्ध के मध्य मल्लयुद्ध होता है और भीम अपनी शक्ति के बल से जरासन्ध पर विजय पा लेते हैं। भागवत पुराण के सदृश यहाँ जरासन्ध की कथा जरा नाम की राक्षसी से जुड़ी हुई नहीं मानी गयी है, अतएव उसे चीर दिये जाने का विवरण यहाँ नहीं है।

जरासन्ध को मारने की लेखक की यह नूतन कल्पना स्वाभाविक तथा बुद्धिसंगत है। कथा का मूल रूप भी इससे विकृत नहीं होता। जरासन्धवध तथा राजसूय यज्ञ से सम्बद्ध नाटक की शेष घटनाएँ, भागवत पुराण के सदृश ही हैं।

विष्णु पुराण

कालयवन की मृत्यु का प्रसंग भागवत पुराण के समान विष्णु पुराण में[1] भी उपलब्ध

---

१ विष्णुपुराण (पंचम अंश) अध्याय २२ १ २१

होना है। कथा के साथ यहां कालयवन के जन्म का वृत्तान्त भी विशेष रूप से वर्णित है। विष्णुपुराण के अनुसार कालयवन महर्षि गार्ग्य का पुत्र था, जिसे उन्होंने बारह वर्ष तक शिव की आराधना तथा उस अवधि में केवल लौहचूर्ण भक्षण करके प्राप्त किया।[1] कथा में कालयवन, यवनराज की पत्नी से उत्पन्न बताया है। यौवन तथा बल प्राप्त करने के उपरान्त कालयवन को जब नारदजी के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि पृथ्वी पर यादवों की शक्ति सबसे प्रचण्ड है तो कालयवन ने अति विशाल म्लेच्छ सेना को लेकर प्रथम यादवों के नेता कृष्ण से ही टक्कर ली।[2] यहां भी कालयवन को जरासन्ध के द्वारा आमन्त्रित नहीं किया गया। अस्ति तथा प्राप्ति नाम की जरासन्ध की दो पुत्रियों का वर्णन विष्णुपुराण के आख्यान में भी उपलब्ध होता है। ये दोनों कंस की रानियाँ थी। इस प्रकार यह कथा अधिकांश में भागवत पुराण के ही समान है।

रुक्मिणी हरण का प्रसंग विष्णु पुराण में संक्षेप में है।[3] यहां श्रीकृष्ण को रुक्मिणी द्वारा पत्र अथवा ब्राह्मण द्वारा सन्देश भेजे जाने का कोई संकेत नहीं है। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी एक दूसरे के प्रति आकर्षित हैं और रुक्मिणी का भाई रुक्मी इस सम्बन्ध का विरोधी है यहां इतना ही उल्लेख है। नाटक तथा विष्णुपुराण की शेष घटनाएं समान हैं।

हरिवंश पुराण

विष्णुपुराण के सदृश हरिवंशपुराण[4] में भी कालयवन की मृत्यु के प्रसंग में कालयवन के जन्म की कथा का भी उल्लेख है।[5] विष्णुपुराण के आख्यान से यह स्पष्ट नहीं होता कि गार्ग्य मुनि ने यवनराज की पत्नी से पुत्रोत्पत्ति क्यों की? वहां यवनराज को केवल पुत्रहीन कहकर ही छोड़ दिया गया है।[6] किन्तु हरिवंशपुराण के आख्यान में यह अस्पष्टता नहीं है।[7]

यहाँ कालयवन की माता मानवीरूपधारिणी अप्सरा को बताया है जो विष्णुपुराण से भिन्न है। कालयवन के वध का वृत्तान्त भी यहां भागवत तथा विष्णुपुराण के सदृश है किन्तु यहाँ राजा मुचुकुन्द, देवताओं से केवल निद्रा का वर माँगता है—'जो मुझे सोने से जगा दे वह मेरी दृष्टि से भस्म हो जाय।' यह मुचुकुन्द स्वयं कहता है।[8]

रुक्मिणी-हरण का वृत्तान्त हरिवंशपुराण में अति विस्तार में वर्णित है।[9] यहाँ कथावाचक वैशम्पायन जी हैं और श्रोता जनमेजय। इस कथा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

---

१ विष्णु० (पंचम अंश) अध्याय २३ श्लोक १५
२ वही (पंचम अं०) अ० २३ श्लो० ६८
३ विष्णु पुराण पंचम अंश अध्याय २६
४ हरिवंशपुराण (विष्णुपर्व) अ० ५३ ५७
५ वहां, अध्याय ५७
६ विष्णु पुराण पंचम अंश अध्याय २३ ४
७ हरिवंश पुराण (विष्णुपर्व) अध्याय ५७ श्लोक १२ १५
८ हरिवंशपुराण (विष्णु) अ ५७ श्लोक ४५
९ हरिवंश पुराण (विष्णुपर्व) अध्याय ४७ ४८ ५१ ५६ तथा ६०

अतिरिक्त अन्य सब पुराणों के सदृश है।[1]

रुक्मिणी हरण प्रसंग ब्रह्मपुराण में अति संक्षिप्त है।[2] केवल ग्यारह श्लोकों में ही रुक्मी की बहन का विवाह शिशुपाल से करने की इच्छा, कृष्ण तथा बलराम का विवाह देखने के लिए आना, रुक्मिणी हरण तथा रुक्मी को कृष्ण को बिना मारे हुए कुण्डिनपुर में प्रवेश न करने की प्रतिज्ञा आदि घटनाएँ सम्मिलित हैं। यहाँ रुक्मिणी द्वारा पूजा का प्रसंग नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है—

"श्वोभाविनि विवाहे तु तां कन्यां हृतवानहरिः।"[3]

ब्रह्मवैवर्तपुराण

ब्रह्मवैवर्त पुराण में रुक्मिणीहरण का प्रसंग अन्य सब विवेचित पुराणों से भिन्न है।[4] इस उपाख्यान और नाटक में जो भिन्नताएँ हैं वे निम्नलिखित हैं—

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण में, रुक्मिणी के द्वारा (नाटक के समान) कृष्ण के समीप कोई पत्र अथवा सन्देश नहीं भेजा जाता।

२ ब्रह्मवैवर्त पुराण की कथा में रुक्मिणी का विवाह विदर्भ नगरी में ही सम्पन्न होता है। नाटक में ऐसा नहीं है।

३ गौतम पुत्र शतानन्द का इस विवाह में प्रमुख हाथ रहता है किन्तु यहाँ के इस उपाख्यान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि नाटक के सदृश यहाँ रुक्मिणी हरण नहीं दिखाया गया, अतः रुक्मिणी द्वारा पूजा प्रसंग, कृष्ण का अनामन्त्रित रूप से आगमन इत्यादि विवरण यहाँ नहीं हैं और इसीलिए ब्रह्मवैवर्त पुराण के इस उपाख्यान का शीर्षक रुक्मिणी हरण न होकर रुक्मिणी सम्प्रदानम् है।

महाभारत

रुक्मिणी हरण वर्णन का महाभारत में केवल संकेत मात्र है।[5] किन्तु जरासन्ध वध, राजसूय यज्ञ तथा शिशुपाल वध इत्यादि प्रसंग यहाँ अति विस्तार में वर्णित हैं।[6] इन प्रसंगों में भी नाटककार ने मूलकथा का आधार मात्र लिया है। महाभारत में वर्णित अस्वाभाविक एवं अलौकिक असंगत प्रसंग यहाँ नहीं लिए गए हैं। अन्तर इस प्रकार हैं—

१ नाटक में जरासन्ध मृत्यु से पूर्व अपने पुत्र के राज्याभिषेक की घोषणा नहीं करता। जरासन्ध की मृत्यु के उपरान्त यह कार्य कृष्ण ही सम्पन्न करते हैं। महाभारत में कृष्ण ही सहदेव का राज्याभिषेक करते हैं किन्तु मरने से पूर्व जरासन्ध भी घोषणा कर

---

१ ब्रह्मपुराण अध्याय ८८ श्लोक २२
२ वही अध्याय ९१ श्लोक १११
३ वही अध्याय ९१ श्लोक ६
४ ब्रह्मवैवर्त पुराण अध्याय १०५ १ ८
५ महाभारत (शान्तिपर्व) अध्याय ६७ श्लोक १८६
(सभापर्व) अध्याय ४५ श्लोक १५
६ वही सभापर्व (जरासन्धवधपर्व) अध्याय २१ २५ (अर्घाभिहरणपर्व) अ० ३५ ४५।

कथा सुनाते हैं। कथा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

एक ब्राह्मण, भगवान श्रीकृष्ण के परम मित्र थे। वे बड़े ब्रह्मज्ञानी विषयों से विरक्त शान्त चित्त और जितेन्द्रिय थे। गृहस्थ होने पर भी किसी प्रकार का संग्रह परिग्रह करने की उनकी वृत्ति नहीं थी। प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाता, उसी में वे सन्तुष्ट रहते थे। एक दिन दरिद्रता की प्रतिमूर्ति दुःखिनी पतिव्रता सुदामा की स्त्री ने पति में कृष्ण के पास जाने का आग्रह किया। सुदामा ने यह विचारकर जाना स्वीकार कर लिया कि भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन तो हो ही जाएंगे। चलते समय पत्नी ने चार मुट्ठी चिउड़े पड़ोस से लाकर पति के कपड़े में भेंट हेतु बांध दिए।

द्वारका में पहुंचने पर वह ब्राह्मण सैनिकों की तीन छावनियां और तीन ड्योढ़ियां पार करके भगवान के पास जा पहुंचा। भगवान श्रीकृष्ण अपनी प्राणप्रिया रुक्मिणीजी के पलंग पर विराजे हुए थे। ब्राह्मण देवता को देखकर वे उठ खड़े हुए और समीप पहुँचकर उन्हें भुजपाश में बांध लिया। उनके कमलकोमल नेत्रों से अश्रु बरसने लगे। अपने पलंग पर बिठाकर पूजन की सामग्री लाकर श्रीकृष्ण ने उनकी पूजा की। ब्राह्मण देवता फटे पुराने वस्त्र पहने हुए थे। उनका शरीर अत्यन्त मलिन और दुर्बल था। रुक्मिणी ने उन पर पंखा झला और श्रीकृष्ण मित्र के साथ बातों में तल्लीन हो गए। पश्चात उन्होंने घर से लाए हुए उपहार के सम्बन्ध में पूछा।[1] भगवान श्रीकृष्ण के इस प्रकार पूछने पर भी ब्राह्मण देवता ने लज्जावश वे चार मुट्ठी चिउड़े नहीं दिये। भगवान ने स्वयं ही सम्पूर्ण स्थिति जान ली और निश्चय किया कि मैं अब इसे ऐसी सम्पत्ति दूंगा जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। उन्होंने वे चिउड़े स्वयं छीन लिए और एक मुट्ठी चिउड़ा खा गये दूसरी मुट्ठी को ज्योंही रुक्मिणी ने खाने के लिए उद्यत देखा तो उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण का हाथ थाम लिया और कहा विश्वात्मन! बस बस, मनुष्य को इस लोक में तथा मरने के बाद परलोक में भी समस्त सम्पत्तियों की समृद्धि प्राप्त करने के लिए यह एक मुट्ठी चिउड़ा ही बहुत है क्योंकि आपके लिए इतना ही प्रसन्नता का हेतु बन जाता है।

ब्राह्मण देवता उस रात भगवान श्रीकृष्ण के महल में ही रहे। उन्होंने वहां वैकुण्ठ के सुख का अनुभव किया। उन्हें श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष रूप में कुछ न मिला किन्तु दूसरे दिन जब वे घर पहुंचे तो उन्होंने सब कुछ परिवर्तित पाया। अतुलित वैभव को देखकर वे आश्चर्यान्वित हो गए।

भागवत पुराण के इस आख्यान में कृष्ण सुदामा नाटक की कथा अपने सम्पूर्ण रूप में मिल जाती है। अतएव यही पुराण मुख्य रूप से इस नाटक का आधार है।

विवेचन

यह नाटक नरोत्तमदास के काव्य के सदृश ही सरस है क्योंकि लेखक ने इसमें अपने तथा अन्य लेखकों के पद्य भी सम्मिलित किए हैं। नरोत्तमदास के काव्य की कथा भी बिलकुल भागवत पुराण की कथा के सदृश ही है अन्य किन्हीं किन्हीं स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि

1 भागवत पुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध) अध्याय ८१ श्लोक ३

नाटककार ने नरोत्तमदास के काव्य का ही नाटकीकरण कर दिया है। लेखक की रचना शैली तथा अनेक राग रागनियों के समावेश ने नाटक को अति रोचक एवं सरस बना दिया है।

श्रीकृष्ण-सुदामा[1]

हरिनाथ व्यास लिखित कृष्ण सुदामा नाटक तीन अंकों की एक सामान्य रचना है। श्रीकृष्ण और सुदामा के प्रेम की छोटी-सी कथा को लेकर इस नाटक में बड़ा विस्तार दिया गया है। इसके अतिरिक्त सुदामा की कथा के साथ दो अवान्तर कथाएँ भी और जोड़ दी गयी हैं। कथावस्तु का संक्षिप्त रूप निम्नलिखित है—

श्रीकृष्ण के साथ सान्दीपनि गुरु के आश्रम में पढ़ते समय श्रीकृष्ण और सुदामा गुरु के लिए लकड़ी तोड़ने गये थे। गुरुपत्नी ने दाना के लिए थाने में चने दिये थे। सुदामा ने वे चने कृष्ण से छिपाकर स्वयं खा लिए और फलस्वरूप उन्हें दरिद्रता प्राप्त हुई। अनुदारता का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। यही प्रतिपादित करने के लिए यहाँ नाटककार ने भक्ति दरिद्रता और माया इन तीन पात्रों की कल्पना और की है। भक्ति सुदामा की सहायता करना चाहती है पर दरिद्रता और माया उसे सदा तंग करते रहते हैं। सुदामा की विकट परीक्षा होती है, पर अन्त में विजय भक्ति की ही होती है। अविचल श्रद्धा और भक्ति निश्चित ही फलदायिनी होती है किन्तु भक्त को बड़ी बड़ी कठिन परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। सुदामा स्थिरता से इन परीक्षाओं में खरे उतरते हैं।

दूसरी ओर एक ऐसे सेठ की कल्पना भी की गयी है जो धनी होते हुए भी अति अनुदार है। उसमें भक्ति और निष्ठा कुछ भी नहीं है। वह कमाता अवश्य है पर उसका उपयोग न वह स्वयं कर सकता है और न कुछ दे सकता है। उसका सारा धन छिन जाता है। इस कथा की कल्पना इसलिए की गयी है कि धन रहने पर भी आस्था न रहने से वह व्यर्थ हो जाता है।

आधार

इस कथा का आधार भी भागवत पुराण ही है।[2] भागवत पुराण के सुदामा आख्यान से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

१ सुदामा श्रीकृष्ण के साथ सान्दीपनि मुनि के आश्रम में पढ़ते थे और उनके परम मित्र थे।

२ सुदामा स्वयं धन के इच्छुक नहीं थे वे सन्तोषी वृत्ति के थे। उनकी पत्नी अति साध्वी और सात्विक वृत्ति वाली थी किन्तु धनाभाव का कष्ट उसे अखरता था।

---

१ प्रकाशक बैजनाथप्रसाद बुकसेलर राजा दरवाजा बनारस द्वितीय सं० १९८२ ई

२ भागवत पुराण, दशम स्कन्ध अध्याय ८० श्लोक ३५ ४०

३ सुदामा की अटूट भक्ति तथा निस्पृह भावना से प्रभावित होकर ही भगवान ने उन्हें अपने प्रसाद का अधिकारी बनाया।

प्रस्तुत नाटक की कथा में मूलरूप से ये सभी प्रसंग विद्यमान हैं। नाटक की घटना—इंधन लाने के लिए सुदामा कृष्ण के जानेवाला प्रसंग भी—श्रीकृष्ण भगवान के मुख से कथा में उल्लिखित है[1] किन्तु गुरु पत्नी द्वारा चने दिये जाने वाली घटना यहाँ नहीं है। लोक प्रचलित किम्वदन्ती को ही सम्भवतः नाटककार ने यहाँ उद्धृत कर दिया है। सेठजी तथा भक्ति माया और दरिद्रता वाले पात्रों की कथा काल्पनिक है जिसे लेखक ने विषय प्रतिपादन तथा नाटक में सौन्दर्य लाने के लिए रचा है।

द्वापर की राज्य-क्रान्ति[2]

किशोरीदास वाजपेयी रचित इस कड़ी का यह तृतीय नाटक है। नाटक में चार अंक हैं। इस नाटक की कथा पूर्व वर्णित कथा से भिन्न है। कथा का रूप इस प्रकार है—

कथानक

आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में विद्याध्ययन के उपरान्त स्नातक बनने पर श्रीकृष्ण सुदामा और सवाश—तीनों स्नातक आपस में बातचीत करते हुए आचार्य की दी गई भाषण की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की चर्चा कर रहे हैं। सवाश को यह चर्चा रुचिकर प्रतीत नहीं होती। कृष्ण और सुदामा, दोनों आश्रम से चले जाते हैं। सवाश विजयनगर के राजा का राजपुरोहित बन जाता है। इससे पहले इस पद के लिए सुदामा से अनुरोध किया जाता है किन्तु वे अस्वीकार कर देते हैं।

स्वाभिमानी सुदामा ग्रामों में जाकर दरिद्रतापूर्ण जीवन बिताते हुए भी लोगों को शिक्षित बनाने और उनमें राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में तत्पर रहते हैं। उनकी पत्नी भी उनके कार्य में पूर्ण सहयोग देती है। श्रीकृष्ण भी द्वारका में अपने कौशल से राजाधिराज बन जाते हैं। विजयनगर का राज्य जिसके ग्रामों में रहकर सुदामा लोगों को सुशिक्षित बना रहे थे श्रीकृष्ण अपने राज्य में मिला लेते हैं। सुदामा और उनकी पत्नी दोनों को ही इस समाचार से बड़ी प्रसन्नता होती है। श्रीकृष्ण से मिलने की उनकी उत्कण्ठा प्रबल हो उठती है। वे उनसे मिलने के लिए द्वारका जाते हैं। भेंट के लिए घर में और कुछ है नहीं एक पाव चावल वे लेते जाते हैं। श्रीकृष्ण उनका खूब स्वागत करते हैं। रुक्मिणी की सलाह से नव विजित विजयनगर का राज्य सुदामा को दे दिया जाता है और साथ ही उनकी

1 भागवत पुराण दशम स्कन्ध अ० ८०
2 प्रकाशक हिन्दुस्तान एजेंसी कलकत्ता मू० ? द्वितीय सं० १९९७ वि० सन् १९४०

नयी राजधानी सुदामा के ग्राम म बनायी जाती है। यह काय सुदामाजी के अपने गाव लौटने म पूव ही हो जाता है। द्वारका स लौटने पर व सुचारु रूप स राज्य की व्यवस्था करत है।

इस कथा से निम्नलिखित निष्कष निकाले जा सकत है—

१ सुदामा सान्दीपनि मुनि क आश्रम म श्रीकृष्ण के साथ पढ़त हैं।

२ सुदामा एक निधन किन्तु स्वाभिमानी ब्राह्मण हैं।

३ श्रीकृष्ण का रूप केवल भगवान का ही नहा है अपितु व एक धीर, वीर याद्धा भी हैं।

४ श्रीकृष्ण एक सच्चे और अच्छे मित्र हैं।

आधार

कथा की मूल भावना भागवत पुराण की कथा से मिलती-जुलती है अत इस नाटक का आधार भागवत पुराण ही है।[1] नाटककार ने सम्पूण कथा को अपनी कल्पना से एक नया मोड अवश्य दिया है किन्तु कथा की आत्मा सुरक्षित रही है—कल्पना का प्रमुख अग इस नाटक म सुदामा के द्वारा विजयनगर का राज्य-काय सँभालना है। यह नगर उन्ह कृष्ण के द्वारा प्राप्त हुआ और उनक अपने ग्राम म ही इसकी राजधानी का निमाण हुआ।

विवेचन

इस प्रकार की कल्पना से लेखक न नाटक से अतिरजित एव अयथाथ बाता को बिलकुल निकाल फेंका है साथ ही कथा क प्रसगा की युक्तियुक्त अवतरण वठान म भी वह समथ हुआ है। कृष्ण की दवी शक्ति से एक रात म ही सुदामा के ग्राम का वभवयुक्त बन जाना तथा सुदामा क जीण शीण झापड के स्थान पर विशाल स्वण अट्टालिका का खडा हो जाना आज क तकशील मस्तिष्क को वस्तुत विभ्रम म डाल दता है। अतएव नाटककार न एक पौराणिक घटना को जो युग का आवरण दिया है वह स्तुत्य है। जिस युग म यह नाटक लिखा गया ह उसकी भावना के यह सवथा अनुरूप ह। एक अति पुरान आख्यान का बिलकुल नय रूप म प्रस्तुत कर लेखक न साहित्यिक ससार का एक नूतन चीज दी ह। नाटक की भाषा अति परिष्कृत तथा भाव अति प्राजल हैं।

उषा अनिरुद्ध

बाणासुर की पुत्री उषा के साथ श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के विवाह का प्रसग विभिन्न स्थला पर प्राप्त होता है। पुराणा का यह एक महत्त्वपूण प्रसग है। इस कथा म

१ भागवत पुराण दशम स्कन्ध अध्याय ८ ८१

सम्बन्धित निम्नलिखित नाटक प्राप्त हुए हैं—

१ उषाहरण कीर्ति प्रसाद
२ उषा नाटक बलवंत राव सिंदे
३ उषा अनिरुद्ध मुंशी आरजू साहब
४ उषा अनिरुद्ध राधेश्याम कथावाचक

उषाहरण[1]

कीर्तिप्रसाद लिखित 'उषाहरण' चार अंकों का एक लघु नाटक है। प्रकाशन क्रम से उपर्युक्त नाटकों में यह सर्वप्रथम है। इसके अंकों में दृश्य नहीं गर्भांक हैं। दृश्य परिवर्तन का कार्य ये गर्भांक ही करते हैं। प्रत्येक गर्भांक की समाप्ति पर पटाक्षेप होता है। इसके प्रत्येक अंक में तीन गर्भांक हैं। यह एक प्रेम प्रधान नाटक है। कथा इस प्रकार है—

एक बार रात्रि में राजा बाणासुर की पुत्री उषा स्वप्न में अनिरुद्ध को देखती है। जागने पर उसके सौन्दर्य का स्मरण कर कामाधीन हो विह्वल हो जाती है पर वह उस कुमार का परिचय नहीं जानती। उसे उसकी सखियाँ सान्त्वना देती हैं। उसकी सखी चित्रलेखा उषा के सामने देव, यक्ष, गन्धर्व और मानवों के चित्र बना बनाकर दिखाती है। उषा अनिरुद्ध का चित्र देखते ही लजा जाती है। सखियाँ यह निश्चित कर कि इसने स्वप्न में अनिरुद्ध को ही देखा है अनिरुद्ध को उसके पास लाने का वचन देती हैं। उसकी चारों सखियाँ आकाश मार्ग से उसी रात द्वारकापुरी जाती हैं और प्रमदवन में चन्द्र ज्योत्स्ना में सोये हुए कुमार को पलंग सहित उठाकर ले आती हैं। कुमार ने भी स्वप्न में उषा को देखा है और उसके प्रति अनुरक्त है। चारों सखियाँ कुमार को उषा के प्रमदकानन में पहुँचा देती हैं और बड़े कौशल से अनिरुद्ध का मेल करवा देती हैं। उषा कुमार को अपना पति बना लेती है।

उधर बाणासुर को पुत्री के भवन में किसी पुरुष के होने का सन्देह होने लगता है, तो वह सेना को चारों ओर से भवन को घेर लेने की आज्ञा देता है। बाणासुर वहाँ स्वयं भी उपस्थित होता है। कुमार अनिरुद्ध महल से बाहर आकर युद्ध करता है और नागपाश में बाँध लिया जाता है।

द्वारकापुरी में कुमार के पलंग सहित अदृश्य हो जाने पर सब चिंतित होते हैं। श्रीकृष्ण और बलराम नारद मुनि से यह समाचार पाकर कि कुमार अनिरुद्ध बन्दी बना लिए गए हैं बाणासुर की राजधानी शोणितपुर पर आक्रमण कर देते हैं। शिवजी के बीच में पड़ जाने के कारण श्रीकृष्ण और बाणासुर में मेल हो जाता है और परिणामस्वरूप उषा और अनिरुद्ध का विवाह बाणासुर की सम्मति से आनन्दपूर्वक सम्पन्न होता है।

---

१ प्रकाशक हरिप्रकाश यन्त्रालय काशी सन् १८९१

आधार

उषा अनिरुद्ध के विवाह के मूल आधार निम्नलिखित है। विवरण क्रमश इस प्रकार है—

भागवत पुराण

भागवत पुराण[1] म यह कथा राजा परीक्षित को श्रीशुकदेवजी न सुनाई है। कथा का संक्षिप्त रूप नीचे प्रस्तुत है—

बाणासुर की कन्या का नाम उषा था। अभी वह कुमारी ही थी कि एक दिन स्वप्न म उसने देखा कि परम सुदर अनिरुद्ध क साथ उसका समागम हो रहा है। आश्चर्य की बात यह थी कि उसने अनिरुद्ध को इससे पूव कभी नही देखा था। आख खुलने पर अपन चारो ओर सखियो को देखकर वह बहुत लज्जित हुई। तब बाणासुर के मन्त्री कुम्भाण्ड की पुत्री चित्रलेखा ने पूछा कि 'तुम किसे ढूढ रही हो और तुम्हार मनोरथ का स्वरूप क्या है?' उषा न बताया कि 'स्वप्न म मैंन एक सुदर नवयुवक को देखा है उसका रग सावला है नेत्र कमलदल के समान ह और शरीर पर पीला वस्त्र फहरा रहा है, वह स्त्रियो का चित्त हरने वाला है।' चित्रलेखा ने कहा, "यदि तुम अपन प्रियतम को मेरे बनाए चित्रो म स पहचान सकोगी तो वह चाहे कही भी हो मैं तुम्हारा मिलन उससे अवश्य करवा दूगी। एसा कहकर चित्रलेखा न देवता, ग धव, सिद्ध, पन्नग दैत्य विद्याधर मनुष्य और असुर सबके चित्र उषा क सम्मुख खचित किये। उषा न अनिरुद्ध को उन चित्रो म पहचान लिया। चित्रलेखा को यौगिक सिद्धि प्राप्त थी। अत वह आकाशमाग स द्वारकापुरी मे पहुँच कर अपनी योगसिद्धि के प्रभाव से अनिरुद्ध को उठाकर शोणितपुर ले आयी।[2]

पहरेदारो ने जब बाणासुर को उषा के कौमार्यहरण की सूचना दी तो वह तुरन्त ही वहाँ आ पहुचा। अपनी कन्या को अनिरुद्ध के साथ पासे खेलते देख, वह अति विस्मित हुआ। बाणासुर के साथ आए हुए सनिको के द्वारा अनुरुद्ध को पकडने का प्रयत्न किये जाने पर अनिरुद्ध ने एक एक को मारकर गिरा दिया तथा बाणासुर को भी त्रस्त किया। उसी समय बाणासुर न अनिरुद्ध को नागपाश से बाध लिया।

नारदजी के द्वारा द्वारकापुरी म समाचार पहुचन पर यदुवशियो ने बाणासुर पर आक्रमण कर दिया। स्वय श्रीकृष्ण रणक्षेत्र म पधारे रणोन्मत्त बाणासुर ने अपन एक हजार हाथो से एक साथ ही पाँच सौ धनुष खीचकर एक एक पर दो-दो बाण चढाए, परन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने उसके सब धनुष-बाण काट दिए। कोटरा नाम की देवी जो बाणासुर की धममाता थी, बाल बिखेर और नग्न हो भगवान श्रीकृष्ण के सामन आ खडी हुई। भगवान श्रीकृष्ण ने उस पर दृष्टि पडने की आशका स अपना मुह फेर लिया, तभी बाणासुर धनुष कट जाने और रथहीन हो जान के कारण नगर म चला गया।

---

१ भागवत पुराण दशम स्कध अ० ६२ ६३

२ वही, अध्याय ६२, श्लोक २२ २३

इधर भगवान शंकर ने अपना तीन सिर और तीन पैर वाला ज्वर युद्धस्थल में प्रेषित किया। श्रीकृष्ण ने सामुख्य के लिए अपना ज्वर छोड़ा। इस प्रकार वैष्णव तथा माहेश्वर ज्वरों में खूब युद्ध हुआ। अन्त में वैष्णव ज्वर के तेज से, माहेश्वर ज्वर भयभीत होकर चिल्लाने लगा। उसने श्रीकृष्ण की स्तुति की तथा उनसे त्राण की याचना की। श्रीकृष्ण ने उसे अभयदान दिया और माहेश्वर ज्वर उन्हें प्रणाम करके चला गया।

इस मध्य बाणासुर युद्ध के लिए पुनः प्रस्तुत होकर आ गया। क्रोधाविष्ट हो वह श्रीकृष्ण पर पुनः बाणों की वर्षा करने लगा तब श्रीकृष्ण ने उसकी भुजाओं को काटना आरम्भ किया किन्तु भगवान शंकर के आग्रह के कारण चार भुजाएँ शेष रहने दीं।[1] श्रीकृष्ण से अभयदान प्राप्त करके बाणासुर ने उन्हें प्रणाम किया और अपनी पुत्री उषा को अनिरुद्ध को सौंप दिया।

नाटक में चित्रित अधिकांश प्रसंग भागवत पुराण के इस विवरण में मिल जाते हैं। अन्तर केवल कुछ स्थलों पर हैं जो इस प्रकार है—

अन्तर

१. नाटक में उषा और अनिरुद्ध दोनों एक-दूसरे को स्वप्न में देखते हैं। भागवत पुराण में केवल उषा ही स्वप्न में अनिरुद्ध के दर्शन करती है।

२. भागवत पुराण में अनिरुद्ध को द्वारकापुरी से लाने का कार्य केवल उषा की सखी चित्रलेखा सम्पादित करती है जबकि नाटक में उषा की चार सखियाँ अनिरुद्ध को पलंग सहित उठाकर लाती हैं।

३. नाटक में वर्णित अनिरुद्ध को बन्दी बना लेने का प्रसंग भागवत पुराण में उपलब्ध है किन्तु नाटक में युद्ध का विवरण नहीं है। शिवजी मध्यस्थ बनकर श्रीकृष्ण और बाणासुर में समझौता करवा देते हैं और उषा तथा अनिरुद्ध का विवाह सम्पन्न होता है। इसके विपरीत भागवतपुराण में युद्ध का विस्तार अत्यधिक है। वहाँ युद्ध तथा शिवजी की मध्यस्थता दोनों ही उषा अनिरुद्ध के विवाह का निर्णय करता है।

हरिवंश पुराण

हरिवंशपुराण[2] में प्राप्त उषा अनिरुद्ध के विवाह की कथा का स्वरूप भागवतपुराण की कथा से भिन्न है—

वैशम्पायन जी यहाँ जनमेजय को कथा सुनाते हैं कि किसी समय प्रभावशाली भगवान शंकर गंगा नदी के तट पर पार्वती के साथ क्रीडा विहार के लिए गये। वहाँ सैकड़ों अप्सराएँ तथा गन्धर्वराज भी क्रीडा कर रहे थे। इसी समय चित्रलेखा नाम वाली श्रेष्ठ अप्सरा देवी पार्वती का रूप धारण कर, महादेवजी को रिझाने लगी। यह देख देवी पार्वती ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी। शंकर के नाना रूपधारी दिव्य एवं महाबली पार्षद

---

१. भागवत पुराण दशम स्कन्ध अध्याय ६२ श्लोक ४७-५०
२. हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अध्याय ११७-१२७

भी तब उन्हीं के समान रूप धारण कर महादेवी के समान सुंदर अप्सराओं के साथ क्रीडा करने लगे। इससे वहाँ सब ओर हास्य का वातावरण बन गया।

इस अवसर पर वाणासुर की पुत्री उषा भी वहीं थी। महादेवजी तथा पार्वती को मधुर क्रीडा में रत देख, उसके हृदय में भी उसी प्रकार की क्रीडाएँ करने की इच्छा जागृत हुई। पार्वतीजी ने उषा की इच्छा जानकर कहा कि तुम्हें भी शीघ्र ही यह अवसर प्राप्त होगा।[1]

उषा पार्वतीजी के वचन की पूर्णता की प्रतीक्षा में कामविह्वल हो उठी। सखियाँ उसकी इस अवस्था से अनभिज्ञ थीं। अतः वे उसे ज्वरग्रस्त मान विविध प्रकार के उपचारों में लग गयीं। उषा की माता तथा अन्य स्त्रियाँ भी चिंतित हो उठीं। वैद्य ने आकर बताया कि जलविहार के श्रम के कारण ही इसके अंगों में शैथिल्य आ समाया है और इसे नजर भी लग गयी है परन्तु भय का कारण नहीं है।

तदनन्तर पार्वतीजी के वचनानुसार उषा ने यथासमय अनिरुद्ध को स्वप्न में देखा और स्वयं का कौमार्यभंग की अवस्था में देख सखी चित्रलेखा से समस्त वृत्तान्त कहा। (यहाँ भी चित्रलेखा यौगिक क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान रखती है तथा चित्रकला में दक्ष है।) अतः उषा की इच्छानुसार वह अनिरुद्ध के समीप जा पहुँची। उसके यह कहने पर कि

उषाया मम सख्यास्तु वाक्यं वक्ष्यामि तत्त्वतः।
स्वप्ने तु या दृष्टा स्त्री भावं चापि भाविता॥[2]

अनिरुद्ध ने बताया—

चित्रलेखा वचः श्रुत्वा सोऽनिरुद्धोऽब्रवीदिदम्।
दृष्टा स्वप्ने मया सा हि तन्मनः शृणु शोभने॥
रूपं कान्तिं मतिं चैव संयोगं रुदितं तथा।
एवं सर्वमहोरात्रं मुह्यामि परिचिन्तयन्॥[3]

इस प्रकार दोनों ही एक-दूसरे को स्वप्न में देखकर एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हो गये थे। अनिरुद्ध ने चित्रलेखा से, स्वयं को उषा के पास ले चलने की प्रार्थना भी की थी। इसके अतिरिक्त यहाँ नारद मुनि के द्वारा तामसी विद्या ग्रहण करके चित्रलेखा के द्वारकापुरी में प्रवेश पाने का वर्णन भी है।

इसके उपरान्त की घटनाएँ भागवत पुराण के सदृश हैं—द्वाररक्षकों के द्वारा अपनी पुत्री उषा के दूषित होने का समाचार पाकर वाणासुर अनिरुद्ध से युद्ध करता है। नागपाश से बाँधे जाने पर अनिरुद्ध, आर्यादेवी की स्तुति करके पाश से मुक्ति पाता है। उधर श्रीकृष्ण अनिरुद्ध की सब ओर खोज करवाते हैं। अंततः नारद से सब समाचार पाकर गरुड पर आरूढ होकर शोणितपुर जा पहुँचते हैं तथा वाणासुर के साथ उनका भयंकर युद्ध होता है। युगल ज्वरों के युद्ध की घटना यहाँ भी वर्णित है। वाणासुर परास्त होता है और तब वह

---

१ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अ० ११७ श्लोक १६ १९

२ वही अ० ११९ श्लोक ३८

३ वही अ० ११८ श्लोक ४८ ४९

सहर्ष अपनी कन्या अनिरुद्ध को प्रदान करता है।

अन्तर

नाटक तथा प्रस्तुत पुराण में वर्णित इस आख्यान की घटनाओं में अन्तर निम्न लिखित है—

१ नाटक में उषा से स्वप्न में पति के दर्शन तथा समागम की बात पार्वती द्वारा नहीं कहलायी गई है। महादेवजी तथा पार्वतीजी के विहार की घटना का उल्लेख भी लेखक ने नाटक में नहीं किया है।

२ हरिवंशपुराण में उषा की सखी चित्रलेखा का नाम 'रामा' भी है।[1] उसका चित्रलेखा नाम उसके चित्रलेखा अप्सरा के अंश से उत्पन्न होने के कारण ही पड़ा था[2]—नाटक में चित्रलेखा के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं है।

नाटक के शेष सब प्रसंग हरिवंशपुराण के समान है।

विष्णुपुराण

विष्णुपुराण[3] में वर्णित आख्यान 'उषा चरित्र' में उषा का अनिरुद्ध के साथ स्वप्न में समागम पार्वतीजी के कथनानुसार होता है। पार्वतीजी को शिवजी के साथ रमण करते देख कर ही उषा के मन में पुरुष सहवास की इच्छा जागृत होती है। योगगामिनी चित्रलेखा सात आठ दिन में चित्र प्रस्तुत कर उषा को दिखाती है और तत्पश्चात अनिरुद्ध को द्वारकापुरी से लाती है। यहाँ भी चित्रलेखा को 'अप्सरा' ही कहा गया है।[4]

शेष सम्पूर्ण विवरण युद्ध इत्यादि उपर्युक्त अन्य पुराणों के समान ही है।

शिवपुराण

शिवपुराण[5] में यह कथा इस प्रकार है—

एक समय नदी के तट पर देवियों तथा देवताओं के साथ क्रीडा करते हुए सुरम्य वातावरण में, शिवजी का पार्वती के सम्पर्क की इच्छा हुई तो उन्होंने नन्दी को भेजकर पार्वती का सुसज्जित रूप में बुलाने के लिए भेजा। पार्वतीजी को (नन्दी की पुनः पुनः प्रार्थना पर भी) शृंगार में देर करती देख सब अप्सराओं ने शिवजी को आतुर देखा, तो पार्वतीजी का वेष धारण कर शिवजी से रमण करना चाहा किन्तु फिर वे साहस छोड़ बैठीं। बाणासुर के प्रधानमन्त्री कुम्भाण्ड की पुत्री चित्रलेखा ने भी पार्वतीजी का रूप बनाया किन्तु अन्य अप्सराओं के रूप को देख और उनके भाव को जान अपने वैष्णव योग से उसने अपना रूप छिपा लिया। तब बाणासुर की पुत्री उषा ने पार्वतीजी के सुंदर रूप को धारण

१ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अध्याय ११८
२ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अ० ११८ श्लोक ४२
३ विष्णुपुराण अंश ५ अ० ३२ ३३
४ वही पंचम अंश अध्याय ३३।५
५ शिवपुराण शिवाय रुद्र संहिता पंचम (युद्ध खण्ड) अध्याय ५१ ५६

लिया। उस कन्या के रमण करने के स्वप्न को जानकर पार्वतीजी बोलीं कि 'देवताओं के द्वारा निश्चित पति के साथ तू शीघ्र ही रमण करेगी।'"[1]

शेष कथा अन्य पुराणों के सदृश ही है, अन्तर केवल निम्नलिखित रूप में है—

अन्तर

१ इस पुराण में युद्ध के अवसर पर शिवजी ने श्रीकृष्णजी से स्वयं कहा कि वे उन पर जृम्भणास्त्र[2] छोड़ें, जिससे वे युद्ध से विरत हो जाएँ और श्रीकृष्ण बाणासुर से डटकर युद्ध कर सकें।

२ इस कथा के अनुसार उषा अनिरुद्ध सम्बन्धी इस समस्त काण्ड के घटने का कारण एक यह भी था क्योंकि बाणासुर कोई भयंकर युद्ध चाहता था जिससे उसकी सहस्र भुजाओं की खुजलाहट दूर हो सके। तभी शिवजी से प्रेरित हुए काल ने उषा को स्वप्न दिखाया।[3] इसके अतिरिक्त शिवजी ने श्रीकृष्णजी से युद्धान्त पर स्वयं कहा कि बाणासुर ने अपनी भुजाओं को खुजलाकर अपनी शक्ति का भूल गर्वित हो मुझसे यह वर माँगा था कि मुझे युद्ध दो, इसीलिए मैंने उसे यह शाप दिया था कि थोड़े ही समय में तेरी भुजाओं को काटने वाला कोई आएगा।[4]

ब्रह्मवैवर्त पुराण

ब्रह्मवैवर्त पुराण[5] में भी उषा अनिरुद्ध आख्यान का स्वरूप पूर्व उल्लिखित आख्यानों से कई अंशों में भिन्न है। प्रमुख अन्तर निम्नांकित हैं—

१ इस पुराण में भी उषा अनिरुद्ध एक दूसरे के प्रति आसक्त हैं और दोनों ही एक दूसरे को स्वप्न में देखते हैं परन्तु यहाँ सर्वप्रथम अनिरुद्ध स्वप्न देखता है। स्वप्न का रूप भी पूर्व उल्लिखित स्थलों से कुछ भिन्न है। इसका स्वरूप यहाँ इस प्रकार है—

एक बार अनिरुद्ध ने स्वप्न में एक सुसज्जित कामिनी को देखा जो केयूर वलय कुण्डल कंकण इत्यादि से सुशोभित थी। उसके अतुलित एवं अकल्पित सौन्दर्य को देखकर अनिरुद्ध ने उस युवती से उसका परिचय पूछा और उससे रमण के लिए प्रार्थना की।[6] कामिनी ने स्वप्न में ही उसे समझाया कि विवाह द्वारा ही हम दोनों का संयोग उचित तथा हितकर होगा। अपना परिचय देते हुए उसने बताया कि 'मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ यदि तुम मुझे प्राप्त करने के लिए इच्छुक हो, तो मेरे पिता से मुझे माँग लो।' और यह कहने के साथ ही

---

१ शिवपुराण अध्याय ५२ श्लोक ५६ ५६
२ वही रुद्र संहिता पंचम अध्याय ५४ श्लोक ६
३ शिवपुराण रुद्रसंहिता पंचम (युद्ध खण्ड) अध्याय ५२ श्लोक २७ २६
४ वही रुद्रसंहिता पंचम (युद्ध खण्ड), अ ५५ श्लोक ३६ ४०
५ ब्रह्मवैवर्त पुराण श्रीकृष्णजन्म खण्ड अ० ११४ १२०
६ वही अध्याय ११४।११६

वह सुंदरी गर्भवती हो गई।[1]

इसके उपरान्त अनिरुद्ध ने आहार निद्रा सब-कुछ त्याग दिया और रात दिन उस युवती के चिंतन में ही रमा रहने लगा। श्रीकृष्ण ने जब अपने पौत्र की यह दशा देखी तो विचारा कि—

> स्वप्नं च दर्शयामास सानिरुद्धं च पार्वती।
> मम पौत्रं प्रमत्तं च चकार कौतुकेन च॥
> तत्पुत्रीं च प्रमत्ता तां करोमि स्वप्नतोऽधुना।
> स्वच्छन्दं तिष्ठतु चिरं नास्ति चिन्ता मनोयथा॥[2]

परिणामस्वरूप उषा ने भी अनिरुद्ध को स्वप्न में देखा तथा वह भी अनिरुद्ध को स्मरण कर कामानुरक्त बन गयी।

२ इसके उपरान्त जो कथा चलती है वह भी अन्य पुराणों से भिन्न है। अपनी सखी की यह दशा देखकर चित्रलेखा (उषा की सखी) ने उषा के पिता से सब वृत्तांत कहा। उधर महादेव ने चित्रलेखा योगिनी को चुपके से अनिरुद्ध को द्वारका से लाने का आदेश दिया जिससे बाणासुर न जान पाये क्योंकि पार्वती ने ही अनिरुद्ध को स्वप्न दिखाकर वह स्थिति उत्पन्न की थी।

३ बाणासुर को रक्षकों के द्वारा पुत्री के गर्भवती होने की सूचना मिली तो वह अनिरुद्ध को मारने के लिए उद्यत हो गया। महादेव तथा पार्वती के समझाने पर भी बाणासुर अपने निश्चय से नहीं हटा श्रीकृष्ण द्वारा मारे जाने का भय भी उसे भयभीत नहीं कर सका। उसने कहा—

> नाप्राप्तकाले म्रियते विद्धः शरशतैरपि।
> क्षणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति॥
> रणेऽनिरुद्धं हत्वा च घातयिष्यामि कन्यकाम्।
> अन्यथा ज्वलदग्नौ च त्यक्ष्यामि च कलेवरम्॥[3]

४ युद्ध का वर्णन यहाँ अत्यन्त विस्तृत है। प्रथम अनिरुद्ध से ही बाणासुर का युद्ध हुआ है तदुपरान्त श्रीकृष्ण सेना तथा अपने साथियों सहित स्वयं पहुँचे। बाणासुर का दुराग्रह देखकर उन्होंने अपने चक्र का प्रहार किया जिससे बाणासुर निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा। बाणासुर की यह दशा देखकर शिवजी उसे अपने वक्ष से लगाकर रोने लगे तब विष्णु ने बाणासुर को मृत्युंजय ज्ञान प्रदान किया जिससे पराजित होकर उसने अपनी कन्या, अनेक मूल्यवान उपहारों के साथ अनिरुद्ध को भेंट कर दी। यहाँ बाणासुर की सहस्र भुजाएँ कटने का विवरण नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्मवैवर्त पुराण की कथा अन्य पुराणों से मूलतः भिन्न न होते हुए भी

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्णजन्म खण्ड) अध्याय ११४ श्लोक २६ ३०, ३१ ३३
२ वही अ० ११४ श्लोक ४० ४१
वही अध्याय ११४ श्लो० ३६, ४२

स्वरूपत भिन्न है।

महाभारत

उषा अनिरुद्ध की कथा अन्य स्थलों की अपेक्षा महाभारत[1] में अति संक्षिप्त है। कथा मूलत अन्य पुराणों के ही सदृश है किन्तु कुछ अन्तर भी दीख पड़ते हैं जो इस प्रकार हैं—

अन्तर

१ महाभारत मे उषा तथा अनिरुद्ध के आख्यान में स्वप्न की घटना का उल्लेख नही मिलता। वहा कथा का आरम्भ उषा के साथ गुप्त रूप से रहने के कारण अनिरुद्ध को बन्दी बना लेने की घटना से होता है।[2]

२ महाभारत मे, श्रीकृष्ण के द्वारा बाणासुर के मूल्यवान रत्नों को हर ले जाने का प्रसग भी प्राप्त होता है,[3] जो पुराणों तथा नाटक की घटनाओं से बिल्कुल भिन्न है।

३ यहा बाणासुर तथा अनिरुद्ध के युद्ध का वर्णन नही है किन्तु शिव और विष्णु के युद्ध का सकेत है।

मूल प्रसगों में अन्य स्थलों के समान होते हुए भी, महाभारत की इस कथा का नाटक की अधिकाश घटनाओं मे साम्य नही बैठता। नाटक के केवल दो प्रसग, अनिरुद्ध और उषा का गुप्त सम्बन्ध तथा अनिरुद्ध को बन्दी बनाना ही यहा मिलते हैं।

इस प्रकार नाटक के कुछ-न-कुछ अश सभी पुराणों एव महाभारत में मिल जाते हैं, किन्तु नाटक में चित्रित उषा अनिरुद्ध के द्वारा एक दूसरे को स्वप्न मे देखे जाने वाली घटना केवल हरिवशपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में ही प्राप्त होती है। अतएव यद्यपि पूर्व उल्लिखित समस्त ग्रंथ नाटक के आधारस्थल हैं तथापि हरिवशपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण की कथा नाटक से अधिक साम्य रखती है।

विवेचन

उषाहरण नाटक में पौराणिक घटनाओं की पर्याप्त रक्षा हुई है इसमें कोई सन्देह नही है, किन्तु नाटक के कथानक को दृष्टि में रखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नाटक का शीर्षक कथा के अनुरूप नही है क्योंकि अन्त में यह विवाह दोनो कुलों की सम्मति से हर्षपूर्वक सम्पन्न होता है। हरण शब्द में बलपूर्वक उठा ले जाने का भाव निहित है उषा अनिरुद्ध के विवाह के समय (नाटक की कथा के अनुसार), किसी प्रकार की गोपनीयता तथा दोनो कुलों में दुर्भावना शेष नही रह जाती। पुराणप्रसिद्ध यह घटना रुक्मिणी हरण की उस घटना से एकदम भिन्न है जहा श्रीकृष्ण के द्वारा रुक्मिणी, गौरी

---

१ महाभारत सभापर्व (अर्घाभिहरण पर्व) अध्याय ३८

२ वही अध्याय ३८ श्लोक संख्या यहाँ नही है।

३ वही मोदयित्वाथ गोविन्द प्राद्युम्नि सह भार्यया।
बाणस्य तत्र रत्नानि असख्यानि जहार स ॥—अध्याय ३८

पूजा के अवसर पर वाटिका से चुरा ली जाती है।

भागवतपुराण में यह प्रसंग 'उषा अनिरुद्ध मिलन' के नाम से वर्णित किया गया है। अन्य पुराणों में भी इस घटना को 'उषाहरण' की संज्ञा नहीं दी गयी है। इस प्रकार 'उषा अनिरुद्ध मिलन' अथवा 'उषा विवाह' नाम इस नाटक के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता था।

उषा नाटक[1]

धनश्यामदास मिश्र लिखित चार अंकों का यह नाटक 'उषा अनिरुद्ध' की प्रणयकथा पर आधृत लिखा गया एक साहित्यिक नाटक है। इसमें भी इस कथा को विवाह तक न लाकर न इस नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। बीच बीच में अवान्तर प्रसंग भी जोड़ दिये गए हैं। मुख्य कथा से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। इन में से प्रसंग, मूल कथा के आगे के सूत्र अभिव्यक्त सूचनाएँ देकर उसे आगे बढ़ाते हैं और कहीं-कहीं और नाटक के आगे कथा की कड़ियाँ जोड़ते चलते हैं।

कथानक

प्रस्तुत नाटक का कथानक 'उषाहरण' नाटक के समान ही है, केवल कुछ स्थलों पर अन्तर है जो निम्नलिखित है—

प्रारम्भ में अपनी प्रचण्ड शक्ति से बाणासुर शंकर से यह वर प्राप्त करता है और शक्ति मद से चूर में हुए शंकरजी पार्वतीजी के साथ रहते हुए उसके नगर की रक्षा करते हैं। पार्वतीजी कैलाश जाना चाहती हैं परन्तु पति के कारण उन्हें यहाँ रहना पड़ता है। इस नाटक में बाणासुर अपनी असंख्य शक्ति से गर्वित है। उसकी भुजाएँ किसी से युद्ध करने के लिए आकुल हैं। शंकर उसके तेज का भ्रम दूर करते हैं और कहते हैं कि जिस दिन तुम्हारी ध्वजा अपने आप टूटकर गिर पड़ेगी उस दिन तुम्हारी निश्चित पराजय होगी।

आधार

इस नाटक के आधारस्थल उषाहरण नाटक के आधारस्थलों के समान हैं। बाणासुर ने शिवजी से अपने नगर की रक्षा करने का वरदान किस प्रकार प्राप्त किया यह प्रसंग कुछ विशेष स्थलों पर ही उपलब्ध होता है। इस प्रसंग के आधारभूत स्थलों का रूप इस प्रकार है—

---

१ प्रकाशक लक्ष्मीनारायण ज्योतिषी जनकगंज लश्कर ग्वालियर।

वर याचना के लिए कहा तो उसने शिव पार्वती का पुत्रत्व प्राप्त करने की कामना की। शिवजी ने तदनुसार ही वर दिया तथा कार्तिकेय ने प्रसन्न होकर उसे अग्नि के तुल्य तेजस्वी ध्वज तथा तेज से प्रकाशित मयूर को वाहन के रूप में प्रदान किया। महादेवजी के तेज से सुरक्षित हुए बाणासुर के सामने युद्ध में न तो देवता ठहर सकते थे, न गन्धर्व, न यक्ष और न नाग।

यहाँ शिवजी नाटक के अनुसार स्वयं नहीं अपितु अपने तेज से बाणासुर की रक्षा करते है।[1] बाणासुर के अतुल बल के सम्बन्ध में हरिवंश पुराण में भी प्रसंग का रूप भागवत के समान है—

ध्वजस्यास्य यदा भगस्तव तात भविष्यति।
स्वस्थाने स्थापितस्याय तदा युद्धं भविष्यति ॥[2]

शिवपुराण

बाणासुर के नगर शोणितपुर में शिवजी के निवास करने का प्रसंग शिवपुराण में[3] भी उपलब्ध होता है। बाणासुर ने अपनी सहस्र भुजाओं के वाद्य तथा ताण्डवनृत्य के द्वारा यहाँ भी शिवजी को प्रसन्न किया है और प्रतिदान में अपने नगर में ही निवास करने का वरदान पाया है।[4]

शिवपुराण में बाणासुर के द्वारा युद्ध की आकांक्षा किए जाने वाला प्रसंग भागवत पुराण के समान ही है।[5] विष्णुपुराण महाभारत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में शिवजी के द्वारा बाणासुर की अथवा उसके नगर की रक्षा के लिए जाने का कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं है। हाँ मयूर चिह्न ध्वज टूट जाने पर तुझे आनन्द देनेवाला युद्ध होगा—शिवजी का बाणासुर के प्रति यह कथन विष्णुपुराण में अवश्य मिलता है।

उषाहरण नाटक के सदृश इस नाटक में भी शिव तथा श्रीकृष्ण का युद्ध नहीं घटता। शंकरजी के आदेश मात्र से युद्ध समाप्त हो जाता है और इन्हीं के कहने से उषा और अनिरुद्ध का विवाह कर दिया जाता है।

विवेचन

अन्य पौराणिक कथाओं के अनुरूप ही इस नाटक की कथा है। नाटककार के द्वारा कोई मौलिकता अथवा नूतनता लाने का प्रयत्न यहाँ नहीं दीख पड़ता। प्रस्तुत नाटक के आधारस्थलों में से केवल शिवपुराण में ही उषा का शिव के प्रति दाम्पत्य आरोपण दिखाया है अन्यथा सर्वत्र यह भाव पूज्य भाव के साथ मिश्रित है। अन्य नाटकों की अपेक्षा यह नाटक संक्षिप्त है इसलिए घटनाओं का विस्तार नहीं हो पाया है। यह भक्तिरस प्रधान

---

१ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अ० ११६ २३
२ वही अ० ११७ ३१
३ शिवपुराण द्वितीय रुद्रसंहिता पंचम (युद्धखण्ड) अ० ५१ ५६
४ वही रुद्रसंहिता पंचम (युद्धखण्ड) अ० ५१ श्लोक २५ २६
५ वही रुद्रसंहिता पंचम (युद्धखण्ड) अ० ५२ श्लोक १ १७

नाटक है। बीच-बीच में राग रागिनियों की भरमार है। भाव परिष्कृत तथा भाषा परिमार्जित है। पात्रों के अनुसार कहीं कहीं ब्रजभाषा का प्रयोग भी किया गया है, सामान्यत भाषा खड़ी बोली है।

उषा-अनिरुद्ध[1]

मुंशी आरज़ू साहब लिखित उषा अनिरुद्ध नाटक प्रकाशन क्रम से इस कड़ी का तीसरा नाटक है।

कथानक

कथा चिरपरिचित तथा अन्य नाटकों के सदृश ही है किन्तु प्रारम्भ और प्रस्तुतीकरण में नूतनता है।

नाटक का आरम्भ वसन्त बहार से होता है। वसन्त अपने सहायक मदन की सहायता करता है। समस्त वन उपवन पल्लवित पुष्पित और सुरभित हो जाता है। एक विचित्र प्रकार की चंचलता एवं मादकता से परिपूर्ण वातावरण सारे क्षेत्र में छा जाता है। मदन कहता है कि राजकुमारी उषा के मन में यौवन की एक ऐसी तरंग भर देनी है कि वह अपने प्रेमी को पाने के लिए आतुर हो उठे। उसका पिता जिसे अपना शत्रु समझता है उसी परिवार का युवक उषा का पति बनेगा। ऐसी भविष्यवाणी भी मदन ही करता है।

अन्य नाटकों से इस नाटक में यह भी अंतर है कि बाणासुर की पुत्री उषा शिव और पार्वती को गंगा में जल विहार करते हुए देखती है और उसके मन में भी साथी पाने के लिए आकांक्षा जाग्रत हो उठती है। निशा समाप्ति के उपरान्त विदा करते समय पार्वती उससे कहती हैं 'तुम्हारा भावी पति तुम्हें स्वप्न में आकर मिलेगा तुम उसे दुल्हा बनाना।" द्वारका में भी वसन्त और मदन अपने कार्य में तत्पर हैं। अनिरुद्ध सात मौन परम सुन्दरी रमणी उषा को देखता है। प्रमामत्त बन वह अकेले में बड़बड़ाता है और कुछ खोजता सा रहता है। पिता प्रद्युम्न पुत्र की यह दशा देखकर चिन्तित होते हैं और समझाने का प्रयत्न करते हैं।

उषा भी स्वप्न में अनिरुद्ध को देखती है। मदन भी अपने कर्तव्य के प्रति सजग है। यहां उषा की सखी का नाम चित्रलेखा नहीं अपितु चित्ररेखा है जो सखी के उद्विग्न होने पर उसे सौ चित्रों की एक पुस्तक जिसमें देव गंधर्व आदि सभी प्रमुख व्यक्तियों के चित्र हैं दिखाती है। उषा उन चित्रों में से अनिरुद्ध को पहचान लेती है। तत्पश्चात चित्ररेखा स्थान तथा व्यक्ति दोनों से परिचित होने के कारण विमान लेकर द्वारका पहुंचती है। वहां के

1 प्रकाशक उपन्यास बहार आफिस काशी प्र० सं० सम्वत् १९२५

वेष में होने के कारण उसे कोई नहीं पहचान पाता। कुमार को सम्पूर्ण कथा सुनाकर वह उसे अपने साथ ले आती है, किन्तु शोणितपुर में पहुँचने पर बाणासुर उसे अपना बन्दी बना लेता है।

उषा व दीर्घिका में अनिरुद्ध से मिलने के लिए छिपकर जाती है। बाणासुर को किसी प्रकार यह ज्ञात हो जाता है। वह पुत्री को समझाता है किन्तु उषा अनिरुद्ध का त्याग करने के लिए उद्यत नहीं होती। बाणासुर कुमार अनिरुद्ध को मारने के उपाय करता है किन्तु उसी समय कृष्ण सेना सहित पहुँच जाते हैं। बाणासुर परास्त हो जाता है और उषा अनिरुद्ध का विवाह हो जाता है।

आधार

आरजू साहब के इस नाटक के आधार मूल रूप से पूर्व उल्लिखित सब पुराण हैं परन्तु कथा का यह रूप अधिकांश में केवल हरिवंशपुराण[1] और ब्रह्मवैवर्त पुराण[2] में ही उपलब्ध है।

नाटककार ने नाटक के सृजन में कल्पना का उपयोग भी प्रचुर मात्रा में किया है। रंगमंचीय होने के कारण नाटक का आरम्भ लेखक द्वारा अति आकर्षक ढंग से किया गया है। वसन्त का मादक वातावरण दर्शकों को प्रारम्भ में ही आकर्षित कर लेता है।

विवेचन

इस नाटक की प्रमुख विशेषता यह है कि नाटककार ने अस्वाभाविक तथा असंगत चीजों को प्रयत्नपूर्वक हटा दिया है। साथ ही कथा को भी विस्तृत होने से बचा लिया है। सम्भवतः युग की प्रवृत्ति ने ही लेखक को इस दिशा में सचेत रखा है। उदाहरणार्थ चित्ररेखा यहाँ विशिष्ट प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त योगिनी के रूप में नहीं दीख पड़ती वह उड़कर द्वारकापुरी पहुँचने की अस्वाभाविक सामर्थ्य नहीं रखती। एक विमान के द्वारा वस्तुतः में वह अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचती है और अनिरुद्ध के समक्ष वस्तुस्थिति प्रस्तुत कर उसे अपने साथ ले आती है।

भागवत पुराण में[3] अनिरुद्ध के द्वारा विकट रूप से युद्ध किए जाने पर वह बाणासुर के द्वारा नागपाश से बाँध लिया जाता है। हरिवंश पुराण[4] में भी अनिरुद्ध को सर्पाकार बाणों द्वारा चारों ओर से बाँधे जाने की घटना है। इसी प्रकार विष्णुपुराण[5] में भी नागपाश द्वारा अनिरुद्ध बँधता है—इस प्रसंग को प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने अनिरुद्ध को साधारण रूप से बन्दी बनाए हुए दिखाकर समाप्त कर दिया है जो अति स्वाभाविक और व्यावहारिक है।

---

१ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अ० ११६ १२३
२ ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्ण जन्मखण्ड अ० ११४ १२०
३ भागवत पुराण दशम स्कन्ध (उत्तरार्द्ध) अ० ६३ श्लोक १२
४ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अ० ११६ श्लोक १०३
५. विष्णु पुराण पंचम अंश अ० ३३ श्लोक ६

हरिवंशपुराण में[1] इस नागपाश से मुक्ति का प्रकरण भी अलौकिक है। आर्यदेवी की विस्तृत स्तुति करने पर ही अनिरुद्ध मुक्त हो पाता है किन्तु नाटक में उषा के द्वारा अनिरुद्ध से मिलन जाना, पिता के आग्रह पर भी प्रेमी को त्यागने के लिए प्रस्तुत न होना आदि से क्रुद्ध होकर पिता का उस पुत्र का मारने के लिए उद्यत हो जाना और तभी श्रीकृष्ण की ओर से सैनिक सहायता का पहुँचना और इस प्रकार प्रेमी प्रेमिका का मिलन सम्भव हो जाना—इत्यादि घटनाएँ कौतूहलपूर्ण होने के साथ ही साथ अति स्वाभाविक एवं परिस्थिति के अनुकूल भी हैं। इस दृष्टि से यह नाटक अति सफल एवं अभिनेय है।

उषा-अनिरुद्ध[2]

राधेश्याम कथावाचक लिखित चतुर्थ नाटक 'सूर विजय नाटक समाज' के लिए रचा गया था। यह नाटक अभिनीत भी हो चुका है। इस प्रेमप्रधान नाटक की कथा पुराणों की कथा तथा उपाहरण और उषा नाटक के सदृश ही है। उषा की सखी चित्रलेखा यहाँ भी अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न है। उषा इस नाटक में भी स्वप्न दर्शन के कारण अनिरुद्ध के प्रति आसक्त है और उसकी प्राप्ति के लिए अधीर है।

इस नाटक के आधार भी पूर्वलिखित नाटकों के आधारस्थलों के समान हैं।

अन्य नाटकों तथा पुराणों की मूल-कथाओं से इस नाटक की कथा में यही अन्तर है कि यहाँ श्रीकृष्ण युद्ध में कोई भाग नहीं लेते।

विवेचन

यद्यपि इस नाटक का प्रकाशन काल उपर्युक्त सम्पूर्ण नाटकों के अन्त में पड़ता है तथापि घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में नाटककार ने केवल एक स्थल को छोड़कर कहीं भी कोई नूतन बौद्धिक दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं किया है।

हरिवंशपुराण[3], भागवत पुराण[4] विष्णु पुराण[5], शिवपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त[6] पुराण में वैष्णव ज्वर (श्रीकृष्ण द्वारा अधिष्ठित) तथा माहेश्वर ज्वर (शिवजी के द्वारा प्रेरित) के पारस्परिक युद्ध का वर्णन है। प्रस्तुत घटना को नाटककार ने इस नाटक में शैव तथा वैष्णवों

१ हरिवंश पुराण विष्णुपर्व।
२ प्रकाशक लेखक स्वयं राधेश्याम पुस्तकालय बरेली १९३२ ई०
हरिवंश पुराण विष्णुपर्व अ० १२१।७१ से १२३ पर्यन्त
४ भागवत पुराण दशम स्कन्ध अ० ६३।२२ २४
५ विष्णु पुराण पंचम अंश अ० ३३।१४ १८
६ शिवपुराण द्वितीय रुद्रसंहिता (युद्ध खण्ड) अ० ५४।२६ १
■ ब्रह्मवैवर्त पुराण श्रीकृष्णजन्म खण्ड अ० १२ ।५ २४

के मत मतान्तर के वाद विवाद का सुन्दर रूप दे दिया है और इस प्रकार यह प्रसंग नाटक का उपाख्यानक जमा बन गया है। नाटक में बाणासुर नरक ही के कारण ही कन्या अनिरुद्ध से पुत्री का विवाह नहीं करना चाहता। इस पौराणिक घटना का यह नया रूप देकर लेखक ने इसे अधिक तर्कसंगत बना दिया है। इस घटना के समावेश से इस नाटक का विस्तार अवश्य अधिक हो गया है किन्तु इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार मुख्य कथानक का सौन्दर्य पर्याप्त बढ़ा है।

नाटक की शेष घटनाओं का नगर में पौराणिक रूप ही रहने दिया है। आरजू साहब के नाटक के सदृश इस नाटक में युग की बौद्धिकता एवं तार्किकता का नाटककार पूर्णरूपेण पहचान नहीं पाया है।

उपर्युक्त सभी नाटकों के कथानक कुछ विशिष्ट स्थलों को छोड़कर लगभग सर्वत्र एक समान हैं। अतएव इनके आधार भी समान हैं। हाँ आरजू साहब का नाटक इस दृष्टि से अन्य नाटकों से भिन्न है कि अन्य नाटकों में पौराणिक कथानक एवं वातावरण दोनों ही प्रमुख हैं जबकि आरजू साहब का उषा अनिरुद्ध नाटक अपने साथ तार्किक दृष्टि लेकर चला है। इसका कारण इन नाटकों का रचनाकाल ही कहा जा सकता है। उषा नाटक तथा उषाहरण नाटक १८९१ तथा १९०६ सन के हैं जबकि आरजू साहब लिखित उषा अनिरुद्ध नाटक सन १९२५ में प्रकाशित हुआ है। इस युग में दृष्टि अन्धविश्वासों एवं शुद्ध धार्मिक भावना से मुक्त हो बौद्धिकता के नये क्षितिजों को छूने लगी थी। अतः रचनाकार ने युग की प्रवृत्ति को पहचानकर नाटक की कथा का कल्पना के समावेश से एक नया रूप प्रदान किया है। यह दूसरी बात है कि राधेश्याम कथावाचक अपने नाटक (प्रकाशन काल १९३२) की कथा में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत नहीं कर पाये। इसके लिए उनका धार्मिक दृष्टिकोण तथा पौराणिक प्रसंगों की रक्षा करने का तथ्य ही उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। यों वे भी एकदम युग की उपेक्षा नहीं कर पाये हैं ज्वरों के युद्धवाली घटना को मत मतान्तरों के विवाद के रूप में प्रस्तुत करना उनकी अद्भुत सूझ-बूझ का परिचायक है।

कर्त्तव्य[1]

कृष्णचरित की अति विस्तृत कथा को सेठ गोविन्ददासजी ने पाँच अंकों के इस छोटे से नाटक में दिखाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें बड़े कौशल से काम लेना पड़ा है। कृष्णचरित का कोई भी भाग उनके द्वारा अछूता नहीं छोड़ा गया है यहाँ तक कि पात्रों के वार्तालाप में कथा के वे सब अंश भी आ गये हैं जिन्हें अभिनय में दिखाना सम्भव नहीं था।

---

१ प्रकाशक महाकोशल साहित्य मन्दिर गोपाल बाग जबलपुर द्वितीय स० १९९२

कथानक तथा आधार

यह नाटक पौराणिक है, किन्तु इसकी कथा का स्रोत कोई एक ग्रन्थ नहीं है। महाभारत के अतिरिक्त हरिवंश, भागवत, विष्णु एवं ब्रह्मवैवर्त पुराणों में कृष्णचरित का पर्याप्त विस्तार मिलता है। लेखक इन पुराणों में वर्णित कृष्णचरित से परिचित है। उसका यही प्रयत्न रहा है कि कृष्णचरित की कोई प्रमुख घटना छूटने न पाये। इतना ही नहीं, गीता के उपदेश की मुख्य मुख्य बातों का सन्निवेश भी कुछ पात्रों के कथोपकथनों द्वारा करवा दिया गया है। नाटक के आरम्भ में ही कृष्ण और राधा की बातचीत में, कृष्ण के मुख से फलानासक्ति, निष्काम्य, समत्व आदि के सिद्धान्तों की सुन्दर और सरल व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। वास्तव में कृष्ण का समस्त जीवन ही इन सिद्धान्तों की व्याख्या रहा है। उनका कार्यक्षेत्र चाहे मथुरा रहा हो, द्वारका रहा हो या कुरुक्षेत्र का युद्धस्थल, उन्होंने जो कुछ भी किया लोककल्याण की भावना से, अनासक्त होकर किया। यदि उनका कोई काम प्रचलित नीति, समाजनीति, युद्धनीति आदि की दृष्टि से कुछ अंश में विपरीत रहा भी तो लोक-मंगलकारी होने पर उन्होंने उसे अच्छा ही माना है। युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि की मृत्यु का दायित्व मुख्यरूप से उन्हीं पर आता है। इस कार्य में उनका स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं रहा। उन्होंने अनासक्त रूप से कार्य किये अतः वे उनके दोष से निर्लिप्त रहे।

उन्होंने कंस का वध किया, परन्तु मथुरा के सिंहासन पर उग्रसेन को बिठाया। राज्य का समस्त संचालन किया किन्तु फल के उपभोक्ता वे नहीं बने। द्वारका में भी राज्य की व्यवस्था की, किन्तु सम्राटपद प्राप्त नहीं किया। यदि वे चाहते तो कितने ही राज्यों का विध्वंस करके, उन्हें हस्तगत कर सकते थे किन्तु उन्होंने इस दृष्टि से कभी नहीं सोचा। अपने शत्रु के प्रति भी उनकी भावना सदा उदार और अनासक्त रही। उन्होंने एक से अधिक विवाह किये किन्तु उन विवाहों के मूल में भी उनकी सुख लिप्सा की अपेक्षा कर्तव्य भावना या लोकमंगल कामना ही प्रबल रही है। इस प्रकार इस समस्त नाटक में सर्वत्र ही श्रीकृष्ण के जनहितकारी कर्तव्य की व्याख्या ही परिलक्षित होती है।

श्रीकृष्ण विषयक इस कर्तव्य नाटक में भी सेठ गोविन्ददास ने श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित्रों की व्याख्या का भी रामविषयक कर्तव्य के समान मानवीय बनाने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है। वे अपने युग के असामान्य मानव थे, जिन्होंने सबमें स्वयं को देखा और स्वयं में सबको। उन्होंने समाज की स्थापना की, किन्तु समाज की अनुचित मर्यादाओं के विध्वंसक को धर्म समझा। श्रीकृष्ण के सम्मुख अहितकारी चिरन्तन मर्यादाओं और परम्पराओं का कोई महत्त्व नहीं है। वे उन्हें निरन्तर तोड़ते रहे। उनकी रक्षा की उन्होंने चिन्ता नहीं की।

कृष्णचरित के विपरीत रामचरित के काव्य में अच्छी और बुरी सभी प्रकार की मर्यादाओं की रक्षा करना उन्होंने अपना परम कर्तव्य माना और जीवन पर्यन्त अपना सर्वस्व देकर भी उसकी रक्षा की। दोनों ही महापुरुषों ने—एक ने सब प्रकार की मर्यादाओं को कर्तव्य समझकर उनकी रक्षा करने के द्वारा दूसरे ने अनुचित मर्यादाओं का ध्वस्त करके—स्वतन्त्र बौद्धिक चिन्तन का प्रशस्त पथ दिखाया।

मोरध्वज

ला० शालिग्राम वैश्य लिखित 'मोरध्वज'[1] पौराणिक नाटकों का एक प्रमुख नाटक है। इसमें नाटककार ने भगवान के प्रति अनन्य भक्ति की भावना व्यक्त की है। भक्ति के मार्ग में आने वाली विभिन्न कठिनाइयों का चित्रण तथा भक्ति का महत्त्व प्रदर्शित करना ही इस नाटक का उद्देश्य प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र का वक्तव्य दृष्टव्य है—

"इस मोरध्वज नाटक को मैंने आदि से अन्त तक पढ़ा। नाटककार ने पात्रों में इसमें भक्ति का अच्छा पूर्ण रूप से दरसाया है। यद्यपि इसमें करुण और शान्ति रस है तथापि यह भक्ति जीवनदान है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण की भक्तिपरायणता, राजा मोरध्वज का धर्म और साहस, पुत्र का पुत्रत्व, स्त्री का स्त्रीधर्म कि जिसको नाटककार ने इस प्रकार वर्णन किये हैं मानो यह सब कुछ उन्हीं आँखों के सामने हो रहा हो।"[2]

कथानक

रत्ननगर में राजा मोरध्वज का पुत्र ताम्रध्वज, प्रधान मन्त्री बहुगुप्त और दूसरे साथियों के साथ रत्नाकर की पुष्पवाटिका में भ्रमण कर रहा है। इसी समय दूर दिशा की ओर से युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का एक श्वेत अश्व नगर की ओर आता हुआ दिखाई देता है। उसके पीछे एक विशाल सेना को लिए बभ्रुवाहन, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नीलध्वज, सात्यकि प्रभृति वीरों और भगवान श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन सेना का संचालन कर रहे हैं। कुमार ताम्रध्वज अश्व को रोक लेता है। दोनों ओर से घमासान युद्ध होता है। ताम्रध्वज क्रमशः बभ्रुवाहन, सात्यकि, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि वीरों को पराजित कर देता है। उसकी वीरता और पराक्रम अद्भुत हैं। पाण्डव सेना का अपार संहार होता है। अन्त में अर्जुन के साथ उसका युद्ध होता है। उसके अद्भुत पराक्रम के आगे अर्जुन को भी हार माननी पड़ती है। भगवान श्रीकृष्ण बीच में पड़कर दोनों की लड़ाई को रोक देते हैं। ताम्रध्वज और अर्जुन दोनों ही भगवान के भक्त हैं अतः वे दोनों की रक्षा करते हैं।

ताम्रध्वज की इच्छा के अनुसार अपना पुत्र पौत्र और अर्जुन को लेकर उसके पिता राजा मोरध्वज को दर्शन देने के लिए श्रीकृष्ण नर्मदा के तट पर पहुँचते हैं, जहाँ वह अश्वमेध यज्ञ कर रहा है। यहाँ कृष्ण का अत्यधिक स्वागत सत्कार होता है। अर्जुन के मन में इस युद्ध के अनन्तर प्रश्न उठता है कि भगवान को तो वही सबसे अधिक प्रिय है फिर ताम्रध्वज युद्ध में किस प्रकार विजयी हुआ? भगवान कृष्ण समाधान करते हैं किन्तु उनको सन्तुष्टि नहीं होती कि मोरध्वज और ताम्रध्वज को भी भगवान के प्रति अनन्य भक्ति हो सकती है। उसके आग्रह से राजा मोरध्वज की परीक्षा ली जाती है।

---

१ प्रकाशक: श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, प्रथम संस्करण सं० १९४७, सन् १८९०

२ नाटक के अन्त में पृ० १३३ पर एक सम्मति

अर्जुन और श्रीकृष्ण, दो संतो का वेष बनाकर, मोरध्वज के दरबार में जाकर कहते हैं कि इधर को आते हुए हमारे पुत्र को वन के सिंह ने पकड लिया है। यदि तुम्हारे पुत्र का मांस उसे खाने के लिए मिल जाय तो वह उसे छोडने को तयार है। राजा के सामने विकट समस्या है। वह उनकी सहायता करने का वचन दे चुका है। परन्तु इस परिस्थिति में वह क्या करे? वह अपने शरीर को प्रस्तुत करता है, रानी को प्रस्तुत करता है पर सिंह को कुमार के अतिरिक्त कोई स्वीकार नहीं। राजा रानी के पास जाता है पर राजा से शिवि, दिलीप, परशुराम, हरिश्चन्द्र, दधीचि, कर्ण और नल इत्यादि महापुरुषों की कहानियां सुनने पर भी उसका धैर्य नहीं बधता। उसी समय ताम्रध्वज आता है। सम्पूर्ण वृत्तान्त जान कर वह अपने को बलि देने के लिए तयार हो जाता है, शरीर की नश्वरता का उपदेश देकर वह अपनी माता को भी तयार कर लेता है।

अब राजा रानी का ही आरा लेकर कुमार को चीरना है और शर्त यह होती है कि चीरते समय तीनों में से किसी की आंख से अश्रु न गिरे। दोनों चीरते हैं भगवान की कृपा से कुमार को किंचित भी कष्ट नहीं होता। कुमार की मृत्यु हो जाती है और साथ ही दोनों संत और मायिक सिंह अन्तर्धान हो जाते हैं। कुमार की पत्नी पति की चिन्ता में सती होना चाहती है। माता पिता भी अति दुःखी हैं, तभी भगवान श्रीकृष्ण पधारते हैं। कुमार के सिर पर अपना हाथ फेरते हैं और वह जीवित हो उठता है।

आधार

प्रस्तुत कथा जैमिनीय अश्वमेधपर्व[1] की कथा से पर्याप्त मिलती है। कुछ स्थलों पर जो अन्तर दीख पड़ते हैं वे इस प्रकार हैं—

अन्तर

१ कथा का प्रारम्भ यहां भिन्न प्रकार से है। अर्जुन और श्रीकृष्ण को अपने अनेक बाणों से मूर्छित कर ताम्रध्वज दोनों अश्वों के साथ अपने पिता के नगर रत्ननगर पहुँचता है जहां वह अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ करने के लिए प्रस्तुत है। अपने प्रधान मन्त्री बहुलध्वज से समस्त विवरण सुन, वह पुत्र पर अति क्रुद्ध होता है क्योंकि वह उसके आराध्य देव भगवान कृष्ण को छोड घोडा को ले आता है, जो एक प्रकार से भक्त के लिए कुछ महत्त्व नहीं रखते।[2]

२ श्रीकृष्ण (मूल कथा जैमिनीय अश्वमेधपर्व में) अपने पुत्र पौत्रों सहित किसी की प्रार्थना पर मोरध्वज को दर्शन देने नहीं जाते जैसा नाटक में दिखाया गया है वरन अचेतावस्था से मुक्त होकर मयूरध्वज की परीक्षा लेने की दृष्टि स्वयं पहुँचते हैं।[3]

३ कृष्ण ब्राह्मण के और अर्जुन उसके शिष्य के रूप में यज्ञस्थल पर आकर उपस्थित होते हैं। सिंह की कथा भी जैमिनीय अश्वमेधपर्व में नाटक की कथा के सदृश ही है किन्तु

---

१ जैमिनीय अश्वमेधपर्व अ० ४१-४६

२ वही अ० ४४

३ वही अ० ४५

मुख्य अन्तर, जो दोनो स्थलो की कथाओ मे दीख पडता है, वह यही है कि यहाँ ब्राह्मण वेषधारी कृष्ण मयूरध्वज के पुत्र की देह सिंह के लिए नही माँगते, अपितु मयूरध्वज की ही देह का दक्षिणार्ध भाग, अपने कल्पित पुत्र को जिलाने के लिए लेना चाहते हैं। यहाँ पत्नी पुत्र दोनो अपने को मयूरध्वज का अर्धांग बता अपनी अपनी देहो को प्रस्तुत करना चाहते है। नाटक मे माता पिता स्वय को समर्पित करना चाहते हैं और किसी प्रकार पुत्र को बचाने की चेष्टा करते हैं।[1]

४ नाटक मे पिता पुत्र और माता किसी की आँख मे आँसू नही दिखाया जाता। वे अपनी परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाते है, किन्तु जैमिनीय अश्वमेधपर्व मे[2] मयूरध्वज की बाई आँख मे से आँसू चू पडता है। ब्राह्मण वेषधारी कृष्ण ऐसे दान का लेना स्वीकार नही करते जिसका देने मे दाता को दुःख हो। मयूरध्वज तब कारण बताते हैं कि यह आँसू उस चिन्ता का द्योतक है कि मेरा दाया अंग तो ब्राह्मण के कार्य मे लगने के कारण सार्थक हो गया पर बायें अंग का अस्तित्व निष्फल हो गया। कृष्ण सुनकर अति प्रसन्न होते हैं और तीन दिन रत्ननगर मे ठहरते हैं।

शेष कथा यथावत है।

नाटककार ने मूल कथा की अतिरंजित घटनाओ को तर्कसगत रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न नही किया है। कथा ज्यो की-त्यो प्रस्तुत कर दी गयी है।

१ जैमिनीयअश्वमेधपर्व अ० ४५ श्लोक ०
२ वही अ० ४६, श्लोक ४४ ५४ पृ० २९६

उपसंहार

अब तक विवेचित नाटकों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से नाटक हैं जो उपर्युक्त धाराओं के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं, किन्तु स्थानाभाव तथा अधिक महत्वपूर्ण न होने के कारण उनका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सका है। प्रत्येक धारा के अन्तर्गत जिन नाटकों को लिया गया है वह केवल कथा के आधार पर ही। कालगत आधार उनके मूल में नहीं है। ऐसा आमुख में पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है। अतः प्रत्येक धारा के नाटक, परम्परा युग की डोर से चाहे न बंधे हों, किन्तु विषय या कथ्य का आधार उन्हें एक कक्ष में समेटे हुए है। यहाँ यह स्मरणीय है कि विषयगत अथवा कथागत आधार जहाँ उनकी समानता का कारण है, वहाँ उनकी असमानता का भी है। क्योंकि भले ही ये नाटक समान आधार वाली कथाओं को लेकर चले हैं किन्तु समय के विकास के साथ साथ उनकी दृष्टि भिन्न होती चली गयी है। दृष्टिभेद ने ही असमानता को जन्म दिया है। इस दृष्टिभेद के लिए नाटकों की सृजनकालीन परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी हैं। वस्तुतः कोई भी कृति सृजनकर्ता के व्यक्तिगत परिवेश अथवा भावात्मक मन्यूहन पर निर्भर रहती हुई भी अपने युग की उपेक्षा नहीं कर सकती। यही कारण है कि इन चार धाराओं के अन्तर्गत जितने भी नाटक हैं वे सब पौराणिक होते हुए भी युग सापेक्ष हैं। अतः सभी विवेचित नाटकों की सामान्य विशेषताओं का विश्लेषण युग के आधार पर करना ही सम्भव है। इस दृष्टि से पौराणिक नाटक तीन प्रमुख वर्गों में बांटे जा सकते हैं १ पूर्व भारतेन्दु युग २ भारतेन्दु युग ३ उत्तर भारतेन्दु युग।

पूर्व भारतेन्दु युग

इस युग के प्रमुख पौराणिक नाटकों की तालिका इस प्रकार है—

रामायण महानाटक, हनुमन्नाटक, जानकी रामचरित, आनन्द रघुनन्दन, नहुष, प्रद्युम्न विजय इत्यादि। इस युग के नाटककारों की दृष्टि केवल पौराणिक कथ्य के प्रस्तुतीकरण की ओर ही विशेष रही है। कथा में किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा परिवर्धन वे अपेक्षित नहीं समझते थे। कथा के प्रस्तुतीकरण में भी उन्होंने पुरानी संस्कृत नाट्य शैली का ही अनुसरण किया है। नान्दी, सूत्रधार, सन्धियाँ, अंक योजना तथा भरतवाक्य आदि कथा

वस्तु सम्बन्धी [illegible] रासलीलाओं की धारा उनका प्रभाव परिलक्षित होता है। गद्य और पद्य दोनों में से ब्रजभाषा के पद्य का प्रयोग इनमें किया गया है। [illegible] के लिए श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण नाट्य [illegible] पद्य में ही है।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग के कुछ पौराणिक नाटक निम्नलिखित हैं—

सीताहरण [illegible] सीता-स्वयंवर रामाभिषेक राम वनवास अनुसूयाचरित कृष्ण सुदामा रुक्मिणी हरण [illegible] [illegible] [illegible] रुक्मिणी परिणय [illegible] [illegible] [illegible] प्रभासमिलन [illegible] [illegible] प्रद्युम्नविजय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जनीय [illegible] दमयन्ती स्वयंवर अभिमन्युवध नील सावित्री सावित्री [illegible] चरित आदि।

इन नाटकों के [illegible] नाटककारों ने [illegible] का [illegible] [illegible] दन्तियों के आधार पर ही लिया है। मूल पुराणों का [illegible] उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। इनमें से अधिकांश नाटकों की रचना पूर्व भारतेन्दु युग के पौराणिक नाटकों के सदृश लीला पद्धति में ही की जानी उचित है। तथापि कुछ नाटककारों ने मूल ग्रन्थों के अध्ययन और मनन के उपरान्त ही ये नाटक लिखे हैं।

इस युग के जागरूक लेखक स्वयं को [illegible] दायित्व से युक्त हुआ मानते थे। वे रचना के माध्यम से, देश तथा समाज की तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण करते हुए किसी आदर्श की ओर भी दिशा निर्देश करना चाहते थे। भारतेन्दु ने अपने नाटक सत्य हरिश्चन्द्र के द्वारा सत्यवादिता तथा कर्तव्यपालन की जो पराकाष्ठा चित्रित की है उसका कारण, राजा तथा प्रजा में नैतिकता के विस्तार की भावना ही रही है। [illegible] भट्ट का वेनचरित नाटक, तत्कालीन वर्णव्यवस्था की समस्या को लेकर चला है। इस नाटक में उच्च तथा निम्न वर्ग के मध्य समायोजन की दृष्टि भी दीख पड़ती है। [illegible] सती नाटक नारी के [illegible] की कहानी है। नील सावित्री नाटक नारी के सतीत्व त्याग उदारता और अतिशय पातिव्रत्य धर्म का [illegible] है। आश्रम तथा वर्णव्यवस्था का समुचित संयोजन सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति आदि उद्देश्यों का सुधारक दृष्टिकोण लेकर ही इस युग के अधिकांश नाटकों की रचना की गयी है।

कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण में भी इस युग में पूर्वयुग की अपेक्षा अन्तर मिलता है। भारतेन्दु युग के पूर्व पौराणिक नाटक जहाँ पूर्णरूपेण संस्कृत नाट्य शैली का ही अनुसरण करते हैं वहाँ इस युग के नाटककार जिसमें भारतेन्दु प्रमुख हैं मध्यम अथवा स्वतन्त्र मार्ग को अपनाकर चले। संस्कृत तथा पाश्चात्य नाट्य शैलियों के आधार पर इन्होंने अपनी स्वच्छन्द शैली की उद्भावना की। इस नूतन शैली के अनुसार नाटककार न तो संस्कृत नाट्य शैली से बँधकर चले और न उन्होंने पाश्चात्य नाट्य नियमों का ही अक्षरशः अनुसरण किया। भाषा के सम्बन्ध में भी इस युग के नाटककार खड़ी बोली की ओर झुके। इस प्रकार इस युग के नाटकों में जहाँ साहित्यिक सुरुचि का परिचय मिला वहाँ अभिनेयता की ओर भी नाटककारों की दृष्टि सजग हुई।

उत्तर भारतेंदु युग

इस युग में सामाजिक भावनाओं का परिष्कार एवं विकास और अधिक हुआ। इस युग के पौराणिक नाटकों में भी इसका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। प्रमुख नाटक हैं—

वसंत, शबरी अछूत, सीता की माँ, सुभद्रा परिणय, विद्रोहिणी अम्बा, अंजना, उषा वरमाला, जनमेजय का नागयज्ञ, कुरुक्षेत्र, भीमप्रतिज्ञा, नल-दमयंती (डा० लक्ष्मण स्वरूप), देवयानी, अज्ञातवास, चक्रव्यूह, सगर विजय, चन्द्रहास, वचन का मोल, स्वर्ग भूमि का यात्री, शक्तिपूजा, नारद की वीणा आदि।

इस युग के नाटक उत्तर नाटककारों के गंभीर चिंतन एवं मनन के परिचायक हैं। जनमेजय का नागयज्ञ इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इस युग के नाटककारों ने केवल पौराणिक कथ्य कहने की वृत्ति को एकदम त्याग दिया। कथा को प्रतीक बना उसके माध्यम से सामाजिक और राष्ट्रीय जागृति करने का लक्ष्य भी इस युग में प्रमुख बन गया। इस युग के सर्जनकर्ताओं ने पौराणिक कथ्य का सर्जन अपने ढंग से एक नूतन रूप में किया जो दर्शक की निरंतर प्रति विकसित हो रही वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक बुद्धि को एक साथ तुष्टि तथा तृप्ति प्रदान करता चले। चमत्कारिक, ऊहापोह वाले कथानक बदलती परिस्थितियों में बौद्धिक दृष्टि सम्पन्न दर्शकों को न तो आकर्षक लग सकते थे और न लगते। पूर्वनिर्मित कथानकों पर ही लिखे गये इस युग के नाटकों में नूतन ढंग से विषय प्रतिपादन के चित्र भली प्रकार देखे जा सकते हैं। किशोरीदास वाजपेयी द्वारा लिखित 'द्वापर की राज्य क्रान्ति' नाटक में नारायणप्रसाद 'बेताब' के 'कृष्ण सुदामा' में तथा शिवनंदन सहाय के 'सुदामा' में समान कथासूत्र होते हुए भी, दृष्टिकोण का महान अंतर है। वाजपेयीजी ने अपने नाटक में कृष्ण द्वारा सुदामा को धनधान्यसम्पन्न अति सहज तथा स्वाभाविक ढंग से बनवाया है। इसी प्रकार लक्ष्मणस्वरूपजी ने अपने नाटक 'नल दमयंती' में पुराने कथ्य को एकदम नूतन ढंग से प्रस्तुत किया है। यहाँ हंस पक्षी से संवादवाहक का काम नहीं करता है अपितु हंस नाम का एक व्यापारी राजा नल का संदेश दमयंती के पास ले जाता है।

पौराणिक कथानकों को इस युग के नाटककारों ने इस प्रकार के सांचे में ढालकर प्रस्तुत किया जिससे कथ्य की मर्यादा पर आघात न पहुँचाते हुए उसके माध्यम से एक नूतन अपेक्षित दृष्टिकोण उपस्थित किया जिसमें पात्र न तो किसी अपरिचित लोक के बनकर आए और न इन नाटकों में आदर्श पहुँच से दूर की वस्तु बन पाए। इन पात्रों के कृत्य एवं व्यवहार अनुपम होते हुए भी, मानवीय दुर्बलताओं एवं संवेदनाओं से युक्त रहे अतः ये पात्र असाधारण होकर भी साधारण जन और इसीलिए दर्शकों की रुचि से विलग न हो पाये। लक्ष्मीनारायण मिश्र का यह कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि—

आज का कवि या तो उसी पुरानी लीक पर आँख मूँद कर चले या पौराणिकता के भ्रम रूप पर नया प्रकाश डाले, ऐसा प्रकाश जो हमारी रुचि को और हमारी भावनाओं को जिसमें पौराणिक चरित्र अपने शुद्ध मानवीय रूप में हमारे सामने खड़े हों जिनके भीतर हम अपने राग विराग मिलें, जिन्हें हम ठीक ठीक वैसे ही पहचान सकें जैसे हम उन लोगों को पहचान लेते हैं जिनका प्रभाव किसी रूप में हमारे जीवन पर पड़ता है।[1]

जनमेजय का नागयज्ञ में प्रसादजी ने जहाँ नागों को नागजाति का मानव सिद्ध किया, वहाँ चक्रव्यूह के रचयिता ने भी अभिमन्यु तथा युधिष्ठिर को सामान्य मानवों के रूप में ही देखा है। सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटक कर्तव्य (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध) में राम और कृष्ण के अवतारी स्वरूप को असाधारण रूप में चित्रित करते हुए भी उस अलौकिक नहीं बनने दिया। भूमिजा (भवदानन्द) ▪ तथा सेठजी के कर्तव्य में सीता का भूमि में प्रवेश करने का दृश्य तथा अग्निप्रवेश अलौकिक एवं असंगत प्रतीत नहीं होता। नाटककार ने कर्तव्य में सीता का वास्तविक रूप में अग्निप्रवेश आवश्यक न मानकर अग्नि में प्रवेश करने की राम की आज्ञा को शिरोधार्य करने मात्र को ही उनके सतीत्व का प्रमाण मान लिया है और सचमुच दर्शक को कथा के इस नूतन मोड पर कोई आपत्ति नहीं होती प्रत्युत उसके बौद्धिक मस्तिष्क को इससे एक विचित्र-सी शान्ति मिलती है। इस सन्दर्भ में डा० सोमनाथ गुप्त की यह मान्यता उचित ही है कि, सेठजी की विशेषता यह है कि उन्होंने वैष्णव होते हुए भी राम के चरित को मनुष्य के दृष्टिकोण से देखा है। [१]

आदर्श और यथार्थ का सुन्दर एवं संगत समन्वय, इस युग के पौराणिक नाटकों का प्राण है। प्रेमचन्दजी के अनुसार 'आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख दुःख हँसने रोने का मर्म समझ सकते हैं उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है।' [३]

इस युग के नाटककारों ने मनुष्य का मेल मनुष्य से करवा दिया। अब तक जिन्हें हम पाषाण युग के देवता समझे बैठे थे वे संसारी बनकर हमसे आ मिले। समाज के परिवर्तित मानदण्डों का ध्यान में रखते हुए इस युग के पौराणिक नाटककारों ने, नारी के विद्रोही हृदय की झाँकी तथा समाज में उसके उचित स्थान सम्मान तथा अधिकार की घोषणा भी पौराणिक नाटकों के माध्यम से की। उदयशंकर भट्ट का 'विद्रोहिणी अम्बा' नाटक इस कथन की पुष्टि करता है।

इस युग के पौराणिक नाटकों में कथा के साथ साथ चरित्र में भी परिवर्तन दीख पड़ा। खल समझे जानेवाले पात्रों के चरित्रों में भी लेखकों ने उनके चरित्र के शुभ अंशों का भाव लिया है और असत् में सत की प्रतिष्ठा कर डाली है। दुर्योधन रावण तथा कर्ण भी चिरन्तन काल से कलंक के जिस काले आवरण को ओढ़े बैठे थे, उत्तर भारतेन्दु काल के नाटककारों ने उस आवरण को छिन्न करके पहली बार, उनकी ओर सदय दृष्टि से देखा है। इसलिए लक्ष्मीनारायण मिश्र के चक्रव्यूह का दुर्योधन, सुयोधन बन गया है। देवराज दिनेश के रावण में प्रथम बार सदाचार एवं मानवता के दर्शन हुए हैं। मिश्रजी का 'चक्रव्यूह' पौराणिक कथा का नूतन रूप देनेवाले नाटकों में श्रेष्ठ है।

कथा के प्रस्तुतीकरण में भी इस युग के पौराणिक नाटककार नितान्त स्वच्छन्द होकर आगे बढ़े हैं। पुरातन संस्कृत नाट्य शैली को तो उन्होंने नमस्कार ही कर लिया है पाश्चात्य

---

१ चक्रव्यूह भूमिका पृष्ठ ४५

२ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास पृ० २३१

३ जीवन में साहित्य का स्थान प्रेमचन्द

नाटय पद्धति मे से भी उन्होने दृश्य-योजना तथा मंचन को ही महत्त्व दिया है। हा नाट्य की अभिनेयता पर उन्होने पूरा ध्यान रखा है। उदयशकर भटट जसे सिद्धहस्त नाटककारो ने पौराणिक नाटको की अभिनेयता क साथ उसकी पठनीयता को भी समान महत्त्व दिया है। परिणामस्वरूप इस युग म उत्तम कोटि के पौराणिक नाटको का सजन हुआ है। पौराणिक नाटको की सख्या इस युग म उतनी नही बढी, पर स्तर अवश्य उन्नत हुआ है। भाषा परिष्कार भी इस युग के पौराणिक नाटको की विशेषता रही है।

आरम्भ से लेकर अद्यतन परिवर्तित परिस्थितियो मे, पौराणिक नाटको का कथागत स्वरूप इस प्रकार रहा है १ भारतेन्दु पूव युग म कथा एव पात्रो के यथातथ्य चित्रण को महत्ता दी गइ थी। २ भारतेन्दु युग म तत्कालीन सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो के दिग्दशनाथ सुधारक दृष्टिकोण स मूल कथाओ म अशत परिवतन किए गए। ३ उत्तर भारतेन्दु युग मे कथा का बुद्धिग्राह्य रूप म चित्रण किया गया जिसमे दृष्टिकोण मनोवज्ञानिक तथा मनो विश्लेषणात्मक भी रहा है।

इस प्रकार पौराणिक नाटक साहित्य, अपने आरम्भिक काल से आज तक विकास के पथ पर ही बढता चला जा रहा है। आज चलचित्रो म भी पौराणिक कथाओ को सम्मान प्राप्त है। नाटक के मूल म 'वीरपूजा का भाव भी प्रारम्भ स ही निहित रहा है। मानव मन चाहे कितना ही परिष्कृत एव सस्कृत हो जाये, मानव मस्तिष्क चाहे कितना भी वज्ञानिक बन जाय किन्तु घोर से घोर बुद्धिवादी व्यक्ति भी, किसी भी युग म अपन पूवजो से विमुख हो उनके रूप एव कृत्यो के दशनाथ लालायित न हो, एसा सम्भव नही लगता डॉ० शर्मा ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है "जिन जिन कारणो से नाटकीय आत्मा का विकास हुआ जिन जिन तत्त्वो स उसकी रुपरेखा का निर्माण हुआ, उसम नत्य, सगीत तथा देवपूजा और वीरपूजा की भावना ही मूल रूप म प्रस्तुत थी और नाटककारो का पौराणिक वीरो की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था।।[1]

नवजागरण की वेला म हिन्दी रगमच पुन लोकप्रियता प्राप्त करता चला जा रहा है। चलचित्र के पर्दे पर थिरकती निर्जीव प्रतिमाओ म रगमच पर अभिनीत दृश्यो जसी ताजगी एव प्राण द उपल ध हो भी कसे सकता है। देश के प्रमुख नगरो म नाटय समितियो एव नाटय शालाओ का निर्माण भी हो चुका है और होता जा रहा है। कुलीन तथा निपुण कलाकार भी वहा अभिनीत होने वाले नाटको म भाग लेन म गौरव का अनुभव करते दिखाई देत ह। या भी स्वदेशानुरागी, अध्ययनशील एव मनस्वी समुदाय, अपन देश की सस्कृति के सरक्षण एव विकास के प्रति जागरूक हैं, अत पुराण महाभारत या रामायण के अध्ययन, भनन एव शोध क साथ साथ इन ग्रथो के पुनमुद्रण के लिए भी अनक सस्थाएँ प्रयत्नशील हैं। निश्चित ही पुराण ग्रथ अब पुरानी मान्यताओ के कठघरे से निकलकर समुचित आदर एव महत्त्व प्राप्त करत जा रहे हैं जिससे पौराणिक नाटको क प्रणयन की ओर भी नाटककार सजग हो गय हैं। पुराण साहित्य म नाटकीय तत्त्वो की प्रचुरता निश्चित ही पौराणिक नाटको के क्षेत्र को अधिकाधिक समृद्ध बनाएगी और यह साहित्य, आज क भूले भटक मानव के लिए माग निर्देशन का काय करेगा।

१ नाटक की परख डॉ० एस० पी खत्री द्वितीय सस्करण, अक्तूबर १९५१ प १०८

परिशिष्ट

सहायक-ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
अ		
अथर्ववेद संहिता		स्वाध्याय मण्डल, औंध सतारा
अर्थशास्त्र	कौटिल्य	पण्डित पुस्तकालय, बनारस
अध्यात्म रामायण		गीताप्रेस गोरखपुर २०१४ वि०
अमरकोश		निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १९४४ ई०
अनघ नल चरित	सुदर्शनाचार्य शास्त्री	लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बई १९६५ वि०
अंजना	सुदर्शन	नाथूराम प्रेमी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९१३ ई०
अंजना सुन्दरी	कन्हैयालाल	वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९५७ वि०
अंजना सुन्दरी	उमाशंकर मेहता	एस० एस० मेहता एण्ड ब्रदर्स, काशी १९८६ वि०
आ		
आदर्शकुमारी	रामचन्द्र भारद्वाज	लक्ष्मी पुस्तक कार्यालय, दिल्ली, १९३२ ई०
आधुनिक हिन्दी साहित्य	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद विश्व विद्यालय, १९४८ ई०
आनन्द रामायण		
आल्हा राम	डा० व्रजरत्नदास	हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस २०१२

ग्रंथ	लेखक	प्रकाशक
आउटलाइन आफ द रिलीजियस लिटरेचर आफ इण्डिया	एफ० ई० पार्जिटर	
उ		
उत्तररामचरित	भवभूति	चौखम्बा विद्याभवन, बनारस
उषा हरण	कीर्तिप्रसाद	हरिप्रकाश यन्त्रालय काशी, १८९१ ई०
उषा नाटक	बलवंतराम सिन्हे	लक्ष्मीनारायण, अनन्तगंज, लश्कर, ग्वालियर
उषा अनिरुद्ध	मुंशी आरजू	उपन्यास बहार आफिस, बनारस १९२५ ई०
उषा-अनिरुद्ध	राधेश्याम कथावाचक	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली १९३२ ई०
ऋ		
ऋग्वेद संहिता		स्वाध्याय मण्डल, औंध, सतारा
ऐ		
ऐतरेय ब्राह्मण	स० सत्यव्रत सामश्रमी	एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता १९०६ ई०
ओ		
ओरियण्टल कान्फ्रेंस रिपोर्ट		
क		
कर्तव्य	सेठ गोविन्ददास	महाकौशल साहित्य मंदिर जबलपुर, १९९२ वि०
कंसवध नाटक	रामनारायण मिश्र द्विजदेव	मधुबनी, दरभंगा १९१० ई०
कंस विध्वंस	बनवारीलाल	बोस प्रेस, कलकत्ता
किरातार्जुनीय	भारवि	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
कूर्म पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
क्रूर वध	हरद्वारप्रसाद जालान	नवरंगलाल, तुलस्थान चौक आगरा, १९८१ वि०

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
ग		
गणेश जन्म	रामशरण आत्मानन्द	उपन्यास बहार आफिस काशी, १९३०
गंगा का बेटा	पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र	स्वरूप ब्रदर्स, खजूरी बाजार इन्दौर १९४० ई०
गौरीशंकर नाटक	रामनारायणसिंह जायसवाल	लेखक स्वयं, वीरपुर, जिला गाजीपुर १९२४
ग्रेट एपिक्स आफ इण्डिया	ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स	
च		
चण्डकौशिक	आर्य क्षेमीश्वर	आशुतोष विद्याभूषण, वाचस्पत्ययन्त्र कलकत्ता १९३१ ई०
चक्रव्यूह	लक्ष्मीनारायण मिश्र	कौशाम्बी प्रकाशन, दारागंज प्रयाग, १९५७ ई०
छ		
छान्दोग्य उपनिषद		आनन्द आश्रम पूना
ज		
जनक बाग दर्शन	रामनारायण मिश्र	खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर पटना १९०६ ई०
जनमेजय का नागयज्ञ	जयशंकर प्रसाद	भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१३ वि०
जैमिनीय ब्राह्मण	सम्पा० डा० रघुवीर	नागपुर १९५४ ई०
जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण		
जैमिनीय अश्वमेधपर्व		गीताप्रेस, गोरखपुर
त		
ताण्ड्य ब्राह्मण		
धनुषलीला नाटक	रामगुलाम लाल	वजनाथ बुकसेलर काशी, १९६६ वि०
दमयन्ती स्वयंवर	परमानन्द	तुलसीराम स्वामी सरस्वती यन्त्रालय प्रयाग, १८९५ ई०
दमयन्ती स्वयंवर	बालकृष्ण भट्ट	हिन्दी सम्मेलन, प्रयाग १९९९ वि०
देवीभागवत पुराण		

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
देवहूति	राजाराम शास्त्री	स सहयोगी प्रकाशन, दिल्ली १९५५
देवयानी	जमुनादास मेहरा	आर० डी० वाहिनी एण्ड को०, १०४ चोरागान, कलकत्ता, १९२२ ई०
देवी देवयानी	रामस्वरूप रूप	उपन्यास बहार आफिस, काशी, १९३८
देवयानी	तारा वाजपेयी	इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १९६८ ई०
द्यूत का भूत अथवा नल दमयन्ती	ब्रह्मदत्त शास्त्री	गयाप्रसाद एण्ड सन्ज आगरा, १९२७ ई०
न		
नल-दमयन्ती नाटक	महावीरसिंह वर्मा	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९०५ ई०
नल दमयन्ती	दुर्गाप्रसाद गुप्त	उपन्यास बहार आफिस, काशी
नहुष नाटक	बा० गोपालदास	नागरी प्रचारिणी सभा काशी, २०११ वि०
नल दमयन्ती	डा० लक्ष्मणस्वरूप	एस० चाँद एण्ड कम्पनी दिल्ली, १९५१ ई०
नाटक की परख	एम० पी० खत्री	
नाट्यशास्त्र	भरत मुनि	
नारदीय महापुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
निरुक्त	यास्क, स० मुकुन्द झा	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३० ई०
नीति मंजरी	द्या द्विवेद स० सीताराम जयराम जोशी	हरिहर मण्डल कालभैरव काशी, १९३३ ई०
नैषधीय चरित	श्रीहर्ष	निर्णय सागर प्रेस बम्बई
प		
पद्म पुराण		आनन्दाश्रम पूना
पद्म पुराण (जैन)	रविषेण	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
पउम चरिउ (अपभ्रंश)	स्वयम्भूदेव	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ई०
पद्मचन्द्र कोश	गणेशदत्त शास्त्री	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९२८ ई०
प्रयाग रामागमन	बन्दी नारायण प्रमथन	आनन्दकादम्बिनी यन्त्रालय, मिरजापुर, १९६८ वि०
पंचवटी	शम्भूदयाल सक्सेना	नवयुग ग्रन्थ कुटीर बीकानेर
पुराण विषयसमनुक्रमणिका	यशपाल टंडन	विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६८ वि०

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
पौराणिक आख्यान	द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी	प्रयाग
ब		
बन्धु भरत	तुलसीराम शर्मा	मीरा मन्दिर, बम्बई, १९३८ ई०
बलवीर कृष्ण	रघुवीरशरण मित्र	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, १९५६ ई०
ब्रह्माण्ड पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
ब्रह्म पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई। गुरुमण्डल ५ क्लाइव रोड कलकत्ता
ब्रह्मवैवर्त पुराण		आनन्द आश्रम, पूना
वेन चरित	बद्रीनाथ भट्ट	रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स आगरा १९७६ वि०
वेणु संहार	बालकृष्ण भट्ट	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९४७ ई०
बृहदारण्यक उपनिषद्		आनन्द आश्रम पूना
ब्रह्मसूत्र	शांकर भाष्य	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
भ		
भट्ट नाटकावली		
भारतेन्दु नाटकावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९९३ वि०
भारतेन्दुकालीन नाट्य साहित्य	गोपीनाथ तिवारी	हिन्दी भवन इलाहाबाद, १९५६ ई०
भारतेन्दु का नाट्य साहित्य	*वीरेन्द्रकुमार शुक्ल*	
भागवत पुराण		गीता प्रेस गोरखपुर
भारत सावित्री	वासुदेव शरण अग्रवाल	सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली
भारतीय पाश्चात्य रंगमंच	सीताराम चतुर्वेदी	सूचनाविभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ १९६४ ई०
भामप	गुप्त बन्धु	सब सुलभ साहित्य सदन, फतेहपुर, २०१५ वि०
भविष्य पुराण		निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
भीष्म	विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक	प्रताप कार्यालय कानपुर
भीष्मव्रत	मूलजी मनुज	शारदा मन्दिर दिल्ली
भूमिजा	सर्वदानन्द	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६० ई०

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
म		
मत्स्य पुराण		गुरुमण्डल ५ कनाइवरा, कलकत्ता ११
महाभारत		गीताप्रेस, गोरखपुर
महाभारत हाल्टजमन, भाग ४		
मार्कण्डेय पुराण		गुरुमण्डल ४ कनाइवरो, कलकत्ता
मार्कण्डेय पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
मार्कण्डेय पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन	वासुदेवशरण अग्रवाल	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
मोरध्वज	शालिग्राम वैश्य	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १८९० ई०
य		
यजुर्वेद संहिता		स्वाध्याय मण्डल औंध, सतारा
याज्ञवल्क्य स्मृति		चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
र		
रघुवंश	कालिदास	निर्णय सागर प्रेस बम्बई
रामचरितमानस	तुलसीदास	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
राजतिलक अर्थात् किराताजुर्न युद्ध	जगन्नारायण देव शर्मा	ज्योति भवन रामनगर, बनारस १९३१
रावण	देवराज दिनेश	प्रेम साहित्य निकेतन, नई सड़क, दिल्ली
रामराज्य वियोग नाटक	माणिक मोगद्दा	हरिदास २०१ हरिसन रोड, कलकत्ता
रामलीला रामायण नाटक	द्वारका प्रसाद	बम्बई भूषण यन्त्रालय, मथुरा
रामचरित्रोद्दीपन नाटक	रघुवर दयाल पाण्डेय	हिन्दी नाट्य पुस्तकालय कानपुर १९११
रामाभिषेक नाटक	रामगोपाल विद्यान्त	नवल किशोर यन्त्रालय लखनऊ
रामाभिषेक	गंगाप्रसाद गुप्त	हिन्दी साहित्य, बनारस १९१० ई०
रामवनयात्रा	गिरिवरधर	रणजीत प्रेस, पटना सिटी, १९१०ई०
रामचरित	जयगोविन्द मालवीय	सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग, १८९४ ई०
रामलीला विजय	बलदेव प्रसाद	काशिका यन्त्रालय बनारस, १९४२ वि०
रामायण	श्रीकृष्ण हसरत	उपन्यास बहार आफिस, बनारस
रूपक रहस्य	श्यामसुन्दर दास	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
राजा शिवि	बलदेवप्रसाद खरे	बाहरी एण्ड को० चौखगान, कलकत्ता, १९२३ ई०

ग्रंथ	लेखक	प्रकाशक
ल		
लिंग पुराण		गुरुमण्डल प्रकाशन, ५ कनाइवरो, कलकत्ता
व		
वरमाला	गोविन्द वल्लभ पन्त	गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ
वायु पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस
वाल्मीकि रामायण		गीताप्रेस गोरखपुर
विष्णु पुराण		गीताप्रेस, गोरखपुर
वराह पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
वामन पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
विद्रोहिणी अम्बा	उदयशंकर भट्ट	मसिजीवी प्रकाशन नई दिल्ली
विष्णुधर्मोत्तर पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
वैदिक इण्डेक्स आफ नेम्स मैकडानल सब्जेक्टस दो भाग		मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९५८
श		
शतपथ ब्राह्मण		वैदिक यन्त्रालय अजमेर
शबरी अछूत	गौरीशंकर मिश्र	इण्डियन प्रेस इलाहाबाद १९५१
शबरी	सीताराम चतुर्वेदी	अखिल भारतीय विक्रम परिषद् काशी २००१ वि०
शबरी	सेठ गोविन्ददास	भारतीय विश्वप्रकाशन फुव्वारा दिल्ली १९५९
शिवपुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
शिवपुराण		एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता
शिवविवाह नाटक	रामगुलाम रसिक बहोरी	कन्हैयालाल बुकसेलर, पटना सिटी, १९६८ वि०
शांख्यायन श्रौतसूत्र		आनन्द आश्रम, पूना
शर्मिष्ठा	शारदा मिश्र	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
शील सावित्री	कन्हैयालाल	
श्रीमद्भगवद्गीता		खेमराज श्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १८९७ ई०
श्रीकृष्णावतार		गीताप्रेस गोरखपुर
	राधेश्याम	राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, १९२९ ई०

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
श्रीकृष्ण जन्म	भारतसिंह यादवाचार्य	यादव कुमार मनालाल, काशी, १६३४ ई०
श्रीकृष्ण	चतुर्भुज	स्वतन्त्र नवभारत प्रेस पटना
स		
स्कन्द पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
स्कन्द पुराण		गुरुमण्डल प्रकाशन, कलकत्ता
सगर विजय	उदयशंकर भट्ट	मसिजीवी प्रकाशन नई दिल्ली, १६५६
सती न्हन नाटक	रसिक विहारीलाल	प्रह्लाद दास बुकसेलर, चौक पटना सिटी, १६१२ ई०
सत्य हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली
सत्य हरिश्चन्द्र		रामनारायणलाल इलाहाबाद
सती प्रताप	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	रामनारायणलाल, इलाहबाद
सत्याग्रही	ब्रजनन्दन शर्मा	दक्षिणभारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, १६३६ ई०
संस्कृत ड्रामा	कीथ	आक्सफाड यूनीवर्सिटी प्रेस
सावित्री नाटक	ला० देवराज	पंजाब इकनामिकल यन्त्रालय, जालन्धर, १६०० ई०
सावित्री	बांके विहारीलाल	राजनीति यन्त्रालय पटना सिटी १६०८
सावित्री सत्यवान	गंगाप्रसाद	लक्ष्मी पुस्तकालय बनारस १६८४ वि०
सावित्री सत्यवान	वणीप्रसाद श्रीमाली	ठाकुर प्रसाद गुप्त बनारस १६८८
सुकन्या	राजाराम शास्त्री	सहयोगी प्रकाशन, जवाहरनगर
सुभद्रा परिणय	सेठ गोविन्ददास	आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली, १६५२
सूर और उनका साहित्य	हरवंशलाल शर्मा	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
सीता वनवास	ज्वालाप्रसाद मिश्र	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १६६२ ई०
सीता स्वयंवर	बन्दीदीन दीक्षित	वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १६०० ई०
सीता हरण	बन्दीदीन दीक्षित	लखनऊ प्रिंटिंग प्रेस लखनऊ १८६५
सीता स्वयंवर	मुन्शी तोताराम	ईश्वरी संस्कृत पुस्तकालय, सदर मेरठ १६०३ ई०
ह		
हरिवंश पुराण		गीता प्रेस, गोरखपुर

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
हरिवंश पुराण		नवल किशोर प्रेस लखनऊ
हिन्दी नाटक उद्भव और विकास	दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड सन्ज दिल्ली १९६१ ई०
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	कीथ	आक्सफोर्ड प्रेस, १९२७ ई०
हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर	विण्टरनित्स	कलकत्ता विश्वविद्यालय १९२७
हिन्दी के पौराणिक नाटक	देवर्षि सनाढ्य	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१ ई०
हिन्दी नाट्य साहित्य	ब्रजरत्न दास	
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा
हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	सोमनाथ गुप्त	हिन्दी भवन, इलाहाबाद